पालि साहित्य का इतिहास

लेखक

भरतसिंह उपाध्याय, एम० ए०

अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, जैन कालेज, बड़ौत

२००८

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मुद्रक—रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

कल्याणमित्र

श्री तुलसीराम वर्मा को

प्रकाशकीय

श्री भरत सिंह उपाध्याय एम० ए० के इस ग्रन्थ 'पालि साहित्य का इतिहास' का प्रकाशकीय लिखना मैं अपने लिए विशेष महत्त्व की बात मानता हूँ। विद्वान लेखक बौद्ध और जैन साहित्य के पण्डित हैं। "बौद्ध-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन" पर इन्हें बंगाल हिन्दी मण्डल से १५००) का 'दर्शन' पारितोषिक मिल चुका है। पर यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। गंभीर साहित्य पर लिखने वाले हिन्दी में अभी बहुत कम हैं। जिन इने गिने व्यक्तियों का नाम उँगलियों पर गिना जा सकता है उनमें एक उपाध्याय जी हैं यह इनके इस प्रकाशित ग्रन्थ के आधार पर पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है। लेखक ने चार वर्षों के अध्यवसाय और तपस्या से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। संसार के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य को हिन्दी जनता के लिए सुगम बनाने का श्रेय लेखक को मिल कर रहेगा। इस ग्रन्थ का लाभ देश की दूसरी भाषाओं को भी मिलेगा। साहित्य के विद्यार्थी इससे ईसा पूर्व के सामाजिक जीवन, भाव और विचार से परिचित होंगे।

यह ग्रन्थ दस अध्याय और उनमें वर्णित वैज्ञानिक विभागों में पूरा हुआ है। विषय-सूची को एक बार देख लेने पर सामान्य हिन्दी पाठक का बौद्धिक क्षितिज अनायास विस्तृत हो उठता है और ग्रन्थ के भीतर पैठने की जिज्ञासा जाग जाती है। हिन्दी साहित्य के विकास और उन्नयन के लिए संस्कृत की जानकारी जितनी आवश्यक है उतनी ही आवश्यक है पालि की जानकारी भी। संस्कृत का परिचय सम्कार और अभ्यास से शिक्षित वर्ग को थोड़ा बहुत मिलता रहा है पर पालि परिचय के लिए हिन्दी में अब तक के प्रकाशित ग्रन्थों में यह ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है, यह कहने में हमें संकोच नहीं है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण दर्शनों में लेखक की रुचि और जिज्ञासा पाठक के भीतर दर्शन और साहित्य दोनों की रुचि जगा देती है।

पालि साहित्य में शाक्यमुनि के आचार-विचार, धर्म और संघ के विवरण के साथ इस देश का वह इतिहास जो ईसा-पूर्व और बाद की कई शताब्दियों का

इतिहास है, हमें मिल जाता है। पालि में उपलब्ध सामग्री जो न मिलती तो फिर उस काल का हमारा इतिहास भी लुप्त हो गया होता। दो सहस्र वर्ष पहले का हमारा समाज, हमारे जीवन का तल, हमारी आशा आकांक्षायें, हमारी दिन-चर्या, बुद्धि और कौतुक के सभी क्षेत्र कम या अधिक इस ग्रन्थ से हमें सुगम बन जाते हैं। संस्कृति का वह सूत्र जिसे हम भूल चुके थे, लेखक ने जिस मनोयोग से खोज निकाला है, उसका अभिनन्दन हम इसलिए करेंगे कि महत्त्व के ऐसे कठिन कार्य अर्थ और यश की कामना से सम्भव नहीं होते। गहरी निष्ठा, कठोर संकल्प, अडिग समाधि और अनासक्त बुद्धि से, व्यक्ति जब निर्माण में लगता है तभी वह ऐसी रचनायें दे सकता है। श्री उपाध्याय जी का सरल स्वरूप कितनी सरलता से पाण्डित्य का पर्वत उठा सका है, देख कर विस्मय होता है। अभी वे तरुण हैं और कार्य करने के अनेक वर्ष उनके सामने हैं। संकल्प और साधना की यही योगवृत्ति जो उनमें बनी रही तो वे अभी और कई ग्रन्थ रत्न हिन्दी भाषा को दे सकेंगे ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र
साहित्य मन्त्री

प्राक्कथन

भारतीय वाङ्मय में बौद्ध साहित्य और उसमें भी पालि-साहित्य का बहुत महत्त्व है, इतना कहने से भी हम पालि साहित्य के महत्त्व को अच्छी तरह प्रकट नहीं कर सकते। वस्तुतः ईसवी सन् के पहले और पीछे की पाँच शताब्दियों के भारत के विचार, साहित्य, समाज सभी क्षेत्रों की हमारी जानकारी बिलकुल अधूरी रह जाती यदि हमारे पास पालि साहित्य न होता। हमारे इतिहास के कितने ही अन्धकारावृत भागों पर पालि साहित्य ने प्रकाश डाला है। हमारे ऐतिहासिक नगरों और गाँवों में से बहुतों को विस्मृति के गर्भ में से बाहर निकालने का श्रेय पालि साहित्य को है। फिर भारत के सर्व श्रेष्ठ पुरुष गौतम बुद्ध के मानव रूप का साक्षात्कार करने के लिए पालि साहित्य तो अनिवार्यतया आवश्यक है।

दुनिया की प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में पालि साहित्य की अनमोल निधियों के अनुवाद हुए है, पालि साहित्य के ऊपर परिचयात्मक ग्रन्थ लिखे गए हैं, यह खेद की बात है कि हमारी हिन्दी भाषा में ऐसी कोई पुस्तक नही लिखी गई थी। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद अवश्य हुए हैं, लेकिन वहाँ भी बहुत थोड़े भाग में काम हो सका है। श्री भरत सिंह उपाध्याय ने पालि साहित्य के इतिहास पर एक विस्तृत ग्रन्थ लिख कर हिन्दी साहित्य की एक बड़ी कमी को पूरा किया है। उनके ग्रन्थ में पालि साहित्य और तुलनात्मक भाषा के सम्बन्ध में भी पर्याप्त सामग्री दी गई है। इस ग्रन्थ के सब गुणों का परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है। किन्तु मै समझता हूँ कि यह पुस्तक पालि साहित्य के उच्च विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के लिए तो बहुत सहायक साबित होगी ही, साथ ही साहित्य में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

दिल्ली

२–६–४९

राहुल सांकृत्यायन

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

भूमिका

हिन्दी में पालि साहित्य सम्बन्धी अध्ययन का अभी सूत्रपात ही हुआ है। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवादों के अतिरिक्त पालि साहित्य सम्बन्धी कार्य हिन्दी में प्रायः बहुत कम ही हुआ है। अनुवाद भी प्रायः विनय-पिटक और सुत्त-पिटक के कुछ ग्रन्थों के ही हुए हैं। सुत्त-पिटक के भी संयुत्त और अंगुत्तर जैसे निकाय अभी अनुवादित नहीं हो पाए हैं। खुद्दक-निकाय के भी अनेक ग्रन्थ अभी अनुवादित होने को बाकी हैं। सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक पर तो अभी हाथ ही नहीं लगाया गया। इसी प्रकार सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य, जिसमें बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की अट्ठकथाएँ और अन्य विशाल साहित्य सम्मिलित है, अभी अनुवाद की बाट देख रहा है। इस साहित्य में से केवल 'मिलिन्द-प्रश्न' और 'महावंश' तथा कुछ अन्य अल्पाकार ग्रन्थ ही हिन्दी रूपान्तर ग्रहण कर सके हैं। 'विसुद्धिमग्गो' जैसा ग्रन्थ अभी हिन्दी जनता को अविदित है। ऐसा लगता है कि एक महान् उत्तराधिकार से हम वंचित हो गए हैं। जिस दिन अवशिष्ट पालि साहित्य हिन्दी रूपान्तर ग्रहण कर लेगा, उस दिन भारतीय मनीषा को एक नई स्फूर्ति मिलेगी। उसकी आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत, जो आज सूखे पड़े हैं, पुनः आप्लावित हो उठेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

जो दशा पालि ग्रन्थो के अनुवादों की है, वही उनके मूल पाठों के नागरी संस्करणों की भी है। सन् '३७ में पुण्यश्लोक बर्मी भिक्षु उत्तम ने भिक्षु-त्रय, महामति राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित खुद्दक-निकाय के ११ ग्रन्थों को नागरी लिपि में प्रकाशित किया था। तब से बम्बई विश्वविद्यालय की ओर से निदान-कथा, महावंस, दीघ-निकाय (दो भाग), मज्झिम-निकाय (मज्झिम-पण्णासक), थेरीगाथा,

थेरगाथा, मिलिन्दपञ्हो तथा पातिमोक्ख आदि का प्रकाशन नागरी लिपि में हो चुका है। पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य के भिक्खु और भिक्खुनी पातिमोक्ख के तथा डा० विमलाचरण लाहा के 'चरियापिटक' के नागरी संस्करण भी स्मरणीय हैं। इसी प्रकार मुनि जिनविजय का 'अभिधानप्पदीपिका' का संस्करण, प्रोफेसर बापट के 'धम्मसंगणि' और 'अट्ठसालिनी' के संस्करण, आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी के 'विसुद्धिमग्ग' एवं स्वकीय नवनीत-टीका सहित 'अभिधम्मत्थ संगह' के संस्करण तथा भिक्षु जगदीश काश्यप का मोग्गल्लान-व्याकरण पर आधारित 'पालि महा-व्याकरण' ये सब हिन्दी में पालि-स्वाध्याय के महत्त्वपूर्ण प्रगति-चिन्ह हैं। इनके अलावा कुछ अन्य ग्रन्थों के भी नागरी संस्करण निकले हैं और धम्मपद, सुत्त-निपात, तेलकटाहगाथा, खुद्दक-पाठ आदि कुछ ग्रन्थों के मूल पालि-सहित हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। फिर भी जो कुछ काम अभी तक हो चुका है वह उसके सामने कुछ नहीं है जो अभी होना बाकी है। भारतीय विद्वानों के सामने एक भारी काम करने को पड़ा हुआ है। यह काम सफलता-पूर्वक हो, इसके लिए अथक परिश्रम और आर्थिक व्यवस्था दोनों की ही बड़ी आवश्यकता है। महाबोधि सभा की कई योजनाएँ आर्थिक अभाव के कारण अपूर्ण पड़ी हुई हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत संयुत्त-निकाय का हिन्दी-अनुवाद वर्षों से पड़ा हुआ है और उसके प्रकाशन की व्यवस्था अभी-अभी हुई है। इसी प्रकार उनके द्वारा संकलित बृहत् पालि-हिन्दी शब्द कोश के प्रकाशन का सवाल है। अनेक पालि ग्रन्थों के मूल पाठ, जिन्हें विद्वान् भिक्षुओं ने नागरी अक्षरों में लिख लिया है, विद्यमान हैं, किन्तु उनके छपने की कोई व्यवस्था नहीं। यही अवस्था अनेक अनुवादों की है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि महाबोधि सभा या कोई पुरानी या नई साहित्य-संस्था सम्पूर्ण पालि साहित्य के मूल पाठ और हिन्दी-अनुवाद को प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में ले और विद्वानों के सहयोग से उसे निकट भविष्य में पूरा करे। सरकार और जनता का भी कर्तव्य है कि वह इसमें महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहयोग दे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दिनों में हम प्रत्येक स्वाधीनता-दिवस पर अंग्रेजों पर यह आरोप लगाया करते थे कि अन्य अनेक ह्रासों के साथ उन्होंने हमारा सांस्कृतिक ह्रास भी किया है। आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के चौथे वर्ष में भारतीयों को यह याद दिलाने की आवश्यकता

प्रतीत नहीं होगी कि जब कि हमारी अपनी भाषा में कुछ गिने-चुने पालि ग्रन्थों के मूल पाठों और अनुवादों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अंग्रेजों ने बीसों वर्ष पहले सम्पूर्ण पालि साहित्य के मूल पाठ और अंग्रेजी अनुवाद को रोमन-लिपि में रख दिया था। क्या पालि साहित्य भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अपेक्षा अंग्रेजी संस्कृति और सभ्यता से अधिक घनिष्ठ सम्बन्धित है? क्या हमारी अपेक्षा पालि साहित्य का महत्त्व और ममत्व अंग्रेजों के लिए अधिक था? क्या ५०० ई० पूर्व से लेकर ५०० ई० तक का भारतीय इतिहास हमारी अपेक्षा अंग्रेज लोगों के लिए अधिक ज्ञातव्य विषय था? सन् १९०२ में 'बुद्धिस्ट इंडिया' लिखते समय रायस डेविड्स ने अपने देश की सरकार की उदासीनता की शिकायत करते हुए लिखा था कि इंगलैण्ड में केवल दो जगह संस्कृत और पालि की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है जब कि जर्मनी की सरकार ने अपने यहाँ बीस से अधिक जगह इसका प्रबन्ध किया है "जैसे कि मानो जर्मनी के स्वार्थ भारत में हमसे दस गुने से भी अधिक हों।" आज सन् १९५१ में भारत में पालि के उच्च स्वाध्याय की अवस्था और उसके प्रति सरकार के शून्यात्मक सहयोग को देख कर कोई भारतीय विद्यार्थी यह दुःखद अनुभूति किए बिना नहीं रह सकता कि सन् ५१ में भारतीय सरकार का जितना हित इस देश की संस्कृति और साहित्य के साथ दिखाई पाड़ता है उसके कदाचित् दुगुने और बीस गुने से भी अधिक क्रमशः इंगलैण्ड और जर्मनी का सन् १९०२ में था!

जब पालि ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद और उनके मूल पाठों के नागरी-संस्करणों की उपर्युक्त अवस्था है तो पालि साहित्य पर हिन्दी में अभी विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने का कोई आधार ही नहीं मिलता। किसी भी साहित्य के विस्तृत शास्त्रीय अध्ययन एवं उस पर विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने के लिए पहले यह आवश्यक है उसके मूल संस्करण और अनुवाद उपलब्ध हों, जिनके आधार पर उपादान-सामग्री का संकलन किया जा सके। हिन्दी इस शर्त को पूरा नहीं करती। इसीलिए सिर्फ दो-एक निबन्धों के अतिरिक्त पालि साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में यहाँ कोई विवेचनात्मक ग्रन्थ हमें नहीं मिलते। पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी ने सिंहल में अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप पालि ग्रन्थों का एक संक्षिप्त विवरण लिखा था जो 'पालि वाङ्मय की अनुक्रमणिका' शीर्षक से काशी विद्यापीठ

की पत्रिका 'विद्यापीठ' के संवत् १९९३ के आश्विन-पौष अंक में निकला था। एक दूसरा पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के चतुर्थ परिशिष्ट के रूप में है। सरसरी तौर पर यहाँ पालि साहित्य के विकास को दिखाने की चेष्टा की गई है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुवादों की प्रस्तावनाओं में उन उन ग्रन्थों सम्बन्धी विवरणों के साथ-साथ सामान्यतः पालि साहित्य सम्बन्धी परिचयात्मक विवरण भी कहीं-कहीं दे दिया गया है। विशेषतः महापंडित राहुल सांकृत्यायन की 'बुद्ध-चर्या', 'दीघ-निकाय', 'विनय-पिटक' एवं 'अभिधर्म-कोश', आदि की भूमिकाएँ, भदन्त आनन्द कौसल्यायन की 'जातक' (प्रथम खण्ड) और 'महावंश' की भूमिकाएँ और भिक्षु जगदीश काश्यप की 'उदान' और 'पालि महाव्याकरण' की भूमिकाएँ इस दृष्टि से देखने योग्य हैं। भदन्त श्री शान्ति भिक्षु जी के भी पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध इधर 'विश्व भारती पत्रिका' और 'विशाल भारत' में निकलते रहे हैं। 'धर्मदूत' में भी पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित जी, भिक्षु शीलभद्र जी, भिक्षु धर्मरत्नजी, तथा अन्य अनेक बौद्ध विद्वानों के पालि साहित्य सम्बन्धी लेख प्रायः निकलते रहते हैं। इधर बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी कुछ विवेचनात्मक ग्रन्थ भी हिन्दी में निकले हैं। उनमें भी यथास्थान पालि साहित्य का कुछ विवरण है। पर उनमें कोई ऐसी मौलिकता या विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती जिससे उसे विशिष्ट महत्त्व दिया जा सके। अतः प्रकीर्ण निबन्धों, प्रस्तावनाओं और गौण संक्षिप्त विवरणों के अतिरिक्त पालि साहित्य के इतिहास पर हिन्दी में अभी कुछ नहीं लिखा गया है।

हाँ, अंग्रेजी में पालि साहित्य के इतिहास पर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मेबिल बोड का 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा' (लन्दन, १९०९) और जी० पी० मललसेकर का 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन' (लन्दन, १९२८) क्रमशः बरमा और लंका के पालि साहित्य पर अच्छे विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। डा० विन्टर-नित्ज़ ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर' (कलकत्ता, १९२३) की दूसरी जिल्द (पृष्ठ १–४२३) में पालि साहित्य का संक्षिप्त किन्तु

अत्यन्त प्रामाणिक विवरण दिया है। पालि भाषा और साहित्य का अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर विद्वत्तामय विवेचन जर्मन विद्वान् डा० विल्हेल्म गायगर ने अपने ग्रन्थ 'पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज' (अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता, १९४३) में किया है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में पालि साहित्य का निर्देश तो अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप में किया गया है (पृष्ठ ९–५८), किन्तु पालि भाषा का शास्त्रीय दृष्टि से जितना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन (पृष्ठ १–७ तथा ६१–२५०) इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। पालि भाषा और साहित्य दोनों के परिपूर्ण और शृंखलाबद्ध विवेचन की दृष्टि से डा० विमलाचरण लाहा का दो जिल्दों में प्रकाशित 'हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर' (लन्दन, १९३३) एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, यद्यपि इसका भाषा-सम्बन्धी विवेचन डा० गायगर के ग्रन्थ के सामने नगण्य सा है। पालि साहित्य-सम्बन्धी इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अलावा उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले अनेक प्रबन्ध एवं परिचयात्मक निबन्ध आदि हैं, जो पालि टैक्स्ट् सोसायटी के 'जर्नल' में अनुसन्धेय हैं। रॉयल एशियाटिक सोसायटी के 'जर्नल' तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स में भी प्रासंगिक तौर पर पालि साहित्य सम्बन्धी प्रभूत सामग्री मिलती है। पालि टैक्स्ट सोसायटी लन्दन के अंग्रेजी-अनुवादों की भूमिकाओं और अनुक्रमणिकाओं में भी भारी सामग्री भरी पड़ी है, जिसका उपयोग पालि साहित्य के किसी भी इतिहासकार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो सकता है। सम्पूर्ण पालि साहित्य में प्राप्त व्यक्तिवाचक नामों का विवरणात्मक कोश (पालि डिक्शनरी ऑव प्रॉपर नेम्स) जिसे अत्यन्त परिश्रम और विद्वत्ता के साथ सिंहली विद्वान् डा० मललसेकर ने, विशेषतः पालि टैक्स्ट सोसायटी के अनुवादों की अनुक्रमणियों के आधार पर, ग्रथित किया है, पालि साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सदा एक प्रेरणा की वस्तु रहेगी। पालि साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर विवेचन हमें कर्न के 'मैनुअल ऑव इन्डियन बुद्धिज्म (स्ट्रैसबर्ग १८९६), रायस डेविड्स के 'बुद्धिज्म: इट्स हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर' (लन्दन, १९१०) एवं 'बुद्धिस्ट इंडिया' (लन्दन, १९०३) आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। वंश-साहित्य पर डा० गायगर का 'दीपवंस एण्ड महावंस' (अंग्रेजी अनुवाद, कोलम्बो १९०८) एक महत्त्वपूर्ण समालोचनात्मक ग्रंथ है। अभिधम्म-पिटक के विषय का विवेचन करने वाले प्रबन्धों और ग्रन्थों में स० ज़०

औंग का 'अभिधम्म लिटरेचर इन बरमा' (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९१०-१२), डा० सिलवा का 'ट्रीटाइज औन बुद्धिस्ट फिलासफी' श्रीमती रायस डेविड्स की 'ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स' (धम्म संगणि का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन १९००) की भूमिका, महास्थविर ज्ञानातिलोक की 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक (लुज़ाक एण्ड कं०, लन्दन, १९३८) एवं भिक्षु जगदीश काश्यप की 'अभिधम्म फिलॉसफी) (दो जिल्दें, सारनाथ १९४२) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार सुत्त-पिटक, विनय-पिटक, पालि काव्य, व्याकरण, अभिलेख-साहित्य, अट्ठकथा-साहित्य आदि पालि-साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर इतनी विवेचनात्मक सामग्री अंग्रेजी और यूरोप की अन्य भाषाओं जैसे फ्रेंच और जर्मन में भरी पड़ी है कि उसके संक्षिप्त तम निर्देश के लिए भी एक महाग्रन्थ की आवश्यकता पड़ेगी। यह कहना अतिशयोक्ति न जान पड़े इसलिए यहाँ यह बता देना जरूरी है कि गत सत्तर-अस्सी वर्षों में पश्छिमी देशों में भारतीय विद्या-सम्बन्धी जो खोज-कार्य हुआ है, उसका तीन-चौथाई बौद्ध धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति से ही सम्बन्धित है।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषा में पालि साहित्य के इतिहास पर लिखी जाने वाली यह प्रथम पुस्तक है। इस पृष्ठभूमि से देखने पर इसमें अनेक अनिवार्य कमियाँ मिलेंगी, जिनकी पूर्ति भावी विद्वानों की कृतियाँ करेंगी। १२-१-४७ के अपने कृपा-पत्र में पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने मुझे उत्साहित करते हुए लिखा था—"हिन्दी में 'पालि साहित्य का इतिहास' लिखा जाय तो ऐसा ही लिखा जाय कि अंग्रेजी इतिहास फीके पड़ जायें और १९४७ तक की साहित्यिक खोज का पूरा पूरा सार रहे।......अपनी राष्ट्र-भाषा में 'पालि साहित्य का इतिहास' लिखा जाय तो वह ऐसा ही होना चाहिए कि उसे ही पढ़ने के लिए लोगों को हिन्दी पढ़नी पड़े"। मैं नहीं कह सकता कि पूज्य भदन्त जी ने मुझसे जो बड़ी आशा बाँधी थी, उसे पूरा करने में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ। परन्तु मुझे विश्वास है कि बरमा, सिंहल और स्याम के निवासी भी यदि बुद्ध के देश के इस माणवक के पालि साहित्य सम्बन्धी विवरण को पढ़ेंगे तो अधिक निराश नहीं होंगे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन और पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप जी के अनुवादों से मुझे इस पुस्तक के लिखने में बड़ी

सहायता मिली है। पूज्य भिक्षु काश्यप जी के अभिधम्म-सम्बन्धी अध्ययन के फलों और निष्कर्षों को (जैसे कि वे अभिधम्म फिलॉसफी में प्रस्फुटित हुए हैं) पाठक इन पृष्ठों में हिन्दी-रूप में प्रतिबिम्बित देखेंगे और पूज्य राहुल जी की विद्वत्ता के फलों से मैं कितनी प्रकार लाभान्वित हुआ हूँ, इसकी तो कोई इयत्ता नहीं। उन्होंने कृपा कर इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखा है, जिसके लिए उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। पूज्य आचार्य श्री वियोगी हरिजी ने इस रचना में आदि से ही बड़ी रुचि दिखाई है, यह मेरे लिए एक बड़ी प्रेरणा और आश्वासन की बात रही है। उन्होंने ही श्री राहुल जी से मेरा परिचय कराया और इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायता भी की। आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जी ने इस ग्रन्थ की रूपरेखा को देखकर मुझे अत्यधिक उत्साहित किया, जिसके लिए उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। पूज्य गुरुवर आचार्य श्री जगन्नाथ तिवारी जी, आचार्य श्री धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री, आचार्य श्री सीताराम जी चतुर्वेदी एवं आचार्य श्री कृष्णानन्द जी पन्त का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कृपा कर पांडु लिपि के कई अंशों को ध्यानपूर्वक पढ़ा और सत्परामर्श दिये। राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन, श्री चन्द्रबलीजी पाण्डेय, श्री कृष्णदेव प्रसादजी गौड़, श्री दयाशंकरजी दुबे, श्री पं० लक्ष्मीनारायणजी मिश्र, श्री रामप्रतापजी त्रिपाठी, एवं सम्मेलन की साहित्य-समिति के सदस्यों का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को सम्मेलन के द्वारा प्रकाशन के योग्य समझा। अन्त में मैं श्री सीतारामजी गुण्ठे, व्यवस्थापक सम्मेलन मुद्रणालय तथा उनके सहयोगियों के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ, जिन्होंने बड़ी दक्षता से इस पुस्तक को छापा है। भगवान बुद्ध का अनुभाव उन पर अभिवर्षित हो !

किसी खोजपरक विवेचनात्मक ग्रन्थ के लेखक के लिए आजकल यह प्रायः आवश्यक माना जाता है कि वह यह बताये कि कहाँ तक उसने अपने पूर्वगामियों का अनुसरण किया है अथवा कहाँ तक उसने मौलिक स्थापनाएँ और निष्कर्ष उपस्थित किए हैं। मैं समझता हूँ यह काम तो पालि-साहित्य के मर्मज्ञ समालोचक ही, जिन्होंने पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों के ग्रन्थों को पढ़ा है, कर सकेंगे। जहाँ तक मैं समझता हूँ मैंने इस पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ, पंक्ति-पंक्ति, शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर का विश्लेषण कर देखा तो मुझे कहीं 'मैं' या 'मेरा' नही मिला, 'अपना' कुछ दिखाई

नहीं दिया। जो 'मैं' नहीं है, जो मेरा 'अपना' नहीं है, उसको जितना जल्दी हो छोड़ देना ही मेरे लिए कल्याणकारी होगा। इसी विचार के साथ मैं समाप्त करता हूँ।

जैन कालेज, बड़ौत,
१०-९-५१

भरतसिंह उपाध्याय

विषय-सूची

पहला अध्याय

पालि भाषा

दूसरा अध्याय

पालि साहित्य का विस्तार, वर्गीकरण और काल-विभाग

तीसरा अध्याय

सुत्त-पिटक

दसवाँ अध्याय

काव्य, व्याकरण, कोश, छन्द:शास्त्र, अभिलेख आदि

उपसंहार

पहला अध्याय

पालि भाषा

'पालि' शब्दार्थ-निर्णय

जिसे हम आज पालि भाषा कहते हैं, वह उसका प्रारम्भिक नाम नहीं है। भाषा-विशेष के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। कम से कम ईसा की तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दीसे पूर्व उसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता। 'पालि' शब्द का सब से पहला व्यापक प्रयोग हमें आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी) की अट्ठकथाओं और उनके 'विसुद्धिमग्ग' में मिलता है। वहाँ यह शब्द अपने उत्तरकालीन भाषा-सम्बन्धी अर्थ से मुक्त है। आचार्य बुद्धघोष ने दो अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है, (१) बुद्ध-वचन या मूल त्रिपिटक के अर्थ में, (२) 'पाठ' या 'मूल त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ में। चूंकि 'मूल त्रिपिटक' और 'मूल त्रिपिटक के पाठ' में भेद कहने भर को है, अतः मोटे तौर से कहा जा सकता है कि 'मूल त्रिपिटक' या 'बुद्ध-वचन' के सामान्य अर्थ में ही बुद्धघोष महास्थविर ने 'पालि' शब्द का प्रयोग किया है। जिस किसी प्रसंग में उन्हें पोराण-अट्ठकथा (प्राचीन अर्थकथा) से विभिन्नता दिखाने के लिये मूल त्रिपिटक के किसी अंश को उद्धृत करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'पालि' शब्द से बुद्ध-वचन या मूल त्रिपिटक को अभिव्यक्त किया है, जैसे 'विसुद्धिमग्ग' में "इमानि ताव पालियं, अट्ठकथायं पन ...." (ये तो 'पालि' में हैं, किन्तु 'अट्ठकथा' में तो ......" तथा वहीं "नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं" (यह न 'पालि' में आया है और न 'अट्ठकथा' में)। इसी प्रकार 'सुमंगलविलासिनी' (दीघ-निकाय की अट्ठकथा) की सामञ्ञफलसुत्त-वण्णना में "नेव पालियं न अट्ठकथायं दिस्सति" (यह न 'पालि' में दिखाई देता है और न 'अट्ठकथा' में) तथा पुग्गलपञ्ञत्ति-अट्ठकथा में "पालिमुत्तकेन पन अट्ठकथानयेन". ('पालि' को छोड़कर 'अट्ठकथा' की प्रणाली से) आदि। इसके अलावा जहाँ उन्हें त्रिपिटक की व्याख्या करते हुए कहीं कहीं उसके पाठान्तरों का निर्देश करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'इति

पि पालि' (ऐसा भी पाठ है) कह कर 'पालि' शब्द से मूल त्रिपिटक के 'पाठ' को द्योतित किया है, जैसे 'सुमंगलविलासिनी' की सामञ्ञफलसुत्त-वण्णना में 'महच्च-राजानुभावेन' पद की व्याख्या करते हुए पहले उन्होंने उसका अर्थ किया है 'महता राजानुभावेन' और फिर पाठान्तर का निर्देश करते हुए लिखा है 'महच्चा इति पि पालि' अर्थात् 'महच्चा' ऐसा भी पाठ है। यहाँ 'पालि' का अर्थ निश्चित रूप से 'पाठ' ही है, यह इस बात से प्रकट होता है कि समान प्रसंगों में 'पालि' के समानार्थ वाची शब्द के रूप में 'पाठ' शब्द का भी प्रचुर प्रयोग आचार्य बुद्धघोष ने किया है। कुछ एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। "सेतकानि अट्ठीनि....सेतट्ठिका ति पि पाठो" (समन्तपासादिका—वेरञ्जकण्डवण्णना) तथा "अपगतकाळको.....अपहतकाळको ति पि पाठो" (समन्तपासादिका-वेरञ्जकण्ड-वण्णना)

आचार्य बुद्धघोष के कुछ ही समय पूर्व लंका में लिखे गये 'दीपवंस' ग्रन्थ में भी, जो चौथी शताब्दी ईसवी की रचना है, 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के अर्थ में ही किया गया है।[1] आचार्य बुद्धघोष के बाद भी सिंहल देश में 'पालि' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों अर्थों में होता रहा। आचार्य धम्मपाल (पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी) ने अपनी 'परमत्थदीपनी' (खुद्दक-निकाय के कतिपय ग्रन्थों की अट्ठकथा) में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक के 'पाठ' के अर्थ में किया है, यथा "अयाचितो ततागच्छीति....आगतो ति पि पालि"। इसी प्रकार 'बुद्ध-वचन' के अर्थ में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग वहाँ उपलक्षित होता है। 'चूळवंस' (तेरहवीं शताब्दी) में भी, जो 'महावंस' (छठी शताब्दी) का उत्तरकालीन परिवर्द्धित अंश है, 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन, अटठकथा से व्यतिरिक्त मूल पालि त्रिपिटक, के अर्थ में ही किया गया है। उसका एक अति प्रसिद्ध वाक्य है—"पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध"[2] (यहाँ केवल 'पालि' ही लाई गई है, 'अट्ठकथा' यहाँ नहीं है)। इसी प्रकार 'पालि महाभिधम्मस्स' अर्थात् 'मूल त्रिपिटक के अन्तर्गत अभिधम्म का' ऐसा भी प्रयोग वहीं मिलता है।[3] उसी के

---

१. २०।२० (ओल्डनबर्ग का संस्करण)

२. ३७।२२७; मिलाइये वहीं ३३।१०० (गायगर का संस्करण)

३. ३७।२२१ (गायगर का संस्करण)

समकालिक 'सद्धम्मसंगह' (तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी) में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।[1]

उपर्युक्त उद्धरण 'पालि' शब्द के अर्थ-निर्धारण में बड़े महत्व के हैं। चौथी शताब्दी ईसवी से लेकर चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक जिन अर्थों में 'पालि' शब्द का प्रयोग होता रहा है, उसका वे दिग्दर्शन करते हैं। अतः उनसे हमें एक आधार मिलता है, जिसका आश्रय लेकर हम चौथी शताब्दी ईसवी से पहले 'पालि' शब्द के इतिहास पर विचार कर सकते हैं। त्रिपिटक में तो 'पालि' शब्द मिलता नहीं। त्रिपिटक को आधार मान कर लिखे हुए साहित्य में भी बुद्धघोष की रचनाओं या 'दीपवंस' के समय से पूर्व किसी ग्रन्थ में 'पालि' शब्द का निर्देश नहीं मिलता। फिर आचार्य बुद्धघोष ने किस परम्परा का आश्रय ग्रहण कर 'पालि' शब्द को उपर्युक्त अर्थों में प्रयुक्त किया, यह हमारे गवेषण का मुख्य विषय है। दूसरे शब्दों में, बुद्धघोष के समय से पहले 'पालि' शब्द का इतिहास हमें जानना है। भाषाओं के विकास में, स्थान और युग की विशेष परिस्थितियों के कारण, शब्दों के रूपों, अर्थों और ध्वनियों में नाना विकार होते रहते हैं। ध्वनि, रूप और अर्थ के उन विकारों को हमें ढूंढना है, जिनका अतिक्रमण कर 'पालि' शब्द बुद्धघोष के समय तक 'बुद्ध-वचन' या 'मूल त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और फिर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक उसी अर्थ को धारण करता रहा। उसके बाद के अर्थ-विकार की बात तो बाद में। उपर्युक्त महत्वपूर्ण उद्धरणों में 'पालि' शब्द के जो अर्थ व्यक्त किये गये हैं, उन्हीं को आधार मानकर कुछ आधुनिक विद्वानों ने 'पालि' शब्द की निरुक्ति के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं, जिनमें तीन अधिक प्रभावशाली हैं। पहली स्थापना इस बात को प्रमुखता देकर चलती है कि बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में चूंकि 'पालि' शब्द 'बुद्ध-वचन' या 'मूल त्रिपिटक' के अर्थ को व्यक्त करता है, इसलिये उसका मूल रूप भी कोई ऐसा शब्द रहा होगा जो बुद्ध-काल में इसी अर्थ को सूचित करता हो। दूसरी स्थापना इसी प्रकार 'पालि' शब्द के 'पाठ' अर्थ को प्रमुखता देकर चलती है। तीसरी स्थापना संस्कृत शब्द 'पालि' जिसका अर्थ पंक्ति है, को प्रधानता देकर उसे बुद्धघोष आदि आचार्यों

---

१. पृष्ठ ५३ (सद्धानन्द द्वारा सम्पादित एवं जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट् सोसायटी, १८९०, में प्रकाशित संस्करण)

के द्वारा प्रयुक्त 'पालि' शब्द के अर्थों के साथ संगत करने का प्रयत्न करती है। इन तीनों स्थापनाओं की समीक्षा हमें करनी है।

पहली स्थापना के अनुसार 'पालि' शब्द का प्राचीनतम रूप हमें 'परियाय' शब्द में मिलता है। 'परियाय' शब्द त्रिपिटक में अनेक बार आया है। कहीं कहीं ''धम्म' शब्द के साथ और कहीं कहीं अकेले भी इस शब्द का व्यवहार हुआ है। उदाहरणतः 'को नामो अयं भन्ते धम्मपरियायो ति'[१] (भन्ते! यह किस नाम का धम्म-परियाय है) 'भगवता अनेक परियायेन धम्मो पकासितो'[२] (भगवान् ने अनेक पर्यायों से धर्म को प्रकाशित किया) आदि, आदि। स्पष्टतः ऐसे स्थलों में 'परियाय' शब्द का अर्थ बुद्धोपदेश है। बाद में 'परियाय' शब्द का ही विकृत रूप 'पलियाय' हो गया। अशोक के प्रसिद्ध भाब्रू शिलालेख में 'पलियाय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। मगध के भिक्षु-संघ को कुछ चुने हुए बुद्ध-वचनों के स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हुए प्रियदर्शी 'धम्मराजा' कहते हैं ''भन्ते! ये धम्म-पलियाय हैं। मैं चाहता हूँ कि सभी भिक्षु-भिक्षुणियाँ, उपासक और उपासिकाएँ, इन्हें सदा सुनें और पालन करें।''[३] 'पलियाय' शब्द के 'पलि' उपसर्ग का दीर्घ होकर बाद में 'पालियाय' शब्द बन गया। 'पालियाय' शब्द का ही संक्षिप्त रूप बाद में 'पालि' होकर 'बुद्ध-वचन' या 'मूल त्रिपिटक' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इस मत की स्थापना भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने 'पालि महाव्याकरण' की वस्तुकथा में योग्यतापूर्वक की है।[४]

दूसरा मत, जिसकी स्थापना भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने अंग्रेजी निबन्ध ''पालि भाषा का उद्गम और विकास, विशेषतः संस्कृत व्याकरण के आधार पर''में की है,[५] इससे कुछ भिन्न है। उनके मतानुसार 'पालि' या ठीक कहें तो 'पाळि' शब्द

---

१. ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ. १।१)

२. सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ-१।२)

३. इमानि भन्ते धम्मपलियायानि............एतानि भन्ते धम्मपलियायानि इच्छामि किति बहुके भिखुपाये भिखुनिये चा अभिखिनं सुनयु च उपधालेयेयु च। हेवं हेवा उपासका च उपासिका चा।

४. पृष्ठ आठ-बारह।

५. बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६४१-६५६

का मूल उद्गम संस्कृत 'पाठ' शब्द है। इस मत के अनुसार संस्कृत 'पाठ' शब्द का ही विकृत या परिवर्तित रूप 'पाळि' या 'पालि' है। यह विकास-क्रम भिक्षु सिद्धार्थ के मतानुसार कुछ-कुछ इस प्रकार चला। प्राचीन काल में 'पाठ' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण लोग विशेषतः वेद-वाक्यों के 'पाठ' के लिये किया करते थे। भगवान् बुद्ध के समय में भी यह परम्परा ब्राह्मणों में चली आ रही थी। जब अनेक ब्राह्मण-महाशाल बुद्ध-मत में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने इसी शब्द को, जिसे वे पहले वेद के पाठ के अर्थ में प्रयुक्त करते थे, अब बुद्ध-वचनों के लिये प्रयुक्त करना आरम्भ कर दिया। यह स्वाभाविक भी था। जब उन्होंने बुद्ध को 'मुनि' 'वेदज्ञ' 'वेदान्तज्ञ' कह कर अपनी श्रद्धा अर्पित की, तो उनके वचनों के निर्देश के लिये भी वे पवित्र 'पाठ' शब्द का अभिधान क्यों न करते? भिक्षु सिद्धार्थ ने ठीक ही 'पाठ' शब्द के अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दों की सूची दी है, जो पहले वैदिक परम्परा के थे किन्तु बौद्ध संघ में आकर जिन्होंने नये स्वरूप ग्रहण कर लिये थे। 'संहिता' 'सहित' होगई, 'तन्त्र' 'तन्ति' हो गया, 'प्रवचन' 'पावचन' हो गया। अतः प्राचीन 'पाठ' शब्द का भी बौद्ध संस्करण असम्भव न था। किन्तु बौद्धों ने जो कुछ लिया उसे एक नया स्वरूप भी प्रदान किया। संस्कृत 'पाठ' शब्द भिक्षु-संघ में आकर 'पाळ' हो गया। यह ध्वनि-परिवर्तन भाषा-विज्ञान के नियमों के आधार पर सर्वथा सम्भव भी था। संस्कृत के सभी मूर्द्धन्य व्यञ्जन (ट् ठ् ड् ढ् ण्) पालि और प्राकृत भाषाओं में 'ळ्' हो जाते हैं। उदाहरणतः संस्कृत 'आटविक' पालि में 'आळविक' है, सं० 'पटच्चर' पालि में 'पळच्चर' है, सं० 'एडक' पालि में 'एळक' है। इसी प्रकार सं० वेणु-पालि वेळु; सं० दृढ़-पालि दळ्ह, आदि, आदि। 'पाळ' शब्द का ही बाद में विकृत रूप 'पालि' हो गया। यह भी भाषा-विज्ञान सम्बन्धी नियमों के असंगत न था। अन्त्य स्वर-परिवर्तन का विधान पालि में अक्सर देखा जाता है, जैसे संस्कृत 'अंगुल' से पालि 'अंगुलि-अंगुली'; सं० 'सर्वज्ञ' से पालि सब्बञ्ञू आदि, आदि। अतः मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'पाळ' शब्द का विकृत रूप 'पालि' हो गया। 'पालि' शब्द में 'ल्' व्यञ्जन वैदिक मूर्द्धन्य 'ळ्' ध्वनि का प्रतिरूप था। इस ध्वनि का विकास कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'ड्' के रूप में हुआ है। यह वैदिक ध्वनि अन्तःस्थ 'ल्' से भिन्न थी। किन्तु 'ळ्' और 'ल्' के उच्चारणों में भेद न कर सकने के कारण बाद में मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'पालि' शब्द को 'पाळि' शब्द के साथ मिला दिया गया, जो वास्तव में व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से एक बिलकुल भिन्न शब्द था। 'पाळि' शब्द के साथ इस

प्रकार मिल कर 'पालि' शब्द भी बुद्ध-वचन के ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। भिक्षु सिद्धार्थ के मतानुसार 'पालि' शब्द की यही निरुक्ति है।

तीसरे मत का निर्देश करने से पूर्व इन दोनों मतों की कुछ समीक्षा कर लेना आवश्यक होगा। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से दोनों मत निर्दोष हैं। ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों पर दोनों खरे उतरते हैं। दोनों एक दूसरे के विरोधी भी नहीं हैं। जहाँ तक वे भिन्न भिन्न हेतुओं से 'पालि' शब्द का तात्पर्य 'बुद्ध-वचन' में दिखलाते हैं, वे एक दूसरे के पूरक हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भिक्षु सिद्धार्थ के मत की एक निर्बलता है। उन्होंने 'पाठ' शब्द का विकृत रूप 'पाळ' बतलाया है और फिर उससे 'पाळि' या 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की है। इसे ऐतिहासिक रूप से ठीक होने के लिये यह आवश्यक है कि 'पाळ' शब्द का प्रयोग पालि-साहित्य में उपलब्ध हो। तभी उसके आधार पर 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की स्थापना की जा सकती है। ऐसा कोई उदाहरण भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने उक्त निबन्ध में नहीं दिया। आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से जो उदाहरण उन्होंने दिये हैं, उनमें भी 'इति पि पाठो'ही बुद्धघोषोक्त वचन है, 'इति पि पाळो' नहीं। जब बुद्धघोष के समय अर्थात् ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक 'पाठ' शब्द का वैसा ही संस्कृत का सा रूप पालि-साहित्य में मिलता है, तो फिर इस स्थापना के लिये क्या आधार है कि बुद्ध-काल में ही संघ में आकर उसका रूप 'पाळ' हो गया था? वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से तो यही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है कि 'इति पि पालि' के बाद ही, उससे पहले नहीं, 'इति पि पाठो' लिखना आरम्भ किया गया होगा, जब कि त्रिपिटक के पठन-पाठन का प्रचार कुछ अधिक बढ़ा होगा। श्रीमती रायस डेविड्स का भी यही मत है[1]। अतः भिक्षु सिद्धार्थ की व्युत्पत्ति के लिये कोई अवकाश नहीं रह जाता। इस ऐतिहासिक आधार की कमी के कारण वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। भिक्षु जगदीश काश्यप के मत में ऐसी कोई कमी दिखाई नहीं देती। भाब्रू शिलालेख का अद्वितीय साक्ष्य उसे प्राप्त है। 'पेय्यालं' शब्द में भी यही तत्व निहित है[2]। अतः एक पूरी परम्परा का आधार लेने के कारण और इस कारण भी कि पालि साहित्य में उपलब्ध 'पालि' शब्द के समस्त विकृत

---

१. देखिये उनका शाक्य और बुद्धिस्ट ऑरीजिन्स, पृष्ठ ४२९-३०

२. देखिये पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तेतालीस (वस्तुकथा)

या विकसित रूपों के साथ उसकी संगति लग जाती है, वह मत हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में एक मान्य सिद्धान्त है।

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में तीसरा मत पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का है। उनके मतानुसार 'पालि' शब्द का अर्थ 'पंक्ति' है और इस प्रकार वह संस्कृत 'पालि' शब्द का पर्यायवाची है। इस मत को पालि भाषा और साहित्य का भी कुछ समर्थन प्राप्त न हो, ऐसी बात नहीं है। प्रसिद्ध पालि कोश 'अभिधानप्पदीपिका' (बारहवीं शताब्दी) में 'पालि' शब्द के 'बुद्धवचनं' अर्थ के साथ साथ 'पंक्ति' अर्थ भी दिया गया है। "तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि"। पालि-साहित्य में 'अम्ब-पालि' 'दन्तपालि' जैसे प्रयोग भी 'पालि' शब्द के 'पंक्ति' अर्थ को ही द्योतित करते हैं। अतः 'पालि' शब्द का अर्थ पंक्ति' और बाद में 'ग्रन्थ की पंक्ति' इस आधार पर कर लिया गया है और बुद्धघोष द्वारा प्रयुक्त अर्थ के साथ उसकी संगति भी मिला ली गई है। किन्तु इस मत में दोष फिर भी स्पष्ट हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप ने उसमें प्रधानतया तीन कमियाँ दिखाई हैं।[1] (१) 'पंक्ति' के लिये लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है। त्रिपिटक प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व से पहले लिखा नहीं गया था। अतः उस समय के लिये त्रिपिटिक के उद्धरण के लिये 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द इस अर्थ में नहीं उपयुक्त हो सकता था। (२) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति' होता तो उस अवस्था में 'उदान-पालि' जैसे प्रयोगों में 'उदान-पंक्ति' अर्थ करने से कोई समझने योग्य अर्थ नहीं निकलता (३) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति'होता तो अट्ठकथाओं आदि में कहीं भी उसका बहुवचन में भी प्रयोग दृष्टिगोचर होना चाहिये था, जो नहीं होता। अतः 'पालि' शब्द का 'पंक्ति' अर्थ उसके मौलिक स्वरूप तक हमें नहीं ले जा सकता। हाँ, भिक्षु जगदीश काश्यप ने जो आपत्तियाँ उठाई हैं, उनमें से प्रथम के उत्तर में आंशिक रूप से यह कहा जा सकता है कि त्रिपिटक की अलिखित अवस्था में 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द से तात्पर्य केवल शब्दों की पठित पक्ति से लिया जाता रहा होगा और उसके लेखबद्ध कर दिये जाने पर उसकी लिखित पंक्ति ही 'पालि' कहलाई जाने लगी होगी। श्रीमती रायस डेविड्स ने इसी प्रकार का मत प्रकाशित किया है।[2]

---

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ आठ (वस्तुकथा)

२. देखिये उनका शाक्य और बुद्धिस्ट ऑरीजिन्स, पृष्ठ ४२९-३०

फिर भी इस मत से 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। अतः प्रस्तुत प्रसंग में वह हमारे लिये महत्वपूर्ण नहीं हो सकता।

उपर्युक्त मतों के अलावा एक मत जर्मन विद्वान् डा० मैक्स वेलेसर ने सन् १९२४ और फिर १९२६ में प्रकाशित किया था। इस मत के अनुसार ('पाटलि' या 'पाडलि' (पाटलिपुत्र की भाषा) शब्द का ही संक्षिप्त रूप 'पालि' है। चूँकि 'पालि' शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के अर्थ में अट्ठकथाओं तक में कहीं मिलता नहीं, अतः मैक्स वेलेसर का मत अपने आप गिर जाता है। डा० थॉमस द्वारा उसका पर्याप्त प्रतिवाद कर दिये जाने पर[1] आज उसका कोई नाम नहीं लेता। यही भाग्य कुछ अन्य अल्प प्रसिद्ध मतों का भी हुआ है, जिनमें ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा उनके उद्भावकों का बुद्धि-वैचित्र्य ही अधिक दिखाई पड़ता है। इस प्रकार कुछ 'पल्लि' (गाँव) शब्द से 'पालि' भाषा की उत्पत्ति बताकर उसे ग्रामीण भाषा बताना चाहते हैं, कुछ प्राकृत-पाकट-पाअड-पाअल-पालि इस प्रकार उसकी व्युत्पत्ति करना चाहते हैं, कुछ संस्कृत 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) शब्द से उसकी व्युत्पत्ति बताकर उसमें एक विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्य की खोज करना चाहते हैं[2]। यह सब अन्धकार ही अन्धकार है।

हाँ, 'अभिधानप्पदीपिका' के 'पालि' शब्द के महत्वपूर्ण अर्थ को लेकर हमें कुछ और विचार कर लेना चाहिये। 'पालि' शब्द को तन्ति ' (संस्कृत तन्त्र) 'बुद्ध-वचन' और 'पंक्ति' का समानार्थवाची मानते हुए इसकी व्युत्पत्ति वहाँ की गई है--"पा-पालेति रक्खतीति पालि" अर्थात् जो पालन करती है, रक्षा करती है, वह 'पालि' है। किसको पालन करती है? किसकी रक्षा करती है? स्पष्टतम उत्तर है बुद्ध-वचनों को। 'पालि' ने किस प्रकार बुद्ध-वचनों का पालन किया, किस प्रकार उनकी रक्षा की? एक उत्तर है त्रिपिटक के रूप में उनका संकलन कर के,

---

१. इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, दिसम्बर १९२८ पृष्ठ ७७३; मिलाइये विंटरनित्जः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०५ (परिशिष्ट दूसरा); लाहाः पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १८ (भूमिका); देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३०-३१ में डा० कीथ द्वारा मैक्स वेलेसर के मत का खण्डन भी।

२. देखिये जहांगीरदार-कृत कम्पेरेटिव फिलॉलॉजी ऑव दि इन्डो आर्यन लेंग्वेजेज में पालि-सम्बन्धी विवेचन।

दूसरा उत्तर है लंकाधिपति वट्टगामणि के समय में उनको लेखबद्ध कर के। त्रिपिटक का संकलन किया, इसलिये 'पालि' 'बुद्ध-वचन' है, त्रिपिटक को लेखबद्ध किया, इसलिये 'पालि' 'पंक्ति' है। ऐसा मालूम पड़ता है 'अभिधानप्पदीपिका' कार ने 'पालि' शब्द के इस पालन करने या रक्षा करने सम्बन्धी अर्थ पर जोर देकर उस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य की ओर संकेत किया है,जो सिंहल में सम्पादित किया गया और जिसके विषय में 'महावंश' में लिखा है "त्रिपिटक की पालि (पंक्ति) और उसकी अट्ठकथा को, जिन्हें पूर्व में महामति भिक्षु कंठस्थ कर के ले आये थे, प्राणियों की (स्मृति-) हानि देख कर, भिक्षुओं ने एकत्रित हो, धर्म की चिरस्थिति के लिये पुस्तकों में लेखबद्ध करवाया।"[१] कुछ भी हो, 'पालि' शब्द के इतिहास की दृष्टि से 'अभिधानप्पदीपिका' की निरुक्ति अवश्य महत्वपूर्ण है, यद्यपि वह 'पालि' शब्द के मौलिक रूप 'परियाय' पर विचार नहीं करती। वह केवल उसका समानार्थवाची 'बुद्ध-वचन' शब्द दे देती है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि 'पालि' शब्द की निरुक्ति और उसका अर्थ-निर्वचन जो 'परियाय' या 'पलियाय शब्द में उसके मुल रूप को खोजता है, हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में एक मान्य सिद्धान्त है। 'तत्तु समन्वयात्'।

पालि भाषा

ऊपर हमने चौदहवीं शताब्दी तक का 'पालि' शब्द का इतिहास देखा है। इस बीच हमें एक भी उदाहरण ऐसा न मिला जिसमें 'पालि' शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के अर्थ में किया गया हो। फिर कब इस शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के स्थान पर जिस भाषा में बुद्ध-वचन लिखे गये, उसके लिये होने लगा, इसका निर्धारण करना कठिन है। फिर भी हुआ यह बड़े स्वाभाविक नियम के आधार पर। पहले 'तन्ति' या त्रिपिटक की भाषा को द्योतित करने के लिये सिंहल में 'तन्ति-भाषा' जैसा सामासिक शब्द प्रचलित हुआ। उसी का समानार्थवाची शब्द 'पालि-भाषा' भी बाद में प्रयुक्त होने लगा। पालि-भाषा' अर्थात् पालि (बुद्ध-वचन) की भाषा। बाद में स्वयं 'पालि' शब्द ही भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। आज 'पालि' से तात्पर्य हम उस भाषा से लेते हैं, जिसमें स्थविरवाद बौद्धधर्म का

---

१. ३३।१००-१०१; देखिये महावंश पृष्ठ १७८-७९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

तिपिटक और उसका सम्पूर्ण उपजीवी साहित्य रक्खा हुआ है। किन्तु 'पालि' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग स्वयं पालि-साहित्य में भी कभी नहीं किया गया है। जिस भाषा में तिपिटक लिखा गया है, उसके लिये वहाँ मागधी, मगध-भाषा, मागधा निरुत्ति, मागधिक भाषा जैसे शब्दों का ही व्यवहार किया गया है, जिनका अर्थ होता है मगध-देश में बोले जाने वाली भाषा। इस प्रकार के प्रयोगों के कुछ-एक उदाहरण ही यहाँ पर्याप्त होंगे, यथा, मागधानं निरुत्तिया परिवत्तेहि (मागधी भाषा में रूपान्तरित करो)—महावंश, परिच्छेद ३७। ...... भासिस्सं मागधं सद्दलक्खणं (मागधी भाषा के व्याकरण का निरूपण करूँगा)—मोग्गल्लान-व्याकरण का आदि श्लोक, आदि। सिंहली परम्परा के अनुसार मागधी ही वह 'मूल' भाषा है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे और जिसमें ही उनका संग्रह 'तिपिटक' नाम से किया गया था। इसी अर्थ को व्यक्त करते हुए कच्चान-व्याकरण में कहा गया है "सा मागधी मूल भासा....सम्बुद्धा चापि भासरे" (मागधी ही वह मूल भाषा है जिसमें .....सम्यक् सम्बुद्ध ने भी भाषण दिया)। अट्ठकथाचार्य भगवान् बुद्धघोष की भी यही मान्यता थी "सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको वोहारो" (सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त मागधी भाषा-प्रयोग)—समन्तपासादिका। इस रूप में मागधी भाषा की प्रतिष्ठा स्थविरवादी बौद्ध साहित्य में इतनी अधिक है कि कहीं कहीं उसके गौरव के विषय में इतना अधिक अर्थवाद कर दिया गया है कि वह आधुनिक ऐतिहासिक बुद्धि को कुछ अखरता भी है। मागधी भाषा को यहाँ सम्पूर्ण प्राणियों की आदि भाषा ही मान लिया गया है। आचार्य बुद्धघोष ने 'विसुद्धिमग्ग' में कहा है "मागधिकाय सब्बसत्तानं मूलभासाय" (सम्पूर्ण प्राणियों की मूल भाषा मागधी का)। इसी प्रकार महावंस, परिच्छेद ३७ में कहा गया है "सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया" (सम्पूर्ण प्राणियों की मूल भाषा मागधी भाषा का) आदि। निश्चय ही सिंहली परम्परा अपनी इस मान्यता में बड़ी दृढ़ है कि जिसे हम आज 'पालि' कहते हैं, वह बुद्धकालीन भारत में बोले जाने वाली मगध की भाषा ही थी। कहाँ तक या किन अर्थों में यह परम्परा ठीक है, यह हमारे अध्ययन की सम्भवतः सब से अधिक महत्वपूर्ण समस्या है। पालि स्वाध्याय के प्रथम युग में उपर्युक्त सिंहली परम्परा सिंहली भिक्षुओं की एक मनगढ़ंत कल्पना मानी जाती थी। ओल्डनबर्ग ने इस मान्यता के प्रचार में काफी योग दिया था। अनेक प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् भी उनके इस प्रवाह में बह गये

थे।[1] किन्तु उसके बाद इस दिशा में जो महत्वपूर्ण गवेषण-कार्य हुआ है, उससे अब हमें पथभ्रष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। इस महत्वपूर्ण समस्या पर हम अभी भारतीय भाषाओं के विकास में पालि की पृष्ठभूमि को देखने के बाद आयेंगे।

भारतीय भाषाओं के विकास में पालि का स्थान

भारतीय भाषाओं का इतिहास तीन युगों या विकास-श्रेणियों में विभक्त किया गया है (१) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा युग (वैदिक युग से ५०० ईसवी पूर्व तक (२) मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग (५०० ईसवी पूर्व से १००० ईसवी तक (३) आधुनिक आर्य-भाषा युग (१००० ईसवी से अब तक)। प्रथम युग की भाषा का नमूना हमें ऋग्वेद की भाषा में मिलता है। उसमें तत्कालीन अनेक बोलियों का सम्मिश्रण है। ऋग्वेद की भाषा का विकास अन्य वेदों. ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में हुआ है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग में एक ओर वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया, उसे एकरूपता प्रदान की गई, जिसके परिणाम-स्वरूप एक राष्ट्रीय, अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक भाषा का 'संस्कृत' के नाम से विकास हुआ और दूसरी ओर उसी के समकालिक ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप में विकास ग्रहण करती गई। जब भगवान् बुद्ध ने मगध-प्रान्त में भ्रमण करते हुए वहाँ की जन-भाषा में उपदेश दिया तो यह वही ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा के प्रान्तशः विकसित रूपों में से एक थी। तथागत के 'वाचनामग्ग' होने का गौरव मिलने के कारण इसका भी रूप बाद में राष्ट्रीय हो गया और इसी कारण अनेक बोलियों, प्रान्तीय भाषाओं और उपभाषाओं का संमिश्रण भी इसमें हो गया। इसे हम आज 'पालि' भाषा कहते हैं। इस प्रकार संस्कृत और पालि का विकास समकालिक है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग में इस जन-भाषा के विकास के हम तीन स्तर देखते हैं (१) पालि और अशोक की धर्मलिपियों की भाषा (५००

---

१. डा० विमला चरण लाहा जैसे आधुनिक विद्वान् भी इस मोह से मुक्त नहीं हो पाये हैं। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ, ११ (भूमिका) जहाँ उन्होंने मागधी निरुक्ति को सिंहली भिक्षुओं की शुद्ध गढ़ंत कहा है।

ईसवी पूर्व से १ ईसवी पूर्व तक (२) प्राकृत भाषाएँ (१ से ५०० ईसवी तक) (३) अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ईसवी से १००० ईसवी तक। आधुनिक युग में आकर इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से हमारी हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बाद अब हमें पालि भाषा के स्वरूप आदि पर कुछ अधिक स्पष्टता के साथ विचार करना है।

पालि किस प्रदेश की मूल भाषा थी ?

पालि भाषा के विषय में सब से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है—वह किस प्रदेश की मूल भाषा थी ? सिंहली परम्परा उसे मागधी या मगध की भाषा मानती है, यह हम अभी कह ही चुके हैं। किन्तु यह समस्या इतनी सस्ती निबटने वाली नहीं है। विद्वानों के एतद्विषयक मतों का यदि संग्रह किया जाय तो वह एक लम्बी सूची होगी। सभी मत उसे भिन्न भिन्न प्रान्तों की भाषा मानने के पक्षपाती हैं। कुछ विद्वानों के मतों का निदर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा।

(१) प्रोफेसर रायस डेविड्स[1]—पालि भाषा का आधार कोशल प्रदेश में छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व में बोले जाने वाली भाषा थी। कारण (१) भगवान् बुद्ध कोशल प्रदेश के थे, अतः उनकी मातृभाषा यही थी और इसी में उन्होंने उपदेश दिये थे (२) भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष के भीतर प्रधानतः कोशल प्रदेश में ही उनके उपदेशों का संग्रह किया गया।

(२,३) वैस्टरगार्ड[2] और ई० कुह्न[3]—पालि उज्जयिनी-प्रदेश की बोली थी। कारण (१) गिरनार (गुजरात) के अशोक के शिलालेख से इसका सर्वाधिक साम्य है (२) कुमार महेन्द्र (महिन्द) जिन्होंने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और पालि त्रिपिटक को वहाँ पहुँचाया, की मातृ-भाषा यही थी।

(४) आर० ओ० फ्रैंक[4]—पालि-भाषा का उद्गम-स्थान विन्ध्य-प्रदेश

---

१. बुद्धिस्ट इन्डिया, पृष्ठ १५३-५४; केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इन्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ १८७; पालि डिक्शनरी, पृष्ठ ५ (प्राक्कथन)

२.३,४,५ लाहा:पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ५०-५६ (भूमिका); बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ २३३ देखिये गायगर:पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज पृष्ठ ३-४ (भूमिका) विंटरनित्ज: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०४ (परिशिष्ट दूसरा)

है। कारण (१) गिरनार-शिलालेख से उसका सर्वाधिक साम्य है। निषेधात्मक कारण देते हुए फ्रैंक ने कहा है कि पालि उत्तर भारत के पूर्वी भाग की भाषा नहीं हो सकती, उत्तर-पश्चिमी भाग के खरोष्ट्री लेखों से भी उसकी समानताएँ और असमानताएँ दोनों हैं, इसी प्रकार दक्षिण के लेखों की भाषा से भी उसकी विभिन्नता है। अधिकतर उसका साम्य मध्य-देश के पश्चिमी भाग के लेखों से है, यद्यपि यहाँ भी कुछ असमानताएँ हैं। अतः पालि भाषा का उद्गम-स्थान 'विन्ध्य के मध्य और पच्छिमी भाग का प्रदेश' है।

(५) स्टैन कोनो[५]—विन्ध्य-प्रदेश पालि-भाषा का उद्गम-स्थान है। कारण (१) पैशाची प्राकृत से पालि का अधिक साम्य है। (२) पैशाची प्राकृत विन्ध्य-प्रदेश में उज्जयिनी के आसपास बोली जाती थी। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक होगा कि पैशाची प्राकृत-सम्बन्धी स्टैन कोनो का यह मत प्रसिद्ध भाषातत्वविद् ग्रियर्सन के मत से नहीं मिलता, जिसके अनुसार पैशाची प्राकृत केकय और पूर्वी गान्धार की बोली थी। ग्रियर्सन का मत ही अधिक युक्तियुक्त माना गया है।

(६) डा० ओल्डनबर्ग[१]—पालि कलिंग देश की भाषा थी। कारण (१) लंका के पड़ोसी होने के कारण कलिंग से ही लंका में धर्मोपदेश का कार्य शताब्दियों के अन्दर सम्पादित किया गया। (२) खंडगिरि के शिलालेख से पालि का अधिक साम्य है। ओल्डनबर्ग के मत को समझने के लिये यह जानना आवश्यक होगा कि महेन्द्र द्वारा लंका में बुद्ध-धर्म के प्रचार की बात को ओल्डनबर्ग ने ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना है। उनके मतानुसार कलिंग के निवासियों ने लंका में बुद्ध-धर्म का प्रचार किया और इसमें कई शताब्दियाँ लगीं।

(७) ई० मुलर[२]—कलिंग ही पालि का उद्गम-स्थान है। कारण, यहीं से सब से पहले लोगों का लंका में जाकर बसना और धर्म प्रचार करना अधिक संगत है।

आगे के मतों का निर्देश करने के पूर्व उपर्युक्त मतों की कुछ समीक्षा कर लेना आवश्यक होगा। इन सब मतों में सब से मुख्य बात यह है कि ये सभी मत

---

१. विनय-पिटक (डा० ओल्डनबर्ग द्वारा रोमन अक्षरों में सम्पादित) जिल्द पहली, पृष्ठ १-५६ (भूमिका)

२. सिम्पलीफाइड ग्रामर ऑव दि पालि लैंग्वेज, पृष्ठ ३ (भूमिका)

पालि भाषा की उत्पत्ति के विषय में सिंहली परम्परा से असहमत हैं। पालि भाषा के मागधी आधार को वे किसी भी अर्थ में स्वीकार नहीं करते। केवल रायस डेविड्स के मत में उसके लिये कुछ अवकाश अवश्य है। भगवान् कोशल में उत्पन्न हुए, मगध में घूमे-फिरे, अत: उनके उपदेशों का माध्यम कोशल की भाषा भी हो सकती थी, मगध की भाषा भी और उनका संमिश्रण भी। किन्तु रायस डेविड्स का अपने मत को सिद्ध करने के लिये यह अनुमान करना कि अशोक के अभिलेखों की भाषा छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व की कोशल प्रदेश में बोले जाने वाली भाषा का ही विकसित रूप है, अथवा यह कि अशोककालीन मगध-शासन की राष्ट्र-भाषा कोशल प्रदेश की टकसाली भाषा ही थी, ठीक नहीं माना जा सकता। प्रतिवेशी कोशल राज्य के मगध में सम्मिलित हो जाने के बाद मगध-साम्राज्य जब अपनी चरम उन्नति पर पहुँचा तो यही मानना अधिक युक्तिसंगत है कि मगध की भाषा को ही राष्ट्र-भाषा होने का गौरव मिला। हाँ, चारों ओर की जनपद-बोलियों को भी, जिनमें एक प्रधान कोशल प्रदेश की बोली भी थी, उसमें अपना उचित स्थान मिला। एक सार्वदेशिक, टकसाली, राष्ट्र-भाषा के निर्माण में प्रादेशिक बोलियों का इस प्रकार का सहयोग सर्वथा स्वाभाविक है। अत: कोशल-प्रदेश की बोली का भी अन्तर्भाव मगध की राष्ट्र-भाषा (मागधी भाषा) में हो गया था, ऐसा हम कह सकते हैं। वैसे यदि रायस डेविड्स के मत को उसके मौलिक रूप में देखा जाय तो उसका कोई आधार ही नहीं मिलता, क्योंकि जैसा डा० विन्टरनित्ज़ ने भी कहा है, छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व की कोशल प्रदेश की बोली की आज हमारी जानकारी ही क्या है, जिसके आधार पर हम उसे पालि का मूल रूप मान सकें[1] ? वैस्टरगार्ड, ई० कुह्न, फ्रैंक और स्टैन कोनो के ऊपर निर्दिष्ट मत भी, जो किसी न किसी प्रकार विन्ध्य-प्रदेश को पालि का जन्म-स्थान मानते हैं, एकांगदर्शी हैं। अधिक से अधिक वे पालि भाषा के मिश्रित रूप को, जो एक साहित्यिक एवं अन्तर्प्रान्तीय भाषा के लिये सर्वथा अनिवार्य है, व्यंजित करते हैं। इससे अधिक उनका और कुछ महत्व नहीं है। फ्रैंक ने विन्ध्य-

---

१. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०५ (परिशिष्ट २); डा० कीथ ने भी रायस डेविड्स के मत का खंडन किया है। देखिये इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, सितम्बर १९२५ में प्रकाशित कीथ का 'पालि दि लैंग्वेज ऑव सदर्न बुद्धिस्ट्स' शीर्षक निबन्ध।

प्रदेश के मध्य और पश्चिमी भाग को पालि का उद्गम-स्थान बताने के अतिरिक्त एक और विचित्र बात कही है। उन्होंने सामान्यतः पालि समझे जाने वाली भाषा (अर्थात् त्रिपिटक और उसके उपजीवी साहित्य की भाषा) के लिये तो 'साहित्यिक पालि' शब्द का प्रयोग किया है और 'पालि' शब्द से उन्होंने बुद्धकालीन भारत में बोले जाने वाली अन्य सब आर्य-भाषाओं को अभिप्रेत करना चाहा है। फ्रेंक का यह पारिभाषिक शब्द-निर्माण भ्रमात्मक ही सिद्ध हुआ है। जिन आर्य-भाषाओं को उन्होंने 'पालि' कहा है, उनके लिए भारतीयसाहित्य में प्राकृत भाषाओं का नाम रूढ़ है और आज भी उनका यही नाम प्रचलित है। अतः उसी का प्रयोग करना अधिक उचित जान पड़ता है। त्रिपिटक की भाषा के लिए केवल 'पालि' नाम पर्याप्त है। उसके साथ 'साहित्यिक' लगाने से भ्रम पैदा होने की आशंका हो जाती है। स्टैन कोनो का मत पैशाची प्राकृत को उज्जयिनी-प्रदेश की बोली बतलाता है और इस प्रकार भाषातत्वविदों के सामने एक नई समस्या खड़ी कर देता है। वास्तव में उनका यह मत विद्वानों को कभी ग्राह्य नहीं हुआ है और पैशाची को केकय और पूर्वी गान्धार की बोली मानना ही सब प्रकार ऐति-हासिक और भाषावैज्ञानिक तथ्यों से संगत है। ओल्डनबर्ग और ई० मुलर के मत प्रधानतः कल्पनाप्रसूत हैं। ओल्डनबर्ग को अपने मत-स्थापन में महेन्द्र के लङ्का में धर्म-प्रचार संबंधी कार्य को भी, जो अन्यथा सब प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध है,[१] अनैतिहासिक मानना पड़ा है। इसी से उनके मत की गंभीरता का पता लग जाता है। खंडगिरि के शिलालेख के साक्ष्य पर पालि का जन्म-स्थान कलिंग बतलाना उतना ही अपूर्ण सिद्धांत है जितना गिरनार के शिलालेख के आधार पर उसे उज्जयिनी-प्रदेश की बोली ठहराना। पालि के प्रांतीय कारणों से उत्पन्न मिश्रित स्वरूप को दिखाने के अतिरिक्त इन मतों का अन्य कोई साक्ष्य या महत्व नहीं है।

जिन विद्वानों ने पालि-भाषा के मागधी आधार को स्वीकार किया है, अथवा जिन्होंने सिंहली परम्परा को कुछ विशिष्ट अर्थों में समझने का प्रयत्न किया है, उनमें जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विंडिश, विन्टरनित्ज़, ग्रियर्सन और गायगर के

---

१. देखिये आगे दूसरे अध्याय में 'पालि साहित्य का उद्भव और विकास' सम्बन्धी विवेचन।

नाम अधिक प्रसिद्ध हैं । भिक्षु सिद्धार्थ[1] और भिक्षु जगदीश काश्यप[2] जैसे भारतीय बौद्ध विद्वानों ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है । जेम्स एल्विस और चाइल्डर्स की यह मान्यता है कि 'मागधी' ही पालि भाषा का मौलिक और सबसे अधिक उपयुक्त नाम है । जेम्स एल्विस के मतानुसार बुद्धकालीन भारत में १६ प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित थीं । इनमें 'मागधी' बोली में ,जो मगध में बोली जाती थी, भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे । विंडिश ने भी पालि के 'मागधी' आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । विंटरनित्ज़ का मत भी इसी के समान है । उनका कहना है कि पालि एक साहित्यिक भाषा थी,जिसका विकास अनेक प्रादेशिक बोलियों के सम्मिश्रण से हुआ था, जिनमें 'प्राचीन मागधी' प्रधान थी ।[3] ग्रियर्सन ने पालि के मागधी आधार को तो स्वीकार किया है, किन्तु पालि में तत्कालीन पश्चिमी बोलियों के प्रभाव को देखकर उन्हें यह मानना पड़ा है कि पालि का आधार विशुद्ध मागधी न होकर कोई पश्चिमी बोली है । इसी को सिद्ध करने के लिए उन्होंने यह कल्पना कर डाली है कि पालि का विकास मागधी भाषा के उस रूप से हुआ जो तक्षशिला विश्वविद्यालय में बोला जाता था और जिसमें ही त्रिपिटक का संस्करण वहाँ किया गया था[4] । किन्तु न तो मागधी भाषा के वहाँ शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होने की और न उसमें त्रिपिटक के वहाँ संकलित होने की कोई अकाट्य युक्ति ग्रियर्सन या अन्य किसी विद्वान् ने अभी तक दी है ।[5] जर्मन विद्वान् गायगर का मत उपर्युक्त सभी मतों से अधिक परिपूर्ण और ग्राह्य है । उनके अनुसार पालि मागधी भाषा का ही एक रूप है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे । यह भाषा किसी जनपद-विशेष की बोली नहीं थी, बल्कि सभ्य-समाज में बोले जाने वाली एक सामान्य भाषा थी, जिसका विकास बुद्ध-पूर्व युग से हो रहा था। इस प्रकार की अन्तर्प्रान्तीय भाषा में स्वभा-

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६४१-५६
२. पालि महाव्याकरण की वस्तुकथा ।
३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १३
४. भांडारकर कमेमोरेशन वोल्यूम, पृष्ठ ११७-१२३ (ग्रियर्सन का 'दि होम ऑव लिटररी पालि' शीर्षक लेख)
५. यह आलोचना डा० कीथ की है । देखिये उनका 'दि होम ऑव पालि' शीर्षक निबन्ध, 'बुद्धिस्टिक स्टडीज़' (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३१

वतः ही अनेक बोलियों के तत्व विद्यमान थे। एक मगध का निवासी इसे एक एक प्रकार से बोलता था, कोशल का दूसरी प्रकार से और अवन्ती का किसी तीसरे प्रकार से यद्यपि भगवान् बुद्ध मगध प्रदेश के नहीं थे, किन्तु उनका जीवन-कार्य अधिकांश वहीं संपादित किया गया था। अतः मगध की बोली की उनकी भाषा पर अमिट छाप पड़ी होगी। इसलिए उनकी भाषा को आसानी से 'मागधी' कहा जा सकता है, फिर चाहे उसमें मागधी बोली की कुछ विशेषताएँ भले ही उपलब्ध न हों। अतः गायगर के मतानुसार पालि विशुद्ध मागधी तो नहीं थी, किन्तु उस पर आश्रित एक लोक-भाषा थी, जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे[1]।

वास्तव में पालि कहाँ तक या किन अर्थों में मागधी थी या नहीं, यह हमारे अध्ययन की सबसे बड़ी समस्या है। जिस मागधी का विवरण उत्तरकालीन प्राकृत-वैयाकरणों ने दिया है या जिसके स्वरूप का दर्शन कतिपय अभिलेखों या नाटक-ग्रन्थों में होता है, उससे तो पालि निश्चयतः भिन्न है, ऐसा कहा जा सकता है। प्राकृत-व्याकरणों ,अभिलेखों और नाटक-ग्रन्थों की मागधी का विकास पालि के बाद हुआ है। इस प्रकार की मागधी भाषा के रूप की दो प्रधान विशेषताएँ हैं (१) प्रत्येक र् और स् का क्रमशः ल् और श् में परिवर्तित हो जाना (२) पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग अकारान्त शब्दों का प्रथमा विभक्ति एक वचन का रूप एकारान्त होना। पालि में र् रहता है, उसका 'ल्' में परिवर्तन केवल अनियमित रूप से कभी-कभी होता है, सर्वथा नियमानुसार नहीं। उदाहरणतः अशोक के पश्चिम के लेखों में राजा, पुरा, आरभित्वा जैसे प्रयोग मिलते हैं, किन्तु पूर्व के लेखों में उनके क्रमशः लाजा, पुलुवं, आलभितु रूप हो जाते हैं। 'स्' का 'श्' में परिवर्तन तो पालि में होता ही नहीं। 'श्' पालि में है ही नहीं। केवल अशोक के उत्तर (मनसेहर) के शिलालेख में इसका प्रयोग अवश्य दृष्टि-गोचर होता है, जैसे प्रियद्रशिन, प्रियदर्शि, प्राणशतसहस्रानि, आदि। पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिंग अकारान्त शब्दों के रूप भी पालि में प्रथमा विभक्ति एकवचन में क्रमशः ओकारान्त और अनुस्वारान्त होते हैं, एकारान्त नहीं। 'राहुलोवादः' की जगह 'लाघुलोवादे' ,'बुद्धः' की जगह 'बुधे' 'मृगः' की जगह 'मिगे' आदि प्रयोग अशोक के कुछ शिलालेखों में अवश्य पाये जाते हैं और सुत्त-पिटक के कुछ अंशों में

---

१. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४-५ (भूमिका)

भी। किन्तु नियमतः वे प्रयोग नहीं पाये जाते। अतः जिस मागधी का निरूपण प्राकृत-वैयाकरण करते हैं, उसे पालि का आधार नहीं माना जा सकता। उसका विकास तो ,जैसा अभी कहा गया है, पालि के बाद हुआ है। पालि का आधार तो केवल वही मागधी या मगध की बोली हो सकती है जो मध्य-मंडल अर्थात् पश्चिम में उत्तर-कुरु से पूर्व में पाटलिपुत्र तक और उत्तर में श्रावस्ती से दक्षिण में अवन्ती तक फैले हुए प्रदेश की सामान्य सभ्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी और जिसका विकास अनेक कारणों से गौरव प्राप्त करने वाली मगध की भाषा से हुआ और अनेक कारणों से ही जिसमें नाना प्रदेशों की बोलियों का संमिश्रण हो गया, जिसका साक्ष आज हम उसके सुरक्षित रूप 'पालि' में पाते हैं।

जिस प्रकार प्राकृत वैयाकरणों द्वारा विवेचित मागधी को पालि भाषा का आधार नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार जैन सूत्रों की भाषा अर्द्ध-मागधी या 'आर्ष' को भी उसका आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसका भी विकास पालि के बाद हुआ है। पच्छिम में शौरसनी और पूर्व में मागधी प्राकृत के बीच के क्षेत्र में जो भाषा बोली जाती थी, वह अपने मिश्रित स्वरूप के कारण 'अर्द्धमागधी' कहलाती है। ध्वनि-समूह, शब्द-साधन और वाक्य-विचार की दृष्टि से पालि और अर्द्धमागधी में क्या समानताएँ या असमानताएँ हैं, इसका विवेचन हम आगे पालि और प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते समय करेंगे। अभी लूडर्स के उस मत का निर्देश करना है,जिसके अनुसार 'प्राचीन अर्द्धमागधी' पालि भाषा का आधार है। लूडर्स का मत है कि मौलिक रूप में पालि त्रिपिटक प्राचीन अर्द्धमागधी भाषा में था और बाद में उसका अनुवाद पालि भाषा में, जो पच्छिमी बोली पर आश्रित थी, किया गया। अतः उनके मतानुसार आज त्रिपिटक में जो मागधी रूप दृष्टिगोचर होते हैं, वे प्राचीन अर्द्धमागधी के वे अवशिष्ट अंश मात्र हैं जो उसका पालि में अनुवाद करते समय रह गये थे[1]। लूडर्स का यह तर्क बिलकुल अनुमान पर आश्रित है। जिस प्राचीन अर्द्धमागधी को लूडर्स ने त्रिपिटक का मौलिक आधार माना है,उसके रूप का निर्णय करने के लिए सिवाय उनकी कल्पना के और कोई आधार नहीं है। जैसा कीथ ने ने कहा है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि लूडर्स द्वारा निर्मित या परिकल्पित प्राचीन अर्द्ध-मागधी का विकास

---

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ७३४; गायगर:पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज,पृष्ठ ५; लाहाःहिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २०-२१ (भूमिका)

बाद में अर्द्ध-मागधी प्राकृत के रूप में ही हुआ है[१]। अतः लूडर्स ने तथाकथित 'प्राचीन अर्द्ध-मागधी' के रूप का निर्माण अशोक के शिलालेखों और बाद में अश्वघोष के नाटकों के अवशिष्ट अंशों से किया है। किन्तु यह अनुमानित निर्माण-कार्य प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकता। पालि भाषा में प्राप्त विभिन्नताओं की व्याख्या उसके प्रांतीय विकास और संमिश्रण, मौखिक परम्परा और एक भिन्न देश में त्रिपिटक के लिपिबद्ध किये जाने के परिणाम स्वरूप भी की जा सकती है[२]।

लूडर्स के समान ही एक मत प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सिलवाँ लेवी का है। उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि पालि-त्रिपिटक मौलिक बुद्ध-वचन न होकर किसी ऐसी पूर्ववर्ती मागधी बोली का अनुवादित रूप है जिसमें ध्वनि परिवर्तन पालि भाषा की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था में था। पालि के 'एकोदि' एवं 'संघादिसेस' जैसे शब्दों की उनके संस्कृत प्रतिरूप 'एकोति' 'संघातिशेष' जैसे शब्दों के साथ तुलना कर उन्होंने त्रिपिटक के अन्दर एक ऐसी बोली के अवशिष्ट चिन्ह खोजने का प्रयत्न किया है, जिसमें शब्द के मध्य स्थित संस्कृत अघोष (क्, च्, त्, प् आदि) स्पर्शों के स्थान पर घोष (ग्, ज्, द्, ब् आदि) स्पर्श होने का नियम था। पालि त्रिपिटक और अशोक के शिलालेखों के कुछ विशेष शब्दों में, जिनमें उपर्युक्त नियम लागू होता है, लेवी ने प्राचीन मौलिक बुद्ध-वचन (जिन्हें उन्होंने ऐसा समझा है) में प्रयुक्त शब्दों के रूपों को खोजने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः भाब्रू अभिलेख में 'गहुलोवाद' की जगह 'लाघुलोवादे' है, 'अधिकृत्य' की जगह 'अधिगिच्य' है। लेवी का कहना है कि क् (अघोष स्पर्श) के स्थान पर ग् (घोष स्पर्श) का होना पालि में तो बहुत अल्प ही होता है, इसी प्रकार 'अधिगिच्य' में 'च्य' भी पालि की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान पालि त्रिपिटक एक ऐसी भाषा से अनुवाद किया हुआ है, जिसमें अघोष स्पर्शों (क्, त्, प् आदि) का घोष स्पर्शों (ग्, द्, ब् आदि) में परिवर्तित हो जाना अधिक सीमा तक पाया जाता था। नीचे के कुछ उदाहरण लेवी के तर्कों को स्पष्ट करने के लिए अलं होंगे—

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३४, पद-संकेत २

२. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५

संस्कृत	पालि
माकन्दिक	मागन्दिय
कचंगल	कजंगल
अचिरवती	अजिरवती
पाराचिक	पाराजिक
ऋषिवदन	इसिपतन

इन उद्धरणों के आधार पर लेवी ने अनुमान किया है कि पालि त्रिपिटक अपने मौलिक रूप में उस ऐसी भाषा में था जिसमें शब्द के मध्य-स्थित अघोष स्पर्शों के घोष स्पर्शों में परिवर्तित होने का नियम था। लेवी के मत को गायगर ने प्रामाणिक नहीं माना है। उन्होंने इसके तीन कारण दिये हैं (१) लेवी ने 'संघादिसेस' 'एकोदि' 'पाचित्तिय' (प्राक्‌चित्तिक) आदि शब्दों की जो निरुक्तियाँ दी हैं, वे सभी अनिश्चित हैं (२) अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तित होना केवल उपर्युक्त शब्दों में ही नहीं पाया जाता, अन्य अनेक शब्दों में भी इस नियम का पालन देखा जाता है, उदाहरणत:

संस्कृत	पालि
उताहो	उदाहु
ग्रथित	गधित
व्यथते	पवेधति

(३) लेवी द्वारा निर्दिष्ट नियम का ठीक विपरीत अर्थात् संस्कृत घोष स्पर्शों का अघोष स्पर्शों में परिवर्तित हो जाना भी पालि में दृष्टिगोचर होता है—

पालि	संस्कृत
अगरु	अकलु
परिघ	पलिघ
कुसीद	कुसीत
मृदंग	मुतिंग
शावक	चापक
प्रावरण	पापुरण

अत: गायगर के मतानुसार लेवी द्वारा निर्दिष्ट ध्वनि-परिवर्तन संबंधी उदा-

हरणों से हम उनके द्वारा निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुँच सकते। लेवी का मत पालि भाषा की केवल एक विचित्रता को बतलाता है और वह विचित्रता है उसका विविधतामय रूप, जिसकी व्याख्या हम नाना बोलियों के संमिश्रण के आधार पर ही कर सकते हैं। अतः लेवी का मत भी अन्ततोगत्वा पालि के मिश्रित स्वरूप को ही प्रकट करता है।

ऊपर कुछ विद्वानों के मतों का उल्लेख और उनकी समीक्षा की जा चुकी है। अब बुद्ध-युग की परिस्थितियों और स्वयं त्रिपिटक के साक्ष्य पर पालि भाषा के मागधी आधार पर हम कुछ और विचार कर लें। यह निश्चित है कि भगवान् बुद्ध ने पैदल घूम घूम कर अपने उपदेश मध्य-मण्डल (मज्झिमेसु पदेसु) अर्थात् कोसी कुरुक्षेत्र से पाटलिपुत्र और विन्ध्य से हिमाचल के बीच के प्रदेश में दिये। यह भी निश्चित है कि उनके शिष्यों में नाना जाति, वर्ग और प्रदेशों के व्यक्ति सम्मिलित थे। इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि भगवान् बुद्ध के उपदेश मौखिक थे और उनके महापरिनिर्वाण के अनन्तर दो-तीन शताब्दियों में उनका संकलन किया गया। उनका लिपिबद्ध रूप तो प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व में आकर हुआ, जब से वे उसी रूप में चले आ रहे हैं। इस इतने विकास की परम्परा में अनेक परिवर्द्धनों और परिवर्तनों की संभावना हो सकती है। भगवान् बुद्ध की 'चारों वर्णों की शुद्धि' और उसके विषय में उनकी कोई 'आचार्य-मुष्टि' (रहस्य-भावना) न होने के कारण हम यह तो स्वाभाविक ही मान सकते हैं कि नाना प्रदेशों से आये हुए भिक्षु अपनी-अपनी बोलियों में ही बुद्ध-वचनों को समझने का प्रयत्न करते होंगे। कम से कम अन्तर्प्रांतीय मागधी भाषा का व्यवहार करने पर भी उस पर अपनी बोलियों की कुछ छाप तो वे लगा ही देते होंगे। बाद में उन्हीं लोगों ने जब अपने सुने हुए के अनुसार बुद्ध-वचनों का संकलन किया तो उनमें उन विभिन्नताओं का भी चला आना सर्वथा संभव था। अतः बुद्ध-वचनों की भाषा मूल रूप से मागधी होने पर भी उसमें प्राप्त विविधरूपता की व्याख्या उपर्युक्त ढंग पर की जा सकती है। किन्तु गायगर ने मागधी को पालि का मूलाधार सिद्ध करने के लिए और यह दिखाने के लिए कि भाषा और विषय दोनों की ही दृष्टि से पालि-त्रिपिटक ही मूल बुद्ध-वचन है, एक ऐसे तर्क का उपयोग किया है जिसके बिना भी उनका काम चल सकता था। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में एक कथा है, जिसमें दो ब्राह्मण भिक्षु इस बात पर बड़े क्षुब्ध होते दिखाये गये हैं कि नाना जाति और गोत्रों

के मनुष्य 'अपनी अपनी भाषा में बुद्ध-वचनों को रख-रखकर उन्हें दूषित करते हैं" (सकाय निरुत्तिया बुद्ध-वचनं दूसेन्ति) । वे जाकर भगवान् को इस बात की सूचना देते हैं और प्रार्थना करते हैं "भन्ते ! अच्छा हो हम बुद्ध-वचन को छन्दस् में कर दें" (हन्द मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमाति) । भगवान् उन्हें कहते हैं कि ऐसा करना तो 'दुष्कृत' अपराध होगा । बाद में विधानात्मक आदेश देते हैं "भिक्षुओ ! अपनी अपनी भाषा में बुद्ध-वचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ" (अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं) । घटना का अर्थ स्पष्ट है । ब्राह्मण-भिक्षुओं को संस्कारवश अभी तक वेदों की प्राचीन भाषा (छन्दस्) में पवित्रता की गन्ध आती थी । अपनी वाणी (सका निरुत्ति) जिसमें सभी सामान्य भिक्षु-बुद्ध-वचनों को सीखते थे, उन्हें वैदिक भाषा की अपेक्षा अधम लगती थी । अतः उसमें बुद्ध वचनों को रखना उन्हें उनका अपमान लगता था । इसीलिए उन्होंने बुद्ध-वचनों को वेद की पवित्र भाषा या 'छन्दस्' में रखने का प्रस्ताव किया था "हन्द मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमाति" । यहाँ 'छन्दसो' से क्या तात्पर्य है ? आचार्य बुद्धघोष कहते हैं "छन्दसो आरोपेमाति वेदं विय सक्कटभासाय वाचनामग्गं आरोपेम" अर्थात् 'छन्दस्' में कर देने का तात्पर्य है वेद के समान सम्माननीय भाषा के माध्यम में कर देना । बुद्धघोष के 'सक्कट भासाय' पद के 'सक्कट' शब्द के संस्कृत और 'सत्कृत' दोनों ही अर्थ हो सकते हैं । डा० विमलाचरण लाहा ने उसका अर्थ केवल संस्कृत-भाषा लेकर बुद्धघोष की आलोचना कर डाली है[1] । इसे बुद्धघोष के प्रति अन्याय ही समझना चाहिए । आचार्य बुद्धघोष का तात्पर्य यहां वेद की आदरणीय भाषा से ही था । 'संस्कृत' शब्द पाणिनि के बाद का है और वह लौकिक संस्कृत का वाचक है । छन्दस् शब्द उस प्राचीन आर्य भाषा का द्योतक है जिसमें संहिताएँ लिखी गई हैं । भगवान् बुद्ध को यही अर्थ अभिप्रेत हो सकता था । स्वयं त्रिपिटक में 'सावित्थी छन्दसो मुखं'[2] जैसे प्रयोगों में छंदस्' शब्द का प्रयोग वेद के लिए ही हुआ है । अतः यहाँ भी बुद्ध का तात्पर्य वेद की भाषा से ही था, जिससे विपरीत बुद्धघोष का मत भी नहीं है । अतः ऊपर उद्धृत भगवान् बुद्ध की अनुज्ञा (अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं) का अर्थ (भिक्षुओ ! अनुज्ञा देता हूँ

---

१. पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १२ (भूमिका)
२. विनय-पिटक-महावग्ग; सुत्त-निपात, गाथा ५६८ भी ।

अपनी अपनी भाषा में बुद्ध-वचनसीखने की) आसानी से समझा जा सकता है। बुद्ध की उदार शिक्षा के साथ इस अर्थ का संम्बध भी मिल जाता है। कुछ शिक्षित ब्राह्मणों द्वारा ही समझी जाने वाली भाषा में अपने उपदेशों को रखवा कर वे उन्हें संकुचित नहीं बनाना चाहते थे। इसलिये उनकी उपर्युक्त अनुज्ञा प्रसंग को देखते हुए ठीक ही थी। किन्तु गायगर ने भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा का एक दूसरा ही अर्थ किया है। उन्होंने कहा है कि भगवान् की अनुज्ञा में 'सकाय निरुत्तिया' का अन्वय 'बुद्ध-वचनं' के साथ है, 'भिक्खवे' के साथ नहीं। यदि 'भिक्खवे' के साथ 'सकाय निरुत्तिया' का अन्वय होता तो उसके साथ 'वो' (तुमको) शब्द भी अवश्य होना चाहिये था और तभी हम भिक्षुओं के सम्बन्ध में उनकी 'अपनी अपनी भाषा' जैसा अनुवाद कर सकते थे। किन्तु चूँकि 'वो' शब्द मूल पाठ में है नहीं, अतः स्वाभाविक रूप से, व्याकरण के नियम के अनुसार, 'सकाय निरुत्तिया' शब्द 'बद्ध-वचनं' के साथ जायगा, और इस प्रकार भगवान् की अनुज्ञा का अर्थ होगा, "भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ बद्ध-वचन को उसकी (बुद्ध-वचन की) भाषा में सीखने की।" इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् बुद्ध ने बुद्ध-वचन को उसी की (बुद्ध-वचन की) भाषा अर्थात् मागधी भाषा में ही सीखने की आज्ञा दी। आचार्य बुद्धघोष ने भी 'सकाय निरुत्तिया' पद से यही अर्थ लिया है। वे कहते हैं "एत्थ सका निरुत्ति नाम सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको वोहारो" अर्थात् यहाँ 'सका निरुत्ति' (स्वकीय भाषा')से तात्पर्य भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा प्रयुक्त मागधी भाषा-व्यवहार से ही है। गायगर ने अपने अर्थ की पुष्टि करते हुए इस बात पर बहुत अधिक बल दिया है कि बुद्ध-वचनों को उनके मौलिक प्रामाणिक रूप में अक्षुण्ण रखने की उस समय भी जब इतनी अधिक तत्परता थी तो बाद में तो इसका और भी अधिक अनुसरण किया गया होगा। उन्होंने यह भी कहा है कि न तो भिक्षुओं का ही और न बुद्ध का ही मन्तव्य भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न भाषाओं में उपदेश करने से हो सकता था। अतः 'अपनी अपनी भाषा' अर्थ लेने का अनौचित्य दिखाने का उन्होंने प्रयत्न किया है।[२] बुद्धघोष या गायगर के मत का ही अनुसरण करते हुए भिक्षु सिद्धार्थ ने कहा है कि जब भगवान् बुद्ध ने संस्कृत जैसी परिमार्जित और सम्मानित भाषा में अपने उपदेशों के रखने

---

१. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ६-७
२. पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ७

जाने तक का विरोध किया तो फिर वे किसी साधारण बोल चाल की भाषा में उन्हें रक्खे जाने का किस प्रकार आदेश दे सकते थे ? उस दशा में तो उनके मौलिक अर्थों और प्रभाव में ही काफी अन्तर हो जाता।[१] "अतः निःसन्देह भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश मगध-देश की टकसाली भाषा में ही दिये और उसी में उनके शिष्यों ने उन्हें सीखा और फिर उपदेश किया।"[२] भिक्षु सिद्धार्थ के इस मन्तव्य से किसी को विरोध नहीं हो सकता। चूंकि भगवान् बुद्ध ने मध्य-मंडल की सामान्य सभ्य-भाषा में ही अपने उपदेश दिये और उसी के विभिन्न स्वरूपों में उनके शिष्यों ने उन्हें सीखा, अतः आज हम कहना चाहें तो कह ही सकते हैं कि मागधी भाषा ही भगवान् बुद्ध के उपदेशों का माध्यम थी और उसी में उनके शिष्य उन्हें सीखते और उपदेश करते थे। इस दृष्टि से बुद्धघोष, गायगर और भिक्षु सिद्धार्थ के अर्थ ठीक हैं। किन्तु यदि उनके अर्थों से हम यह समझें कि स्वयं भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों को भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा से वही अर्थ अभिप्रेत था जो बुद्धघोष, गायगर और भिक्षु सिद्धार्थ ने उसे दिया है, तो यह बिलकुल गलत है। वास्तव में, हम बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा की व्याख्या करने में बुद्धघोष या गायगर की अपेक्षा उस अनुज्ञा के ही पूर्वापर प्रसंग और बुद्ध की भावना से भी, जैसी वह अन्यत्र प्रस्फुटित हुई है, अधिक सहायता लेने के पक्षपाती हैं। विन्टरनित्ज़ ने कुछ स्पष्टता-पूर्वक यह दिखाया है कि 'सकाय निरुत्तिया' का सम्बन्ध 'भिक्खवे' के साथ लगाने के लिये उसके साथ 'वो' शब्द का आना अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है जैसा कि गायगर ने आग्रह किया है। उसे प्रसंग-वश भी समझा जा सकता है।[३] डा० विमलाचरण लाहा ने पालि के मागधी आधार को स्वीकार नहीं किया है, अतः उन्होंने कुछ विस्तार से गायगर के मत का प्रतिवाद किया है।[४] कीथ ने भी, जो

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६४८

२. "There can be no doubt as to the fact that the Buddha preached his doctrine in the standard vernacular of the Magadha country and his disciples studied and taught it in that very language." **बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ६४९**

३. इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०२ (परिशिष्ट दूसरा)

४. पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ११-१६ (भूमिका)

पालि को किसी पच्छिमी बोली पर आधारित मानते हैं, गायगर के परम्परावादी मत को स्वीकार नहीं किया है।[1] वास्तव में बात यह है कि व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होते हुए भी गायगर की बुद्ध-अनुज्ञा की उपर्युक्त व्याख्या उस प्रसंग में ठीक नहीं बैठती, जिसमें वह आई है। अतः पालि भाषा के स्वरुप के सम्बन्ध में उस मत को सिद्ध करने के लिये, जो दूसरे प्रमाणों के आधार पर उनके द्वारा ही सुनिश्चित कर दिया गया है, पर्याप्त नहीं ठहरती। सामान्यतः गायगर का अर्थ इन कारणों से प्रमाणिक नहीं माना जा सकता। (१) प्रसंग में वह ठीक नहीं बैठता। पहले भिक्षु लोग 'सकाय निरुत्तिया' (अपनी अपनी भाषा में) बुद्ध-वचनों को दूषित करते दिखाये गये हैं। इस पर ब्राह्मण भिक्षुओं ने उन्हें 'छन्दस्' में करने का प्रस्ताव रक्खा है। भगवान् ने इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए 'सकाय निरुत्तिया' बुद्ध वचनों को सीखने की अनुज्ञा दे दी है। स्पष्टतः प्रसंग के अनुसार यहाँ 'सकाय निरुत्तिया' का वही अर्थ लेना ठीक है जो पहले लिया गया है, अर्थात् 'अपनी अपनी भाषा में'। (२) किसी विशेष भाषा में बुद्ध वचनों को सीखना रुद्ध कर देना भगवान् तथागत की प्रवृत्ति के विपरीत है। इस प्रकार उनका 'धम्म' प्रकाशित नहीं होता, जो सारी प्रजाओं के लिये खुलने पर ही प्रकाशित होता है[2] (३) भगवान् बुद्ध का जोर शब्दों पर नहीं था, अर्थों पर था[3]। कोई भी भाषा किसी अन्य भाषा से उनकी दृष्टि में उच्च अथवा हेय नहीं थी। न उन्हें संस्कृत से द्वेष था, न मागधी से मोह। वे केवल जीवित भाषा में उपदेश देना चाहते थे, जिससे लोग उन्हें आसानी से समझ सकें। मागधी का ऐसा ही माध्यम उन्हें अनायास मिल गया, जिसे उन्होंने प्रयुक्त किया। (४) जनपद-निरुक्तियों अर्थात् भाषा के स्थानीय प्रयोगों में तथागत को अभिनिवेश नहीं था। किसी एक भाषा-प्रयोग में उनका आग्रह नहीं था। उन्होंने स्वयं कहा है कि एक ही वस्तु 'पात्र' के

---

१. इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १, १९२५, पृष्ठ ५०१; बुद्धिस्टिक स्टडीज पृष्ठ ७३०

२. ऐसाही अंगुत्तर-निकाय के तिक निपात में कहा गया है। देखिये विन्टरनिज: इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३-६४; मिलिन्द-प्रश्न (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद) पृष्ठ २३१

३. किन्तिसुत्त (मज्झिम.३।१।३)

लिये किसी जनपद में 'पाति', किसी में 'पत्त' किसी में 'वित्थ' किसी में 'सराव.' किसी में 'धारोप' किसी में 'पोण' किसी में 'पिसील' शब्द का प्रयोग होता है, तो भिक्षुओं को किसी एक शब्द को ही लेकर यह समझ कर नहीं बैठ रहना चाहिये कि यही प्रयोग ठीक है और सब गलत। बल्कि उन्हें तो अपने भी जनपद के प्रयोग के प्रति ममता न रख कर जहाँ जैसा प्रयोग चलता हो, वहाँ उसी के अनुसार बरतना चाहिये[1]। अतः मगध-जनपद के प्रयोग के प्रति भी तथागत का अभिनिवेश या पक्षपात-व्यवहार कैसे हो सकता था? अतः गायगर का अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, गायगर की 'सकाय निरुत्तिया' की व्याख्या के साथ असहमत होते हुए भी पालि भाषा के मागधी आधार को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अब तक हमने इस विषय सम्बन्धी जो विवेचन किया है वह हमें इसी निष्कर्ष की ओर पहुँचने के लिये बाध्य करता है कि पालि भाषा का विकास मध्य-मंडल में बोले जाने वाली उस अन्तर्प्रान्तीय सभ्य भाषा से हुआ जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे और जिसकी संज्ञा बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार 'मागधी' है। इसी 'मागधी' के विकसित, बिकृत या अधिक ठीक कहें तो विभिन्न जनपदीय स्वरूप हमें अशोकके अभिलेखों की 'मागधी' में मिलते हैं। निश्चय ही इस अशोक-कालीन मगध-भाषा की उससे तीन सौ चार सौ बर्ष पूर्व बोले जाने वाली मगध-भाषा से, जो त्रिपिटक में सुरक्षित है, विभिन्नताएँ भी हैं। इन विभिन्नताओं के आधार पर ही ओल्डनबर्ग आदि विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाल डाला था कि पालि मागधी नहीं है। पालि को मागधी न मानने से उनका तात्पर्य, जैसा डा० ई० जे० थॉमस ने दिखाया है, सिर्फ यही था कि पालि अशोक के अभिलेखों की भाषा नहीं है।[2] किन्तु यहाँ पर यह नहीं सोचा गया कि जो कुछ भी विभिन्नताएँ त्रिपिटक की भाषा और अशोक के अभिलेखों की भाषा में हैं, वे सब एक अन्तर्प्रान्तीय राजभाषा के प्रान्तीय प्रयोगों के आधार पर समझी जा सकती हैं। अशोक का उद्देश्य अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न जनपदों की सामान्य जनता तक अपने सन्देश को पहुँचाना था। जनपद-निरुक्तियों का अभिनिवेश उसके हृदय में

---

१. देखिये अरणविभंग सुत्त (मज्झिम.३।४।९)

२. बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २३४ (डा० ई० जे० थामस का "बुद्धिस्ट एजूकेशन इन पालि एंड संस्कृत स्कूल्स" शीर्षक निबन्ध)

था नहीं। उसने जैसा प्रयोग जिस जनपद में चलता देखा, वैसा ही शिलालेखों में अंकित करवा दिया। इसी कारण उनमें उच्चारण आदि की अल्प विभिन्नताएँ मिलती हैं। एक ही लेख के पूर्व (जौगढ़) पश्चिम (गिरनार) और उत्तर (मनसेहर) इन तीन संस्करणों का मिलान करने से यह भेद स्पष्ट हो जाता है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इन तीनों अभिलेखों को उद्धृत तो नहीं कर सकते,[1] किन्तु उनके आधार पर विभिन्न भाषा-स्वरूपों का अध्ययन करना आवश्यक है। उनके भाषा-स्वरूपों में मुख्य विभिन्नताएँ इस प्रकार हैं। (१) पश्चिम (गिरनार) के शिलालेख में 'र्' का 'ल्' में परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणतः 'राजा', 'राज्ञा', 'पुरा', 'आरभित्वा' जैसे प्रयोग वहाँ दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तर के शिलालेख (मनसेहर) में भी 'र्' का 'ल्' में परिवर्तन नहीं होता, किन्तु वहाँ प्रादेशिक उच्चारण-भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है। 'राजा', की जगह वहाँ 'रज', 'राज्ञा' की जगह 'राजिने', 'पुरा' की जगह 'पुर' और 'आरभित्वा' की जगह 'आरभितु' मिलते हैं। पूर्व के शिलालेख (जौगढ़) में 'र्' का 'ल्' में परिवर्तन हो जाता है। वहाँ 'राजा' की जगह 'लाजा' है, 'राज्ञा' की जगह 'लाजिना' है, 'पुरा' की जगह 'पुलुवं' है और 'आरभित्वा' की जगह 'आलभितु' है। (२) पश्चिम के लेख में (सामान्यतः पालि के समान) केवल दन्त्य 'स्' का ही प्रयोग है। तालव्य 'श्' और मूर्द्धन्य 'ष्' वहां नहीं मिलते। इनकी जगह भी दन्त्य 'स्' का ही प्रयोग मिलता है। 'प्रियदसि' इसका उदाहरण है। पूर्व के लेख की भी यही प्रवृत्ति है। किन्तु उत्तर के लेख की आश्चर्यजनक प्रवृत्ति 'श्' और 'ष्' दोनों को रखने की है। वहाँ 'प्रियदसि' (पश्चिम) या 'पियदसि' (पूर्व) की जगह 'प्रियदर्शि' है। इसी प्रकार 'प्रियदसिना' या 'पियदसिना' की जगह 'प्रियद्रशिन' है। 'प्राणसतसहस्रानि' (पश्चिम) या 'पानसतसहसानि' (पूर्व) की जगह 'प्राणशतसहस्रानि' है। 'आरभरे' (पश्चिम) या 'आलभियिसु' की जगह आश्चर्यजनक रूप से 'अरभिषंति' है! (३) पुल्लिङ्ग अकारान्त शब्द के प्रथमा एक-वचन का रूप पश्चिम के अभिलेख में ओकारान्त है, जैसे 'एको मगो'। किन्तु पूर्व और उत्तर के अभिलेखों में वह एकारान्त हो गया है, जैसे 'एक मिगे' (पूर्व), 'एके म्रिगे' (उत्तर)। (४) पूर्व के अभिलेख में व्यंजन रेफयुक्त होने पर रेफ की ध्वनि लुप्त होकर व्यंजन में ही मिल गई

---

१. जिसके लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यपः पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तैंतीस-चौंतीस (वस्तुकथा)

है, जैसे प्रियदर्शी से 'पियदसि'; प्राणा: से 'पानानि'। किन्तु पश्चिम और उत्तर के अभिलेखों में यह परिवर्तन नहीं हुआ है। वहाँ 'प्रियदसि', 'प्राणा' (पश्चिम) एवं 'प्रियदर्शि' 'प्रणनि' (उत्तर) शब्दों में रेफध्वनि सुरक्षित है। (५) 'ऋ' के परिवर्तन में भी असमानता है। मृग से 'मगो' पश्चिम में है, 'मिगे' पूर्व में है, 'म्रिगे' उत्तर में है। (६) पश्चिम का शिलालेख संस्कृत के अधिकतम समीप है। मिलाइये, पुरा महानसम्हि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो अनुदिवसं बहूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय (पश्चिम); पुलुवं महानससि देवानं पियस पियदसिने लाजिने अनुदिवसं बहूनि पानसतसहसानि आलभियिसु सुपठाये (पूर्व); पुर महनससि देवनं प्रियस प्रियदर्शिस राजिने अनुदिवसं बहुनि प्राणशत-सहस्रानि आरभिसु सुपथये (उत्तर)। इन विभिन्नताओं के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मौलिक न होकर एक ही सामान्य भाषा के प्रान्तीय या जनपदीय रूप हैं, जो उच्चारण-भेद से उत्पन्न हो गये हैं। मूल तो उन सब का एक ही है—मगध की राज-भाषा-मागधी,जिसमें ४०० वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे और जो आज तक अपने उसी प्रामाणिक किन्तु मिश्रित[1] रूप में पालि त्रिपिटक में सुरक्षित है।

पालि और वैदिक भाषा

ऊपर अशोक की धर्मलिपियों में पाई जाने वाली पालि की विभिन्नताओं की ओर संकेत किया गया है। वास्तव में ये विभिन्नताएं पालि की जन्म-जात हैं। ये उसे वैदिक भाषा से उत्तराधिकार-स्वरूप मिली हैं। पालि का वैदिक भाषा से ऐतिहासिक दृष्टि से क्या सम्बन्ध है, इसका हम पहले विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम इन भाषाओं के स्वरूप की दृष्टि से ही विचार करेंगे। ऋग्वेद की रचना अनेक युगों में अनेक ऋषियों द्वारा की गई। अत: उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियों का संमिश्रण मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में इसी भाषा के विकसित

---

१. अशोक के पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी अभिलेखों के ही भाषा-तत्त्व पालि में मिलते हैं। जिन्होंने पूर्वी तत्त्वों पर जोर दिया है उन्होंने पालि को मागधी या अर्द्ध-मागधी पर आधारित माना है, जिन्होंने पश्चिमी तत्त्वों पर जोर दिया है, उन्होंने उसमें शौरसेनी के तत्त्व ढूंढ़े हैं और जिन्होंने उत्तरी तत्त्वों को प्रधानता दी है, उन्होंने उसमें पैशाची तत्त्व ढूंढ़े हैं।

स्वरूप के दर्शन होते हैं। बाद में पाणिनि ने इसी भाषा की भिन्नरूपता को सुसम्बद्ध कर उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। यही 'संस्कृत' अर्थात् संस्कार की हुई भाषा कहलाई। ब्राह्मण-ग्रन्थों और यास्क या पाणिनि के काल के बीच में इस भाषा का व्यवस्थापन-कार्य हुआ। प्राचीन वेद की भाषा के साथ इसका विभेद दिखाने के लिये इसके लिये 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जब कि वेद की भाषा का उपयुक्त नाम 'छन्दस्' है। वेद की भाषा जिस समय यास्क और पाणिनि के समय में और उसके कुछ पहले से सुसम्बद्ध होकर 'संस्कृत' के रूप में आर्यों के विज्ञान और धर्म की भाषा बन रही थी, उसी समय आर्यों की बोलचाल की भाषा भी विकसित होकर नया स्वरूप प्राप्त कर रही थी। मगध या कोशल के प्रान्तों में उसने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसी के दर्शन हमें आज 'पालि' के रूप में होते हैं। मगध-साम्राज्य के विकास के साथ इसी बोली ने एक व्यापक रूप धारण कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही वैदिक भाषा के आधार पर, एक ही मध्यकालीन आर्यभाषा-युग में, संस्कृत और पालि का विकास भिन्न भिन्न ढंगों से हुआ। वैदिक भाषा के एक ही शब्दों के क्रमशः पालि और संस्कृत में विकसित स्वरूपों को मिलान कर देखने से यह ऐतिहासिक तथ्य अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

वैदिक भाषा की सब से बड़ी विशेषता उसकी अनेकरूपता है। स्वभावतः इस अनेकरूपता का उत्तराधिकार संस्कृत की अपेक्षा पालि को ही अधिक मिला है। इस तथ्य का विशेष विवरण हम आगे पालि के शब्द-शोधन और वाक्य-विचार का विवेचन करते समय करेंगे। यहाँ कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। अकारान्त शब्दों के तृतीया बहुवचन में वैदिक भाषा में 'देवेभिः' 'कर्णेभिः' जैसे रूप मिलते हैं। संस्कृत ने इन रूपों को छोड़ दिया है। किन्तु पालि में ये 'देवेभि' 'देवेहि' 'कण्णेभि' 'कण्णेहि' आदि के रूप में सुरक्षित हैं। वैदिक भाषा में 'विश्वन्' 'च्यवन्' जैसे नपुंसक लिंग शब्दों के प्रथमा और सम्बोधन के बहुवचन के रूप 'विश्वा' 'च्यवना' जैसे आकारान्त होते हैं। पालि में यह प्रवृत्ति 'चित्ता' 'रूपा' जैसे प्रयोगों में दिखाई पड़ती है, किन्तु संस्कृत में नहीं पाई जाती। उत्तम पुरुष बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'मसि' पालि में 'मसे' (वयमेत्थ यमामसे) के रूप में सुरक्षित है। इसी प्रकार प्रथम पुरुष बहुवचन में वैदिक भाषा में 'रे' प्रत्यय लगता है। संस्कृत में यह नहीं पाया जाता। किन्तु पालि में यह 'पच्चरे' 'भासरे' जैसे प्रयोगों में सुरक्षित है। वेद में निमित्तार्थक 'तवे' प्रत्यय का बहुत प्रयोग होता है।

पालि में भी 'कातवे' 'गन्तवे' जैसे रूपों में यह सुरक्षित है। संस्कृत ने इस प्रयोग को छोड़ दिया है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों में हम यह प्रवृत्ति देखते हैं। संस्कृत 'आम्र' शब्द का वैदिक रूप 'आम्ब्र' है। पालि में यह 'अम्ब' है। पालि ने 'ब्' को रख लिया है।[1] वैदिक अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा बहुवचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय लग कर 'देवासः' जैसा रूप बनता था। पालि में भी यह 'देवासे' 'धम्मासे' 'बुद्धासे' जैसे रूपों मे सुरक्षित है। संस्कृत ने इन रूपों को ग्रहण नहीं किया है।

पालि और संस्कृत

पालि और संस्कृत के ऐतिहासिक सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। दोनों ही मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ हैं। दोनों ही समान स्रोत वैदिक भाषा से उद्भूत हुई हैं। किन्तु जैसा कबीर ने पन्द्रहवीं शताब्दी में लोकभाषा हिन्दी का संस्कृत से मिलान करते हुए संस्कृत को 'कूपजल' कह कर (हिन्दी) 'भाषा' को 'बहता नीर' कहा था, वही बात हम पालि के विषय में भी कह सकते हैं। पालि वह बहता हुआ नीर था जो वैदिक काल से लेकर अप्रतिहत रूप से मध्य-मंडल में प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा था। इसके विपरीत संस्कृत वह बद्ध महासरोवर था, जिसमें समस्त आर्य ज्ञान-विज्ञान अनुमापित कर दिया गया था। एक की गति अवरुद्ध थी, दूसरे में आवर्त-विवर्तों की लहरें सतत चलती रहीं। परिणामतः प्राकृतों की सीमा पार कर, अपभ्रंश के नाना विवर्त धारण कर, वह आज हमारी अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप में समाविष्ट हो गई है। संस्कृत 'पुराण युवती' है। पुरानी होते हुए भी वह सदा अपने मौलिक अभिराम रूप को धारण करती है। उसके जरा-मरण नहीं। इसके विपरीत पालि के कुमारी, युवती, वृद्धा स्वरुप हमें दृष्टिगोचर होते हैं। अन्त में वह अपनी सन्तानों के रूप में अपने को खो भी चुकी है। पालि त्रिपिटक में उसके बाल्य और तारुण्य का सामान्यतः दिग्दर्शन होता है, अनुपालि-साहित्य में सामान्यतः उसके वृद्धत्व का। उसके ये विभिन्न भाव एक ही व्यक्तित्व के विकार हैं, जो उसने काल और स्थान के भेद से ग्रहण किये हैं। जिन भाषा-तत्व-विदों ने उसके इस रहस्य

---

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ६५५-५६ (भिक्षु सिद्धार्थ का पालिभाषा सम्बन्धी निबन्ध)

को नहीं समझा है, उन्होंने उसके आदि निवास-स्थान और स्वरूप आदि के विषय में अनेक एकांगदर्शी मत प्रकट किए हैं, यह हम पहले देख ही चुके हैं।

उद्गम की दृष्टि से पालि और संस्कृत सहोदरा हैं। जैसे दो सगी बहनों में एक का रूप कुछ अधिक निखरा हो, दोनों के स्वर-तन्त्रियों और शब्दों के समान होते हुए भी एक कुछ अधिक परिष्कार के साथ बोले, यही हालत पालि और संस्कृत की है। ध्वनि-समूह में तो कुछ अल्प विभिन्नताएँ हैं भी, किन्तु रूप-विधान में तो उतनी भी नहीं हैं। दोनों के ध्वनि, रूप और अर्थ का विस्तृत तुलनात्मक में अध्ययन करते समय यह हम अभी देखेंगे। पहले विकास-क्रम को पूरा करते हुए पालि-भाषा का सम्बन्ध प्राकृत भाषाओं के साथ देखें।

पालि और प्राकृत भाषाएँ: विशेषत: अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची

प्राकृतों का विकास (१-५०० ई०) पालि के बाद का है। यह भी कहा जा सकता है कि पालि प्राकृत की प्रथम अवस्था का ही नाम है। हम पहले कह चुके कि अशोक के समय में पालि या तत्कालीन लोक-सामान्य भाषा के कम से कम तीन स्वरूप प्रचलित थे। पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। इन्हीं बोलियों का विकासवाद में प्राकृतों के रूप में हुआ। मागधी और अर्द्धमागधी अशोककालीन पूर्वी बोलीके, शौरसेनी पश्चिमी बोली के और पैशाची पश्चिमोत्तरी बोली के विकसित रूप हैं,ऐसा हम कह सकते हैं। पहले ये बोलियाँ मात्र थीं,किन्तु साहित्य में प्रयुक्त होने पर इसका स्वरूप अवरुद्ध होगया। भरत मुनि ने सात प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है, (१) मागधी प्राकृत, (२) अवन्ती प्राकृत, (३) प्राच्या, (४) शौरसेनी, (५) अर्द्धमागधी, (६) वाल्हीक और (७) दाक्षिणात्य[1]। बाद में वैयाकरण हेमचन्द्र ने इनमें पैशाची और लाटी को और जोड़ दिया है। साहित्य की दृष्टि से प्राकृतों में चार मुख्य हैं, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को अधिक महत्व दिया है। महाराष्ट्री प्राकृत का विस्तृत विवेचन करने के बाद उन्होंने अन्य प्राकृतों की केवल कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन कर 'शेष महाराष्ट्रीवत्' कहकर छोड़ दिया है।

---

१. मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्द्धमागधी ।
वाह्लीका दाक्षिणात्याश्च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ।।

२. महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं विदुः । दण्डी

भाषा-तत्व की दृष्टि से पालि औरप्राकृतों में अनेक समानताएँ हैं। उप-र्युक्त विकास-विवरण से स्पष्ट है कि मागधी, अर्द्ध-मागधी, शौरसेनी और पैशाची प्राकृत ही पालि के तुलनात्मक अध्ययन में अधिक ध्यान देने योग्य हैं। पहले हम सामान्यतः पालि में पाये जाने वाले प्राकृत-तत्वों का निर्देष करेंगे और फिर मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची के साथ उसका संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन करेंगे ।

पालि और प्राकृत भाषाओं का ध्वनि-समूह प्रायः एक सा ही है। ऋ, ॠ, ऌ, ऐ और औ का प्रयोग पालि और प्राकृतों में समान रूप से ही नहीं पाया जाता। केवल अपभ्रंश में ऋ ध्वनि अवश्य मिलती है। पालि और प्राकृतों में ऋ ध्वनि अ, इ, उ, स्वरों में से किसी एक में परिवर्तित हो जाती है। ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही मिलता है। विसर्ग का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही नहीं मिलता। श्, ष् की जगह मागधी को छोड़ कर और सब प्राकृतों और पालि में 'स्' ही हो जाता है। मूर्द्धन्य ध्वनि 'ळ' पालि और प्राकृत दोनों में ही पाई जाती है।

विशेष रूप से प्राकृत-तत्त्व पालि में व्यंजन-परिवर्तनों में ही पाये जाते हैं। ये परिवर्तन इस प्रकार हैं (१) शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्श की जगह य् या व् का आगमन (२) शब्द के अन्तःस्थित घोष महाप्राण की जगह ह् हो जाना (२) शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्शों का घोष हो जाना। (४) महाप्राणत्व (ह्-कार) का आकस्मिक आगमन या लोप (५) आकस्मिक वर्ण-व्यत्यय। ये परिवर्तन पालि में अनियमतः कहीं-कहीं और प्रायः अन्य सब प्राकृतों में नियमतः पाये जाते हैं। आगे पालि के ध्वनि-समूह के विवेचन में इनका सोदाहरण विवरण दिया जायगा। वास्तव में बात यह है कि जिन ध्वनि-परिवर्तनों का पालि में सूत्र-पात ही हुआ है, उन्हीं का विकास हमें प्राकृतों में देखने को मिलता है। यही इन समानताओं का कारण है। इसका कुछ विस्तार से विवेचन हम आगे पालि के 'व्यंजन-परिवर्तन' पर विचार करते समय करेंगे। यहाँ इतना ही कह देना आवश्यक है कि पालि के जिस रूप के साथ प्राकृत की समानता है अथवा उसके जिस रूप में प्राकृत-तत्त्व मिलते हैं, वह पालि का प्राचीन रूप न होकर उसका विकसित रूप है। इसीलिये पालि-भाषा के विकास में भी हम तारतम्य देखते हैं, जिसका वर्णन हम अभी आगे करेंगे।

मागधी और पालि के सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके ह। अर्द्ध-मागधी के सम्बन्ध में भी कुछ कह चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि जिस रूप में अर्द्धमागधी के स्वरूप का साक्ष्य हमें जैन आगमों में मिलता है, उसकी ध्वनि और रूप की दृष्टि से पालि से समानताएँ तो हैं किन्तु अर्द्धमागधी को पालि का उद्‌गम या आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्युत उसका विकास पालि के बहुत बाद हुआ है। पालि और अर्द्धमागधी की कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं—(१) संस्कृत 'अस्' और 'अर्' के स्थान में 'ए' हो जाना। पालि के पुरे (पुरः); सुवे (श्वः); भिक्खवे (भिक्षवः); पुरिसकारे (पुरुषकारः); दुक्खे (दुःखं) जैसे शब्दों में यह अर्द्धमागधीपन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। (२) संस्कृत 'तद्' के स्थान पर 'से' हो जाना। यह प्रवृत्ति 'सेय्यथा' (तद्‌यथा) जैसे पालि के प्रयोगों में रूढ़ हो गई है। (३) इसी प्रकार संस्कृत यद् के स्थान पर 'ये' हो जाना (४) र् का ल् हो जाना अर्द्धमागधी की एक बड़ी विशेषता है। पालि में भी यह कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है, नियमानुसार नहीं (५) स्वरों और अनुनासिक स्वरों के बाद आने पर 'एव' का अर्द्धमागधी में 'येव' हो जाता है। पालि में भी यह प्रवृत्ति कहीं कहीं दृष्टिगोचर होती है। (६) कहीं कहीं वर्ण-परिवर्तन का विधान भी पालि में अर्द्ध-मागधी के समान ही है। उदाहरणतः

संस्कृत	पालि	अर्द्धमागधी
साक्षं (आँखों के सामने)	सक्खि (सक्खिं भी)	सक्खं
त्सरु (मूँठ, तलवार)	थरु	थरु (छरु भी)
वेणु (बाँस)	वेळु	वेळु
लांगल (हल)	नंगळ	नंगळ

लूडर्स ने, अर्द्धमागधी के प्राचीन स्वरूप को पालि का आधार माना है, अतः उन्होंने उपर्युक्त समानताओं पर अधिक जोर दिया है। किन्तु इन समानताओं की एक मर्यादा है। केवल कुछ छुटपुटे उदाहरणों को छोड़ पालि में ये प्रवृत्तियाँ नियमित दृष्टिगोचर नहीं होतीं। उदाहरणतः, सं० अस् की जगह 'ए' हो जाना, 'र्' की जगह 'ल्' हो जाना आदि प्रवृत्तियाँ जो अर्द्धमागधी की अनिवार्य विशेषताएँ हैं, पालि में कहीं कहीं ही पाई जाती हैं।

शौरसेनी प्राकृत शूरसेन अर्थात् व्रज-मंडल या मध्य-मंडल की भाषा थी। यह प्राकृत संस्कृत के अधिकतम समीप है। उत्तरकालीन पालि में भी यही प्रवृत्ति

दिखाई देती है। पालि भी मध्य-मंडल की ही लोक-भाषा रही थी। अतः उसका प्रभाव शौरसेनी पर आवश्यक रूप से पड़ा है। जिन विद्वानों ने पालि का आधार कोई पूर्वी बोली (मागधी या अर्द्ध-मागधी) न मान कर किसी पच्छिमी बोली को माना है, उन्होंने शौरसेनी प्राकृत के साथ उसकी सर्वाधिक समानताएँ दिखाने का प्रयत्न किया है। कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं। (१) शौरसेनी के प्राचीन रूप में शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का लोप नहीं होता और अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तन भी बहुत कम दिखाई पड़ता है; (२) शब्द के मध्यस्थित 'न्' में भी साधारणतः परिवर्तन नहीं होता; (३) शब्द के आदि में स्थित 'य्' की जगह 'ज्' नहीं होता, जैसा उत्तरकालीन प्राकृतों में हो जाता है; (४) 'दानि' और 'इदानि' शब्द दोनों में ही समान रूप से प्रयुक्त होते हैं; (५) इसी प्रकार 'पेक्ख' 'गम्मिस्सिति' 'सक्किति' जैसे रूपों में भी समानता है। इन समानताओं के विषय में हमें यही कहना है कि इनमें से बहुत सी केवल पालि और शौरसेनी में ही नहीं मिलती, बल्कि अन्य प्राकृतों में भी पाई जाती हैं।

इसी प्रकार पालि और पैशाची प्राकृत के सम्बन्ध का सवाल है। इन दोनों भाषाओं की मुख्य समानताएँ इस प्रकार हैं—(१) घोष स्पर्शों (ग्, द्, ब्,) के स्थान पर अघोष स्पर्श (क्, त्, प्) हो जाना; (२) शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित रहना; (३) 'भारिय' 'सिनान' 'कसट' जैसे शब्दों में संयुक्त वर्णों का विश्लेषण (युक्त-विकर्ष) पाया जाना; (४) ज्ञ्, ण्य्, और न्य् का 'ञ्ञ्' में परिवर्तन होना; (५) य् का ज् में परिवर्तन न हो कर सुरक्षित रहना; (६) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा एकवचन में ओकारान्त हो जाना; (७) धातु-रूपों में समानताएँ; (८) र् का ल् में परिवर्तन न होकर सुरक्षित रहना। पालि की ये समानताएँ भी केवल पैशाची प्राकृत के साथ ही नहीं हैं। अन्य प्राकृतों में भी ये पाई जाती हैं। उदाहरणतः ज्ञ्, ण्य् और न्य् की जगह 'ञ्ञ्' मागधी ओर अन्य अनेक प्राकृतों में भी पाया जाता है। इसी प्रकार य् का ज् में परिवर्तित न होकर 'य्' ही बने रहना मागधी तथा अन्य प्राकृतों में पाया जाता है। इसी प्रकार अकारान्त शब्दों का ओकारान्त हो जाना केवल पैशाची प्राकृत में ही नहीं, किन्तु सभी पच्छिमी बोलियों में पाया जाता है और संस्कृत के मिथ्या-सादृश्य के आधार पर उद्भूत है। इसी प्रकार पालि का धातु-रूप-विधान न केवल पैशाची से ही अपितु सामान्यतः सभी पच्छिमी बोलियों से समानता रखता है। यही हाल 'र्' के पालि में परिवर्तित न होने का है। पश्चिमी बोलियों में भी ऐसा ही पाया जाता है। पैशाची

प्राकृत के सब रूपों में 'र्' सुरक्षित ही मिलता हो, ऐसी भी बात नहीं है। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित बने रहना प्राचीनता का लक्षण अवश्य है, किन्तु पैशाची के साथ पालि के घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक नहीं। घोष स्पर्शों के स्थान पर अघोष स्पर्श हो जाना पालि में यत्र-तत्र ही अनियमित रूप से पाया जाता है और पैशाची में भी यह नियम अनिवार्य नहीं है। अतः पैशाची प्राकृत के साम्य के आधार पर हम पालि के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित नहीं कर सकते।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि किसी एक प्राकृत या उसके प्राचीन स्वरूप से पालि को सम्बद्ध कर देना कितना एकांगी और भ्रामक सिद्धान्त है। वास्तव में तथ्य यही है कि पालि एक मिश्रित, साहित्यिक भाषा है जिसमें अनेक बोलियों के संमिश्रण के चिन्ह मिलते हैं। उसके ध्वनि-समूह का विस्तृत विवरण, प्राकृतों के साथ उसके सम्बन्ध को, जिसे हमने अभी तक अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही निर्दिष्ट किया है, अधिक स्पष्टता से व्यक्त करेगा।

पालि के ध्वनि-समूह का परिचय

पालि के ध्वनि-समूह को समझने के लिये पहले वैदिक और संस्कृत भाषा के ध्वनि-समूह को समझ लेना आवश्यक है। वैदिक ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ थीं, जिनमें १३ स्वर थे और ३९ व्यंजन। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

स्वर—

(१) नौ मूल स्वर : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, , ऋ, ॠ लृ,

(२) चार संयुक्त स्वर : ए, ऐ. ओ, औ

व्यंजन—

(१) सत्ताईस स्पर्श व्यंजन —

कंठ्य	क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
तालव्य	च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
मूर्द्धन्य	—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ळ्, ळ्ह
दन्त्य	—त्, थ्, द्, ध्, न्
ओष्ठ्य	—प्, फ्, ब्, भ्, म्

(२) चार अन्तःस्थ —य्, र्, ल्, व्

(३) तीन ऊष्म — श् ष् स्

(५) अनुनासिक — (अनुस्वार)

(६) तीन अघोष ऊष्म

विसर्जनीय या विसर्ग
जिह्वामूलीय[1]
उपध्मानीय[2]

वैदिक ध्वनि-समूह ही प्राय: संस्कृत में उपलब्ध होता है। कुछ विशेष परिवर्तन इस प्रकार हैं——(१) ळ्, ळ्ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों का प्रयोग संस्कृत में नहीं मिलता (२) कुछ स्वरों और व्यंजनों के उच्चारणों में भी परिवर्तन हुआ है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर अब हम पालि के ध्वनि-समूह पर विचार करें। पालि का ध्वनि-समूह इस प्रकार है——

स्वर

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ह्रस्व ए, ए, ह्रस्व ओ, ओ

व्यंजन

कंठ्य —— क् ख् ग् घ् ङ्
तालव्य —— च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
मूर्द्धन्य —— ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ळ्, ळ्ह
दन्त्य —— त्, थ्, द्, ध्, न्
ओष्ठ्य —— प्, फ्, ब्, भ्, म्
अन्त:स्थ —— य्, र्, ल्, व्
ऊष्म —— स्
प्राणध्वनि —— ह्

संस्कृत से मिलान करने पर उपर्युक्त पालि ध्वनि-समूह में ये विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं——(१) ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ स्वरों का प्रयोग पालि भाषा में नहीं मिलता (२) पालि में दो नये स्वर ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ मिलते हैं, (३) विसर्ग पालि में नहीं मिलता (४) श्, ष् पालि में नहीं मिलते, (५) ळ्, ळ्ह् व्यंजनों का प्रयोग पालि में संस्कृत से अधिक होता है। दो स्वरों के बीच में आने वाले ड् का

१. क् से पहले आने वाला विसर्ग। 'ततः किं' में विसर्ग की ध्वनि इसका उदाहरण है।

२. 'प्' से पहले आने वाला विसर्ग। 'पुनः पुनः' में प्रथम विसर्ग की ध्वनि इसका उदाहरण है।

स्थान यहाँ 'ळ्' ने ले लिया है, इसी प्रकार 'ढ्' का स्थान 'ळ्ह्' ने। मिथ्या-सादृश्य के कारण 'ळ्' का प्रयोग 'ल्' के स्थान पर भी देखा जाता है। (६) स्वतंत्र स्थिति में 'ह्' प्राणध्वनि व्यंजन है, किन्तु य्, र्, ल्, व् या अनुनासिक से संयुक्त होने पर इसका उच्चारण एक विशेष प्रकार से होता है, जिसे पालि वैय्याकरणों ने 'ओरस' या 'हृदय से उत्पन्न' कहा है। इस संक्षिप्त निर्देश के बाद अब उन ध्वनि-परिवर्तनों का उल्लेख करना आवश्यक होगा, जो संस्कृत की तुलना में पालि में होते हैं। पहले हम स्वर-परिवर्तनों को लेंगे, बाद में व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों को। स्वर-परिवर्तनों में भी क्रमशः ह्रस्व स्वर, दीर्घ स्वर, संयुक्त स्वर, विसर्ग आदि का विवेचन किया जायगा। इसी प्रकार व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों में असंयुक्त और संयुक्त व्यंजनों की दृष्टि से शब्द में उनकी स्थिति के अनुसार विवेचन करेंगे, यथा आदि-व्यंजन, मध्य-व्यंजन, अन्त्य-व्यंजन, आदि। इसके साथ ही स्वर और व्यंजन-सम्बन्धी कुछ विशेष ध्वनि-परिवर्तनों का दिग्दर्शन करना भी आवश्यक होगा।

स्वर-परिवर्तन

ह्रस्व स्वर (अ इ, उ, ए, ओ)

१. साधारणतया संस्कृत ह्रस्व स्वर अ, इ, उ, पालि (एवं प्राकृतों) में सुरक्षित रहते हैं।

उदाहरण

संस्कृत	पालि	
वधूः	वधू	(प्राकृत वहू)
अग्नि	अग्गि	प्राकृत में पालि के समान ही रूप
अर्थ	अट्ठ	
प्रिय	पिय	
रूक्ष	रुक्खो	
मुखम्	मुखं	(प्राकृत मुहं)

२ यदि संस्कृत में अ संयुक्त व्यंजन से पहले होता है, तो पालि में उसका कहीं कहीं ए (ह्रस्व ए) हो जाता है।

उदाहरण

संस्कृत	पालि
फल्गु (सारहीन)	फेग्गु

शय्या	सेय्या (प्राकृत सेज्जा)

३. इकारान्त और उकारान्त पालि शब्दों के रूपों में विभक्तयन्त इकार और उकार का दीर्घ होकर क्रमशः ईकार और ऊकार हो जाता है, यथा ईहि, ऊहि, ईसु, ऊसु। इस प्रकार 'अग्गि' (अग्नि) और 'भिक्खु' (भिक्षु) शब्दों के रूपों में क्रमशः अग्गीहि, भिक्खूहि (तृतीया बहुवचन) एवं अग्गीसु, भिक्खूसु (सप्तमी बहुवचन) रूप होते हैं।

(४) यदि संस्कृत में इ और उ संयुक्त व्यंजन से पहले होते हैं, तो पालि में वे क्रमशः ए और ओ (ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ) हो जाते हैं। उदाहरण—

संस्कृत	**पालि**
विष्णु	वेण्हु (कहीं कहीं विण्हु भी)
निष्क	नेक्ख
उष्ट्र	ओट्ठ
उल्कामुख	ओक्कामुख
पुष्कर	पोक्खर

(५) संस्कृत में जहाँ संयुक्त व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर होते हैं, वहाँ पालि में उनका रूप ह्रस्व हो जाता है, यह पालि भाषा का एक प्रसिद्ध नियम है, जिसका विवेचन हम दीर्घ स्वरों के परिवर्तन का विवरण देते समय आगे करेंगे। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस नियम के कारण संस्कृत के ए, ऐ तथा ओ, औ जब संयुक्त व्यंजनों से पहले आते हैं तो पालि में उनके रूप क्रमशः ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ हो जाते हैं। उदाहरण—

श्लेष्मन्	सेम्ह
चैत्य	चेतिय
ओष्ठ	ओट्ठ
मौर्य	मोरिय

(६) जब उपर्युक्त स्वर संयुक्त व्यंजनों से पहले न आकर अ-संयुक्त व्यंजनों के भी पहले आते हैं तो भी उनका परिवर्तन उपर्युक्त ह्रस्व स्वरूपों में ही हो जाता है, किन्तु उनके आगे आने वाला व्यंजन संयुक्त हो जाता है। उदाहरण—

एक	एक्कं
एवम्	एव्वं

ऋ और लृ के पालि प्रतिरूप

(अ) ऋ का परिवर्तन पालि में त्रिविध होता है। कहीं अ, कहीं इ, कहीं उ। समीपी ध्वनियों पर यह अधिक निर्भर करता है कि कब क्या परिवर्तन हो। ओष्ठ्य अक्षरों के बाद अक्सर उ होता है। फिर भी प्रयोगों के अनुसार विविधता पाई जाती है, जिसे नियमों में नहीं बाँधा जा सकता। ऋ का परिवर्तन बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में भी यह पाया जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि संस्कृत 'अवट' शब्द पहले 'अवृत' था। 'विकट' और 'विकृत' शब्द दोनों साथ साथ ऋग्वेद में मिलते हैं। यास्क भी इस तथ्य से अवगत हैं। उन्होंने 'कुटस्य' 'कृतस्य' जैसे समानार्थवाची शब्दों के उदाहरण दिये हैं। उत्तरकालीन युग में इस परिवर्तन की मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम में ऋ का परिवर्तित स्वरूप 'अ' हो जाता है और दूसरी में 'इ' या 'उ'। प्रथम प्रवृत्ति के परिचायक सामान्यतः पालि, अशोक के गिरनार-शिलालेख, महाराष्ट्री प्राकृत एवं अर्द्धमागधी प्राकृत हैं। दूसरी प्रवृत्ति के परिचायक विशेषतः अशोक के पूर्व और उत्तर-पश्चिम के शिलालेख एवं शौरसेनी प्राकृत हैं।

उदाहरण

(१) ऋ की जगह 'अ' हो जाना है—

संस्कृत	**पालि**
ऋक्ष	अच्छ
वृक	वक
हृदय	हदय
दृढ़	दल्ह (गिरनार शिलालेख)
मृग	मग (गिरनार शिलालेख)

(२) ऋ की जगह 'इ' हो जाती है—

कृत	कित (शौरसेनी किड) (अशोक पालि)
मृत	मित (शौरसेनी मुद) (अशोक-पालि)
ऋक्ष	इक्क
ऋण	इण
वृश्चिक	विच्छिक

(३) ऋ की जगह 'उ' हो जाता है—

ऋजु	उजु या उज्जु
ऋषभ	उसभ
पृच्छति	पुच्छति

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ऋ के पालि प्रतिरूपों में अनक विभिन्नताएँ हैं। कहीं-कहीं एक ही शब्द के दो परिवर्तित स्वरूप दृष्टगोचर होते हैं। जैसे 'कृत' से 'कत' और 'कित'; 'मृत' से 'मत' और 'मित'; 'ऋक्ष' से 'अच्छ' और 'इक्क'। कहीं कहीं इस प्रकार के समान प्रयोगों में अर्थ की कुछ भिन्नता भी हो गई है, यथा 'वड्ढि' और 'वुद्धि' दोनों सं० 'वृद्धि' के ही परिवर्तित स्वरूप हैं, किन्तु प्रथम का प्रयोग होता है उन्नति के अर्थ में और दूसरे का उगने के अर्थ में। इसी प्रकार 'मृग' के दो परिवर्तित रूप 'मग' और 'मिग' हैं। 'मग' का प्रयोग होता है सामान्य पशु मात्र के लिये, किन्तु 'मिग' का केवल हिरन के लिये। अन्य भी अनेक विचित्रताएँ हैं। 'ऋण ' का पालि में 'इण' होता है, किन्तु 'स-ऋण' के लिये 'स+इण' न हो कर 'स+अण' अर्थात् 'साण' होता है। इसी प्रकार 'अनण' होता है, 'अनिण' नहीं। सम्भवतः यह परिवर्तन स्वर-अनुरूपता के कारण है। 'पितृ' और 'मातृ' शब्दों के परिवर्तन एक जगह तो 'पितिपक्खतो' 'माति-पक्खतो' इस प्रकार होते हैं, किन्तु दूसरी जगह 'पितुघातक' 'मातुघातक' इस प्रकार होते हैं। 'पृथिवी' शब्द के पालि प्रतिरूप तो और भी अधिक आश्चर्यमय हैं—पथवी, पठवी, पुथवी, पुथुवी, पुठुवी। ये सब पालि के भिन्नतामयी लोक-भाषा होने के साक्षी हैं।

(४) कहीं कहीं ऋ व्यंजन भी हो जाता है—

संस्कृत	पालि
बृंहयति	ब्रूहेति
वृक्ष	रुक्ख
प्रावृत	पारुत
अपावृत	अपारुत

(आ) 'लृ' का 'उ' हो जाता है—

संस्कृत	पालि
क्लृप्त	कुत्त
क्लृप्ति	कुत्ति

दीर्घ स्वर (आ, ई, ऊ)

(१) पद के अन्त में या संयुक्त व्यंजन से पूर्व की स्थिति को छोड़कर, संस्कृत दीर्घ स्वर पालि में प्रायः सुरक्षित रहते हैं।

उदाहरण

संस्कृत	**पालि**
काल	काल
प्रहीण	पहीण
क्षीरं	खीरं
मूल	मूल या मूळ

(२) पद के अन्त में जहाँ संस्कृत में दीर्घ स्वर होते हैं, पालि में वे ह्रस्व कर दिये जाते हैं।

उदाहरण

देवानां	देवानं
गणनायां	गणनायं
नदीं	नदिं

(३) संयुक्त व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर होने पर पालि में उसका प्रतिरूप ह्रस्व हो जाता है और उसके बाद भी संयुक्त व्यंजन रहता है।

उदाहरण

जीर्ण	जिण्ण
मार्दवं	मद्दवं
तीर्थं	तित्थं

(४) संयुक्त व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर रहने पर कभी-कभी पालि में उसका प्रतिरूप भी दीर्घ ही बना रहता है और इस दशा में संयुक्त व्यंजन असंयुक्त हो जाता है। उदाहरण

लाक्षा	लाखा
दीर्घ	दीघ

ए और ओ रहने पर संयुक्त व्यंजन विकल्प से असंयुक्त होता है, अर्थात् कहीं-कहीं वह असंयुक्त होता है और कहीं-कहीं नहीं भी।

उदाहरण

अपेक्षा	अपेखा, अपेक्खा भी
उपेक्षा	उपेखा, उपेक्खा भी
विमोक्ष	विमोख, विमोक्ख भी

उपर्युक्त (३) और (४) ध्वनि-परिवर्तनों के आधार पर प्रसिद्ध जर्मन भाषातत्त्वविद् डा० गायगर ने एक नियम खोज निकाला है। इस नियम का नाम 'ह्रस्व मात्रा-काल का नियम' (दि लॉ ऑव मोरा) है। इस नियम के अनुसार पालि में प्रत्येक शब्दांश के प्रारम्भ में या तो (१) ह्रस्व स्वर हो सकता है (एक ह्रस्व मात्रा-काल) या (२) दीर्घ स्वर हो सकता है (दो ह्रस्व मात्रा-काल), या (३) उसके अन्त में ह्रस्व स्वर हो सकता है (दो ह्रस्व मात्रा-काल)। इस प्रकार किसी भी शब्दांश में दो से अधिक ह्रस्व मात्रा काल नहीं हो सकते। दीर्घ सानुनासिक स्वर पालि में नहीं हो सकते। इस नियम के आधार पर ही उपर्युक्त (३) (४) ध्वनि-परिवर्तनों की सिद्धि डा० गायगार ने की है। इस नियम के अनुसार अन्य परिवर्तनों का भी उन्होंने उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—

(१) जहाँ संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पहले ह्रस्व स्वर होता है, वहाँ पालि में साधारण व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर हो जाता है। उदाहरण

सर्षप (सरसों)	सस्सप के बजाय सासप
वल्क (छाल)	वक्क के बजाय वाक
निर्याति (बाहर चला जाता है)	नीयाति

(२) जहाँ साधारण व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर होता है, वहाँ पालि में संयुक्त व्यंजन से पूर्व ह्रस्व स्वर होता है। उदाहरण

आबृहति	अब्बहति
नीड	निड्ड (नेड्ड भी)
उदूखल	उदुक्खल
कूवर	कुब्बर

(३) जहाँ उपर्युक्त नियम (१) के अनुसार संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पहले (ह्रस्व) स्वर होने पर पालि में उसका साधारण व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर हो

जाता है, वहाँ इस नियम के अनुसार कहीं कहीं उसके दीर्घ स्वर के स्थान पर सानुनासिक ह्रस्व स्वर भी हो जाता है। इस नियम का कारण यह है कि ह्रस्व सानुनासिक स्वर में भी दीर्घ स्वर के समान दो ह्रस्व मात्रा-काल होते हैं।

उदाहरण—

मत्कुण	माकुण के बजाय मंकुण
शर्वरी	सावरी (सब्बरी) के बजाय संवरी
शुल्क	सूक (सुक्क) के बजाय सुंक

(४) उपर्युक्त नियम का विपर्यय भी देखा जाता है, अर्थात् संस्कृत अनुनासिक ह्रस्व स्वर का परिवर्तन पालि में दीर्घ स्वर भी हो जाता है।

सिंह	सीह
विंशति	वीसति, वीसं

(५) कभी-कभी संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पूर्व आने वाला दीर्घ स्वर पालि में भी बना रहता है। ऐसा अधिकतर सन्धियों में होता है, जैसे माज्ज = मा + अज्ज; यथाज्झासयेन = यथा + अज्झासयेन, आदि।

(६) पालि में स्वर-भक्ति का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जब स्वर-भक्ति के कारण संयुक्त व्यंजन असंयुक्त किये जाते हैं, तो संयुक्त व्यंजन से पहले आने वाला दीर्घ स्वर पालि में ह्रस्व कर दिया जाता है। उदाहरण—

सूर्य	सुय्य के बजाय सुरिय
प्रकीर्य	पकिरिय
मौर्य	मोरिय
चैत्य	चेतिय

(७) विवृत् स्वर ई और ऊ पालि में क्रमशः ए और ओ हो जाते हैं।

उदाहरण

ईदृश्	एदिस (एरिस)
ईदृक्ष	एदिसक
ईदृक्ष	एदिक्ख (एरिक्ख)

संयुक्त स्वर (ए, ऐ, ओ, औ) और उनके पालि प्रतिरूप

ए और ओ पालि में ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही हैं। ह्रस्व ए और ओ का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। दीर्घ ए और ओ भी पालि में पाये जाते हैं।

(१) पालि में ए और ओ का आगमन संस्कृत संयुक्त स्वरों ऐ और औ से हुआ है।[1]

ऐरावण	एरावण
मैत्री	मेत्ता
वैं	वे
औरस	ओरस
पौर	पोर

(२) कभी कभी ए, ओ, संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों से पहले आने पर, पालि में लघु होकर क्रमशः इ और उ रह जाते हैं। उदाहरण

प्रतिवेश्यक	पटिविस्सक
प्रसेवक	पसिब्बक
ऐश्वर्य	इस्सरिय
सैन्धव	सिन्धव
श्रोष्यामि	सुस्सं
औत्सुक्य	उस्सुक
क्षौद्र	खुद्द
रौद्र	लुद्द

विसर्ग

पालि में आते-आते विसर्ग का लोप हो गया है। प्राकृतों में भी वह नहीं मिलता। इसका परिवर्तन प्रायः तीन प्रकार से हुआ है।

(१) शब्द के मध्यस्थित विसर्ग का समावेश उसके आगे आने वाले व्यंजन में हो गया, जैसे

---

१. सं० अय से पालि ए; अव से ओ; आव से ओ; अयि, आयि, आवि से ओ; इन परिवर्तनों के लिये देखिये आगे अक्षर-संकोच का विवरण।

दु:खं	दुक्खं
दु:सह	दुस्सहो
नि:शोक	निस्सोको

(२) अकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का ओ हो गया।

देव:	देवो
क:	को

(३) इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का लोप हो गय.

अग्नि:	अग्गि
धेनु:	धेनु

स्वर-अनुरूपता अर्थात् एक स्वर का दूसरे समीपवर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना

समीपवर्ती स्वरों का प्रभाव पालि में दूसरे स्वरों पर भी पड़ता है। इस प्रकार पालि में हम 'स्वर-अनुरूपता' का प्रारम्भ देखते हैं। समीपवर्ती स्वरों के कारण स्वर-विपर्यय के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(अ) पूर्ववर्ती स्वर का परवर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना—

(१) संस्कृत में 'इ' के बाद जहाँ 'उ' होता है, तो पालि में 'इ' की जगह भी 'उ' हो जाता है—

इषु	उसु
इक्षु	उच्छु (अर्द्धमागधी में इक्खु)
शिशु	सुसु

(२) अ के बाद जहाँ संस्कृत में उ होता है, तो पालि में अ की जगह भी उ हो जाता है।

समुद्ग	सुमुग्ग
असूया	उसूया (असुय्या भी)

(३) अ के बाद जहाँ संस्कृत में इ होता है, तो पालि में अ की जगह भी इ हो जाता है।

तमिस्रा	तिमिस्सा
सरीसृप	सिरिंसप

(आ) परवर्ती स्वर का पूर्ववर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना।

(१) उ के बाद जहाँ संस्कृत में अ होता है तो पालि में अ की जगह भी उ हो जाता है।

कुरंग	कुरुंग
उदंक	उळुंक

(२) अ के बाद जहाँ संस्कृत में इ होता है, तो पालि में इ की जगह भी अ हो जाता है।

अलिंजर	अरंजर
काकिणिका	काकणिका
पुष्करिणी	पोक्खरणी

(३) अ के बाद जहाँ संस्कृत में उ होता है, तो पालि में उ की जगह भी अ हो जाता है।

आयुष्मन्	आयस्मन्त
शष्कुली	सक्खली (सक्खलिका)

(४) इ के बाद जहाँ संस्कृत में अ होता है, तो पालि में अ की जगह भी इ हो जाती है।

शृंगवेर	सिंगिवेर
निषण्ण	निसिन्न

समीपवर्ती व्यंजनों का स्वरों पर प्रभाव

(१) ओष्ठ्य व्यंजनों के समीप विशेषतः उ आता है।

संमार्जनी	सम्मुज्जनी (कहीं कहीं सम्मज्जनी भी)
मतिमान्	मुतीमा

(२) मूर्द्धन्य व्यंजनों के समीप विशेषतः इ आता है।

मज्जा	मिञ्जा
जुगुप्सते	जिगुच्छति

स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन

पालि में स्वराघात का क्या स्वरूप था, इसका निर्णय अभी नहीं हो सका।

किन्तु यह निश्चित है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-काल के बाद ही स्वराघात के चिन्ह को लगाने का प्रयोग उठ गया था। जेकोबी और गायगर का मत है कि पालि में स्वराघात का वही रूप था, जो संस्कृत में। यह तथ्य नीचे लिखे परिवर्तनों से स्पष्ट होता है।

(१) तीन-चार अक्षरों के शब्द में, जिसमें संस्कृत के साक्ष्य पर प्रथम अक्षर में स्वराघात होता था, स्वराघात वाले अक्षर के बाद के अक्षर में अर्थात् दूसरे अक्षर में पालि में स्वर-परिवर्तन पाया जाता है।

(अ) स्वराघात वाले अक्षर के बाद अ का इ हो जाता है—

चन्द्रमा	चन्दिमा
चरम	चरिम
परम	परिम
पुत्रमान्	पुत्तिमा
मध्यम	मज्झिम
अहंकार	अहिकार

(आ) स्वराघात वाले अक्षर के बाद अ का उ भी हो जाता है—

नवति	नवुति
प्रावरण	पापुरण
सम्मति	सम्मुति

(इ) कभी-कभी स्वराघात वाले अक्षर के बाद इ का उ और उ का इ हो जाता है—

राजिल	राजुल
गैरिक	गेरुक
प्रसित	पसुत
मृदुता	मुदिता (मुदुता भी)

(२) स्वराघात वाले अक्षर के बाद आने पर अनुदात्त लघु स्वर कभी-कभी लुप्त भी कर दिये जाते हैं—

उदक	ओक
अगार	अग्ग

(३) स्वराघात के प्रभाव के कारण ही अनुदात्त अन्त्य अक्षर ह्रस्व कर दिये जाते हैं। इस प्रकार 'ओ' का 'उ' हो जाता है—

असौ	असु (प्रथम 'असो' हुआ; मागधी में यही रूप)
उताहो	उदाहु
सद्यः	सज्जु (प्रथम 'सज्जो' हुआ)

(४) कहीं-कहीं शब्द का दूसरा दीर्घ अक्षर ह्रस्व कर दिया जाता है। यह परिवर्तन पालि में स्वराघात के दूसरे अक्षर से हटाकर प्रथम अक्षर पर कर देने से होता है।

अलीक	अलिक
गृहीत	गहित
पानीय	पानिय (अर्द्धमागधी पाणिय)

(४) कहीं-कहीं प्रथम अक्षर के स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यह परिवर्तन भी उस अक्षर पर स्वराघात कर देने के कारण होता है।

अजिर	आजिर
अलिन्द	आलिन्द
अरोग	आरोग (अरोग भी)

सम्प्रसारण और अक्षर-संकोच

(अ) सम्प्रसारण—

(१) उदात्त 'य', का 'ई' हो जाता है—

स्त्यान	थीन
द्व्यह	द्वीह
त्र्यह	तीह
व्यतिवृत्त	वीतिवत्त

कहीं-कहीं 'य' सुरक्षित भी रहता है

व्यसन	ब्यसन
व्याध	ब्याध

(२) सम्प्रसारण के कारण ही कहीं-कहीं 'व' का ऊ हो जाता है।

श्वन्	सून

यदि 'व' संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों से पहले है तो पालि में उसका रूप ऊ न होकर पहले उ होता है और फिर ओ में सम्प्रसारण—

स्वस्ति	सुवत्थि—सोत्थि
स्वप्न	सुपिन—सोप्प

असंयुक्त व्यंजनों से पहले ऊ की जगह ओ होता है—

श्वपाक	सोपाक (अर्द्धमागधी सोवाग)

(३) कुछ सम्प्रसारण विचित्र भी होते हैं, जैसे सं० 'द्वेष' और 'दोष' दोनों के प्रतिरूप पालि में 'दोस' में मिल गये हैं।

(आ) अक्षर-संकोच

(१) अय और अव क्रमशः ए और ओ हो जाते हैं। बीच में स्वराघात के कारण क्रमशः अयि, ऐ, अवु, औ अस्वस्थाओं में होकर ये परिवर्तन होते हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

जयति	जेति (जयति भी)
अध्ययन	अज्झेन
मोचयति	मोचेति
कथयति	कथेति
अवधि	ओधि
प्रवण	पोण
लवण	लोण

(२) अय और आय का आ हो जाता है

प्रतिसंलयन	पटिसल्लान
स्वस्त्ययन	सोत्थान
कात्यायन	कच्चान (कच्चायन भी)
मौद्गल्यायन	मोग्गल्लान (मोग्गल्लायन भी

(३) आव का ओ हो जाता है।

अतिधावन	अतिधोन

(४) अवा का आ हो जाता है।

यवागू	यागु

(५) अयि और अवि ए हो जाते हैं—

आश्चर्य	अच्छयिर, अच्छरिय से होकर अच्छेर

आचार्य	आचरिय-आचेर
मात्सर्य	मच्छेर
स्थविर	थेर

(६) प्राकृतों के समान पालि में भी कहीं-कहीं उप और अप उपसर्ग क्रमशः उव और अव स्वरूपों में होकर ऊ और ओ हो जाते हैं।

उपह्दति	ऊह्ादेति
अपवरक	ओवरक
अपत्रप	ओत्तप्प

(७) कहीं-कहीं अनियमित अक्षर-संकोच भी दिखाई पड़ते हैं।

मयूर	मोर (मयूर

स्वरभक्ति के कारण स्वरागम

पालि में स्वरागम अधिकतर शब्द के मध्य में होता है। स्त्री से इत्थी; स्मयते से उम्हयति, उम्हयते जैसे शब्द अपवाद हैं। शब्द के मध्य में स्थित केवल उन्हीं संयुक्त व्यंजनों के बीच में स्वर का आगमन होता है, जिनमें य्, र्, ल्, व्, में से कोई एक व्यंजन हो या जो सानुनासिक हो। 'कष्ट' जैसे शब्द का 'कसट' रूप होना एक अपवाद है। यह पालि में पाया जाने वाला पैशाची प्राकृत का प्रयोग है। इसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। पालि में पाये जाने वाले कुछ स्वरागम इस प्रकार हैं—

(अ) इ का आगमन, जो पालि में अधिकता से होता है।

(१) संयुक्त व्यंजन 'र्य्' में

ईर्यते	इरियति
मर्यादा	मरियादा

(२) ऐसे संयुक्त-व्यंजनों में, जिनमें एक य् हो

कालुष्य	कालुसिय
ज्या	जिया
ह्यः	हिय्यो
	(अर्द्धमागधी हिज्जो)

(३) ऐसे संयुक्त-व्यंजनों में, जिनमें एक ल् हो

प्लक्ष	पिलक्खु

ह्लाद	हिलाद

(४) ऐसे संयुक्त व्यंजनों में, जिनमें एक र् हो

वज्र	वजिर

(५) सानुनासिक संयुक्त व्यंजनों में,

स्नेह	सिनेह
तृष्णा	तसिणा

निम्नलिखित अपवाद भी हैं,

कृष्ण	कण्ह
नग्न	नग्ग

(आ) अ का आगमन,

प्रायः ऐसे संयुक्त व्यंजनों के मध्य में होता है, जिनके पूर्व और पश्चात् अ स्वर हो

गर्हा	गरहा
गर्हति	गरहति

(इ) उ का आगमन

प्रायः म् और व् से पूर्व होता है

ऊष्मन्	उसुमा
सूक्ष्म	सुखुम
द्वे	दुवे

छन्द/और समास के कारण स्वरों के मात्राकाल में परिवर्तन

(अ) छन्द की आवश्यकता के कारण

(१) कहीं-कहीं ह्रस्व स्वर का दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'नदति' की जगह गाथा में लय को ठीक करने के लिये 'सी हो व नदती वने' में कर दिया गया है। 'सतिमती' से 'सतीमती' 'तुरियं' से 'तूरियं' आदि परिवर्तन भी इसी प्रकार कर दिये जाते हैं।

(२) कहीं-कहीं दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे 'भुम्मानि वा यानि व अन्तलिक्खे'। यहाँ 'व' की जगह 'वा' होना चाहिये था। किन्तु छन्द की गति के लिये उसे ह्रस्व कर दिया गया है। इसी प्रकार 'पञ्चनीका' से 'पञ्चनिका' जैसे प्रयोग भी छन्द में कर दिये जाते हैं।

(३) सानुनासिक स्वरों को अननुनासिक कर दिया जाता है, जैसे 'दीघमद्धान सोचति' में। यहाँ वैसे 'दीघमद्धानं' होना चाहिये था। इसी प्रकार 'जीवन्तो' से 'जीवतो' जैसे प्रयोग भी दिखाई देते हैं।

(४) संयुक्त व्यंजनों को सरल बना कर उनमें से केवल एक रख लिया जाता है, जैसे 'दुक्खं' से 'दुखं'। यह भी ह्रस्व कर देने के समान ही है।

(आ) समास में होने वाले स्वर-परिवर्तन

(१) समास के प्रथम पद के अन्त में होने पर ह्रस्व स्वर बहुधा दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे सखिभाव से सखीभाव; अब्भमत्त से अब्भामत्त; रजपथ से रजापथ। उपसर्ग-युक्त शब्दों में भी यह स्वरों को दीर्घ करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, जैसे सं० प्रवचन से पालि पावचन (अर्द्धमागधी पावयन); प्रकट से पालि पाकट (अर्द्धमागधी पागड)

(२) जब समास के प्रथम पद में आकारान्त, ईकारान्त या ऊकारान्त शब्द होते हैं, तो इनको ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे दासिगण (दासी+गण); उपाहनदान (उपाहना+दान)।

कुछ विचित्र स्वर-परिवर्तन

(१) एक ही सं० शब्द 'पुन:' के पालि में दो रूप-परिवर्तन हैं। 'पुन' और 'पन'। किन्तु इन दोनों के अर्थ भिन्न भिन्न हैं। 'पुन' का अर्थ तो सं० 'पुन:' के समान ही है, किन्तु 'पन' का अर्थ है 'किन्तु' 'प्रत्युत'।

(२) कहीं-कहीं पालि के स्वर-परिवर्तन संस्कृत की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। इस प्रकार पालि का 'गरू' शब्द समानार्थवाची संस्कृत 'गुरु' शब्द से अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार संस्कृत 'अगरु' या 'अगुरु' की अपेक्षा समानार्थवाची पालि शब्द 'अगरु' 'अगलु' अधिक प्राचीन हैं। कहीं-कहीं पालि शब्दों का मूल रूप संस्कृत में न मिल कर प्राचीन वैदिक भाषा में मिलता है। 'अम्ब' शब्द का उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। 'सिम्बल' या 'सिम्बली' (कपास का पेड़) शब्द भी ऐसा है। यह संस्कृत के 'शालमली' से नहीं लिया गया, किन्तु वैदिक भाषा के 'शिम्बल' (कपास का फूल) से उद्भूत है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों के मूल रूप भी संस्कृत में न मिल कर वैदिक भाषा में मिलते हैं।[1]

---

१. अधिक उदाहरणों के लिये देखिये, पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ८०-८१

स्वर-सन्धि

स्वर-सन्धि के नियमों का विवेचन करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। यह तो व्याकरण का विषय है। यहाँ हम केवल स्वर-परिवर्तन की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का ही उल्लेख करेंगे।

(१) एक पद के अन्तिम स्वर का दूसरे पद के प्रारम्भिक स्वर के साथ मिलना पालि में अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार 'से अज्ज यदा अयं धम्मलिपी लिखिता ती एव **प्राणा** आरभिरे' (गिरनार शिलालेख) जैसे प्रयोग पालि में दिखाई पड़ते हैं। फिर भी जहाँ समान स्वर मिलते हैं तो संस्कृत के समान ही दोनों मिलकर दीर्घ हो जाते हैं, जैसे बुद्ध + अनुस्सति = बुद्धानुस्सति; सम्मन्ति + इध = सम्मन्तीध; बहु + उपकारं = बहूपकारं; दुग्गता + अहं = दुग्गताहं।

(२) अ अथवा आ से परे इ और उ आने पर क्रमशः ए और ओ होना भी पालि में संस्कृत के समान ही दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन अधिकांश पालि के प्राचीनतम रूप—गाथाओं की भाषा—में दृष्टिगोचर होता है। अव + इच्च = अवेच्चं; उप + इतो = उपेतो; मुख + उदकं = मुखोदकं; मच्चुस्स + इव + उदके = मच्चुस्सेवोदके; च + इमे = चेमे।

(३) अ से परे असवर्ण स्वर रहने पर इ का य और उ अथवा ओ से परे असवर्ण स्वर रहने पर उ का व हो जाता है। वि + आकतो = व्याकतो; यो अयं—य्वायं; सु + आगतं = स्वागतं

(४) असवर्ण स्वरों के मिलने पर कहीं-कहीं (१) पूर्व स्वर का लोप हो जाता है, (२) पर स्वर का लोप हो जाता है, (३) पर स्वर का दीर्घ हो जाता है, (४) पूर्व स्वर का दीर्घ हो जाता है।

उदारहण (१) यस्स + इन्द्रियाणि = यस्सिन्द्रियाणि; मे + अत्थि = मत्थि (२) चत्तारो + इमे = चत्तारो मे; ते + इमे = तेमे (३) सचे + अयं सचायं; (४) देव + इति = देवाति; लोकस्स + इति = लोकस्साति।

(५) अनेक स्वर-सन्धियों में व्यंजनों का आगम होता है, जैसे न + इदं = नयिदं; लघु + एस्सति = लघुमेस्सति; यथा + एव = यथरिव; तथा + एव = तथरिव; गिरि + इव = गिरिमिव; सम्मा + अत्थो = सम्मदत्थो, आदि, आदि।

(६) कभी-कभी अनुस्वार से परे स्वर का लोप हो जाता है, जैसे इदं + अपि = इदंपि; दातुं + अपि = दातुंपि; अभिनंदुं + इति = अभिनंदुंति। इस

प्रकार की सन्धियों के आधार पर गायगर ने अनुमान किया है कि पालि में स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होने वारेले 'व' (सं० 'इव' के लिये) 'पि' (सं० 'अपि' के लिये) 'ति' (सं० 'इति के लिये) 'दानि' (सं० 'इदानीं' के लिये); पोसथ (उपोसथ, सं० 'उपवसथ' के लिये) आदि शब्द लुप्त सन्धियों के स्मारक स्वरूप हैं।

व्यंजन-परिवर्तन

व्यंजनों का परिवर्तन पालि में प्रधानतः शब्द में उनकी स्थिति के अनुसार हुआ है। सामान्यतः संस्कृत आदि-व्यंजन पालि में सुरक्षित रहते हैं। मध्य-व्यंजनों का विकास मध्य-कालीन भारतीय आर्य भाषा-युग में तीन अवस्थाओं में हुआ है। पहली अवस्था में अघोष स्पर्श घोष हो जाते हैं। दूसरी अवस्था में घोष स्पर्श 'य' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं। तृतीय अवस्था में य ध्वनि का भी लोप हो जाता है। पालि में प्रधानतः प्रथम दो अवस्थाएँ ही पाई जाती हैं। तीसरी अवस्था का विकास प्राकृत भाषाओं में हुआ है। अन्त्य व्यंजन पालि और प्राकृतों में समान रूप से ही लुप्त कर दिये जाते हैं। व्यंजन-परिवर्तनों का विस्तृत अध्ययन इस प्रकार है।

असंयुक्त व्यंजन

(अ) आदि व्यंजन

(१) सामान्यतः, शब्द के आदि में अवस्थित संस्कृत असंयुक्त व्यंजन (अल्पप्राण क्, त्, प्, ग्, द्, ब् आदि और महाप्राण ख्, थ्, फ्, घ्, ध्, भ्, आदि) पालि में सुरक्षित रहते हैं। उदाहरण—

संस्कृत	पालि
करोति	करोति (प्राकृत करेदि)
गच्छति	गच्छति (प्राकृत गच्छेदि)
चौरः	चोरो
जनः	जनो
ताडयति	ताडेदि
पुत्रः	पुत्तो
दन्तः	दन्तो
बधिर :	बहिरो
खनति	खनति

घटः	घटो
फलं	फलं

(२) पाँच सानुनासिक व्यंजनों (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) में से संस्कृत में भी केवल न् और म् ही शब्द के आदि में आते हैं, अन्य नहीं। यही नियम पालि में भी है। अतः संस्कृत शब्द के आदि में अवस्थित न् और म् पालि में भी सुरक्षित रहते हैं। प्राकृतों में चल कर इनका परिवर्तन ण् में हो गया है। 'म्' तो वहाँ भी सुरक्षित रहा है।

नाशयति	नासेति (प्रा० णासेइ)
मखं	मुखं
मन्त्रयति	मन्त्रेति (प्रा० मन्तेदि)

(३) शब्द के आदि में अवस्थित अन्तःस्थ य्, र्, ल्, व् भी सुरक्षित रहते हैं। र् के विषय में यह विशेषता अवश्य ध्यान देने योग्य है कि र् का ल् में परिवर्तन होना पालि में एक बड़ी साधारण बात है। मागधी प्राकृत का तो यह एक नियम ही है और अन्य प्राकृतों में भी यह नियम कहीं-कहीं पाया जाता है। य् के विषय में भी यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि पालि में तो वह सुरक्षित रहता है (कहीं कहीं उसके साथ ही ल् में परिवर्तित स्वरूप भी दिखाई पड़ता है) किन्तु प्राकृतों में चलकर बाद में उसका ज् में परिवर्तन हो गया है। उदाहरण—

रूपानि	रूपानि, (लूपानि भी, विशेषतः अशोक के धौली और जौगढ़ के लेखों में)
रुज्यते	लुज्जति
राजा	राज (लाजा, विशेषतः अशोक के पूर्व के लेखों में)
रौद्र	लुद्द
यावत्	याव (प्राकृत जाव)
यष्टिका	यट्ठिका (लट्ठिका भी)
वातः	वादो

(४) संस्कृत ऊष्म श्, ष्, स् का अन्तर्भाव पालि में केवल 'स्' में हो गया है। अतः पालि में केवल दन्त्य स् है। पच्छिमी प्राकृतों की भी यही विशेषता है। इसके

विपरीत पूर्वी प्राकृतों में केवल एक तालव्य 'श्' रह गया है। अशोक के शिलालेखों में हम इस विकास-परम्परा के सभी रूप देखते हैं। इस प्रकार मगध के शिलालेखों में केवल दन्त्य स् पाया जाता है। गिरनार के शिलालेखों में स् और श् दोनों ही पाये जाते हैं। उत्तर-पच्छिम के शिलालेखों में तीनों ही श्, ष् और स् पाये जाते हैं। बोलियों के मिश्रण के कारण फिर भी इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बाँधा जा सकता। यह परिवर्तन आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों में दिखाई पड़ता है।

सार्थवाह	सत्थवाहो
श्रवणीय	सवनीय
देशः	देसो
परशु	फरसु
पुरुष	पुरिस

(५) उपर्युक्त नियम (१) के अपवाद-स्वरूप निम्नलिखित तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) कहीं कहीं शब्द के आदि में पालि में प्राणध्वनि (ह्) का आगमन होता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि शब्द के आदि में अवस्थित संस्कृत अघोष अल्पप्राण व्यंजन (क्, त्, प् आदि) पालि में उसी वर्ग के अघोष महाप्राण व्यंजन (ख्, थ्, फ् आदि) हो जाते हैं। उदाहरण

कील	खील
कुब्ज	खुज्ज
कृत्वः	खत्तु
परशु	फरसु

(आ) कहीं कहीं, किन्तु अपेक्षाकृत कम संख्या में, उपर्युक्त नियम का विपर्यय भी देखा जाता है, अर्थात् संस्कृत अघोष महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर पालि में उसी वर्ग के अघोष अल्पप्राण व्यंजन भी दिखाई पड़ते हैं।

झल्लिका	जल्लिका
भगिनी	बहिनी (बहिणी भी)

(इ) वर्णों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन भी पालि में बहुत पाया जाता है। आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों में यह होता है। शब्द के आदि में होने वाले कुछ परिवर्तनों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(१) कहीं-कहीं कंठ्य स्पर्शों की जगह तालव्य स्पर्श हो जाते हैं

कुन्द	चुन्द

(२) कहीं-कहीं दन्त्य स्पर्शों की जगह मूर्द्धन्य स्पर्श हो जाते हैं

दहति	डहति
दाह	डाह
दसति	डसति

आ—मध्य-व्यंजन

पालि में मध्य-व्यंजन सम्बन्धी परिवर्तनों का विचार करते समय हम उन प्रवृत्तियों की सूचना पाते हैं, जिन्हें 'प्राकृतत्व' या 'प्राकृतपन' कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि जिन परिवर्तनों का पालि में सूत्रपात ही हुआ है उनका अन्तिम विकास प्राकृतों में चल कर हुआ है। इस विकास की तीन अवस्थाओं का निर्देश हम पहले कर चुके हैं। प्राकृतों के साथ मिलने वाली पालि की ये विशेषताएँ अनेक बोलियों के संमिश्रण के आधार पर व्याख्यात की जा सकती हैं। ये समानताएँ विशेषतः मध्य-व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों में पालि में कहीं-कहीं दृष्टि-गोचर होती हैं, उदाहरणतः—

(१) शब्द के मध्य में स्थित संस्कृत अघोष स्पर्श पालि में उसी वर्ग के घोष स्पर्श हो जाते हैं। इस प्रकार क्, च्, ट्, त्, प्, थ् आदि क्रमशः ग्, ज्, ळ्, द्, ब्, ध् आदि हो जाते हैं। उदाहरण—

प्रतिकृत्य	पटिगच्च (पटिकच्च भी)
शाकल	सागल
माकन्दिक	मागन्दिय
स्रुच्	सुजा
कक्खट	कक्खळ (निर्दयी)
खेट	खेळ (गाँव)
स्फटिक	फळिक
उताहो	उदाहु
पृषत	पसद
अपांग	अवंग
कपि	कवि

कपित्थ	कविट्ठ
ग्रथित	गधित (गथित भी)

इस प्रकार के परिवर्तन अपभ्रंश और कई प्राकृतों में भी पाये जाते हैं।

(२) उपर्युक्त परिवर्तन से एक अधिक विकसित अवस्था वह है जिसमें अघोष स्पर्शों का लोप हो जाता है और वे 'य्' या 'व्' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं। इसके बाद ही वह अवस्था होती है जिसमें 'य्' या 'व्' व्यंजन का भी बिलकुल लोप हो जाता है। सं० 'शत' शब्द के विकृत या विकसित रूपों में हम इस विकास का अच्छा अध्ययन कर सकते हैं। पहले इसका पालि में 'सत' होता है, फिर अघोष स्पर्श 'त्' का 'द्' होता है और इस प्रकार प्राकृत में 'सद' रूप बनता है। इसका भी आगे विकसित रूप 'सय' बनता है और फिर अन्त में 'सअ' और 'सौ'। अघोष स्पर्शों का लुप्त हो कर 'य्' या 'व्' में परिवर्तित होना प्राकृतों के समान पालि में भी पाया जाता है। अतः वह भी पालि का एक 'प्राकृतपन' है। उदाहरण—

शुक	सुव (सुक भी)
खादित	खायित
स्वादते	सायति (सादियति भी)
अपरगोदान	अपरगोयान
कुशीनगर	कुसिनअर-कुसिनार
कौशिक	कोसिय

(३) शब्द के मध्य में स्थित घोष महाप्राण व्यंजनों (घ्, ध्, भ्, आदि) का 'ह्' में परिवर्तित हो जाना प्राकृतों की एक विशेषता है। यह प्रवृत्ति पालि में भी यत्र-तत्र पाई जाती है।

लघु	लहु
रुधिर	रुहिर (रुधिर भी)
साधु	साहु (अधिकतर तो साधु ही)

इसके विपरीत कहीं-कहीं पालि वैदिक भाषा के घोष महाप्राण व्यंजनों को सुरक्षित रखती है जब कि संस्कृत में उनके स्थान में 'ह्' हो जाता है। इसका उदाहरण पालि 'इध' (यहाँ) शब्द है। अवेस्ता (जिसमें भी इसका रूप 'इध' होता है) के आधार पर हम जान सकते हैं कि इसका वैदिक स्वरूप 'इध' ही था। किन्तु संस्कृत में यह 'इह' हो गया है।

(४) शब्द के आदि में अवस्थित व्यंजनों में प्राण-ध्वनि के आगमऔर लोप न का उल्लेख हम पहले कर चुके है। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजनों में भी यह परिवर्तन होता है, अर्थात् मध्य में स्थित संस्कृत अघोष अल्पप्राण व्यंजन (क्, त्, प् आदि) पालि में उसी वर्ग के अघोष महाप्राण व्यंजन हो जाते हैं--

शुनक (कुत्ता)	सुनख (प्रा० सुनह)
सुकुमार	सुखुमाल

इसी प्रकार कहीं-कहीं, किन्तु आदि स्थित व्यंजनों की तरह ही बहुत कम, प्राण-ध्वनि का लोप भी हो जाता है--

कफोणि	कपोणि

(५) कहीं कहीं नियम (१) के विपरीत सं० घोष स्पर्श पालि में उसी वर्ग के अघोष स्पर्श हो जाते हैं। ये परिवर्तन बोलियों की विभिन्नताओं के कारण हुए हैं।

अगुरु	अकलु
छगल	छकल
परिघ	पलिख (पलिघ भी)
कुसीद	कुसीत
मृदंग	मुतिङ्ग
उपधेय (तकिया)	उपथेय्य
पिधीयते (ढाँका जाता है)	पिथीयति
शावक (जानवर का बच्चा)	चापक
प्रावरण	पापुरण

(६) व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन। यह परिवर्तन मध्य-स्थित व्यंजनों में आदि-स्थित व्यंजनों की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है। इस सम्बन्ध में सब से अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन सं० दन्त्य व्यंजनों का पालि में मूर्द्धन्यीकरण है। सं० दन्त्य व्यंजन त्, थ्, द्, ध्, न् पालि में क्रमशः ट्, ठ्, ड्, ल्ह्, ण् हो जाते हैं। यह नियम सामान्यतः आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों के लिये ठीक है।

पतंग	पटंग
हृत	हट

व्यापृत	व्यावट
प्रतिमा	पटिमा
प्रथम	पठम
पृथिवी	पठवी (पथवी भी)
दाह	डाह
द्वैध (सन्देह)	द्वेल्हक
शकुन	सकुण

(७) पालि में मध्य-स्थित व्यंजनों के अन्य उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्तन इस प्रकार हैं—

(अ) कहीं-कहीं सं० तालव्य स्पर्शों के स्थान पर पालि में दन्त्य स्पर्श होते हैं।

चिकित्सति	तिकिच्छति
जाज्वल्यते	दद्दल्लति

(आ) कहीं-कहीं मूर्द्धन्य के स्थान पर दन्त्य होते हैं—

डिंडिम	देण्डिम (दिण्डिम भी)

(इ) कहीं-कहीं द् के स्थान पर र् होता है—

एकादस	एकारस (एकादस भी)
ईदृश	ऐरिस (एदिस भी)
ईदृक्षा	एरिक्खा (एदिक्खा भी)

(ई) कहीं-कहीं न् के स्थान पर ल् या र् होता है—

एनः (अपराध)	एल
नेरंजना	नेरंजरा

(उ) कहीं-कहीं ण् के स्थान पर ळ् होता है—

वेणु	वेळु
मृणाल	मुळाल

(ऊ) र् के स्थान पर ल् अधिकतर होता है। आदि-स्थित र् के ल् में परिवर्तन के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। मध्य-स्थित र के ल् में परिवर्तन के कुछ उदाहरण ये हैं—

एरंड	एलंद
तरुण	तलुण (तरुण भी)

परिष्वजते	पलिस्सजति
परिखनति	पलिखनति

पालि में यह परिवर्तन यद्यपि अधिकतर पाया जाता है, किन्तु नियमतः यह मागधी प्राकृत की ही विशेषता है। कुछ अन्य प्राकृतों में भी इसके स्फुट उदाहरण मिलते हैं।

(ए) कहीं-कहीं सं० ल् के स्थान पर पालि में र् पाया जाता है।

अलिंजर	अरंजर
आलम्बन	आरम्मण

इसके अपवाद-स्वरूप कहीं कहीं ल् के स्थान पर न् भी पाया जाता है—

देहली	देहनी

आदि में भी इसी प्रकार

लांगल (हल)	नंगल

(ऐ) सं० य् के स्थान पर पालि व्—

आयुध	आवुध
आयुष्मान्	आवुसो
कषाय	कसाव

(ओ) सं० व् के स्थान पर पालि य्—

दाव	दाय (दाव भी)

(औ) सं० व् के स्थान पर पालि म् और सं० म् के स्थान पर पालि व्—

द्रविड	दमिळ
मीमांसते	वीमंसति

कुछ अनियमित प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे—

पिपीलिका	किपिल्लका

(८) वर्ण-विपर्यय। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजनों में पारस्परिक एक दूसरे की जगह ग्रहण कर लेना भी प्रायः देखा जाता है। यह विपर्यय अधिकतर 'र्' व्यंजन में होता है।

आरालिक	आलारिक
करेणु	कणेरु
ह्रद	रहद
प्रावरण	पारुपण (पापुरण भी)

किन्तु अन्य व्यंजनों में भी,

मशक	मकस

संयुक्त-व्यंजन

(अ) आदि संयुक्त-व्यंजन

संस्कृत में भी शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग प्रायः सीमित होता है। प्रायः दो ही प्रकार के संयुक्त व्यंजन संस्कृत में शब्द के आदि में पाये जाते हैं, (१) व्यंजन+अन्तःस्थ (य्, र्, ल्, व्); (२) व्यंजन+ऊष्म (श्, ष्, स्)। व्यंजन+अन्तःस्थ में अन्तःस्थ कभी पहले न आकर व्यंजन ही पहले आते हैं। इस प्रकार शब्द के आदि में क्र्, त्य्, प्र्, ग्य् जैसे संयुक्त व्यंजन ही हो सकते हैं, ल्क्, र्च् जैसे नहीं। अन्तःस्थ+ऊष्म में ऊष्म पहले भी आ सकते हैं, जैसे स्त्, श्च् आदि में और पीछे भी जैसे क्ष् (क्+श्) में

(१) व्यंजन+अन्तःस्थ—इस अवस्था में व्यंजन के बाद की ध्वनि लुप्त होकर व्यंजन का ही रूप धारण कर लेती है—

प्रशान्त	पसन्तो
प्रज्ञा	पञ्आ
ग्राम	गाम

कहीं-कहीं स्वर-भक्ति के कारण बीच में स्वर आने के कारण संयुक्त व्यंजन केवल असंयुक्त कर दिये जाते हैं—*

क्लेश	किलेसो
क्लान्त	किलन्तो

कहीं-कहीं, जब व्यंजन+ल् का संयोग होता है, तो य् का पूर्ववर्ती व्यंजन तालव्य हो जाता है—

त्यजति	चजति

(२) ऊष्म+व्यंजन—इस अवस्था में ऊष्म का लोप हो जाता है और वह परवर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेता है तथा वह व्यंजन, यदि वह अल्प प्राण होता है, तो महाप्राण हो जाता है।

स्कम्भः	खम्भो
स्तूपः	थूपो

स्थापयति	ठापेति
स्थितः	ठितो

(३) शब्द के आदि में क्ष् होने पर पालि में उसका क्ख् या च्छ् हो जाता है। मध्य-स्थिति में भी यही परिवर्तन होता है। यहाँ दोनों के ही उदाहरण दे देने ठीक होंगे—

क्षुधा	खुधा
दक्षिणा	दक्खिणा
मक्षिका	मक्खिका
क्षारिका	छारिका
कक्ष	कच्छ
तक्षति	तच्छति
अक्षि	अक्खि (अच्छि भी)

कहीं कहीं 'क्ष्' का परिवर्तित रूप 'ग्घ्' या 'ज्झ्' भी होता है। गायगर का मत है कि इस दशा में संस्कृत अक्षर क्ष् एक विशेष भारत-यूरोपियन ध्वनि का विकसित रूप है—

प्रक्षरति	पग्घरति
क्षाम	झाम

(आ) मध्य-संयुक्त-व्यंजन

मध्य-संयुक्त-व्यंजनों के परिवर्तन में पालि में व्यंजन-अनुरूपता, व्यंजन-विपर्यय, व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन, प्राणध्वनि का आगमन और लोप, आदि सभी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। विशेषत: व्यंजन -अनुरूपता और व्यंजन-विपर्यय अधिक पाये जाते हैं। नीचे के विवरण से यह स्पष्ट होगा।

(१) व्यंजन-अनुरूपता

(अ) पूर्ववर्ती व्यंजन का लुप्त होकर परवर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेना—

(१) स्पर्श+स्पर्श में, यथा

उक्त	उत्त
सप्त	सत्त
शब्द	सद्द

उत्पद्यते	उप्पज्जति
मुद्ग (मूंग)	मुग्ग

(२) ऊष्म + स्पर्श में, यथा

आश्चर्य	अच्छेर
निष्क	निक्ख, नेक्ख

यहाँ पर साथ-साथ प्राण-ध्वनि का आगमन भी हो गया है।

(३) अन्तःस्थ + स्पर्श, या ऊष्म, या अनुनासिक व्यंजन में, यथा

कर्क	कक्क
किल्बिष	किब्बिस
वल्क	वाक
कर्षक	कस्सक
कल्माष	कम्मास

(४) अनुनासिक + अनुनासिक में, यथा

निम्न	निन्न
उन्मूलयति	उम्मूलेति

(५) र् + ल्, या य्, या व् मे, यथा

दुर्लभ	दुल्लभ
आर्य	अय्य (अरिय भी)
उदीर्यते	उदिय्यति
निर्याति	निय्याति
कुर्वन्ति	कुब्बन्ति

(आ) परवर्ती व्यंजन का लुप्त होकर पूर्ववर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेना—

(१) स्पर्श + अनुनासिक में, यथा

लग्न	लग्ग
अग्निः	अग्गि
उद्विग्न	उब्बिग्ग
स्वप्न	सोप्प

(२) स्पर्श + र् या ल् में, यथा

तक्र	तक्क
शुक्ल	सुक्क

(३) स्पर्श + अन्तःस्थ में, यथा

शक्य	सक्क
उच्यते	वुच्चति
प्रज्वलति	पज्जलति

(४) ऊष्म + अन्तःस्थ में, यथा

मिश्र	मिस्स
अवश्यम्	अवस्सं
अश्व	अस्स
श्लेष्मन्	सेम्ह

(५) अनुनासिक + अन्तःस्थ में, यथा

किण्व	किण्ण
रम्य	रम्म
कल्य (सम्भव)	कल्ल
बिल्व	बिल्ल

(६) व्य्, व्र् जैसे सयुक्त व्यंजनों में, जो ब्ब् हो जाते हैं,

परिव्यय	परिब्बय
तीव्र	तिब्ब

(२) व्यंजन-विपर्यय

(१) ह् + अनुनासिक, या 'य्', या 'व्'—इस व्यंजन-संयोग में विपर्य होता है, अर्थात् 'ह्ण्'' 'ह्न्', 'ह्म्', 'ह्य्', 'ह्व्', इन संयुक्त व्यंजनों के क्रमशः 'ण्ह्', ,न्ह्', 'म्ह्' 'य्ह', 'व्ह्' रूप हो जाते हैं—

पूर्वाह्ण	पुब्बण्ह
अपराह्ण	अपरण्ह
जिह्म	जिम्ह
सह्य	सय्ह
मह्यं	मय्हं

चिह्‌न	चिन्ह
जिह्‌बा	जिव्हा

मह्यं—मय्हं के सादृश्य के आधार पर तुभ्यं का भी पालि प्रतिरूप तुय्हं हो गया है।

(२) ऊष्म+अनुनासिक—इस संयोग-दशा में भी व्यंजन-विपर्यय होता है। पहले ऊष्म का ह् में परिवर्तन होता है और फिर दोनों का विपर्यय। इस प्रकार 'श्न्', 'श्म्', 'ष्ण्', 'ष्म्', 'स्न्' 'स्म्' क्रमशः 'ञ्ह', 'म्ह्', 'ण्ह्' 'म्ह्', 'न्ह्' म्ह् हो जाते हैं—

प्रश्न	पञ्ह (अर्द्धमागधी पण्ह)
अश्मना (पत्थर के द्वारा)	अम्हना
उष्णा (गर्मी)	उण्हा
कृष्ण	कण्ह
तृष्णा	तण्हा
ग्रीष्म	गिम्ह
सुस्नात	सुन्हात
विस्मय	विम्हय

(३) 'क्ष्ण्', 'क्ष्म्', 'त्स्न्'—इन संयुक्त व्यंजनों के स्वरूप विपर्यय के कारण क्रमशः 'ण्ह्', 'म्ह्', 'न्ह्', हो जाते हैं। इस विकास का क्रम यह है कि पहले 'क्ष्ण्', 'क्ष्म्', 'त्स्न्', के क्रमशः रूप 'ष्ण्', 'ष्म्' 'स्न्' होते हैं और फिर इनका विपर्यय हो कर उपर्युक्त नियम (२) के अनुसार इनके क्रमशः 'ण्ह्', म्ह्'' 'न्ह्' रूप बनते हैं—

श्लक्ष्ण (सुन्दर, कोमल)	सण्ह
पक्ष्म (पलक)	पम्ह
ज्योत्स्ना	जुण्हा (पहले 'जुन्हा' रूप बना और फिर न् का मूर्द्धन्य होकर 'जुण्हा' हो गया)

(२) व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन—

(१) दन्त्य स्पर्श+य्—इस संयोग-दशा में दन्त्य स्पर्शों का तालव्यीकरण हो जाता है—

सत्य	सच्च
छिद्यते	छिज्जति
जात्या	जच्चा

'ण्य्' संयुक्त व्यंजनों में भी

कर्मण्य	कम्मञ्ञ

(२) संस्कृत तालव्य संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर पालि में कहीं कहीं कंठ्य संयुक्त व्यंजन हो जाते हैं, कहीं कहीं मूर्द्धन्य संयुक्त व्यंजन और कहीं कहीं दन्त्य संयुक्त व्यंजन।

(अ) तालव्य के स्थान पर कंठ्य

भैषज्य	भिसक्क (भेसज्ज भी)

(आ) तालव्य के स्थान पर मर्द्धन्य

आज्ञा	आणा

(इ) तालव्य के स्थान पर दन्य

उच्छिष्ठ	उत्तिट्ठ

(३) मध्यस्थित दन्त्य संयुक्त व्यंजनों का मूर्द्धन्यीकरण। यह एक महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन है। इस परिवर्तन के कारण 'र्त्' 'र्थ्' 'र्द्' 'र्ध्' क्रमशः 'ट्ट' 'ट्ठ्', 'ड्ड', 'ढ्ढ्' हो जाते हैं—

आर्त	अट्ट
कैवर्त	केवट्ट
वर्धते	वड्ढति
प्रस्थाय	पट्ठाय
कूटस्थ	कूटट्ठ

(४) प्राण-ध्वनि का आगमन और लोप—

आगमन, यथा

शृङ्गाटक (चौराहा)	सिंघाटक
पिप्पल	पिप्फल

लोप, यथा

लोध्र	लोद्द
मूर्च्छति	मुच्चति

अन्त्य-व्यंजन

संस्कृत के अन्त्य-व्यंजन पालि में लुप्त हो जाते हैं—

भगवान्	भगवा
सम्यक्	सम्मा
विद्युत्	विज्जु

पालि का शब्द-साधन और वाक्य-विचार

पालि के ध्वनि-समूह की अपेक्षा उसका रूप-विधान संस्कृत के और भी अधिक समीप है। मिथ्या-सादृश्य के आधार पर संस्कृत रूपों का सरलीकरण पालि रूप-विधान की एक मुख्य विशेषता है। पहले कहा जा चुका है कि एक ही प्राचीन आर्य-भाषा से संस्कृत और पालि दोनों का विकास हुआ है। संस्कृत व्याकरण का जन्म वैदिक भाषा की विभिन्नताओं को एकरूपता देने के लिये हुआ। अतः संस्कृत में ऐसे अनेक नियम व्याकरण के नियमानुसार वर्जित कर दिये गये, जो वैदिक भाषा में प्रचलित थे। पालि चूँकि लोक-भाषा थी, उसमें ये प्रयोग चले आये हैं। यह पालि के रूप-विचार की एक मुख्य विशेषता है। उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा।

पहले मिथ्या-सादृश्य के आधार पर रूपों के सरलीकरण को लें। पालि में संस्कृत की अपेक्षा वर्ण कम हैं, यह हम पहले निर्देश कर ही चुके हैं। संस्कृत में तीन वचनों का प्रयोग होता है, एक-वचन, द्वि-वचन और बहुवचन। पालि मे केवल दो वचन हैं। एक वचन और अनेक वचन। वहाँ द्विवचन नहीं है। उसका भी काम वहाँ अनेक-वचन से ही निकाल लिया जाता है। यद्यपि कहने को पालि में भी सात विभक्तियाँ हैं, किन्तु उनके रूपों में बड़ी सरलता है। चतुर्थी और षष्ठी के रूपों में प्रायः कोई भेद नहीं होता। तृतीया और पंचमी के अनेक-वचन के रूप भी प्रायः समान ही होते हैं। पालि में व्यंजनान्त पदों का प्रयोग भी नहीं होता। वहाँ सभी पद स्वरान्त हैं। संस्कृत के व्यंजनान्त पद भी पालि में स्वरान्त हो जाते हैं। इसी प्रकार संज्ञा और सर्वनाम के रूपों में यही सरलीकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। क्रिया-विभाग के विषय में भी यही बात ठीक है। संस्कृत के समान यद्यपि पालि में भी परस्मैपद (परस्सपद) और आत्मनेपद, (अत्तनोपद) ये दो पद हैं, किन्तु व्यवहार में आत्मनेपद का प्रयोग कदाचित् ही कभी होता है। यहाँ तक कि कर्मवाच्य आदि प्रयोगों में भी जहाँ संस्कृत में आत्मनेपद आवश्यक

रूप से होना चाहिये, पालि में उसका प्रयोग प्रायः विकल्प से ही होता है। संस्कृत के दस गण पालि में केवल सात रह गये हैं। इसी प्रकार संस्कृत के दस लकारों के स्थान पर पालि में केवल आठ लकार हैं। लिट् लकार का प्रयोग पालि में नहीं के बराबर होता है। लङ् और लुङ् वहाँ भूतकाल द्योतित करने के लिये हैं, किन्तु इनमें भी प्रायः लुङ् का ही प्रयोग पालि में अधिकता से होता है। इस प्रकार संस्कृत की अपेक्षा सरलीकरण की प्रवृत्ति पालि में अधिकता से पाई जाती है।

वैदिक भाषा से प्राप्त रूपों की अनेकता पालि में सुरक्षित है, जब कि संस्कृत ने उसे व्यवस्थित कर उसमें एकरूपता ला दी है। वेद की भाषा में पुल्लिङ्ग अकारान्त शब्दों के बहुवचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय भी लगता था। इस प्रकार 'देव' शब्द का प्रथमा बहुवचन का रूप वहाँ 'देवासः' मिलता है। संस्कृत ने इस रूप को ग्रहण नहीं किया है। किन्तु पालि में 'देवासे' 'धम्मासे' 'बुद्धासे' जैसे प्रयोगों में वह सुरक्षित है। इसी प्रकार 'देव' शब्द का तृतीया बहुवचन का रूप वैदिक भाषा में 'देवेभिः' है। पालि में यह 'देवेभि' के रूप में सुरक्षित है। संस्कृत ने इस रूप को भी ग्रहण नहीं किया है। वैदिक भाषा में प्रायः चतुर्थी विभक्ति के लिये षष्ठी का प्रयोग और षष्ठी विभक्ति के लिये चतुर्थी का प्रयोग पाया जाता है। संस्कृत ने इसे निश्चित नियम में बाँध कर रोक दिया है। किन्तु पालि में यह व्यत्यय 'ब्राह्मणस्स धनं ददाति' ब्राह्मणस्स सिस्सो' जैसे प्रयोगो में मिलता है। निश्चयतः पालि में चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों के रूप ही प्रायः समान होते हैं। वैदिक भाषा में 'गो' और 'पति' शब्दों के षष्ठी बहुवचन और तृतीया एक वचन के रूप क्रमशः 'गोनाम्' और 'पतिना' होते थे। पालि में ये क्रमशः 'गोनं' या 'गुन्नं' तथा 'पतिना' के रूप में सुरक्षित हैं। किन्तु संस्कृत ने इन्हें भी स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार वैदिक भाषा में नपुंसक लिंग की जगह बहुधा पुल्लिग का भी प्रयोग होता था। संस्कृत में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। किन्तु पालि में बहुधा ऐसा हो जाता है। उदाहरणतः 'फल' शब्द के प्रथमा के बहुवचन में 'फला' और 'फलानि' दोनों ही रूप होते हैं। यही प्रवृत्ति क्रिया-रूपों में भी दृष्टिगोचर होती है। वैदिक भाषा में आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद उतना स्पष्ट नहीं था। वहाँ 'इच्छति''इच्छते' 'युध्यति''युध्यते' जैसे दोनों प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। पालि मेंयह प्रवृत्ति समान रूप से ही दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत में आत्मनपद और परस्मैपद का अधिक निश्चित विधान कर दिया गया है। 'श्रु' धातु का वैदिक भाषा में अनुज्ञा-काल का मध्यम-पुरुष का एकवचन का रूप 'शृणुधी' और अनुज्ञा-काल

का मध्यम-पुरुष का बहुवचन का रूप 'श्रृणोत' होता था। पालि में ये क्रमशः 'सुणुहि' और 'सुणोथ' के रूपों में सुरक्षित हैं। किन्तु संस्कृत व्याकरण ने इन्हें भी स्वीकार नहीं किया है। वैदिक भाषा में 'हन्' धातु का लुङ् लकार का उत्तम-पुरुष का एकवचन का रूप 'बधीं' होता था। संस्कृत ने इसे भी स्वीकार नहीं किया है। किन्तु पालि में यह 'बधिं' के रूप में सुरक्षित है। कृदन्त के प्रयोग में भी संस्कृत और पालि में उपर्युक्त प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वेद में निमित्तार्थक १४ प्रत्ययों का प्रयोग होता है, यथा से, सेन, असे, असेन, कसें, कसेन, अध्यै, अध्यैन, कध्यै, कध्यैन, शध्यै, शध्यैन, तवेन, तुं। संस्कृत ने इनमें से केवल 'तुं' प्रत्यय को ले लिया है। पालि ने उसके साथ साथ 'तवेन' प्रत्यय को भी ले लिया है। वैदिक 'दातवे' या 'दातवै' पालि के 'दातवे' में पूरी तरह सुरक्षित है। इसी प्रकार 'कातवे' 'विप्पहातवे' 'निधातवे' जैसे प्रयोग भी पालि में दृष्टिगोचर होते हैं, जो संस्कृत में नहीं मिलते। 'ल्यप्' के स्थान पर वेद में 'त्वा' का भी प्रयोग मिलता है, जैसे 'परिधापयित्वा'। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार यह रूप अशुद्ध है। वहाँ उपसर्ग-पूर्वक धातु में अनिवार्यतः 'ल्यप्' होता है, किन्तु पालि में वैदिक भाषा की तरह 'त्वा' देखा जाता है यथा अभिवदिन्त्वा, निस्साय आदि। वेद की भाषा में पूर्वकालिक अर्थ में 'त्वाय' 'त्वीन' आदि प्रत्येक लगा कर 'गत्वाय' 'इष्ट्वीन' जैसे शब्द बनते थे। पालि में 'गत्वान' 'कातून' जैसे प्रयोगों में ये सुरक्षित हैं, किन्तु संस्कृत में नहीं मिलते। वेद की भाषा में विभक्ति, वचन, वर्ण और काल के अनेक व्यत्यय पाये जाते हैं। पालि में भी ये सब पाये जाते हैं। 'एकस्मिं समयस्मिं' के लिये 'एकं समयं' (विभक्ति-व्यत्यय) 'सन्ति इमस्मिं काये केसा लोमा नखा' के लिये 'अत्थि इमस्मिं काये केसा, लोमा, नखा, (वचन-व्यत्यय); 'बुद्धेभि' के लिये 'बुद्धेहि', 'दुक्कटं' के लिये 'दुक्कतं' (वर्ण-व्यत्यय) 'अनेक जाति-संसारं सन्धाविस्सं' (भूतकाल के अर्थ में भविष्यत् काल काल-व्यत्यय) जैसे व्यत्यय पालि में वैध हैं। किन्तु संस्कृत व्याकरण ने इन्हें ग्रहण नहीं किया है।[1] इस प्रकार संस्कृत भाषा की अपेक्षा पालि ही वैदिक भाषा की अधिक सच्ची उत्तराधिकारिणी ठहरती है।

---

१. विषय की अधिक सुगमता के लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत 'पालि-महाव्याकरण' पृष्ठ तेईस-उन्तीस (वस्तुकथा) पर दी हुई तालिकाएँ।

पालि-भाषा के विकास की अवस्थाएँ

ऊपर पालि के ध्वनि-समूह और रूप-विचार का जो निर्देश किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि पालि एक ऐसी मिश्रित भाषा है जिसमें अनेक बोलियों के तत्त्व विद्यमान हैं। अनेक दुहरे रूपों का होना उसके इस तथ्य को प्रमाणित करता है। फिर भी पालि के विकास में चार ऐसी क्रमिक विकास वाली अवस्थाएँ उपलक्षित होती हैं, जिनकी अपनी अपनी विशेषताएँ हैं और जिनके आधार पर हम पालि के पूर्वापर रूपों को समझ सकते हैं और उनकी संगति लगा सकते हैं। पालि-भाषा के विकास की ये चार अवस्थाएँ इस प्रकार हैं, (१) त्रिपिटक में आने वाली गाथाओं की भाषा। यह भाषा अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक भाषा की सी ही अनेकरूपता इसमें मिलती है। प्राचीन आर्य भाषा अर्थात् वैदिक भाषा से कहीं कहीं तो इस भाषा की, ध्वनि-परिवर्तन के कारण, केवल अल्प विभिन्नताएँ ही मिलती हैं और कहीं कहीं पालि का अपना विशेष रूप-विधान भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ 'पित' और 'रञ्ञा' जैसे शब्द प्राचीन आर्य भाषा से पालि में आ गये हैं, किन्तु इन्हीं से क्रमशः 'पितुस्स' और 'राजिनो' जैसे रूप पालि ने स्वयं बना लिये हैं। इस प्रकार यह भाषा बुद्ध-कालीन मध्य-देश की लोक-भाषा होने के साथ-साथ प्राचीन वैदिक स्मृतियों से भी अनुविद्ध है। सुत्त-निपात की भाषा इस प्रकार की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण मानी जाती है। (२) त्रिपिटक के गद्य-भाग की भाषा। गाथाओं की भाषा की अपेक्षा इसमें एकरूपता अधिक है। गाथाओं की भाषा की अपेक्षा प्राचीन रूपों की कमी और नये रूपों की अभिवृद्धि इसका एक प्रधान लक्षण है। 'जातक' की भाषा इसका उदाहरण है । (३) उत्तरकालीन पालि गद्य-साहित्य की भाषा। इस भाषा के रूप के दर्शन हमें मिलिन्द-प्रश्न और अर्थकथा-साहित्य में होते हैं। इस भाषा का आधार त्रिपिटक की गद्य-भाषा ही है। इसमें आलंकारिकता और कृत्रिमता की मात्रा कुछ अधिक पाई जाती है। विशेषतः मिलिन्द-प्रश्न और बुद्धघोष की अर्थकथाओं में हमें एक विकसित और उदात्त गद्य-शैली के दर्शन होते हैं। (४) उत्तरकालीन पालि-काव्य की भाषा। यह भाषा बिलकुल पूर्वकालीन साहित्य के अनुकरण पर लिखी गई है। लेखकों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार कहीं तो प्राचीन रूपों का ही अनुकरण किया है या कहीं कहीं अपेक्षाकृत नवीन स्वरूपों को स्वीकार किया है। इस भाषा में एक जीवित भाषा के लक्षण नहीं मिलते। संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी

इस युग की साहित्य-रचना का एक विशेष लक्षण है। महावंस, दीपवंस, दाठा-वंस, तेलकटाहगाथा जैसे ग्रन्थों में इस भाषा के स्वरूप के दर्शन होते हैं।

पालि भाषा और साहित्य के अध्ययन का महत्त्व

पालि के अध्ययन का अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्व है। आज अपनी अनेक प्रादेशिक बोलियों के, यहाँ तक कि कुछ अंशों में राष्ट्र-भाषा हिन्दी के भी, ध्वनि-समूह आदि का पूरा ज्ञान हमें नहीं हो पाया। भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अनेक बातें अभी अनिश्चित ही पड़ी हुई हैं। इसका कारण यही है कि मध्यकालीन आर्य-भाषाओं का, जिनमें पालि प्रथम और मुख्य है, हमारा अभी अध्ययन ही अधूरा पड़ा है १। अपनी भाषा के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिये हमें पालि भाषा का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना ही होगा। फिर पालि भाषा ने न केवल हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं को ही प्रभावित किया है। उसका प्रभाव सिंहल, ब्रह्म-देश और स्याम देश की भाषाओं के विकास पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा है। भारतीय विद्यार्थी के लिये अध्ययन का इससे अधिक सुखकर और क्या विषय हो सकता है कि वह इस प्रभाव को खोजे, ढूंढ़े और इन देशों के साथ व्यापक भारतीय संस्कृति के समन्वित सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ करे। यही बात पालि-साहित्य के विषय में भी है। उसने विश्व के एक बड़े भू-भाग को शान्ति प्रदान की है, क्योंकि वह प्रधानतः तथागत के सन्देश का वाहक है। उसका अध्य-यन कर हम उस विशाल जन-समुदाय से नाता जोड़ते हैं, जिसके साथ हमारे सांस्कृतिक और राजनैतिक सम्बन्ध नवयुग में और भी अधिक दृढ़ होंगे। इस ऊपरी उद्देश्य को छोड़ दें तो भी विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि साहित्य के अध्य-यन का प्रभूत महत्व है। उसकी उदात्त प्रतिपाद्य वस्तु और गम्भीर, मनोरम शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती हैं। शाक्यसिंह ने जिन गुफाओं में निनाद किया है, वे साधारण नहीं है। यदि मनुष्यता-धर्म से ही अन्त में संसार

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा १९४० में प्रकाशित अपने 'हिन्दी भाषा का इति-हास' में लिखते हैं "हिन्दी संयुक्त स्वरों का इतिहास प्रायः अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषाओं तक ही जाता है......अपभ्रंश तथा प्राकृत के संयुक्त स्वरों का पूर्ण विवेचन सुलभ न होने के कारण हिन्दी संयुक्त स्वरों का इतिहास भी अभी ठीक नहीं दिया जा सकता।" पृष्ठ १४२

को मुक्ति मिलनी है, तो तथागत के सन्देश का व्यापक प्रचार होना ही चाहिये। इतिहास की दृष्टि से भी पालि-साहित्य का प्रभूत महत्व है। जो सांस्कृतिक निधि हमारी इस साहित्य में निहित है, उसका अभी महत्वाङ्कन ही नहीं किया गया। भारतीय इतिहास के काल—क्रम के निश्चय करने में भी सब से अधिक सहायता पालि साहित्य से ही मिली है। त्रिपिटक और अनुपिटक साहित्य मे प्राचीन भारतीय इतिहास की जो अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, उसका अभी तक पूरा उपयोग नहीं किया गया है। उसके सम्यक् अध्ययन से हम बौद्धकालीन इतिहास और भौगोलिक तथ्यों का बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। धर्म और दर्शन की दृष्टि से भी पालि का अधिक महत्त्व है। हमने अभी तक प्रायः संस्कृत ग्रन्थों से ही बौद्ध धर्म और दर्शन का परिचय प्राप्त किया है, जो कुछ हालतों में एकांगदर्शी और अधिकांशतः उसके मौलिक स्वरूप से बहुत दूर है। वैदिक परम्परा के उत्तरकालीन आचार्यों ने इसी को लक्ष्य कर प्रायः बौद्धदर्शन की समालोचना की है। इस प्रकार बुद्ध-धर्म के मौलिक स्वरूप से हम प्रायः अनभिज्ञ ही रहे हैं। यही हमारी उस विचार-प्रणाली के प्रति, जो वास्तव में अपनी प्रभाव-शीलता के लिये विश्व में अद्वितीय है, उदासीनता का कारण है। पालि-साहित्य के प्रकाश में हम देख सकेंगे कि भगवान् गोतम बुद्ध का वास्तविक व्यक्तित्व क्या था और उन्होंने जन-समाज को क्या सिखाया था। पालि-साहित्य का सब से बड़ा महत्व वास्तव में उसकी प्रेरणादायिका शक्ति ही है। यह प्रेरणा अनेक रूपों में आ सकती है। साधना के उत्साह के रूप में भी, ऐतिहासिक गवेषणा के रूप में भी और रचनात्मक साहित्य की सृष्टि के रूप में भी। साधना के अक्षर तो मौन हैं। ऐतिहासिक गवेषणा के विषय में हम काफी कह ही चुके हैं। यहाँ अन्तिम प्रेरणा के विषय में यही कहना है कि पालि-साहित्य में इतनी सामग्री भरी पड़ी है कि वह अभी हिन्दी-साहित्य में अनेक विधायक लेखकों और विचारकों को प्रेरणा और आधार दे सकती है। अभी हमने 'बुद्धचरित' 'सिद्धार्थ', 'यशोधरा' और 'प्रसाद' के कतिपय नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी में विशाल पालि-साहित्य से प्रेरणा ही क्या ग्रहण की है? निश्चय ही प्रत्येक दिशा में उपयोग के लिये यहाँ एक कभी समाप्त न होने वाली सामग्री भरी पड़ी है। यदि पालि की समुचित आराधना की जाय तो निश्चय ही वह बहुफलसाधिका हो सकती है।

दूसरा अध्याय

पालि साहित्य का विस्तार, वर्गीकरण और काल-क्रम

पालि साहित्य का उद्भव और विकास

जिस तेजस्वी व्यक्तित्व से संसार ने सब से पहले मनुष्यता सीखी; जिसकी दीप्ति से भारत के निश्चयात्मक इतिहास पर सर्व प्रथम आलोक पड़ा, उसी से पालि साहित्य का भी उदय हुआ। तथागत की सम्यक् सम्बोधि ही पालि-साहित्य का आधार है। जिस दिन भगवान् ने बुद्धत्व प्राप्त किया और जिस दिन उन्होंने परिनिर्वाण में प्रवेश किया, उसके बीच उन्होंने जो कुछ, जहाँ कहीं, जिस किसी से कहा, उसी के संग्रह का प्रयत्न पालि-त्रिपिटक में किया गया है। त्रिपिटक का अर्थ है तीन पिटक या तीन पिटारियाँ। इन तीन पिटारियों में बुद्ध-वचन संगृहीत किये गये हैं, जो कालानुक्रम से आज के युग को भी प्राप्त हैं। उपर्युक्त तीन पिटकों या पिटारियों के नाम हैं, सुत्त-पिटक, विनय-पिटक और अभिधम्म-पिटक। भगवान् बुद्ध ने जो कुछ अपने जीवन-काल में कहा या सोचा, वह सभी त्रिपिटक में संगृहीत है, ऐसा दावा त्रिपिटक का नहीं है। कौन जानता है कि भगवान् के अन्तर्मन के कुछ उद्गार केवल उरुवेला की पहाड़ियों ने ही सुने, नेरंजरा की शान्त धारा ने ही धारण किये ! फिर सहस्रों ने जो कुछ सुना, उन सब ने ही आ आकर त्रिपिटक में उसे संगृहीत करवा दिया हो, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। अतः ऐतिहासिक रूप से बुद्ध के मुख से निकले हुए अनेक ऐसे भी वचन हो सकते हैं, जो त्रिपिटक में हमें नहीं मिलते और जिन्हें अन्यत्र हम कहीं पा भी नहीं सकते। इसी प्रकार त्रिपिटक में जो कुछ सुरक्षित है, वह सभी बिना किसी अपवाद के बुद्ध-वचन है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। 'विभज्यवादी' (विभाग कर बतलाने वाला, बुद्ध) को समझने के लिये हमें सब प्रकार 'विभज्यवादी' ही होना पड़ेगा। हाँ, यह आश्वासन अवश्य प्राप्त है कि पालि त्रिपिटक में विश्वस्ततम रूप से बुद्ध-वचन अपने मौलिक रूप में सुरक्षित हैं, जैसा कि नीचे के विवरण से स्पष्ट होगा।

भगवान् बुद्ध के सभी उपदेश मौखिक थे। यद्यपि लेखन-कला का आविष्कार भारत में बुद्ध-युग के बहुत पहले ही हो चुका था, फिर भी बुद्ध-उपदेश भगवान् बुद्ध के समय में ही लेखबद्ध कर लिये गये हों, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। भगवान् बुद्ध के सभी शिष्य उन्हें स्मृति में ही रखने का प्रयत्न करते थे। इस बात के अनेक प्रमाण स्वयं त्रिपिटक में ही मिलते हैं। उदाहरणतः, एक बार दूर से आये हुए सोण नामक भिक्षु को जब भगवान् पूछते हैं "कहो भिक्षु! तुम ने धर्म को कैसे समझा है?" तो इसके उत्तर में वह सोलह अष्टक वर्गों को पूरा पूरा स्वर के साथ पढ़ देता है। भगवान् अनुमोदन करते हुए कहते हैं "साधु भिक्षु! सोलह अष्टक वर्गों को तुम ने अच्छी प्रकार याद कर लिया है, अच्छी प्रकार धारण कर लिया है। तुम्हारे कहने का प्रकार बड़ा अच्छा है, खुला है, निर्दोष है, अर्थ को साफ साफ दिखा देने वाला है"।[1] इसी प्रकार बुद्ध-वचनों को अधिक विस्तृत रूप से धारण करने वाले भी अनेक बहुश्रुत, स्मृतिमान् भिक्षु थे। उनमें से अनेक धर्म-धर, सुत्तन्तिक (धर्म या सुत्त-पिटक को धारण करने वाले) थे, अनेक विनय-धर (विनय-पिटक या विनय-सम्बन्धी उपदेशों को धारण करने वाले) थे, अनेक मात्रिका-धर (मात्रिकाओं—उपदेश-सम्बन्धी अनुक्रमणियों, जिनसे बाद में अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ, को धारण करने वाले) थे।[2] इनके विषय में त्रिपिटक में अनेक बार प्रशंसापूर्वक कहा गया है—बहुस्सुता आगतागामा धम्मधरा विनयधरा मातिकाधरा।[3] बाद के 'पंचनेकायिका' 'भाणक' 'सुत्तन्तिक', 'पेटकी' जैसे शब्द भी इसी पूर्व परम्परा को प्रकट करते हैं। अंगुत्तर-निकाय के 'एतदग्गवग्ग' में हम भगवान् बुद्ध के उन प्रमुख भिक्षु-भिक्षुणी एवं उपासक उपासिकाओं की एक लम्बी सूची देखते हैं, जिन्होंने साधना की विशिष्ट शाखाओं में दक्षता प्राप्त करने के अतिरिक्त भगवान् के वचनों को स्मरण करने में भी विशेषता प्राप्त कर ली

---

१. उदान, पृष्ठ ७९ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

२. देखिये विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।

३. बहुश्रुत, शास्त्रज्ञ, धर्म, विनय और मात्रिकाओं को धारण करने वाले विद्वान् भिक्षु। विनय-पिटक के महावग्ग २; १०, और चुल्लवग्ग १; १२ में; दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण सुत्त (तृतीय भाणवार) में; अंगुत्तर-निकाय (विसुद्धिमग्ग ४।१९ में उद्धृत) में; तथा त्रिपिटक के अन्य अनेक स्थानों में।

थी [1]। इन्हीं व्रती साधकों के प्रति हम आज बुद्ध-वचनों के दायाद्य के लिये ऋणीहैं।

शास्ता के समीप रहते भिक्षुओं को ज्ञान और दर्शन का बड़ा सहारा था। किन्तु उनके अनुपाधि-शेष-निर्वाण धातु में प्रवेश कर जाने के बाद उन्हें चारों ओर अन्धकार ही दिखाई देने लगा। यह ठीक है कि बुद्ध के समान ही उन्हें धम्म का सहारा था। किन्तु साधारण जनता बहिर्मुखी थी। अन्तरात्मा की अपेक्षा वह बाहर ही अधिक देखती थी। फिर जिस 'धम्म' की शरण में शास्ता ने भिक्षुओं को छोड़ा था, उसका भी अस्तित्व अन्ततः उनके वचनों पर निर्भर था। उससे मात्र उन भिक्षुओं और अर्हतों का गुजारा हो सकता था, जिनको स्वयं शास्ता से सुनने का अवसर मिला था। किन्तु बाद की जनताओं के लिये क्या होगा ? जो भिक्षु भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में अपना अधिकतर समय और ध्यान बुद्ध-वचनों के स्मरण और संग्रह करने के बजाय उनके व्यावहारिक अभ्यास में ही लगाते थे, उन्हें भी अब यह चिन्ता होने लगी कि हमारे बाद इस थाती को कौन सँभालेगा, इस प्रकाश के दीपक को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कौन पहुँचायेगा ? उनका इस प्रकार चिन्तित होना भावुकता पर भी आधारित नहीं था। स्वयं भिक्षु-संघ में इस प्रकार के लक्षण प्रकट हो रहे थे, जिनसे संयमी भिक्षुओं को दुःख होना स्वाभाविक था। अभी भगवान् के परिनिर्वाण को सात दिन भी नहीं हुए थे कि सुभद्र नामक बूढ़ा भिक्षु [2] कहता हुआ सुना गया था, "बस आयुष्मानो! मत शोक करो! मत विलाप करो! हम उस महाश्रमण से अच्छी तरह मुक्त हो गये! वह हमें सदा ही यह कह कर कह पीड़ित किया करता था 'यह तुम्हें विहित है, यह तुम्हें विहित नहीं है'। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे; जो नहीं चाहेंगे, सो नहीं करेंगे।" [3] सुभद्र जैसे अवीतराग अनेक भिक्षु भी उस समय संघ में हो सकते थे।

---

१. देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ ४६९-७२

२. यह भिक्षु इसी नाम के उस भिक्षु से भिन्न था, जिसने भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के समय प्रव्रज्या प्राप्त की थी और इस प्रकार जो उनका अन्तिम शिष्य था।

३. अलं आवुसो! मा सोचित्थ! मा परिदेवित्थ! सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन! उपद्दुता च होम। इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पतीति। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम। यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम। महापरिनिब्बान-सुत्त (दीघ २।३); विनय-पिटक-चुल्लवग्ग, पंचसतिक खन्धक।

इस मैल को धो डालने के लिये और शास्ता की स्मृति के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये बुद्ध के प्रमुख शिष्यों ने उनके वचनों का संगायन करना आवश्यक समझा। सुभद्र जैसे भिक्षुओं के असंयम को देखकर आर्य महाकाश्यप की मानसिक व्यथा के दर्शन हम उनके इन शब्दों में करते हैं, "आयुष्मानो! आज हमारे सामने अधर्म बढ़ रहा है, धर्म का ह्रास हो रहा है। अ-विनय बढ़ रहा है, विनय का ह्रास हो रहा है। आओ आयुष्मानो! हम धम्म और विनय का संगायन करें[1]"। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक सभा की गई। यह सभा बुद्ध-परिनिर्वाण के चौथे मास में हुई। बुद्ध-परिनिर्वाण वैशाख-पूर्णिमा को हुआ था, अतः यह सभा सम्भवतः श्रावण मास में हुई[2]। आषाढ़ का मास तैयारी में लगा। इस सभा में ५०० भिक्षु सम्मिलित हुए, अतः बौद्ध अनुश्रुति में यह सभा 'पंचशतिका' नाम से भी विख्यात है। सभासदों में एक आनन्द भी थे। सभापतित्व का कार्य महाकाश्यप को सौंपा गया। सभा की कार्यवाही में, जैसा स्पष्ट है, बुद्ध-वचनों का संगायन और संग्रह ही मुख्य था। सभापति महाकाश्यप ने उपालि से विनय-सम्बन्धी और आनन्द से धर्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछे और उनके उत्तरों का दूसरे भिक्षुओं ने संगायन किया। उदाहरणतः महाकाश्यप ने उपालि से पूछा—"आवुस उपालि! प्रथम पाराजिक का उपदेश कहाँ दिया गया?" "भन्ते! वैशाली में" "किस व्यक्ति के प्रसंग में?" "कलन्द के पुत्र सुदिन्न के प्रसंग में" "किस बात को लेकर?" "मैथुन को लेकर"। इसी प्रकार आनन्द से बुद्ध-उपदेशों (सुत्तों) के विषय में प्रश्न पूछे गये, जिनके उन्होंने उत्तर दिये। इस प्रकार निश्चित धम्म और विनय का सारी सभा ने संगायन किया, महाकाश्यप के प्रस्ताव पर—धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम।

उपर्युक्त सभा का ऐतिहासिक आधार और महत्व क्या है, और उसमें जिस 'धम्म' और 'विनय' का स्वरूप निश्चित किया गया, उसका हमारे आज प्राप्त

---

१. पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिबाहियति। अविनयो दिप्पति, विनयो पटिबाहियति। हन्द मयं आवुसो धम्मं च विनयं च संगायाम। विनय-पिटक—चूल्लवग्ग।

२. देखिये महावंश (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद) पृष्ठ ११ (परिचय)

सुत्त और विनय पिटक से क्या सम्बन्ध है, ये प्रश्न पालि साहित्य के विद्यार्थी के लिये बड़े महत्व के हैं। राजगृह की इस प्रथम संगीति का वर्णन, जिसमें धम्म और विनय का संगायन किया गया, इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है (१) विनय-पिटक-चुल्लवग्ग (२) दीपवंस (३) महावंस (४) बुद्धघोषकृत समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अर्थकथा) की निदान-कथा (५) महाबोधिवंस (६) महावस्तु (७) तिब्बती दुल्व। इन सभी ग्रन्थों में छोटी-मोटी अनेक विभिन्नताएँ हैं। उदाहरणतः सभा के बुलाने के उद्देश्यों में ही कोई किसी बात पर जोर देता है और कोई किसी बात पर। 'चुल्लवग्ग' में सुभद्र वाले प्रकरण को ही प्रधानता देकर उसे सभा बुलाने का कारण दिखलाया गया है, जब कि 'दीपवंस' में इस प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है। 'महावंस' में कुछ अन्य साधारण कारण भी दिये हुए हैं।[१] हम आसानी से देख सकते हैं कि ये ये कोई मौलिक विभिन्नताएँ नहीं हैं। इसी प्रकार सभा में भाग लेने वाले सदस्यों की संख्या के विषय में भी विभिन्न मत हैं। ऐसा होना भी बहुत सम्भव है। हम आसानी से इतना निश्चित तथ्य तो निकाल ही सकते हैं कि यह संख्या ५०० के लगभग थी। इसी प्रकार सम्मिलित सदस्यों में धम्म और विनय के स्वरूप के निश्चित करने में किसने कितना योग दिया, इसके विषय में भी उपर्युक्त ग्रन्थों में विभिन्न मत हैं। 'चुल्लवग्ग' के अनुसार तो सारा काम महाकाश्यप, आनन्द और उपालि ने ही किया। किन्तु 'दीपवंस' के वर्णन के अनुसार अन्य भिक्षुओं ने भी काफी योग दिया। इन अन्य भिक्षुओं में, अनिरुद्ध, वंगीश, पूर्ण, कात्यायन, कोट्ठित आदि मुख्य थे। यहाँ भी कोई मौलिक भेद दिखाई नहीं पड़ता। प्रत्यक्षतः महाकाश्यप, आनन्द और उपालि के ही प्रधान भाग लेने पर भी अन्य अनेक भिक्षुओं का भी उनके काम में पर्याप्त सहयोग हो सकता था। अतः उपर्युक्त ग्रन्थों के विवरणों में, जिनमें 'चुल्लवग्ग' का विवरण ही प्राचीन-

---

१. "उस महास्थविर (महा काश्यप) ने शास्ता (बुद्ध) के धर्म की चिरस्थिति की इच्छा से लोकनाथ, दशबल भगवान् के परिनिर्वाण के एक सप्ताह बाद, बूढ़े सुभद्र के दुर्भाषित वचन का, भगवान् द्वारा चीवरदान तथा अपनी समता देने का, और सद्धर्म की स्थापना के लिये किये गये भगवान् (मुनि) के अनुग्रह का स्मरण कर के, सम्बुद्ध से अनुमत संगीति करने के लिये, नवाङ्ग बुद्धोपदेश को धारण करने वाले, सर्वाङ्गयुक्त, आनन्द स्थविर के कारण पाँच सौ से एक कम महाक्षीणास्रव भिक्षु चुने" महावंस, पृष्ठ १२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

तभ जान पड़ता है, कोई मौलिक विभिन्नताएँ नहीं हैं। बल्कि वे एक दूसरे के पूरक हैं। उनमें से अधिकांश 'चुल्लवग्ग' के वर्णन को ही विस्तृत रूप देते हैं। उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर बौद्ध अनुश्रुति राजगृह की सभा के ऐतिहासिक तथ्य को मानती है। आधुनिक विद्यार्थी भी इसमें सन्देह करने का कोई कारण नही देखता। ओल्डनबर्ग ने अवश्य इसमें सन्देह प्रकट किया था। उनका कहना था कि सुभद्र वाला प्रकरण, जिसे 'चुल्लवग्ग' में राजगृह की सभा के बुलाने का कारण बतलाया गया है, 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' (दीघ २।३) में भी उन्हीं शब्दों में रक्खा हुआ है, किन्तु वहाँ इस सभा का कोई उल्लेख नहीं है। इस मौन का कारण उन्होंने यह माना है कि 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के संग्राहक या सम्पादक को इस सभा का कुछ पता नहीं था। यदि यह सभा हुई होती तो 'महा-परिनिब्बाण-सुत्त' के संग्राहक को भी इसका अवश्य पता होता और उस हालत में सुभद्र वाले प्रकरण के साथ साथ उसने इस सभा का भी अवश्य उल्लेख किया होता। चूँकि यह उल्लेख वहाँ नहीं है, इसलिये हम मान ही सकते हैं कि यह सभा हुई ही नहीं।[1] कितना भयावह और इतिहास की प्रणाली से असिद्ध है डा० ओल्डनबर्ग का यह तर्क! किन्तु यह भी बहुत दिनों तक विद्वानों को भ्रम में डाले रहा। वास्तव में डा० ओल्डनबर्ग के तर्क का कोई आधार नहीं है। 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' का विषय भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के दृश्य का वर्णन करता है, संघ के इतिहास का निर्देश करना नही। संघ के इतिहास का सम्बन्ध 'विनय' से है। अतः भगवान् के परिनिर्वाण के बाद भिक्षुओं की विह्वल दशा का वर्णन करते हुए 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के संगायक या संगायकों ने सुभद्र जैसे असंयमी भिक्षु के विपरीत व्यवहार का तो उल्लेख कर दिया है, किन्तु उससे आगे जाना वहाँ ठीक नहीं समझा गया। इसके विपरीत 'विनय-पिटक' में संघ-शासन की दृष्टि से इस तथ्य को लेकर संघ के इतिहास पर भी उसका प्रभाव दिखलाया गया है। यदि यह भी समाधान पर्याप्त न माना जाय, तो यह भी द्रष्टव्य है कि 'दीपवंस' में भी सुभद्र वाले प्रकरण का उल्लेख नहीं है, किन्तु वहाँ प्रथम संगीति का वर्णन उपलब्ध है। इसलिये 'दीपवंस' के लेखक को जब हम सुभद्र के प्रकरण में मौन रखते हुए भी प्रथम संगीति के विषय में अभिज्ञात देखते

---

१. विनय टैक्सट्स्, जिल्द पहली, पृष्ठ २६ (भूमिका) (—सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द तेरहवीं)

हैं, तो 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के विषय में ही हम ऐसा क्यों मानें कि उसका मौन इस संगीति के वास्तविक रूप से न होने का सूचक है ।[1] अतः 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के मौन से हम उस प्रकार का निषेधात्मक सिद्धान्त नहीं निकाल सकते, जैसा ओल्डनबर्ग ने निकाला है, जब कि अनेक ग्रन्थों की भारी परम्परा उसके विपक्ष में है। गायगर[2] और विन्टरनित्ज़[3] जैसे विद्वानों ने भी इसी कारण राजगृह की सभा को ऐतिहासिक तथ्य माना है। विन्टरनित्ज़ ने कुछ यह अवश्य कहा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद इतने शीघ्र इस सभा का बुलाया जाना हम से कुछ अधिक विश्वास करने की अपेक्षा रखता है।[4] इसी प्रकार मिनयफ ने इस सभा की ऐतिहासिकता स्वीकार कर के भी यह स्वीकार करने में कुछ हिचकिचाहट की है कि बुद्ध-वचनों का संगायन भी इस सभा की कार्यवाही का एक अंग था।[5] हमारी समझ में ये दोनों ही शंकाएँ निर्मूल हैं। भारतीय साधना की आत्मा को यहाँ नहीं समझा गया। अनुकम्पक शास्ता के चले जाने पर उनके 'धम्मदायाद' भिक्षुओं के लिये इससे अधिक आवश्यक और अवश्यम्भावी काय क्या हो सकता था कि वे जल्दी से जल्दी एक जगह मिल कर भगवान् के वचनों की स्मृति करें। ब्राह्मण और क्षत्रिय गृहस्थों ने तो भगवान् के शरीर के प्रति अद्भुत आदर प्रदर्शित किये, चक्रवर्ती के समान उसका दाह-संस्कार किया और भगवान् की अस्थियों को बाँट कर उनकी पूजा की। भिक्षु क्या करते? उनके लिये तो पूजा का अन्य ही विधान शास्ता छोड़ गये थे। उनके लिये तो एक ही उपदेश था। तथागत के अन्तिम पुरुष मत बनो। बुद्ध के बाद 'धम्म' की शरण लो।[6]

---

१. तिब्बती दुल्व की भी परिस्थिति 'दीपवंस' के समान ही है, अर्थात् वहाँ सुभद्र का प्रकरण नहीं है, किन्तु प्रथम संगीति का वर्णन है। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़' पृष्ठ ४०-४१

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत ३

३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४

४. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४

५. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ४३

६. ये अक्षरशः उद्धरण नहीं हैं। इन भावनाओं के लिये देखिये धम्मदायाद-सुत्त (मज्झिम. १।१।३); गोपक-मोग्गल्लान सुत्त (मज्झिम. ३।१।८)

ऐसी अवस्था में 'धम्म' की अनुस्मृति करना उनका प्रथम और एक मात्र कर्तव्य था। यदि वे ऐसा न करते तो हम आज यही कहते कि भगवान् का भिक्षु-संघ ही उस समय नहीं था। चूँकि हम निश्चित रूप से जानते हैं कि भिक्षु-संघ उस समय था, इसलिये उससे भी अधिक निश्चित रूप से हमें यह जानना चाहिये कि उन्होंने एक जगह मिलकर 'बुद्ध' और 'धम्म' की अनुस्मृति भी अवश्य की होगी, भगवान् के वचनों का संगायन भी अवश्य किया होगा, फिर चाहे वह किसी रूप में क्यों न हो। बुद्ध-संघ की आत्मा और उसका सारा विधान इसी तथ्य की ओर निर्देश करता है, जो इतिहास के साक्ष्य से कहीं अधिक दृढ़ है, और इस विषय में तो इतिहास का साक्ष्य भी, जैसा हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं, बहुत अधिक पर्याप्त है।

राजगृह की सभा की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि धम्म और विनय के जिस रूप का बुद्ध के इन प्रथम शिष्यों ने संगायन और संकलन किया, वह कहाँ तक हमारे वर्तमान रूप में प्राप्त सुत्त-पिटक और 'विनय-पिटक' में मिलता है। इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त संयत वाणी में और क्रमशः ही दिया जा सकता है, यद्यपि आचार्य बुद्धघोष ने सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के विभिन्न भागों के नाम ले ले कर यह दिखाया है कि उनका संगायन प्रथम संगीति में ही किया गया था। फिर भी आधुनिक विद्यार्थी तो उनके इस साक्ष्य को सावधानी से ही ग्रहण करेगा। प्रथम संगीति के वर्णन में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि वहाँ धम्म (सुत्त) और विनय के संगायन की ही बात कही गई है। अभिधम्म के संगायन की बात वहाँ नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभिधम्म-पिटक की रचना प्रथम संगीति से बाद के काल की है। किन्तु यह निष्कर्ष बौद्ध परम्परा को मान्य नहीं है। आचार्य बुद्धघोष ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही अभिधम्म के भी संगायन का उल्लेख किया है।[1] यूआन्-

---

मखादेव-सुत्त (मज्झिम. २।४।३) एवं महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ. २।३) आदि।

१. ततो अनन्तरं—धम्मसंगणि-विभङ्गञ्च, कथावत्थुञ्च पुग्गलं, धातु-यमक-पट्ठानं, अभिधम्माति वुच्चतीति। एवं संवण्णितं सुखुमञाण-गोचरं, तन्तिं संगायित्वा इदं अभिधम्मपिटकं नामाति वत्वा पञ्च-अरहन्तसतानि सज्झायमकंसु। सुमंगलविलासिनी की निदान-कथा। मिलाइये समन्त-पासादिका की निदान-कथा भी।

चुआङ्ग को भी यही बात मान्य थी। बुद्धघोष या यूआन्-चुआङ्ग के साथ इस हद तक सहमत न हो सकने पर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि बुद्ध-वचनों का जो स्वरूप राजगृह की सभा में स्वीकार और संग्रह किया गया, उसी पर वर्तमान पालि त्रिपिटक आधारित है। इस सभा के एक महत्वपूर्ण प्रसंग का यहाँ उल्लेख कर देना ओर आवश्यक होगा। जिस समय यह सभा हो ही रही थी या समाप्त हो चुकी थी, पुराण नामक एक भिक्षु वहाँ विचरता हुआ आ निकला। उससे जब संगायन में भाग लेने के लिये कहा गया तो उसने कहा, "आवुस ! स्थविरों ने धम्म और विनय को सुन्दर तोर से संगायन किया है। किन्तु जैसा मैंने स्वयं शास्ता के मुख से सुना है, मुख से ग्रहण किया है, मै तो वैसा ही धारण करूँगा"।[1] पुराण की इस उक्ति मे राजगृह के सभासदों के द्वारा संगायन किये हुए धम्म और विनय के प्रति अप्रामाणिकता का भाव नहीं है, जैसा कुछ विद्वानों ने भ्रमवश सोचा है। संघ के लिये यह कोई खतरे की घटी भी नहीं थी, जैसा एक विद्वान् को भ्रम हुआ है।[2] पुराण तो एक साधक पुरुष था। एकान्त-साधना का भाव उसमें अवश्य अधिक था, जिसके कारण वह अपनी उस ध्यान-भावना मे, जो उसे शास्ता के प्रत्यक्ष सम्पर्क से मिली थी, किसी प्रकार का विक्षेप नही आने देना चाहता था। दूसरों ने बुद्ध-मुख से जो कुछ सुना है, वह सब ठीक रहे, सत्य रहे। किन्तु पुराण को तो अपना जीवन-यापन उसी से करना, जो उसकी आवश्यकता देखते हुए स्वयं भगवान् ने उसे दिया है। इस दृष्टि से न तो पुराण की उक्ति मे राजगृह की सभा मे संगायन किये हुए बुद्ध-बचनों की अप्रमाणिकता की ओर संकेत है ओर और न वह भिक्षु-संघ के लिये कोई खतरे को घंटी ही थी। इस प्रकार के स्वतन्त्र विचारों के प्रकाशन पर भिक्षु-संघ ने कभी प्रतिबन्ध नही लगाया। यह उसकी एक विशेषता है। अतः हम कह सकते हैं कि धर्मवादी भिक्षुओं ने धर्म का वैसा ही संगायन किया, जैसा उन्होंने स्वयं भगवान् से सुना था और जो उन्होंने संगायन किया उसके ही दर्शन हमें पालि सुत्त और विनय पिटको मे मिलते हैं, यद्यपि उसके साथ कुछ और भी मिल गया है।[3]

---

१. विनय-पिटक-चुल्लवग्ग; देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ ५५२ भी।

२. डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है "This was a danger signal for the Church" बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ४४

३. बुद्धघोष को भी यह मत आंशिक रूप से मान्य था। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़ पृष्ठ २२१

भगवान् के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद (वस्ससतपरिनिब्बुते भगवति—चुल्लवग्ग) किन्तु यूआन् चुआङ् द्वारा निर्दिष्ट परम्परा के अनुसार ११० वर्ष बाद, वैशाली में 'धम्म' और 'विनय' का, जैसा कि वह प्रथम संगीति में संगृहीत किया गया था, पुनः संगायन किया गया। यह बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी संगीति थी, जिसमें ७०० भिक्षुओं ने भाग लिया। इसीलिये यह 'सप्तशतिका' भी कहलाती है। यह सभा वास्तव में विनय-सम्बन्धी कुछ विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने के लिये बुलाई गई थी। वैशाली के भिक्षु दस बातों में विनय-विपरीत आचरण करने लगे थे, जिनमें एक सोने-चांदी का ग्रहण भी था। अनेक भिक्षुओं के मत में उनका यह आचरण विनय-विपरीत और निषिद्ध था। इसी का निर्णय करने के लिये वैशाली में यह सभा हुई, जो आठ मास तक चलती रही। पालि साहित्य के विकास की दृष्टि से भी इस सभा का बड़ा महत्व है। एक बात इस सभा से यह निश्चित हो जाती है कि इस समय तक भिक्षु-संघ के पास एक ऐसा सुनिश्चित संगृहीत साहित्य अवश्य था जिसके आधार पर भिक्षु विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का निपटारा कर सकते थे, फिर चाहे वह साहित्य मौखिक परम्परा के रूप में ही भले क्यों न हो।[1] वैशाली की सभा ने वैशालिक भिक्षुओं के दस बातों सम्बन्धी व्यवहार को विनय-विपरीत ठहराया। इससे एक महत्वपूर्ण समस्या पालि-साहित्य, विशेषतः विनय-पिटक, के सम्बन्ध में उत्पन्न हो जाती है। आज जिस रूप में विनय-

---

१. ऐसा ही आधार स्वयं भगवान् बुद्ध के समय में भी विद्यमान था। "भिक्षुओ! यदि कोई भिक्षु ऐसा कहे 'मैंने इसे भगवान् के मुख से सुना है,' ग्रहण किया है, यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का शासन है, तो भिक्षुओ! उस दिन उस भिक्षु के भाषण का न अभिनन्दन करना, न निन्दा करना। बल्कि .....सूत्र से तुलना करना, विनय में देखना। यदि वह सूत्र से तुलना करने पर, विनय में देखने पर, न सूत्र में उतरे, न विनय में दिखाई दे, तो विश्वास करना यह भगवान् का बचन नहीं है। किन्तु यदि वह सूत्र में भी उतरे, विनय में भी दिखाई दे, तो विश्वास करना अवश्य यह भगवान् का बचन है।" महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ. २।३) मिलाइये अंगुत्तर-निकाय, जिल्द ६, पृष्ठ ५१; जिल्द ४, पृष्ठ १८० (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

पिटक पाया जाता है उसमें उन दस बातों में से, जिनके निर्णय के लिये वैशाली की सभा बुलाई गई थी, अधिकांश बातें स्पष्टतः बुद्ध-मन्तव्य के विपरीत ठहराई गईं हैं[1]। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आज जिस रूप में विनय-पिटक हमें प्राप्त है वह वैशाली की सभा से पूर्व का नहीं हो सकता[2]। यदि ऐसा होता, तो स्थविरों को इतना वाद-विवाद करने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि वहाँ तो स्पष्टतः उन्हें निषिद्ध बतलाया ही गया है। अतः ऐसा माना गया है कि पहले विनय-पिटक का रूप कुछ और रहा होगा और बाद में वैशाली की सभा के बाद उसके निर्णयों को उसमें उचित स्थानों में समाविष्ट कर दिया होगा।[3] हम यह अस्वीकार नहीं करते कि वैशाली की सभा के परिणाम-स्वरूप विनय-पिटक के स्वरूप में कुछ संशोधन या परिवर्द्धन न किया गया हो, किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि तत्त्वतः वैशाली की सभा से पूर्व के विनय और आज वह जिस रूप में पाया जाता है, उसमें कोई भेद है। वास्तव मे बात यह है कि वैशाली की सभा से पूर्व और उसके कुछ शताब्दियों बाद तक भी 'विनय', जैसे कि अन्य बुद्ध-वचन, मौखिक अवस्था में ही रहे। अतः यदि विनय-पिटक का स्वरूप वैशाली की सभा से पहले का भी यदि आज का सा ही होता, तो भी उन दस बातों पर विवाद चल सकता था, जिन पर वैशाली की सभा में वह चला और जिनमें से बहुतों के ऊपर विनय का आज स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध है। अतः यह मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि वर्तमान विनय-पिटक वैशाली की सभा से पहले का नहीं है। हाँ, वैशाली की सभा ने एक बात पहली बार स्पष्ट कर दी है। वह यह कि जिस भिक्षु-सभा ने वैशाली में मिल कर अपने मतानुसार प्रामाणिक बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार वैशाली के बृज्जियों के अनाचार की निन्दा की, उनका ही एक मात्र संग्रह बुद्ध-वचनों का नहीं है। जिन भिक्षुओं की इस सभा में पराजय हो गई, उन्होंने अपनी अलग एक भारी सभा (महा-संगीति) की, जिसमें उन्होंने अपने मतानुसार नये बुद्ध-वचनों की सृष्टि की। इनके विषय में 'दीपवंस' में कहा गया

---

१. कुछ उद्धरणों के लिये देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६२-६४
२. यह निष्कर्ष डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने निकाला है। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज पृष्ठ ६२
३. बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६३-६४; ओल्डनबर्ग को भी यही मत मान्य है, देखिये वहीं पृष्ठ ६४, पदसंकेत १

है "महासंगीति के भिक्षुओं ने बुद्ध-शासन को बिल्कुल विपरीत कर डाला। मूल संघ में भेद उत्पन्न कर उन्होंने एक नया संघ खड़ा कर दिया। मौलिक 'धम्म' को नष्ट कर उन्होंने एक नया ही सुत्तों का संग्रह किया"[१] आदि। इन महासंगीति-कारों ने जो कुछ भी संग्रह किया हो या उनका जो कुछ भी अंश अवशेष रहा हो, हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि बुद्ध-वचनों के पालि-संस्करण के सामने उसकी कोई प्रमाणवत्ता नहीं है। वैशाली की सभा में विनय-सम्बन्धी दस बातों के विषय में निर्णय हो जाने के बाद ७०० भिक्षुओं ने महास्थविर रेवतके सभापतित्व में, प्रथम संगीति के समान ही, 'धम्म' का संगायन और संकलन किया। 'अकरुं धम्मसंगहं'। आचार्य बुद्धघोष के वर्णनानुसार बुद्ध-वचनों का तीन पिटकों, पाँच निकायों, नौ अंगों और ८४००० धर्मस्कन्धों में वर्गीकरण इसी समय किया गया। इस संगीति की ऐतिहासिकता विद्वानों को पहली की अपेक्षा अधिक मान्य है। इस संगीत का वर्णन भी प्रायः उन सब ग्रन्थों में मिलता है जिनमें प्रथम संगीति का। इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

वैशाली की संगीति के बाद एक तीसरी संगीति सम्राट् अशोक के समय में बुद्ध-परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई। इस संगीति का वर्णन दीपवंस, महावंस और समन्तपासादिका (विनय-पिटक की बुद्धघोष-रचित अट्ठकथा) में मिलता है। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में इस संगीति का निर्देश नहीं किया गया है। तिब्बत और चीन के महायानी बौद्ध साहित्य में भी इस संगीति का निर्देश नहीं मिलता और न यूआन्-चुआङ. ने ही इसके विषय में कुछ लिखा है। अशोक के किसी शिलालेख में भी इस संगीति का स्पष्टतः कोई उल्लेख नहीं

---

१. **महासङ्गीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासनं। भिन्दित्वा मूलसंघं अञ्ञं अकंसु संघं॥ अञ्ञथा सङ्गहितं सुत्तं अञ्ञथा अकरिंसु ते। अत्थं धम्मं च भिन्दिंसु ये निकायेसु पंचसु॥ यहीं आगे कहा गया है कि महासंगीति के इन भिक्षुओं ने परिवार, अभिधम्म, पटिसम्भिदा, निद्देस और जातकों के कुछ अंशों को स्वीकार नहीं किया—परिवारं अत्थुद्धारं अभिधम्मप्पकरणं, पटिसम्भिदं च निद्देसं एकदेसं च जातकं, एत्तकं निस्सज्जेत्वान अञ्ञं अकरिंसु ते। ५।३२-३८ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)**

मिलता।[1] अतः कुछ विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता में सन्देह किया है।[2] वास्तव में बात यह है कि अशोक के समय तक बौद्ध संघ १८ सम्प्रदायों में विभक्त होचुका था और जिस सम्प्रदाय का पक्ष ग्रहण कर यह सभा बुलाई गई थी अथवा जिस सम्प्रदाय को इस सभा के बाद बुद्ध-धर्म का वास्तविक प्रतिनिधि माना गया था वह विभज्यवादी या स्थविरवादी[3] सम्प्रदाय था। अतः यह बहुत सम्भव है कि दूसरे सम्प्रदाय वालों ने इसे स्थविरवादी या विभज्यवादी भिक्षुओं की ही अपनी सभा मानकर इसका उल्लेख सामान्य बौद्ध संगीतियों के रूप में न किया हो। अशोक के शिलालेखों का इस सम्बन्ध में मौन रखने का यह कारण हो सकता है कि अशोक ने वास्तव में इस सभा में कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं लिया

---

१. नवें शिलालेख में कुछ 'कथावत्थु' के समान शैली अवश्य दृष्टिगोचर होती है। देखिये भांडारकर और मजूमदार: इन्सक्रिप्शन्स ऑब अशोक, पृष्ठ ३४-३६

२. जिनमें मुख्य मिनयफ, कीथ, मैक्स वेलेसर, बार्थ, फ्रैंक और लेवी हैं। डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स, श्रीमती रायसडेविड्स, विंटरनित्ज़ और गायगर इस सभा को ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक मानते हैं। देखिये विंटरनित्ज़; हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर , जिल्द दूसरी पृष्ठ १६-९-७० पद संकेत ५, एवं गायगर: पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ९ पद संकेत २ में निर्दिष्ट साहित्य।

३. स्थविरवाद का अर्थ है स्थविरों अर्थात् वृद्ध, ज्ञानी पुरुषों और तत्त्व-दर्शियों का मत। बुद्ध के प्रथम शिष्यों के लिये 'स्थविर' शब्द का प्रयोग किया गया है। बुद्ध-मन्तव्य के विषय में उनका मत ही सर्वाधिक प्रामाणिक था। अतः स्थविरवाद का अर्थ 'प्रामाणिक मत' भी हो गया। स्थविरवादी भिक्षु 'विभज्यवाद' के अनुयायी थे। अतः 'विभज्यवाद' (पालि, विभज्जवाद) और स्थविरवाद (पालि, थेरवाद) दोनों एक ही वस्तु के द्योतक हैं। 'विभज्यवाद' का अर्थ है विभाग कर, विश्लेषण कर, प्रत्येक वस्तु के अच्छे अंश को अच्छा और बुरे अंश को बुरा बतलाना। इसका उल्टा एकांशवाद (पालि, एकंसवाद) है, जो सोलहो आने किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कह डालता है। भगवान् बुद्ध ने सुभ-सुत्त (मज्झिम. २।५।९) में अपने को उपर्युक्त अर्थ में

था। अथवा उसके सारे श्रेय को वह उस समय के सबसे अधिकप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और साधक मोग्गलिपुत्त तिस्स को देना चाहता था, जिन्होंने यह सभा बुलाई थी और जो ही इस सभा के सभापति थे। अनेक प्रान्तों के भिक्षुओं ने इस सभा में भाग लिया। इस सभा का मुख्य उद्देश्य यह था कि बौद्ध संघमें जो अनेक अ-बौद्ध लोग सम्राट् अशोक के बौद्ध संघ सम्बन्धी दानों से आकृष्ट होकर घुस गये थे उनका निष्कासन किया जाय और मूल बुद्ध-उपदेशों का प्रकाशन किया जाय। सभा की कार्यवाही में यही काम किया गया। साथ ही पाटलिपुत्र की इस सभा में अन्तिम रूप से बुद्ध-वचनों के स्वरूप का निश्चय किया गया और ९ महीनों के अन्दर भिक्षुओं ने तिस्स मोग्गलिपुत्त के सभापतित्व में बुद्ध-वचनों का संगायन और पारायण किया। इसी समय तिस्स मोग्गलिपुत्र ने मिथ्यावादी १८ बौद्ध सम्प्रदायों का निराकरण करते हुए 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'अभिधम्म-पिटक' में स्थान मिला।[1] जैसा पहले कहा जा चुका है, बुद्धघोष और यूआन्-चुआङ के वर्णन के अनुसार अभिधम्म-पिटक का भी संगायन महाकाश्यप ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही किया था। किन्तु उसकी इतनी प्राचीनता अपने वर्तमान रूप में विद्वानों को मान्य नहीं है। कम से कम इस तीसरी संगीति के वर्णन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि 'कथा-

---

विभज्यवादी कहा है। स्थविरवादी भिक्षु भी यही दृष्टिकोण रखते थे। विभज्यवाद का एक सूक्ष्म और तात्विक अर्थ भी है, जिसका उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया था। इस अर्थ के अनुसार मानसिक और भौतिक जगत् की सम्पूर्ण अवस्थाओं का स्कन्ध, आयतन और धातु आदि में विश्लेषण किया जाता है, किन्तु फिर भी उनमें 'अत्ता' (आत्मा) या स्थिर तत्त्व जैसा कोई पदार्थ नहीं मिलता। विभज्यवाद के इस सूक्ष्म अर्थ के विवेचन के लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यपः अभिधम्म फिलासफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९-२२; स्थविरवाद और विभज्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध के अधिक निरूपण के लिये देखिये गायगर; पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ९ पद-संकेत १, तथा विंटरनित्जः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६, पद-संकेत २ में निर्दिष्ट साहित्य।

१. महावंश ५।२७८ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

वत्थु' की रचना महास्थविर तिस्स मोग्गलिपुत्त ने अशोक के समय में की। इतना भी निश्चित है कि सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक के स्वरूप का निश्चय अन्तिम रूप से इस संगीति के समय तक हो गया था। इस सभा के परिणाम-स्वरूप एक महत्वपूर्ण निश्चय विदेशों में बुद्ध-धर्म के प्रचार करने के लिये उपदेशकों को भेजने का भी किया गया। अशोक के तेरहवें और दूसरे शिलालेखों से यह स्पष्ट होता है कि उसने न केवल अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में ही बल्कि सीमान्त देशों में बसने वाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियों में और केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पाण्ड्य नामक दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यों में तथा सिंहल द्वीप में भी बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ धर्मोपदेशकों को भेजा था। दीप-वंस,[1] महावंस[2] और समन्तपासादिका[3] में उन भिक्षुओं की नामावली सुरक्षित है, जिन्हें भिन्न भिन्न देशों में बुद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये भेजा गया था। किस-किस भिक्षु को किस-किस प्रदेश में भेजा गया, इसकी यह सूची इस प्रकार है—

१. स्थविर माध्यन्तिक (मज्झन्तिक)	—काश्मीर और गान्धार प्रदेश को
२. स्थविर महादेव	—महिष मंडल (महिंसक मंडल) को (नर्वदा के दक्षिण का प्रदेश)
३. स्थविर रक्षित (रक्खित)	—वनवासि-प्रदेश को (वर्तमान उत्तरी कनारा)
४. यूनानी भिक्षु धर्मरक्षित (योनक धम्मरक्खित)	—अपरान्तक प्रदेश को (वर्तमान गुजरात)
५. स्थविर महाधर्मरक्षित (महाधम्मरक्खित)	—महाराष्ट्र (महारट्ठ) को
६. स्थविर महारक्षित (महारक्खित)	—यवन-देश (योनक लोक) को (बैक्ट्रिया)
७. स्थविर मध्यम (मज्झिम)	—हिमालय-प्रदेश (हिमवन्त) को

१. परिच्छेद ८

२. ५।२८०; १२।१-८

३. पृष्ठ ६३-६४ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

८. स्थविर शोण और उत्तर —सुवर्ण भूमि (सुवण्ण भूमि) को
(दोनों भाई) (बरमा)

९. महेन्द्र (महिन्द, ऋष्ट्रिय), (इट्टिय)
उत्रिय (उत्तिय) शम्बल (सम्बल)—ताम्रपर्णी (तम्बपण्णि) को
और भद्रशाल (भद्दसाल) ये (लंका)[1]
पाँच भिक्षु

उपर्युक्त सूची ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक है। साँची-स्तूप मे इन आचार्यों मे से कुछ के नाम उत्कीर्ण है[2]। अजन्ता की चित्रकारी में भी एक चित्र महेन्द्र और संघमित्रा (अशोक के प्रव्राजित पुत्र और पुत्री, जो अन्य भिक्षुओं के साथ लंका में धर्म प्रचारार्थ गये) की सिंहल-यात्रा को अमर बनाता है। फिर लंका में आज तक महेन्द्र और संघमित्रा तथा उनके साथी अन्य भिक्षुओं की स्मृति के लिये जो जीवित श्रद्धा विद्यमान है, वह केवल कल्पना पर ही आश्रित नही हो सकती। अशोक का धर्म-प्रचार का कार्य यहीं तक सीमित नही था। उसने अपने धर्म-प्रचारक उस समय के प्रसिद्ध पाँच यूनानी राज्यों में भी भेजे। इस प्रकार सिरिया और बैक्ट्रिया के राजा अन्तियोकस (एंटियोकस थियोस—ई० पू० २६१-२४६ ई० पू०) मिश्र के राजा तुरमय (टॉलेमी फिलाडेलफस—ई० पू० २८५-२४७ ई० पू०) मसिडोनिया के राजा अन्तकिन (ऐंटिगोनस गोनटस—ई० पू० २७८-२३९ ई० पू०) सिरीनी के राजा मग (मेगस—ई० पू० २८५-२५८ ई० पू०) और एपिरस के राजा अलिक सुन्दर (एलेक्जेन्डर-ई० पू० २७२-२५८ ई० पू०) के देशों तक अशोक कालीन बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ बुद्ध का सन्देश लेकर गये।[3] इस सब विस्तृत धर्म-प्रचार के इतिहास मे से हमें यहाँ लंका-सम्बन्धी प्रचार-कार्य से ही अधिक सम्बन्ध है। लंका में महेन्द्र और उनके अन्य साथी बुद्ध-धर्म को ले गये। वहाँ के राजा देवानंपिय तिस्स ने भारतीय भिक्षुओ का बड़ा सत्कार किया और उनके सन्देश को स्वीकार किया। स्थविर महेन्द्र और उनके साथी लंका मे

---

१. देखिये, बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २०८ और ४६१; मिलाइये, अशोक की धर्मलिपियाँ, प्रथम भाग, पृष्ठ १६१-६२

२. स्थविर मज्झिम को वहाँ 'हिमवान् प्रदेश का उपदेशक' (हेमवताचरिय) कह कर स्मरण किया गया है।

३. शिलालेख २

उस त्रिपिटक को भी ले गये थे जिसके स्वरूप का अन्तिम निश्चय पाटलिपुत्र की संगीति में हो चुका था। लंका में 'महा-विहार' की स्थापना हुई और त्रिपिटक के अध्ययन का क्रम चलता रहा। परन्तु यह अध्ययन-क्रम अभी कुछ और शताब्दियों तक केवल मौखिक परम्परा (मुखपाठवसेन) में ही चलता रहा। बाद में लंका के राजा वट्टगामणि अभय के समय में प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व में, जिस त्रिपिटक को महेन्द्र और अन्य भिक्षु अशोक और देवानंपिय तिस्स के समय में वहाँ ले गये थे, लेखबद्ध कर दिया गया।[1] तब से वह उसी रूप में चला आ रहा है। महेन्द्र के लंका-गमन और वट्टगामणि के समय में त्रिपिटक के लेखबद्ध होने के समय के बीच में तीन और धर्म-संगीतियाँ क्रमशः देवानंपिय तिस्स, दुट्ठगामणि और वट्टगामणि अभय नामक लंकाधिपों के समयों में हुई। अतः पालि-साहित्य के विकास के इतिहास में उनका भी अवश्य एक स्थान है, यद्यपि पहली तीन संगीतियों की अपेक्षा वह बहुत गौण है। यह निश्चित है कि इन तीन संगीतियों में महेन्द्र द्वारा प्रचारित त्रिपिटक के स्वरूप में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया और वट्टगामणि के समय में जिस त्रिपिटक को लेखबद्ध किया गया वह वही था जिसे महेन्द्र और अन्य भिक्षु वहाँ ले गये थे।

इस प्रकार बुद्ध के परिनिर्वाण-काल से लेकर प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व तक पालि-साहित्य के विकास को हमने देखा। इससे आगे पालि-साहित्य के उस अंश के विकास की कहानी है जो प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व तक अन्तिम रूप से सुनिश्चत और लिखित उपर्युक्त त्रिपिटक को आधार मान कर लिखा गया है। स्वभावतः यहाँ हम पालि-साहित्य के विस्तार और विभाजन के प्रश्न पर आते हैं।

पालि-साहित्य का विस्तार—दो मोटे मोटे भागों में उसका वर्गीकरण—पालि या पिटक साहित्य एवं अनुपालि या अनुपिटक साहित्य

विषय की दृष्टि से पालि-साहित्य उतना विस्तृत और पूर्ण नहीं है, जितने संस्कृतादि अन्य साहित्य। अनेक प्रकार की ज्ञान-शाखाओं पर उसमें साहित्य

---

१. दीपवंस २०।२०-२१ (ओल्डनबर्ग का संस्करण); महावंस ३३। १००-१०१ (गायगर का संस्करण) (बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'महावंस' के संस्करण में ३३।२४७९-८०) देखिये महावंश, पृष्ठ १७८-७९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

नहीं मिलता। ठीक तो यह है कि बौद्ध धर्म—स्थविरवादी बौद्ध धर्म—के अलावा उसमें ज्ञातव्य ही अल्प है। विभिन्न ज्ञान-शाखाओं की वह बहुमूल्य सम्पत्ति उसमें नहीं मिलती जो एक सर्वविध समृद्ध साहित्य से सम्बन्ध रखती है। फिर भी पालि-साहित्य के अन्य अनेक बड़े आकर्षण हैं। उसके साहित्य का विकास न केवल भारत में ही, अपितु लंका, बरमा और स्याम में भी हुआ है और स्वभावतः उसने इन सब देशों की भाषा और विचार-परम्परा को भी प्रभावित किया है। पालि साहित्य की रचना बुद्ध-काल से लेकर आज तक निरन्तर होती चली आ रही है। अतः उसके विकास का २५०० वर्ष का इतिहास है। कालानुक्रम और प्रवृत्तियाँ, दोनों की ही दृष्टि से पालि-साहित्य को दो मोटे-मोटे भागों में विभक्त किया जा सकता है, (१) पालि या पिटक साहित्य, (२) अनुपालि या अनुपिटक साहित्य। पालि या पिटक साहित्य का विकास, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, बुद्ध-निर्वाण काल से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पू० तक है। अनुपालि या अनुपिटक साहित्य के विकास का इतिहास प्रथम शताब्दी ई० पू० से लेकर वर्तमान काल तक चला आ रहा है।

पिटक-साहित्य के ग्रन्थों का संक्षिप्त विश्लेषण और काल-क्रम

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पालि या पिटक साहित्य तीन भागों में विभक्त है, सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक। सुत्त-पिटक पाँच निकायों या शास्त्रों में विभाजित है जिनके नाम हैं, दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय और खुद्दक-निकाय। विनय-पिटक अपने आप में एक परिपूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी विषय-वस्तु तीन भागों में विभक्त है, सुत्त-विभंग, खंधक और परिवार। सुत्त-विभंग के दो विभाग हैं, पाराजिक और पाचित्तिय। इसी प्रकार खंधक के भी दो भाग हैं, महावग्ग और चुल्लवग्ग। अभिधम्म- पिटक में सात बड़े बड़े ग्रन्थ है, जिनके नाम हैं धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। सुत्त-पिटक के पाँच निकायों का कुछ अधिक विश्लेषण कर देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। दीघ-निकाय में कुल ३४ सुत्त हैं, जो तीन वर्गों में विभाजित हैं। पहले सीलक्खन्ध-वग्ग में १३ सुत्त हैं, दूसरे महावग्ग में १० सुत्त हैं और तीसरे पाटिक-वग्ग में ११ सुत्त हैं। यह वर्गीकरण इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

दीघ-निकाय

(अ) सीलक्खन्ध-वग्ग

१. ब्रह्मजाल-सुत्त
२. सामञ्ञफल-सुत्त
३. अम्बट्ठ-सुत्त
४. सोणदंड-सुत्त
५. कूटदन्त-सुत्त
६. महालि-सुत्त
७. जालिय-सुत्त
८. कस्सपसीहनाद-सुत्त
९. पोट्ठपाद-सुत्त
१०. सुभ-सुत्त
११. केवड्ढ (या केवट्ट)-सुत्त
१२. लोहिच्च-सुत्त
१३. तेविज्ज-सुत्त

(आ) महावग्ग

१४. महापदान-सुत्त
१५. महानिदान-सुत्त
१६. महापरिनिब्बाण-सुत्त
१७. महासुदस्सन-सुत्त
१८. जनवसभ-सुत्त
१९. महागोविन्द-सुत्त
२०. महासमय-सुत्त
२१. सक्कपञ्ह-सुत्त
२२. महासतिपट्ठान-सुत्त
२३. पायासि-सुत्त

(इ) पाटिक-वग्ग

२४. पाटिक-सुत्त
२५. उदुम्बरिक सीहनाद-सुत्त

२६. चक्कवत्ति सीहनाद-सुत्त
२७. अग्गञ्ञ-सुत्त
२८. सम्पसादनिय-सुत्त
२९. पासादिक-सुत्त
३०. लक्खण-सुत्त
३१. सिंगालोवाद (या सिगालोवाद)-सुत्त
३२. आटानाटिय-सुत्त
३३. संगीति-सुत्त
३४. दसुत्तर-सुत्त

मज्झिम-निकाय में १५२ सुत्त हैं, जो १५ वर्गों में इस प्रकार विभाजित हैं--

मज्झिम निकाय

१. मूल-परियाय-वग्ग

१. मूलपरियाय-सुत्त
२. सब्बासव-सुत्त
३. धम्मदायाद-सुत्त
४. भयभेरव-सुत्त
५. अनंगण-सुत्त
६. आकंखेय्य-सुत्त
७. वत्थूपम-सुत्त
८. सल्लेख-सुत्त
९. सम्मादिट्ठि-सुत्त
१०. सतिपट्ठान-सुत्त

२. सीहनाद-वग्ग

११. चूलसीहनाद-सुत्त
१२. महासीहनाद-सुत्त
१३. महादुक्खक्खन्ध-सुत्त
१४. चूलदुक्खक्खन्ध-सुत्त
१५. अनुमान-सुत्त
१६. चेतोखिल-सुत्त

१४. विभंग-वग्ग

१५. सळायतन-वग्ग

१४९. महासळायतनिक-सुत्त
१५०. नगरविन्देय्य-सुत्त
१५१. पिण्डपातपारिसुद्धि-सुत्त
१५२. इन्द्रियभावना-सुत्त

संयुत्त-निकाय में कुल ५६ संयुत्त हैं, जो ५ वर्गों में इस प्रकार विभाजित हैं।

संयुत्त-निकाय

(१) सगाथ-वग्ग, जिसमें ११ संयुक्त है।

१. देवता-संयुत्त
२. देवपुत्त-संयुत्त
३. कोसल-संयुत्त
४. मार-संयुत्त
५. भिक्खुणी-संयुत्त
६. ब्रह्म-संयुत्त
७. ब्राह्मण-संयुत्त
८. वंगीस-सयुत्त
९. वन-संयुत्त
१०. यक्ख-संयुत्त
११. सक्क-संयुत्त

(२) निदान-वग्ग, जिससें १० संयुक्त हैं।

१. निदान-संयुत्त
२. अभिसमय-संयुत्त
३. धातु-संयुत्त
४. अनमतग्ग-संयुत्त
५. कस्सप-संयुत्त
६. लाभ-सक्कार-संयुत्त
७. राहुल-सँयुत्त
८. लक्खण-संयुत्त
९. ओपम्म-संयुत्त
१०. भिक्खु-संयुत्त

(३) खन्ध-वग्ग, जिसमें १३ संयुत्त हैं।

१. खन्ध-संयुत्त
२. राध-संयुत्त
३. दिट्ठि-संयुत्त
४. ओक्कन्तिक-संयुत्त
५. उप्पाद-संयुत्त
६. किलेस-संयुत्त
७. सारिपुत्त-संयुत्त
८. नाग-संयुत्त
९. सुपण्ण-संयुत्त
१०. गन्धब्बकाय-संयुत्त
११. वलाह-संयुत्त
१२. वच्छगोत्त-संयुत्त
१३. झान-संयुत्त

(४) सलायतन-वग्ग, जिसमें १० संयुत्त हैं।

१. सळायतन-संयुत्त
२. वेदना-संयुत्त
३. मातुगाम-संयुत्त
४. जम्बुखादक-संयुत्त
५. सामण्डक-संयुत्त
६. मोग्गल्लान-संयुत्त
७. चित्त-संयुत्त
८. गामणि-संयुत्त
९. असंखत-संयुत्त
१०. अव्याकत-संयुत्त

(५) महावग्ग, जिसमें १२ संयुत्त हैं।

१. मग्ग-संयुत्त
२. बोज्झंग-संयुत्त
३. सतिपट्ठान-संयुत्त

४. इन्द्रिय-संयुत्त
५. सम्मप्पधान-संयुत्त
६. बल-संयुत्त
७. इद्धिपाद-संयुत्त
८. अनुरुद्ध-संयुत्त
९. झान-संयुत्त
१०. आनापाण-संयुत्त
११. सोतापत्ति-संयुत्त
१२. सच्च-संयुत्त

अंगुत्तर-निकाय का विभाजन बिलकुल संख्याबद्ध है। एक एक, दो-दो, तीन-तीन, इस प्रकार क्रमानुसार ग्यारह तक उतनी ही उतनी संख्या से सम्बन्ध रखने वाले बुद्ध-उपदेशों का संग्रह है। इस प्रकार यह महाग्रन्थ ११ निपातों (समूहों) में विभक्त है—

१. एक-निपात
२. दुक-निपात
३. तिक-निपात
४. चतुक्क-निपात
५. पंचक-निपात
६. छक्क-निपात
७. सत्तक-निपात
८. अटठक-निपात
९. नवक-निपात
१०. दसक-निपात
११. एकादसक-निपात

खुद्दक-निकाय में स्वतन्त्र १५ ग्रन्थ हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. खुद्दक-पाठ
२. धम्मपद
३. उदान
४. इतिवुत्तक
५. सुत्तनिपात

६. विमान-वत्थु
७. पेत-वत्थु
८. थेर-गाथा
९. थेरी-गाथा
१०. जातक
११. निद्देस
१२. पटिसम्भिदामग्ग
१३. अपदान
१४. बुद्धवंस
१५. चरियापिटक

पालि साहित्य अपने वर्गीकरण के लिये प्रसिद्ध है। बुद्ध-वचनों के त्रिपिटक और उसके उपर्युक्त उपविभागों के अतिरिक्त अन्य भी विभाजन किये गये है। इस प्रकार सम्पूर्ण बुद्ध-वचनों को पाँच निकायों में बाँटा गया है। यहाँ चार निकाय तो सुत्त-पिटक के प्रथम चार निकायों के समान ही है, किन्तु पंचम निकाय (खुद्दक-निकाय) में स्वभावतः ही उसके पन्द्रह ग्रन्थों के अलावा विनय-पिटक और अभि-धम्म पिटक के सारे ग्रन्थ भी सम्मिलित कर लिये गये है।[1] कहने की आवश्यकता नही कि यह वर्गीकरण प्रथम के समान स्वाभाविक नहीं है। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण नौ अंगों के रूप में किया गया है,[2] जिनके नाम हैं, सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल। सुत्त (सूत्र) का अर्थ है सामान्यतः बुद्ध-उपदेश। दीघ-निकाय, सुत्त-निपात आदि में गद्य में रक्खे हुए भगवान् बुद्ध के उपदेश 'सुत्त' हैं। गद्य-पद्य-मिश्रित अंश गेय्य (गाने योग्य) कहलाते हैं। 'वेय्याकरण' (व्याकरण, विवरण, विवेचन) वह व्याख्यापरक साहित्य है जो अभिधम्म पिटक तथा अन्य ऐसे ही अंशों में सन्निहित

१. देखिये आगे पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक का विवेचन।

२. नौ अंगों एवं अधिकतर १२ धर्म-प्रवचनों के रूप में बुद्ध-वचनों का विभाजन महायान बौद्ध धर्म के संस्कृत-साहित्य में भी पाया जाता है, देखिये सद्धर्मपुंडरीक २।४८ (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द २१, पृष्ठ ४५); महाकरुणा पुंडरीक, पृष्ठ ३३ (भूमिका) (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द बस, भाग प्रथम में)

है। सिर्फ पद्य में रचित अंश 'गाथा' (पालि-श्लोक) कहलाते हैं। 'उदान' का अर्थ है बुद्ध-मुख से निकले हुए भावमय प्रीति-उद्गार। 'इतिवुत्तक' का अर्थ है 'ऐसा कहा गया' या 'ऐसा तथागत ने कहा'। 'जातक' का अर्थ है। (बुद्ध के पूर्व) जन्म सम्बन्धी कथाएँ। 'अब्भुत धम्म' (अद्भुत धर्म) वे सुत्त हैं जो अद्भुत वस्तुओं या योग-सम्बन्धी विभूतियों का निरूपण करते हैं। 'वेदल्ल' का शाब्दिक अर्थ है वेद-निःश्रित या ज्ञान पर आधारित। 'वेदल्ल' वे उपदेश हैं जो प्रश्न और उत्तर के रूप में लिखे गये हैं।[1] बुद्ध-वचनों का यह नौ प्रकार का विभाजन विषय-स्वरूप की दृष्टि से ही है, ग्रन्थों की दृष्टि से नहीं। अतः कहा जा सकता है कि यह केवल औपचारिक ही है और व्यावहारिक उपयोग में प्रायः नहीं आता। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण ८८००० धर्म स्कन्धों के रूप में है। किन्तु यह भी बौद्धों की विश्लेषण-प्रियता का ही एक उदाहरण है। प्रयोग में यह भी अक्सर नहीं आता। साधारणतः हम त्रिपिटक और उसके उप-विभागों के रूप में ही बुद्ध-वचनों का अध्ययन करते हैं।

यह कहना कुछ आश्चर्यजनक भले ही जान पड़े किन्तु ऐतिहासिक रूप से यह सत्य है कि बुद्ध-वचनों के उपर्युक्त चारों प्रकार के वर्गीकरणों का निश्चय त्रिपिटक के अन्तिम रूप से प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व में वे लेखबद्ध होने से बहुत पहले ही हो चुका था। तीनों पिटकों का निर्देश स्वयं त्रिपिटक में ही मिलता है, यह हम इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कह आये हैं। अशोक के शिला-लेखों ने यह बात अन्तिम रूप से प्रमाणित कर दी है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व से भी पहले बुद्ध-वचनों का कुछ उसी प्रकार का वर्गीकरण प्रचलित था जैसा कि वह आज पालि त्रिपिटक में मिलता है। अशोक के शिलालेखों का पालि-साहित्य के विकास के सम्बन्ध में क्या साक्ष्य है, इसका विस्तृत विवेचन तो हम दसवें अध्याय में पालि के अभिलेख-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि अशोक के भाब्रू शिलालेख में राहुलोवाद (लाघुलोवादे) सुत्त आदि शीर्षकों से यही निश्चित होता है कि तीसरी शताब्दी ई० पू०

---

१. यथा मज्झिम-निकाय के चूल-वेदल्ल-सुत्तन्त और महावेदल्ल-सुत्तन्त। इनमें परिप्रश्नात्मक शैली का व्यवहार किया गया है। सम्भवतः इसीलिये 'वेदल्ल' शब्द का अर्थ इस प्रकार की शैली में लिखे गये उपदेश किया गया है।

में त्रिपिटक प्रायः अपने उसी वर्गीकरण और नामकरण के साथ विद्यमान था जैसा वह आज है। कम से कम त्रिपिटक के प्राचीनतम अंशों (सुत्त-पिटक और विनय-पिटक) के विषय में तो ऐसा कहा ही जा सकता है। अशोक के बाद साँची और भारहुत (तीसरी या दूसरी शताब्दी ई० पू०) के स्तूपों के लेखों का साक्ष्य भी यही है। इन लेखों में 'पंचनेकायिक' (पाँच निकायों का ज्ञाता) भाणक (पाठ करने वाला) सुत्तन्तिक (सुत्त-पिटक का ज्ञाता) पेटकी (पिटकों का ज्ञाता) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और जातक के कुछ दृश्य भी दिखाये गये हैं, जिनसे विद्वानों ने ठीक ही यह निष्कर्ष निकाला है कि बुद्ध-वचनों का तीन पिटकों और पांच निकायों में आज का सा विभाजन इन अभिलेखों के युग से पहले ही निश्चित हो चुका था।[१] भाणकों और निकायों एवं त्रिपिटक के उपर्युक्त विभाजन की जो परम्परा अशोक के काल से बहुत पहले से चली आ रही थी, उसके बाद भी अबाध गति से चलती रही। साँची के लेखों के अलावा मिलिन्द प्रश्न[२] (प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व) और बाद में बुद्धघोष की अर्थकथाओं[३], दीपवंस,[४] महावंस[५] आदि में उसके पूर्ण साक्ष्य मिलते हैं। बुद्ध-वचनों का नौ अंगों में विभाजन स्वयं त्रिपिटक को भी ज्ञात है[६] और बाद में न केवल मिलिन्द प्रश्न,[७] अपितु बुद्धघोष

---

१. रायस डेविड्सः बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६७; बुहलरः एपीग्रेफिका इंडिका, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९३;

२. तेपिटकं बुद्धवचनं, पृष्ठ १९; तेपिटका भिक्खु पंचनेकायिका पि च, चतुनेकायिका चेव, पृष्ठ २३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

३. धम्मपदट्ठकथा जिल्द पहली, पृष्ठ १२९ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण) देखिये विन्टरनित्ज; इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७, पद-संकेत ३ भी।

४. ८।६; १२।८४; १३।७ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)

५. १२।२९; १४।५८; १४।६३; १५।४ (गायगर का संस्करण)

६. अलगद्दूपम सुत्तन्त (मज्झिम: १।३।२) अंगुत्तर-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७; १०३; १०८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)।

७. नवंगजिनसासनं, पृष्ठ २२; नवङ्गं बुद्ध-वचनं पृष्ठ १६३; । नवंगमनुमज्जन्तो, पृष्ठ ९३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

की अर्थकथाओं[1] गन्धवंस,[2] दीपवंस,[3] आदि में भी उसका उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार बुद्ध-वचनों का ८४००० धर्म-स्कन्धों में विभाजन भी बहुत प्राचीन है। बुद्धघोष ने प्रथम संगीति में ही उनका संगायन होना दिखलाया है[4] और अशोक द्वारा उनके सम्मान में ८४००० विहारों का बनवाया जाना (चतुरासीति विहारसहस्सानि कारापेसि) भी बौद्ध परम्परा में अति प्रसिद्ध है।[5] ये सभी तथ्य पालित्रिपिटक के वर्गीकरण के साथ साथ उसके काल-क्रम और प्रामाणिकता-पर भी काफी प्रकाश डालते हैं।

ऊपर पालि-साहित्य के उद्भव और विकास का वर्णन करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार तीन बौद्ध संगीतियां भारत में और बाद मे तीन संगीतियाँ लंका में पालि त्रिपिटक के स्वरूप के सम्बन्ध में हुई थीं, जिनमें बुद्ध-वचनों का संगायन किया गया था। डा० विमलाचरण लाहा ने इन संगीतियों के अनुसार पालि त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों के काल-क्रम को पाँच क्रमिक अवस्थाओं में विभक्त करने का प्रयत्न किया है, जो इस प्रकार है

प्रथम युग (४८३ ई० पू०—३८३ ई० पू०)
द्वितीय युग (३८३ ई० पू०—२६५ ई० पू०)
तृतीय युग (२६५ ई० पू०—२३० ई० पू०)

---

१. सुमंगलविलासिनी, जिल्द पहली, पृष्ठ २३; अट्ठसालिनी, पृष्ठ २६ (पालि टैक्स्ट सोसायटी के संस्करण)

२. पृष्ठ ५५, ५७ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में प्रकाशित)

३. ४।१५ (ओल्डनबर्ग का संस्करण); देखिये महावंश, पृष्ठ १२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

४. समन्तपासादिका, जिल्द पहली, पृष्ठ २९; देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ २२२

५. "राजा (अशोक) न स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स से पूछा, 'बुद्ध के दिय गय उपदेश कितने हैं ? स्थविर ने उत्तर दिया, 'धर्म के चौरासी हजार स्कन्ध (विभाग) हैं'। यह सुनकर राजा ने कहा 'मै प्रत्येक के लिये विहार बनवाकर उन सब की पूजा करूँगा।' तदन्तर राजा ने चौरासी हजार नगरों में......विहार बनवाने आरम्भ किये।" महावंश ५।७६-८० (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

चतुर्थ युग (२३० ई० पू०— ८० ई० पू०)
पंचम युग (८० ई० पू०— २० ई० पू०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिपिटक के जो प्राचीन से प्राचीन अंश हैं उनके स्वरूप का निश्चय ४८३ ई० पू० अर्थात् शास्ता के परिनिर्वाण के समय ही हो गया था, और जो अर्वाचीन से अर्वाचीन भी हैं वे भी २० ई० पू० के बाद के नहीं हैं, क्योंकि उस समय वे लेखबद्ध ही हो चुके थे, जब से वे उसी रूप में आज तक चले आ रहे हैं। इस प्रकार समष्टि रूप में त्रिपिटक की रचना की उपरली और निचली कोटियों का पूर्ण अनुमापन हो जाने पर भी उसके अलग अलग ग्रन्थों के आपेक्षिक काल-पर्याय-क्रम का सवाल अभी रह ही जाता है। इसके लिये न केवल ऐतिहासिक विवेचन की ही किन्तु अलग अलग ग्रन्थों की विषय-वस्तु के विवेचन की भी बड़ी आवश्यकता है, जिसे हम इस स्थल पर नहीं कर सकते। अतः जब हम आगे के अध्यायों में त्रिपिटक के भिन्न भिन्न ग्रन्थों या अंशों का विवेचन करेंगे तो उस समय उनके काल-पर्याय-क्रम का विवेचन भी हमारे अध्ययन का एक विशेष अंग होगा। हाँ, इस सम्बन्ध में जो पूर्व अध्ययन हो चुका है उसके परिणामों को यहाँ रख देना आवश्यक होगा। सब से पहले डा० रायस डेविड्स ने त्रिपिटक के काल -पर्याय-क्रम का विवेचन किया था। उन्होंने अपने अध्ययन के परिणाम स्वरूप पालि त्रिपिटक का बुद्ध-परिनिर्वाण-काल से लेकर अशोक के काल तक इन दस काल-पर्यायात्मक अवस्थाओं में विभाजन किया था[२]—

१—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में ही त्रिपिटक के प्रायः सब ग्रन्थों की गाथाओं आदि में मिलते हैं।

२—वे बुद्ध वचन, जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं।

३—शील, पारायण, अट्ठकवग्ग, पातिमोक्ख।

४—दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर और संयुत्त निकाय।

५—सुत्त-निपात, थेर-गाथा, थेरी-गाथा, उदान, खुद्दक-पाठ।

६—सुत्त-विभंग, खन्धक।

७—जातक, धम्मपद।

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १२-१३

२. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १८८

८—निद्देस, इतिवुत्तक, पटिसम्भिदा।

९—पेतवत्थु, विमानवत्थु, अपदान, चरियापिटक, बुद्धवंस।

१०—अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ, जिनमें पुग्गलपञ्ञत्ति प्रथम और कथावत्थु अन्तिम हैं।

इस क्रम का कुछ परिवर्तन डा० विमलाचरण लाहा ने किया है। उनके मतानुसार त्रिपिटक के ग्रन्थों का काल-क्रम की दृष्टि से यह तारतम्य ठहरता है—

१—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में त्रिपिटक के प्रायः सब ग्रन्थों की गाथाओं आदि में मिलते हैं।

२—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं।

३—शील, पारायण, अट्ठकवग्ग, सिक्खापद।

४—दीघ-निकाय (प्रथम स्कन्ध), मज्झिम-निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय, पातिमोक्ख जिसमें १५२ नियम हैं।

५—दीघ-निकाय (द्वितीय और तृतीय स्कन्ध) थेरगाथा, थेरीगाथा, ५०० जातकों का संग्रह, सुत्त-विभंग, पटिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग

६—महावग्ग, चुल्लवग्ग, पातिमोक्ख (२२७ नियमों का पूर्ण होना), विमान-वत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, कथावत्थु।

७—चुल्लनिद्देस, महानिद्देस, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त-निपात, धातुकथा, यमक, पट्ठान।

८—बुद्धवंस, चरियापिटक, अपदान।

९—परिवार-पाठ।

१०—खुद्दक-पाठ।[1]

त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों या अंशों के काल-क्रम सम्बन्धी उपर्युक्त निष्कर्ष अपर्याप्त ही नहीं स्वेच्छापूर्ण भी हैं। रायस डेविड्स और लाहा दोनों ही विद्वानों ने भाषा-सम्बन्धी विकास को आधार मान कर, जिसका साक्ष्य अभी स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता, अपना काल-क्रम स्थापित किया है। वास्तव में त्रिपिटक के ग्रन्थों में पूर्वापरता स्थापित करने के लिये हमें पहले निश्चित करना होगा कि उसके कौन से अंश मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचन हैं और कौन से बाद के परिवर्तन या दोनों के मिश्रित स्वरूप। मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचनों में भी हमें बुद्ध के वर्षावासों

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२

के अनुसार उनके काल-क्रम का तारतम्य निश्चित करना पड़ेगा। यह कार्य उपर्युक्त दो विद्वानों ने नहीं किया है। केवल महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'बुद्ध-चर्या' में इस ढंग पर बुद्ध के कतिपय उपदेशों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया है। किन्तु 'बुद्धचर्या' में सभी सुत्तों का उद्धरण शक्य न होने के कारण यह कार्य वहाँ अपर्याप्त रूप से ही हो सका है। पालि साहित्य के इतिहासकार के लिये बुद्ध-वचनों के काल-क्रम के निश्चय के लिये इससे अच्छा मार्ग-दर्शन नहीं मिल सकता। वास्तव में सद्धर्म के प्रथम संग्रहकार काल-चिन्तक थे ही नहीं। वे तत्वतः धर्मचिन्तक थे। इसलिये काल-गणना के अनुसार उन्होंने सुत्तों का संग्रह नहीं किया है। आज हम बुद्ध के वर्षावासों के आधार पर ही यह कार्य कर सकते हैं। भाषा-साक्ष्य से भी कुछ सहायता ले सकते हैं, किन्तु अत्यन्त सावधानीपूर्वक। त्रिपिटक के जो अंश बुद्ध-वचन नहीं है उनके काल-क्रम का निर्णय बाह्य साक्ष्य के आधार पर ही विशेषतः किया जा सकता है। उनमें वर्णित प्रसंग उनके काल-क्रम पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इन सब तथ्यों का विवेचन करते हुए हमने त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों के काल-क्रम का निश्चय करने का प्रयत्न किया है, जो आगे के अध्ययन से स्पष्ट होगा।

अनुपिटक-साहित्य का काल-विभाग

त्रिपिटक के काल-पर्याय-क्रम की समस्या को मोटे रूप से समझने के बाद हमें अनुपिटक-साहित्य के भी काल-विभाग की रूपरेखा को समझ लेना आवश्यक है। वह उतनी दुरूह या विवादग्रस्त नहीं है। उसकी रेखाएँ बिलकुल स्पष्ट हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, अनुपिटक साहित्य की रचना त्रिपिटक के पूर्ण हो जाने के बाद से प्रारम्भ हो कर वर्तमान काल तक चली आ रही है। इस इतने सुदीर्घ विकास में भी उसमें इतनी विभिन्नरूपता दिखाई नहीं पड़ती जितनी कि किसी भी साहित्य के सम्बन्ध में हो सकती थी। इसका कारण यह है कि इस साहित्य का केन्द्रीय बिन्दु बौद्ध धर्म—स्थविरवाद बौद्ध धर्म—का अध्ययन और विवेचन ही रहा है। फिर भी कालानुक्रम और प्रवृत्तियों के विकास की दृष्टि से इस सुदीर्घ काल के साहित्यिक इतिहास को तीन भागों मे विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईस्वी तक अर्थात् बुद्धघोष के आविर्भाव-काल तक चलता है।

इस युग में नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, सुत्तसंगह और मिलिन्दपञ्ह की रचना

हुई, जिनमें मिलिन्दपञ्ह सब से अधिक प्रसिद्ध है। इतिहास का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दीपवंस' भी इसी युग में लिखा गया। चूँकि बुद्धघोष अनुपिटक-साहित्य में सब से बड़ा नाम है और बुद्धघोष ने एक युग-विधायक साहित्य की रचना की, अतः उनके काल के पहले इस दिशा में कितना काम हो चुका था इसे द्योतित करने के लिये इस युग के साहित्य को 'पूर्व-बुद्धघोष' युगीन साहित्य नाम दिया जा सकता है। अनुपिटक साहित्य के इतिहास का दूसरा युग बुद्धघोष के आविर्भाव-काल से आरम्भ होता है। बुद्धघोष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विसुद्धिमग्ग' और उनकी अर्थकथाओ के अतिरिक्त बुद्धदत्त, धम्मपाल आदि की अर्थकथाएँ भी इसी युग में लिखी गईं। पालि त्रिपिटक पर अर्थकथाओं की रचना इस युग की प्रधान विशेषता है, जिसे प्रेरणा देने वाले आचार्य बुद्धघोष ही हैं। अतः इस युग को 'बुद्धघोष-युग' नाम दिया गया है। इस युग की रचना ५वीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक चलती है। विशाल अर्थकथा-साहित्य के अतिरिक्त लंका का प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'महावंस' भी इसी युग में रचा गया। व्याकरण के क्षेत्र में कच्चान का व्याकरण और दर्शन एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनिरुद्ध का प्रसिद्ध 'अभिधम्मत्थसंगह' भी इसी युग की रचनाएँ हैं। इस युग में जो अर्थ कथा-साहित्य लिखा गया उसी की टीकाएँ-अनुटीकाएँ बाद की शताब्दियों में लिखी जाती रहीं। यह बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक का सुदीर्घ युग है। प्रायः बुद्धघोष और उनके समकालीन आचार्यों के दिखाये हुए ढंग पर ही और उनके ही ग्रन्थों के उपजीवी स्वरूप साहित्य की रचना इस युग में होती रही है। अतः इस युग को 'बुद्ध घोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग' नाम दिया गया है। बारहवीं शताब्दी में राजा पराक्रमबाहु के समय में लंका में आचार्य बुद्ध घोष आदि की अर्थकथाओं पर मगध-भाषा (पालि) में टीकाएँ लिखने का आयोजन शुरू किया गया। प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनकी शिष्य-मंडली ने इस दिशा में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में बड़ा काम किया। मूल 'महावंस' का 'चूलवंस' के नाम से आगे परिवर्द्धन भी इसी युग की घटना है। १५वीं शताब्दी से बरमा में बौद्ध साहित्य के अध्ययन की बड़ी प्रगति हुई। बरमी भिक्षुओं के अध्ययन का प्रधान विषय 'अभिधम्म' रहा। इस दिशा में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दिये हैं, जिनमें 'अभिधम्मत्थ संगह' का एक लम्बा सहायक साहित्य है। व्याकरण-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गये। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ठीक वर्तमान समय तक लंका, बरमा, स्याम और भारत में अनुपिटक साहित्य की रचना होती

चली आ रही है। भारत में हम अभी हाल में परिनिर्वृत्त पूज्य आचार्य धर्मानन्द कोशाम्बी के नाम से सुपरिचित हैं। उन्होंने अनुपिटक साहित्य को दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ दिये हैं, एक 'विसुद्धिमग्गदीपिका' नामक 'विसुद्धि-मग्ग' की टीका और दूसरा 'अभिधम्मत्थसंगह' पर 'नवनीत टीका'। इस वर्तमान काल में रचित साहित्य में भी यद्यपि बहुत सी बातों को आधुनिक ढंग से रखने का प्रयत्न किया गया है जो बहुत आवश्यक है, फिर भी आलोक और प्रामाणिक आधार तो बुद्धघोष की रचनाओं से ही लिया गया है। अतः बारहवीं शताब्दी से लेकर इस इतने अभिनव साहित्य को भी 'बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग' कहना अनुचित नहीं है।

तीसरा अध्याय

सुत्त-पिटक

पालि-त्रिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध वचन है ?

पालि त्रिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन है, इस प्रश्न का अंशतः उत्तर पालि-भाषा के स्वरूप पर विचार करते समय (प्रथम अध्याय में) दिया जा चुका है। यदि पालि मागधी भाषा का वही स्वरूप है जिसे मध्य-देश में विचरण करते हुए भगवान् बुद्ध ने प्रयुक्त किया था, तो फिर इसमें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता कि पालि-त्रिपिटक बुद्ध-वचनों का सर्वाधिक प्रामाणिक रूप है। यदि आरम्भ से ही अनेक प्रान्तीय भाषाओं में बुद्ध-वचन सीखे जाते रहे हों तो भी हमारे पालि-माध्यम को प्राचीनतम होना ही चाहिये। पालि-त्रिपिटक का किसी दूसरी उपभाषा से अनुवाद हुआ है, लेवी के इस मत का खंडन पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार ल्यूडर्स के उस मत का भी निराकरण किया जा चुका है जिसके अनुसार प्राचीन अर्द्ध-मागधी से, जिसके स्वरूप की अवतारणा स्वयं उनकी बुद्धि ने की है, पालि-त्रिपिटक का अनुवाद हुआ है। यह निर्विवाद है कि अशोक के समय अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व पालि-त्रिपिटक का भाषा और शैली की दृष्टि से वही स्वरूप था जो आज है। अशोक के शिलालेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी भाषा, उनमें निर्दिष्ट कुछ 'धम्म-पलियायों' के नाम, सब इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व भारतीय जनता बुद्ध-वचनों के नाम से इसी संग्रह को पहचानती थी और आदरपूर्वक श्रवण और मनन करती थी, जिसे हम आज पालि-त्रिपिटक के नाम से पुकारते हैं। छन्द की दृष्टि से भी पालि-त्रिपिटक की प्राचीनता असंदिग्ध है। ओल्डनबर्ग ने कहा है कि पालि-त्रिपिटक की गाथाओं में प्रयुक्त छन्द वाल्मीकि-रामायण से अधिक प्राचीन होना चाहिये[1]।

---

१. गुरुपूजाकौमुदी, पृष्ठ ९०, मिलाइये रायस डेविड्स और कारपेंटर

अतः भाषा और शैली के साक्ष्य के आधार पर पालि-त्रिपिटक बुद्ध-मुख से निःसृत वचनों का प्रामाणिकतम माध्यम ही हो सकता है।

विषय की दृष्टि से भी कोई बात उपर्युक्त साक्ष्य के विपरीत जाने वाली दिखाई नहीं पड़ती। पालि-त्रिपिटक में छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय जीवन की पूरी झलक मिलती है। गोतम बुद्ध का ऐतिहासिक व्यक्तित्व, उनका मानवीय स्वरूप, वहाँ स्पष्टतम शब्दो में अंकित मिलता है। इस विषय में उसकी उत्तरकालीन महायान-ग्रन्थों से एक अद्भुत विशेषता है। उत्तरकालीन बौद्ध संस्कृत साहित्य में बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप पर जोर दिया गया है, जो इतिहास की दृष्टि से बाद का निर्माण ही हो सकता है। पालि-त्रिपिटक में मध्य-देश की ही प्रधानता है और उसी में चारिकाएँ करते हुए शास्ता को दिखाया गया है, जब कि महायानी ग्रन्थों में इसके विपरीत उनका लंका-गमन तक दिखा दिया गया है[1] जो लोकोत्तर तथ्यों पर आश्रित ही हो सकता है। इसके अलावा पालि-त्रिपिटक में यथार्थवाद और विवेकवाद की प्रधानता है जब कि महायानी साहित्य में अतिरंजनाओं और कल्पनाओं से भी बहुत काम लिया गया है। अतः अपेक्षाकृत महत्व की दृष्टि से पालि-त्रिपिटक को ही बुद्ध के जीवन और उपदेशों को समझने का प्राचीनतम और प्रामाणिकतम साधन मानना पड़ता है।

इतिहास की दृष्टि से पालि-त्रिपिटक को ही एक मात्र सच्चा बुद्ध-वचन मानने में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि बुद्ध-धर्म के विकास की प्रथम शताब्दी में ही उसके अनेक विभाग हो गये थे। अशोक के काल तक ही कम से कम १८ सम्प्रदायों का उल्लेख है[2]। इन सभी सम्प्रदायों के अपने अपने साहित्य थे, जिन्हें वे प्रामाणिक बुद्ध-वचन मानते थे। पालि-त्रिपिटक इन्हीं प्राचीन सम्प्रदायों में से एक (स्थविरवाद—थेरवाद) की साहित्यिक निधि है। पालि-त्रिपिटक में निहित बुद्ध-वचन और उनकी अट्ठकथाएँ—इतना ही स्थविरवाद बौद्ध धर्म का साहित्यिक

द्वारा सम्पादित दीघ-निकाय, जिल्द दूसरी, प्रस्तावना, पृष्ठ ८ (पालि-टैक्सट्) सोसायटी द्वारा प्रकाशित)

१. स्थविरवादी ग्रन्थ 'महावंस' में भी बुद्ध का तीन बार लंका-गमन दिखाया गया है, जो उतना ही अ-प्रामाणिक है।

२. देखिये आगे पाँचवें अध्याय में 'कथावत्थु' का विवेचन।

आधार है—"तेपिटकसंगहितं साट्ठकथं सब्बं थेरवादंति"।[1] अन्य सम्प्रदाय वालों का बहुत-कुछ साहित्य लुप्त हो चुका है। मूल तो प्रायः किसी का भी मिलता ही नहीं। चीनी और तिब्बती अनुवादों से ही आज हमें उनकी कुछ जानकारी होती है। जिन सम्प्रदायों के साहित्य का इस प्रकार कुछ परिचय मिलता है उनमें, सर्वास्तिवादी (सब्बत्थिवादी) मुख्य है। यह एक प्रभावशाली सम्प्रदाय था जिसका आविर्भाव अशोक के समय से पहले ही हो चुका था। इस सम्प्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्म तीनों पिटक मिलते हैं। किन्तु उनके चीनी अनुवाद ही आज उपलब्ध हैं, मूल रूप में वे संस्कृत में थे, किन्तु आज उनका वह रूप उपलब्ध नहीं। पालि-त्रिपिटक से इन सर्वास्तिवादी ग्रन्थों की तुलना की गई है, जिसके परिणाम स्वरूप इन दोनों में विषय के सम्बन्ध में मूलभूत समानताएँ पाई गई हैं, केवल विषय-विन्यास में कहीं कुछ थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाता है। यह बात सुत्त और विनय पिटक के सम्बन्ध में तो सर्वांश में सत्य है, किन्तु अभिधम्म-पिटक के विषय में दोनों परम्पराओं में ग्रन्थ-संख्या समान (सात) होते हुए भी उनमें से प्रत्येक की विषय-वस्तु की दूसरे की विषय-वस्तु के साथ कोई विशेष समता नहीं है। इस प्रकार—

स्थविरवाद का सुत्त-पिटक	**सर्वास्तिवाद का सूत्र-पिटक**
दीघ-निकाय (३४ सूत्र)	दीर्घागम (३० सूत्र-प्रधानतः बुद्धयश तथा चू० फा० नैन द्वारा पाँचवी शताब्दी ई० में अनुवादित)
मज्झिम-निकाय	मध्यमागम (गौतम संघदेव-द्वारा चौथी शताब्दी में अनुवादित)
संयुत्त-निकाय	संयुक्तकागम (पाँचवी शताब्दी में गुणभद्र द्वारा अनुवादित)
अंगुत्तर-निकाय	अंकोत्तरागम (चौथी शताब्दी में धर्मनन्दि द्वारा अनुवादित)
खुद्दक-निकाय	क्षुद्रकागम

पालि-त्रिपिटक में भी यद्यपि कभी कभी दीघ-निकाय आदि के लिये दीघागम आदि शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु प्रधानतः 'निकाय' शब्द का ही प्रयोग

---

१. समन्तपासादिका की बाहिरकथा।

होता है। सर्वास्तिवादियों के त्रिपिटक में 'आगम' शब्द का ही प्रयोग होता है। इसी का चीनी भाषा में 'अगोन्' हो गया है। सर्वास्तिवाद में यद्यपि प्रधानता प्रथम चार निकायों की ही है, किन्तु वहाँ पाँचवाँ निकाय भी मिलता है। उसका नाम पालि खुद्दक-निकाय के अनुरूप ही 'क्षुद्रकागम' है। पालि खुद्दक-निकाय के कितने ग्रन्थ सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में मिलते हैं, यह निम्नांकित सूची से विदित होगा।

स्थविरवादी खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ	**सर्वास्तिवादी परम्परा में प्राप्त ग्रन्थ**
१. खुद्दक पाठ	
२. धम्मपद	धर्मपदं
३. उदान	उदानं
४. इतिवुत्तक	
५. सुत्तनिपात	सूत्रनिपात:
६. विमानवत्थु	विमानवस्तु
७. पेतवत्थु	
८. थेरगाथा	
९. थेरी गाथा	
१०. जातक	
११. निद्देस	
१२. पटिसम्भिदामग्ग	
१३. अपदान	
१४. बुद्धवंस	बुद्धवंशम्
१५. चरियापिटक	

दोनों परम्पराओं के विनय-पिटक का विभाजन इस प्रकार है—

	स्थविरवादी विनय-पिटक	**सर्वास्तिवादी विनय-पिटक**
विभंग	१. पाराजिका	पाराजिका
	२. पाचित्तिय	प्रायश्चित्तिकं
खन्धक	३. महावग्ग	अवदानं
	४. चुल्लवग्ग	(जातकं)

५. परिवार

पालि अभिधम्म-पिटक के ७ ग्रन्थों के साथ सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के सात ग्रन्थों की, जहाँ तक उनके नामों का सम्बन्ध है, पर्याप्त समानता है, किन्तु विषय समान नहीं हैं। यथा,

स्थविरवादी अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ	सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थों के साथ उनके नामों की समानता
१. धम्मसंगणि	धर्मस्कन्धपाद
२. विभंग	विज्ञानकायपाद
३. पुग्गल पञ्ञत्ति	प्रज्ञप्तिपाद
४. धातुकथा	धातुकायपाद
५. पट्ठान	ज्ञानप्रस्थान
६. यमक	संगीतिपर्यायपाद
७. कथावत्थुपकरण	प्रकरणपाद

ऊपर स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी सम्प्रदायों के साहित्य की समानताओं का दिग्दर्शन मात्र किया गया है। पालि त्रिपिटक के प्रत्येक पिटक या उसके अंशों का विवेचन करते समय आवश्यकतानुसार हम उनकी तुलना सर्वास्तिवादी पिटक के अंशों के साथ करेंगे। अभी जो कहा जा चुका है उससे इतना स्पष्ट है कि दोनों सम्प्रदायों के सुत्त और विनय-पिटक में काफी समानता है और जो विभिन्नताएँ हैं वे प्रायः उसी प्रकार की हैं जैसी वेद की विभिन्न शाखाओं के पाठों मे पाई जाती है। केवल अभिधम्म-पिटक की विषय-वस्तु में अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि पालि-त्रिपिटक के कम से कम वे अंश जो सर्वास्तिवादी त्रिपिटक से समानता रखते हैं, अर्थात् सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के अनेक महत्त्वपूर्ण अंश, सर्वांश में प्रामाणिक हैं और उनके बुद्ध-वचन होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। इसी अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि पालि-अभिधम्म-पिटक की प्रमाणवत्ता निश्चय ही सुत्त और विनय के बाद की रह जाती है, कम से कम उसके विषय में सन्देह तो दृढ़मूल हो ही जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हम पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक की समीक्षा करते समय करेंगे। सर्वास्तिवादी और स्थविरवादी परम्पराओं में जिन बातों पर मत-भेद है अथवा उनके साहित्य में जहाँ विभिन्नता है, वहाँ हमें यह सोचना पड़ेगा कि किस का साक्ष्य अधिक प्रभाव-

शाली और मानने योग्य है। हम पहले देख चुके हैं कि स्थविरवादी त्रिपिटक के स्वरूप का अन्तिम निश्चय और स्थिरीकरण अशोक के काल में अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व हो चुका था और उसी समय से वह लंका में उसी रूप में सुरक्षित रहा है। कम से कम प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व (वट्टगामणि अभय का समय--मिलिन्दपञ्ह का समय भी) के बाद तो उसमें एक अक्षर का कहीं परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ ही नहीं है। इसके विपरीत सर्वास्तिवादी साहित्य की परिस्थिति बड़ी संकटग्रस्त और असमंजसमय रही है। पहले तो अशोक ने ही स्थविरवादियों के अतिरिक्त सारे बौद्ध सम्प्रदायों के अनुयायियों को मिथ्यावादी समझ कर प्रवज्या-हीन कर दिया।[1] 'फिर शुंग राजाओं के काल में उन पर जो आपत्तियाँ ढाई गई, उनसे तो अपनी मूल परम्परा से उनका कदाचित् उच्छेद ही हो गया। सम्भवतः यही कारण है कि उनके मूल विशाल साहित्य का, जो संस्कृत में था, आज कोई पता नहीं चलता और वह केवल चीनी अनुवादों में सुरक्षित है। आज पुरातत्व का कोई भी भारतीय विद्यार्थी धार्मिक कट्टरता के परिणामस्वरूप उत्पन्न इस ज्ञान-विलुप्ति के लिए लज्जित हुए बिना नहीं रह सकता। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की साहित्य-विलुप्ति के अन्य चाहे जो कारण दिये जा सकें, वह भारतीय संस्कृति की उदारता और धर्म-सहिष्णता की एक कटु टिप्पणी भी अवश्य है। 'पुष्यमित्र'[2] नाम तक के प्रति चीनी बौद्ध साहित्य में जो गहरी अवज्ञा का भाव विद्यमान है, वह इस साहित्य-विलुप्ति से असम्बन्धित नहीं हो सकता। यहाँ कहने का तात्पर्य यही है कि अपनी मूल परम्परा से विच्छिन्न होकर ही सर्वास्तिवाद बौद्ध धर्म चीन और

---

१. देखिये महावंश ५।२६८-२७०

२. प्रसिद्ध शुङ्ग वंशीय राजा, जिसने बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये, जिनके कारण अनेक बौद्धों को देश छोड़ कर बाहर भाग जाना पड़ा। केवल आन्ध्र, सौराष्ट्र, पंजाब, काश्मीर और काबुल में बौद्ध धर्म इस समय रह गया। चीनी बौद्ध साहित्य में बिना अभिशाप के 'पुष्य-मित्र' का नाम नहीं लिया जाता। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ८२०

अन्य देशों में गया, अतः उसकी प्रामाणिकता स्थविरवाद के सामने कुछ नहीं हो सकती। सर्वास्तिवादी ग्रन्थों के चीनी और तिब्बती अनुवाद भी ईसवी सन् के कई सौ वर्ष बाद हुए, अतः इस दृष्टि से भी उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन की काफी संभावना हो सकती है। फिर बौद्ध धर्म जहाँ जहाँ गया वह अपनी समन्वय-भावना को भी अपने साथ लेता गया और जिन जिन देशों में उसका प्रसार हुआ, उनके लोक-गत विश्वासों का भी उसके अन्दर समावेश होता गया। अतः इस प्रवृत्ति के कारण भी सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के साहित्य में विभिन्नताएँ आ सकती हैं, जिनके मौलिक या उत्तरकालीन परिवर्द्धित होने का निर्णय हम उनके मूल के अभाव में नहीं कर सकते। भाषा के साक्ष्य पर भी हम उसे पालि-माध्यम के साथ मिला कर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। अतः दोनों के तुलनात्मक महत्व और प्रामाण्य का अंकन अभी हम अनिश्चित रूप से ही कर सकते हैं। फिर भी जो कुछ तथ्य उपलब्ध हैं, उनसे यही विदित होता है कि सर्वास्तिवादी माध्यम की अपेक्षा स्थविरवादी माध्यम ने ही बुद्ध-वचनों की अधिक सच्ची और प्रामाणिक अनुरक्षा की है। सर्वास्तिवादियों के अतिरिक्त अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में, जिनकी उत्पत्ति अशोक के काल तक हो चुकी थी और जिनके साथ ही स्थविर-वादियों जीवित सम्बन्ध की कल्पना हम कर सकते हैं, हमें महत्त्वपूर्ण कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी भी परम्पराएँ थीं अवश्य, किन्तु आज वे हमारे लिये प्राप्त नहीं हैं। द्वितीय संगीति के अवसर पर ही, जैसा हम पहले देख चुके हैं,[1] महासंगीतिक भिक्षुओं ने सुत्त और विनय के कुछ अंशों के अतिरिक्त सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक की ही प्रमाणवत्ता स्वीकार नहीं की थी। उन्होंने विनय-पिटक के परिवार और सुत्त-पिटक के पटिसम्भिदामग्ग, निद्देस और जातकों के कुछ अंशों को भी प्रामाणिक नहीं माना था। अभिधम्म-पिटक के अस्वीकरण में सर्वास्तिवादी और महासंगीतिक भिक्षु समान ही थे। अतः हमें उसके विषय में गम्भीरतापूर्वक सोचना पड़ेगा कि उसे कहाँ तक बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक माना जाय। यही स्थिति जातक, निद्देस और पटि-सम्भिदामग्ग की भी है। इस सूची को और भी काफी बढ़ाया जा सकता है। उदाहरणतः थेरगाथा और पेतवत्थु जैसे ग्रन्थों में ऐसे आन्तरिक साक्ष्य हैं,[2] जिनके

---

१. दूसरे अध्याय में।

२. देखिये आगे इसी अध्याय में खुद्दक निकाय का विवेचन

आधार पर उन अंशों को बुद्ध-परिनिर्वाण से दो या तीन शताब्दी बाद की रचना ही माना जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि पालि-त्रिपिटक की प्रमाणवत्ता का एकांशेन उत्तर नहीं दिया जा सकता। उसके कतिपय अंश (जैसे महापरि-निब्बाण-सुत्त, धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त आदि, आदि) अत्यन्त प्राचीन हैं और उनमें बुद्ध के प्रत्यक्ष जीवन और उपदेशों की सजीव और सर्वांश में सच्ची प्रति-मूर्ति मिलती है, कुछ शास्ता के परिनिर्वाण के ठीक बाद के हैं (जैसे गोपक मोग्ग-ल्लान-सुत्त) और कुछ एक-दो शताब्दियों बाद की परम्पराओं को भी अंकि करते हैं, किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। सुत्त और विनय-पिटक का अधिकांश भाग तो बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन और उपदेशों तक ही सीमित है। जो अंश बाद के भी हैं, वे भी अशोक के काल तक ही अपना अन्तिम स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं। भाषा और शैली एवं पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम पूर्व और परगामी तत्त्वों को अलग अलग कर सकते हैं। उदाहरणतः सुत्तों का पारस्परिक मिलान कर के हम जान सकते हैं कि किस मौलिक नमूने का आश्रय लेकर किस सुत्त को किस प्रकार परिवर्द्धित स्वरूप प्रदान किया गया है। यही हाल विनय के नियमों का है। उनमें परिवर्तन हुआ है। विनय के सभी नियम शास्ता के मुख से निकले हुए नहीं हो सकते। कुछ मौलिक आधारों को लेकर शेष की सृष्टि कर ली गई है और उनको प्रामाणिकता देने के लिये ही बुद्ध-वचन के रूप में प्रख्यापित कर दिया गया जान पड़ता है। अन्यथा मानवीय विचार को इतनी अधिक स्वतन्त्रता देने वाले के द्वारा जीवन की छोटी से छोटी क्रियाओं में विधान प्रज्ञापन करना संगत नहीं बैठता। शिष्यों पर उनके प्रभाव को देखते हुए भी उनकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अतः वे बुद्ध-धर्म के विकास से सम्बन्धित हैं, यह हम आसानी से जान सकते हैं। बौद्ध संगीतियों के इतिहास ने भी हमें यही बताया है कि उसके स्वरूप का निर्माण और निर्धारण द्वितीय संगीति के समय ही हुआ है जो बुद्ध-परिनिर्वाण से १०० वर्ष बाद हुई। अतः एक सीमित किन्तु निश्चित अर्थ में ही हम पालि-त्रिपिटक (विशेषतः सुत्त और विनय) को बुद्ध-वचन कह सकते हैं जिसे ढूंढ़ने के लिये हमें काफी समालोचना-बुद्धि, और साथ ही श्रद्धा-बुद्धि की भी आवश्यकता है।

समालोचना-बुद्धि के साथ-साथ श्रद्धा-बुद्धि की आवश्यकता इसलिये है कि हम भारतीयों को पालि-साहित्य का परिचय पच्छिमी विद्वानों ने ही प्रारम्भिक रूप से कराया है और पच्छिमी विद्वानों को भारतीय भाव और साहित्य को जानने

की इच्छा उस समय हुई जब वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में सन्देहवाद का बोलबाला था। इसमें सन्देह नहीं कि बिना सन्देह के ज्ञान नहीं हो सकता और प्रत्येक ज्ञान के पहले सन्देह होना आवश्यक है। किन्तु सन्देह ही ज्ञान का रूप धारण कर ले, यह ज्ञान का अपलाप है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् इस स्थिति से शायद ही ऊपर उठ पाये हैं। उनकी प्रत्येक अभिज्ञा और जानकारी में सन्देह समाया हुआ है। पालि-स्वाध्याय के प्राथमिक युग में बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व तक के सम्बन्ध में उनमें से कई ने (उदाहरणतः फ्रैंक, सेनाँ, बार्थ आदि) सन्देह प्रकट किया। त्रिपिटक के वर्णनों में थोड़े-बहुत विरोध पाये जाते हैं। इन विरोधों का संग्रह फ्रैंक के द्वारा किया गया है। पर उनमें से कई वास्तविक विरोध नहीं भी हैं। अस्तु, जो भी विरोध हैं उनका कारण क्या है ? जैसा पहले दिखाया जा चुका है, बुद्ध-धर्म के प्राथमिक विकास में बुद्ध-वचनों की परम्परा बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद कई शताब्दियों तक मौखिक परम्परा में चलती रही। अतः अनेक विरोध (बुद्ध-वचनों का संगायन करने वाले भिक्षुओं की) स्मृति-हानि के कारण ही हैं। उन पर अनावश्यक जोर देना बुद्ध-वचनों के संरक्षण-प्रकार से ही अपनी अनभिज्ञता दिखाना है। एक ही उपदेश को बुद्ध या उनके किसी शिष्य के मुख से दिया हुआ दिखलाने में या भिन्न भिन्न स्थानों में दिया हुआ दिखलाने में कोई विरोध नहीं है। यह तो ऐतिहासिक रूप से सत्य भी हो सकता था। भगवान् अपनी चारिकाओं में चतुरार्य सत्य जैसे प्रमुख उपदेशों की पुनरावृत्ति भिन्न भिन्न स्थानों में करते ही रहे होंगे और फिर उनके शिष्य भी इसी प्रकार करते हुए विचरते होंगे, यह समझना कठिन नहीं है। भिन्न भिन्न स्थानों के भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा ही बुद्ध-वचनों का संगायन और संकलन हुआ है, अतः इसमें अस्वाभाविक क्या है ? बल्कि यह तो उनके सत्य और ऐतिहासिक रूप से प्रमाण होने का एक प्रबल साक्ष्य है। कौन सा उपदेश किस स्थान पर दिया गया, किसके प्रति दिया गया, किस अवसर पर दिया गया, इतनी छानबीन के साथ बुद्ध-वचनों को उनके उसी रूप में संरक्षित रखना भिक्षुओं की महती ऐतिहासिक बुद्धि का साक्ष्य देता है। निश्चय ही इतने अधिक ब्यौरों के साथ बुद्ध-वचनों का संरक्षण करने में कुशल भिक्षुओं ने जो दक्षता दिखाई है, वह उनके समय को देखते हुए आश्चर्यजनक है। इसके लिये हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिये। उनके द्वारा दी हुई सूचना पर सन्देह करना ही मात्र

ऐतिहासिक प्रणाली नहीं होगी। कम से कम यह मानना पड़ेगा कि वे धर्मवादी थे और भगवान् बुद्ध के वचनों की रक्षा ही उनका प्रधान उद्देश्य था। अतः उनके द्वारा संगृहीत वचनों में मानवीय स्मरण-शक्ति की स्वाभाविक अल्पता के कारण कहीं अशुद्धि या अपूर्णता भले ही रह गई हो, किन्तु जो कुछ उन्होंने सुना था उसी का अत्यन्त सावधानी के साथ उन्होंने संगायन किया था, इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा। जो उन्होंने संगायन किया था, उसी का संगृहीत रूप आज हमें पालि त्रिपिटक में मिलता है, यह भी निःसन्देह है ही। सर्वांश में पालि-त्रिपिटक बुद्ध-वचन है, ऐसी मान्यता तो स्वयं पालि-त्रिपिटक की भी नहीं है। वहाँ स्पष्टतम रूप से दिखा दिया गया है कि कौन से वचन सम्यक् सम्बुद्ध के हैं, कौन से वचन उनके शिष्यों के हैं, अथवा कौन से वचन अन्य व्यक्तियों के भी हैं। अतः जब हम पालि-त्रिपिटक को बुद्ध-वचन कहते हैं तो उसका अर्थ यही होता है कि वहाँ बुद्ध-कालीन भारत के देश-काल की पृष्ठभूमि में बुद्ध के जीवन और उपदेशों का सजीव और मौलिक चित्र मिलता है और जो बुद्ध-वचन वहाँ बुद्ध-मुख से निःसृत दिखाये गये हैं, वे प्रायः वैसे ही हैं। अशोक उन्हें ऐसा ही मानता था और अशोक बुद्धिवादी व्यक्ति नहीं था, ऐसा हम नहीं कह सकते। जब बुद्ध-परिनिर्वाण की तीसरी शताब्दी में उत्पन्न होकर अशोक को बुद्ध-वचनों के निश्चित स्वरूप के विषय में पूर्ण सन्तोष हो गया था तो उसकी कई शताब्दियों बाद आने वाले हम, जब काल ने बहुत से पुरावृत्त को और भी ढँक लिया है, अशोक की सम्पत्ति के ही साझीदार क्यों न बन जायँ? यहाँ कुछ भय नहीं है। अभी तक हमने संस्कृत के आधार पर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया है। उसके तात्त्विक दर्शन के विषय में चाहे जो कुछ कहा जाय, बुद्ध के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रभावशाली सम्पर्क से तो हम अभी तक प्रायः वञ्चित ही रहे हैं। आज, हमने महिन्द (महेन्द्र) के द्वारा सिंहल को जो दिया था, सिंहल उसका प्रतिदान करने को प्रस्तुत है। उसने बड़े प्रयत्न और गौरव से हमारे दान को सुरक्षित रक्खा है। आज उसकी थाती हमारे लिये खुली हुई है। यहाँ हम बुद्ध और उनके पाद-मूल में बैठने वाले शिष्यों के साक्षात् दर्शन कर सकते हैं, उनके उपदेश सुन सकते हैं, जिस प्रकार के देश-काल में वे विचरते थे उसका दिग्दर्शन कर सकते हैं। बुद्ध-वचनों की स्मृतियों के साथ यद्यपि यहाँ बहुत-कुछ और भी अंकित है, और कहीं कहीं कुछ बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद का भी काफी है, किन्तु उन सब का उपयोग बुद्ध-वचनों के लिये ही है जो स्वयं वहाँ अपनी पूर्ण विभूति और मौलिक गौरव में उपस्थित हैं। पालि-त्रिपिटक के इस

गौरवमय अंश के कारण ही हम उसके सारे रूप को भी 'बुद्ध-वचन' कहते हैं, जो यद्यपि अक्षरशः सत्य नहीं, किन्तु सत्य की महिमा और अनुभूति से व्याप्त अवश्य है।

सुत्त-पिटक का विषय, शैली और महत्त्व

पालि-त्रिपिटक का सब से अधिक महत्वपूर्ण भाग सुत्त-पिटक ही है। बुद्ध के धम्म का याथातथ्य रूप में परिचय कराना ही सुत्त-पिटक का एक मात्र विषय है। हम जानते हैं कि बुद्ध के परिनिर्वाण तक धम्म और विनय अथवा अधिक ठीक कहें तो सामासिक 'धम्म-विनय' की ही प्रधानता थी। उसी की शरण में शास्ता ने भिक्षुओं को छोड़ा था।[1] बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद उनके शिष्यों ने बुद्ध-वचनों के नाम से जिसका संगायन किया वह धम्म और विनय ही थे। "धम्मं च विनयं च संगायेय्याम"। अतः पालि-त्रिपिटक में अधिक महवत्त्वपूर्ण तो धम्म और विनय ही हैं। इनमें भी संघ-अनुशासन की दृष्टि से विनय मुख्य है, किन्तु साहित्य और इतिहास की दृष्टि से सुत्त-पिटक का ही महत्त्व अधिक मानना पड़ेगा। पालि-साहित्य के कुछ विवेचकों ने विनय-पिटक को ही अपने अध्ययन के लिये पहले चुना है।[2] यह भिक्षु-संघ की परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। किन्तु हम यहाँ सुत्त-पिटक के विवेचन को पहले ले रहे हैं। इसका कारण उसका साहित्यिक, ऐतिहासिक और अन्य सभी दृष्टियों से प्रभूत महत्त्व ही है। जिन पाश्चात्य विद्वानों ने पालि-त्रिपिटक की प्रामाणिकता में सन्देह किया है उनमें मिनयेफ, बार्थ, स्मिथ और कीथ के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।[3] इनमें भी मिनयेक सब से अधिक उग्र हैं। उन्होंने दीघ और मज्झिम जैसे

---

१. "आनन्द! मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं, प्रज्ञप्त किये हैं, वही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे" महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ-२।३)

२. गायगर, विंटरनित्ज़, और लाहा ने विनय-पिटक को ही पहले लिया है। पूज्य भदन्त आनन्द जी के आदेशानुसार मैंने यहाँ सुत्त-पिटक को पहले लिया है, जो साहित्यिक दृष्टि से अधिक समुचित भी है।

३. इनके ग्रन्थ-संकेतों के लिये देखिये विंटरनित्ज़: हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १, पद-संकेत १; गायगर: पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत २

निकायों को भी एक-एक रचयिता की रचना बता कर उनके बुद्ध- वचनत्व और बौद्ध संगीतियों की सारी परम्परा को एक साथ ही फूंक मार कर उड़ाने की कोशिश की थी। किन्तु इतने सन्देहवाद तक यूरोपीय विद्वान् भी जाने को तैयार नहीं थे। अत: उनमें से बहुत ने मिनयेफकी गलत धारणा का कड़ा प्रतिवाद किया, जिसके फलस्वरूप स्वयं मिनयेफ को भी अन्त में अपना मत कुछ हद तक बदलना पड़ा। हमें इन यूरोपीय विद्वानों के मतों या उनके प्रतिवादों के संग्रह करने का यहाँ प्रलोभन नहीं है। हमें केवल यह देखना है कि अन्ततः किन कारणों के आधार पर इन्होंने पालि-त्रिपिटक की प्रामाणिकता में सन्देह किया था और वे कारण किस हद तक उस परिणाम पर पहुँचने में सही या गलत हैं। ये कारण अपने संगृहीत रूप में इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं (१) अशोक के काल के बाद भी त्रिपिटक में संशोधन और परिवर्तन होते रहे (२) अत: पालि-त्रिपिटक में प्राचीन और अर्वाचीन काल की परम्पराएँ मिल गई हैं (३) पालि-त्रिपिटक के वर्णनों में अनेक विरोध हैं, जैसे संयुत्त-निकाय के चुन्द-सुत्त में भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही उनके प्रधान शिष्य सारिपुत्र का परिनिर्वाण होना दिखलाया गया है, किन्तु दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण-सुत्त में भगवान् के महापरिनिर्वाण के ठीक पहले वे उनके विषय में उद्गार करते दिखाये गये हैं। यदि पहला वर्णन ठीक है तो दूसरे अवसर पर सारिपुत्र जीवित नहीं हो सकते थे। अत: दोनों वर्णनों में स्पष्ट विरोध है। (४) एक जगह जो उपदेश बुद्ध-मुख से दिलवाया गया है, वही उपदेश दूसरी जगह उनके किसी शिष्य के मुख से दिलवा दिया गया है। अथवा एक जगह जिस उपदेश को किसी एक ग्राम, नगर या आवास में दिया गया दिखाया गया है, दूसरी जगह उसी उपदेश को किसी दूसरे ग्राम, नगर या आवास में दिया हुआ दिखा दिया गया है। इस प्रकार त्रिपिटक के वर्णनों में सामंजस्य का अभाव दिखाया गया है। जहाँ तक प्रथम आपत्ति का प्रश्न है वह सर्वथा निराधार है। मुख्य रूप से त्रिपिटक के स्वरूप में अशोक के काल के बाद कोई परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं हुआ है, इस पर हम भाषा और इतिहास आदि के साक्ष्य से इतना जोर दे चुके हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक निरूपण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। महेन्द्र और उनके साथी भिक्षु जिस रूप में त्रिपिटक को लंका में ले गये उसको उसी रूप में संरक्षित रखना वहाँ के भिक्षु-संघ ने सदा अपना कर्तव्य और गौरव माना है। लंका के देश-काल का थोड़ा सा भी प्रभाव त्रिपिटक पर उपलक्षित नहीं है, यह एक विस्मयकारी वस्तु है। यदि थोड़े-

बहुत परिवर्तन कहीं हुए भी हों तो वे इतने महत्वपूर्ण कभी नहीं कहे जा सकते कि उसके प्राचीन रूप को ही ढँकलें। पालि-त्रिपिटक में अशोक से पहले की परम्पराओं का तारतम्य तो हो सकता है, किन्तु उसके बाद की परम्पराओं का भी उसके अन्दर समावेश हो, यह तो पहले आक्षेप का निराकरण हो जाने के बाद ही नहीं माना जा सकता। तृतीय संगीति के समय ही हमें पालि-त्रिपिटक के स्वरूप को अन्तिम रूप से निश्चित और पूर्ण समझ लेना चाहिये, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। अस्तु, सुत्त-पिटक में भगवान् के उपदेश निहित हैं। 'सुत्त-पिटक' शब्द का क्या अर्थ है, यह भी हमें यहाँ समझ लेना चाहिये। सुत्त का अर्थ है सूत या धागा और पिटक का अर्थ है पिटारी[1] या परम्परा[2]। चूंकि पिटारी का प्रयोग लिखित ग्रन्थों को रखने के लिये ही हो सकता है और बुद्ध-वचन ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले लिखे नहीं गये थे, अतः इस समय से पहले उनके लिये 'पिटारी' शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं हो सकता था।[3] मौलिक रूप में इस अर्थ में बुद्ध-वचनों के विशिष्ट ग्रन्थों के लिये 'पिटक' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता था। पूर्वकाल में लाक्षणिक अर्थ में 'पिटक' शब्द का प्रयोग परम्परा के लिये होता था। जैसे पिटारी में रखकर कोई वस्तु एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुँचाई जाती है, उसी प्रकार पहले धार्मिक सम्प्रदाय अपने विचार और सिद्धान्तों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया करते थे। मज्झिम-निकाय के चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम-२।५।५) में वैदिक परम्परा के लिये इसी अर्थ में 'पिटक-सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'पिटक' शब्द का अर्थ महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने वेद की 'परम्परा' या 'वचन-समूह' किया है। अतः 'सुत्त-पिटक' शब्द का अर्थ, इस लाक्षणिक प्रयोग के अनुसार होगा, धागे रूपी (बुद्ध-वचनों की) परम्परा। जिस प्रकार सूत के गोले को फेंक देने पर वह खुलता हुआ चला जाता है, उसी प्रकार बुद्ध-वचन सुत्त-पिटक में प्रकाशित होते हैं।

---

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ८४६

२. श्रीमती रायस डेविड्सः शाक्य और बुद्धिस्ट औरीजिन्स, परिशिष्ट १, पृष्ठ ४३१; प्रो० टी० डबल्यू रायस डेविड्सः सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५, पृष्ठ २८ का पद-संकेत; जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०८, पृष्ठ ११४

३. मिलाइये कीथः बुद्धिस्ट फिलासफी, पृष्ठ २४, पद-संकेत २

अतः उसकी 'सुत्त-पिटक' संज्ञा सार्थक ही है। पालि 'सुत्त' का संस्कृत अनुरूप 'सूत्र' है। वैदिक साहित्य की परम्परा में 'सूत्र' शब्द से तात्पर्य ऐसे स्वल्पाक्षर कथन से होता है जिसमें से सूत के धागे की तरह महान् अर्थ की परम्परा निकलती चली जाय। इस प्रकार के सूत्र-साहित्य का उद्भावन वैदिक साहित्य के विकास के अन्तिम युग की घटना है, जब कि बढ़ते हुए विशाल वैदिक वाङ्मय को संक्षिप्त रूपदेने की आवश्यकता प्रतीत हुई। परिणामतः प्रत्येक ज्ञान-शाखापर सूत्र-साहित्य की रचना हुई। श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र, धर्म-सूत्र, व्याकरण-सूत्र, नाट्य-सूत्र, अलंक्कार-सूत्र, न्याय-सूत्र, वैशेषिक-सूत्र, सांख्य-सूत्र, योग-सूत्र, मीमांसा-सूत्र, ब्रह्म-सूत्र आदि इस विशाल सूत्र-साहित्य के कुछ उदाहरण हैं। संस्कृत का सूत्र-साहित्य विश्व-साहित्य के इतिहास में निश्चय ही एक विस्मयकारी वस्तु है। शब्द-संक्षेप किस हद तक जा सकता है, यह उसमें देखा जा सकता है। संस्कृत-भाषा की अपूर्व शक्ति वहाँ दृष्टिगोचर होती है। 'सूत्र' की परिभाषा संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार की गई है "सूत्रज्ञ पुरुष, उस स्वल्पाक्षर कथन को, जो असंदिग्ध, महत्वपूर्ण अर्थ का प्रख्यापक, विश्वजनीन उपयोग वाला और बिस्तार और व्याकरण की अशुद्धि से रहित हो, सूत्र कहते हैं।"[1] पालि के 'सुत्त' इस अर्थ में सूत्र कभी नहीं कहे जा सकते। वे विस्तार में काफी लम्बे हैं। कुछ तो छोटी छोटी पुस्तकों के समान ही हैं। उनके पुनरावृत्तिमय विस्तारों को देखकर कौन उन्हें 'सूत्र' कहेगा? पालि के सूत्रों से भी अधिक लम्बे महायानी संस्कृत साहित्य के सूत्र हैं। वहाँ जिन्हें 'सूत्र' कहा गया है वे तो अनावश्यक विस्तार-पूर्ण सहस्रों पृष्ठों के विशालकाय ग्रन्थ है। अतः बौद्ध और वैदिक परम्परा के इस 'सूत्र' सम्बन्धी अर्थ-विभेद को हमें समझ लेना चाहिये।

सुत्त-पिटक का विषय, जैसा अभी कहा गया, भगवान् बुद्ध के उपदेश ही हैं। साथ ही भगवान् के कुछ प्रधान शिष्यों के उपदेश भी सुत्त-पिटक में सन्निहित हैं, जिनके आधार भी स्वयं बुद्ध-वचन ही हैं। अक्सर ऐसा होता था कि भगवान् द्वारा उपदिष्ट किसी विषय को लेकर भिक्षुओं में संलाप हो उठता था। बाद में वे अपने संलाप की सूचना भगवान् को देते थे। यदि उनको कोई तथ्य स्पष्ट नहीं

---

१. स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।। शब्दकल्पद्रुम

होता था तो भगवान् उसे स्पष्ट करते थे। कभी कभी उनमें से किसी महाप्राज्ञ भिक्षु के कथन का अनुमोदन कर भगवान् उसे साधुवाद देते थे। विरोधी सम्प्रदाय वालों के साथ भी भिक्षुओं के इस प्रकार के संलाप अक्सर चला करते थे। उनकी भी सूचना अक्सर भिक्षु भगवान् को देते थे। भगवान् या तो उनका अनुमोदन करते थे या उन्हें समझाते थे। कभी-कभी (भगवान् के जीवन के अन्तिम काल में) ऐसा होता था कि लम्बे समय तक उपदेश देते देते भगवान् की पीठ पीड़ित हो उठती थी (कठिन तपस्या के कारण भगवान् को वृद्धावस्था में वातरोग हो गया था)। उस समय उपदेश के बीच में ही भगवान् सारिपुत्र, मौद्गल्यायन या आनन्द जैसे किसी शिष्य को उपदेश को पूरा कर देने का आदेश देते थे। बाद में वे इस प्रकार दिये हुए उपदेश का अनुमोदन भी कर देते थे। स्वतन्त्र रूप से भी अनेक भिक्षुओं ने एक दूसरे के प्रति या गृहस्थ शिष्यों के प्रति अनेक उपदेश दिये हैं। इस प्रकार बुद्ध-उपदेशों के साथ साथ उनके शिष्यों के उपदेश भी सुत्त-पिटक में सम्मिलित हैं। भगवान् ने अपने मुख से जो जो उपदेश दिये, अपने जीवन और अनुभवों के विषय में उन्होंने जो जो कहा, जिन जिन व्यक्तियों से उनका या उनके शिष्यों का सम्पर्क या संलाप हुआ, जिन जिन प्रदेशों में उन्होंने भ्रमण किया, संक्षेप में बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक के अपने ४५ वर्षों में भगवान् की जो-जो भी जीवन-चर्या रही, उसी का यथावत् चित्र हमें सुत्त-पिटक में मिलता है।

बुद्ध और उनके शिष्यों के उपदेशों के अतिरिक्त हमें आकस्मिक रूप से छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के भारत के सामाजिक जीवन का पूरा परिचय भी सुत्त-पिटक में मिलता है। बुद्ध के समकालीन श्रमणों, ब्राह्मणों और परिव्राजकों के जीवन और सिद्धान्तों के विवरण, गोतम बुद्ध के विषय में उनके मत और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, साधारण जनता में प्रचलित उद्योग और व्यवसाय, मनोरञ्जन के साधन, कला और विज्ञान, तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और राजन्य-गण, ब्राह्मणों के धार्मिक सिद्धान्त, जाति-वाद, वर्णवाद, यज्ञवाद, भौगोलिक परिस्थितियाँ यथा ग्राम, निगम, नगर, जनपद आदि के विवरण और उनके जीवन की साधारण अवस्था, नदी, पर्वत आदि के विवरण, साहित्य और ज्ञान की अवस्था, कृषि और वाणिज्य, सामाजिक रीतियाँ, जीवन का नैतिक स्तर, स्त्रियों, दास-दासियों और भृत्यों की अवस्था, आदि के विवरण सुत्त-पिटक में भरे पड़े हैं, जो बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन और उपदेशों के साथ-साथ तत्कालीन

भारतीय सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति आदि का भी अच्छा दिग्दर्शन करते हैं।

सुत्तों के आकार के सम्बन्ध में प्रायः कोई नियम दृष्टिगोचर नहीं होता। उनमें कई बहुत छोटे भी हैं और कई बहुत बड़े भी। इसी प्रकार गद्य-मय या पद्य-मय होने का भी कोई निश्चित नियम नहीं है। कुछ बिलकुल गद्य में हैं और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित भी, कुछ थोड़े से बिलकुल पद्य में भी हैं, बीच बीच में कहीं कहीं गद्य के छिटके के साथ[1]। प्रत्येक सुत्त अपने आप में पूर्ण है और वह बुद्ध-उपदेश या बुद्ध-जीवन सम्बन्धी किसी घटना का पूरा परिचय देता है। प्रायः प्रत्येक सुत्त के प्रारम्भ में उसकी एक ऐतिहासिक भूमिका रहती है। यह भूमिका हमें बतला देती है कि जिस उपदेश का विवरण दिया जा रहा है, वह भगवान् ने कहाँ दिया। उदाहरणतः 'एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन में विहार करते थे' 'एक समय भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे' जैसे वाक्य प्रायः प्रत्येक सुत्त के आदि में आते हैं। सुत्तों की अनेक छोटी-मोटी विशेषताएँ और भी देखी जा सकती है। उदाहरणतः भगवान् के उपदेश के बाद प्रायः (सदा नहीं) उपदेश सुनने वालों का इस प्रकार का कृतज्ञतापूर्ण उद्‌गार देखा जाता है "आश्चर्य हे गोतम ! अद्‌भुत हे गोतम ! जैसे औंधे को सीधा कर दे, ढँके को उघाड़ दे, भूले को रास्ता बतला दे, अन्धकार में तेल का प्रदीप रख दे, जिससे कि आँख वाले रूप को देखें, ऐसे ही आप गोतम ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया। यह मैं भगवान् गोतम की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाताहूँ, संघ की भी शरण जाता हूँ। आप गोतम आज से मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें" कहीं कहीं सुत्तों के अन्त में भिक्षुओं की कृतज्ञता केवल इन शब्दों से भी व्यक्त कर दी जाती है "भगवान् ने यह कहा। सन्तुष्ट हो भिक्षुओं ने भगवान् के उस कथन का अनुमोदन किया।" मिलने-जुलने, विदा लेने, कृतज्ञता प्रकाशित करने, कुशल-मंगल पूछने आदि साधारण अवसरों पर जिस प्रकार का शिष्टाचार उस समय प्रचलित था, उसका वर्णन प्रायः समान शब्दों में सुत्त-पिटक में अनेक स्थलों पर किया गया है। ऐसे स्थल बार बार आने के कारण स्वयं कंठस्थ हो जाते हैं। जब कोई भिक्षु भगवान् के दर्शनार्थ दूर से आता था, तो भगवान् उससे अक्सर पूछा करते थे 'कहो भिक्षु ! कुशल से तो हो ? रास्ते में कोई बड़ी हैरानी-परेशानी

---

१. जैसे दीघ-निकाय के महासमय-सुत्त, लक्खण-सुत्त, आटानाटिय-सुत्त आदि

तो नहीं हुई ? भिक्षा के लिये कष्ट तो नहीं उठाना पड़ा' ? आदि। भगवान् को जब कोई व्यक्ति निमंत्रण देने आता है तो प्रायः यही वाक्य रहता है "भन्ते ! भिक्षु-संघ सहित आप कल के लिये मेरा भोजन स्वीकार करें"। उसके बाद "भगवान् ने मौन से स्वीकार किया।" भगवान् के भिक्षाचर्या के लिये जाने का प्रायः इन शब्दों में वर्णन रहता है "तब भगवान् पूर्वाह्न समय चीवर पहन, भिक्षा-पात्र ले, जहाँ......था, वहाँ गये। जाकर भिक्षु-संघ सहित बिछे आसन पर बैठे।......ने अपने हाथ से बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को उत्तम खाद्य-भोज्य से सन्तर्पित किया। खाकर पात्र से हाथ हटा लेने पर......एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया। भगवान् ने उपदेश से समुत्तेजित, सम्प्रहर्षित किया। धर्म-उपदेश कर भगवान् आसन से उठकर चल दिये।" जब कोई महाप्रभावशाली व्यक्ति भगवान् के दर्शनार्थ जाता है तो "जितनी यान की भूमि थी, उतनी यान से जा कर, यान से उतर, पैदल ही जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे......को भगवान् ने धर्म-सम्बन्धी कथा से समुत्तेजित किया" आदि। इस प्रकार बुद्धकालीन भारतीय समाज का पूरा चित्र हमें सुत्त-पिटक में मिलता है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश करने का क्या ढंग था, यह भी सुत्तों से स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पहले भगवान् दान, शील, सदाचार-प्रशंसा, दुराचार-निन्दा आदि सम्बन्धी साधारण प्रवचन देते थे। फिर 'बुद्धों की उठाने वाली आदेशना' (बुद्धानं सामुक्कंसिका धम्मदेसना) आरम्भ होती थी, जिसमें चार आर्य सत्यों आदि का गंभीर धर्मोपदेश होता था। दीघ-निकाय के अम्बट्ठ सुत्त, कूटदन्त-सुत्त आदि में इसी तरह उपदेश का विधान किया गया है। भगवान् एक मनोवैज्ञानिक की तरह उपदेश करते थे। पहले वे देख लेते थे कि जो व्यक्ति उनके पास दर्शनार्थ आया है वह किसान है, या सिपाही है, या राजा है या परिव्राजक है। फिर उससे परिचित जीवन से ही उपमाएँ आदि लेकर वे उसे धर्म का स्वरूप समझाते थे। परिव्राजकों या अन्य मतावलम्बी साधुओं के साथ वार्तालाप करते समय वे उनके मान्य सिद्धान्तों से ही प्रारम्भ करते थे और उत्तरोत्तर विचार पर उसे अग्रसर करते हुए अपने मन्तव्य तक लाते थे। दीघ-निकाय के सामञ्ञफल-सुत्त, सोणदंड-सुत्त, पोट्ठ-पाद-सुत्त और तेविज्ज-सुत्त तथा मज्झिम-निकाय के वेखणस-सुत्त, सुभ-सुत्त, चंकि-सुत्त आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं। भगवान् बुद्ध के उपदेश करने के ढंग या उनकी आदेशना-विधि का बड़ा अच्छा विश्लेषण 'पेटकोपदेस' नामक ग्रन्थ में

किया गया है, जो त्रिपिटक के संकलन के बाद किन्तु बुद्धघोष के काल से पहले, लिखा गया था। छठे अध्याय में हम उसका विवरण देते समय इस विषय का भी कुछ दिग्दर्शन करेंगे।

सुत्तों की शैली की ये विशेषताएँ और द्रष्टव्य हैं (१) पुनरुक्तियों की अतिशयता (२) संख्यात्मक परिगणन की प्रणाली का प्रयोग (३) उपमाओं के प्रयोग की बहुलता (४) संवादों का प्रयोग (५) इतिहास और आख्यानों का उपदेशों के बीच में समावेश और (६) सुत्तों में नाटकीय क्रियात्मकता की अभिव्याप्ति। चूँकि सुत्तों का संकलन विभिन्न स्रोतों से, विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा और विभिन्न कालों में हुआ, अतः उनमें पुनरुक्तियों का होना अवश्यम्भावी है। भिक्षुओं के निरन्तर अभ्यास के लिये स्वयं भगवान् का भी एक ही उपदेश को बार बार देना, कहीं संक्षिप्त रूप से, कहीं विस्तृत रूप से, उसे दुहराना, आसानी से समझा जा सकता है। फिर अध्ययन-अध्यापन की मौखिक परम्परा के कारण इस पुनरुक्तिमय वर्णन-प्रणाली को और भी अधिक प्रश्रय मिला है। अतः सुत्तों में पुनरुक्तियों का होना एक तथ्य है और वह उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता का ही सूचक है, अप्रामाणिकता या अर्वाचीनता का नहीं। सुत्तों में इतनी पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि उनका सामान्य दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। सुत्तों का 'पेय्यालं' अति प्रसिद्ध है।[1] वाक्यांशों के वाक्यांशों की पुनरावृत्ति केवल एक-दो शब्दों के हेर-फेर के साथ अनेक सुत्तों में पाई जाती है। सोण-दंड-सुत्त का अन्तिम भाग हूबहू कूटदन्त-सुत्त में रक्खा हुआ है। चार ध्यानों का वर्णन बिलकुल समान शब्दों में अनेक सुत्तों में रक्खा हुआ है, यथा सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ-१।२) अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ-१।३) सोणदंड-सुत्त (दीघ-१।४) कूटदन्त सुत्त (दीघ-१।५) महालि-

---

१. चूँकि पालि-त्रिपिटक में, विशेषतः सुत्त-पिटक में, पुनरुक्तियाँ अधिक हैं, अतः जहाँ कहीं एक पूरे वाक्य 'या वाक्यांश की पुनरावृत्ति हुई, तो उसे पूरा न लिख कर केवल एक-दो आरम्भ के शब्द लिख दिये जाते हैं और फिर उसके बाद लिख दिया जाता है 'पेय्यालं' जिसका अर्थ यह है कि इतने संकेत से ही पूर्वागत वाक्य को समझा जा सकता है। 'पेय्यालं' शब्द का अर्थ ही है 'पातुंअलं' अर्थात् इतने से वाक्य समझ लिया/जा सकता है और यह पाठ को बचाये रखने के लिये पर्याप्त है। देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तैंतालीस (वस्तुकथा)

सुत्त (दीघ-१।५) पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ-१।९) केवट्ट-सुत्त (दीघ-१।११) सुभ-सुत्त (दीघ-१।१२) चक्कवत्ति सीहनाद-सुत्त (दीघ-३।३), संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ-३।१०), भयभेरव-सुत्त (मज्झिम-१।१।४) द्वेधावितक्क-सुत्त (मज्झिम-१।२।९) महाअस्सपुर-सुत्त (मज्झिम-१।४।९) चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम-१।३।७) देवदहसुत्त (मज्झिम-३।१।१) वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर) झान-संयुत्त (संयुत्त-निकाय) आदि, आदि। चार आर्य सत्य, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग आदि के विषय में भी इसी प्रकार की पुनरुक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। संयुत्त-निकाय के सळायतन-संयुत्त में चक्षुरादि इन्द्रियों, उनके विषयों और विज्ञानों आदि को लेकर विस्तृत पुनरुक्तियाँ की गई हैं। अतः पुनरुक्तियों की अतिशयता सुत्तों की शैली की एक प्रधान विशेषता है और जिस कारण वह उत्पन्न हुई है उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। संख्यात्मक परिगणन की प्रणाली का प्रयोग भी बुद्ध-वचनों के मौखिक रूप से प्राप्त होने की परम्परा पर आधारित है। केवल स्मृति की सहायता के लिये ही भगवान् बुद्ध भी इसका प्रयोग करते थे। पूरा का पूरा अंगुत्तर-निकाय इसी संख्यात्मक प्रणाली पर संकलित किया गया है। अन्य निकायों में भी चार आर्य सत्य, पाँच नीवरण, ३२ महापुरुष-लक्षण, ६२ मिथ्या-दृष्टियों आदि के संख्यात्मक निरूपण भरे पड़े हैं। सांख्य दर्शन और जैन-दर्शन तथा महाभारत आदि में भी संख्यात्मक वर्गीकरणों का प्रयोग दिखाई पड़ता है।[1] पालि सुत्तों में इसका प्रयोग बहुलता से किया गया है, किन्तु वह अस्वाभाविक नहीं होने पाया है। पालि सुत्तों की उपमाएँ बड़ी मर्मस्पर्शी हुई हैं। जीवन के अनेक क्षेत्रों से ये उपमाएँ ली गई हैं और उनकी स्वाभाविकता और सरलता बड़ी आक-र्षक है। दीघ और मज्झिम निकायों के हिन्दी-अनुवाद में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इन निकायों में आई हुई उपमाओं की सूची दी है। उनसे सुत्त-पिटक में आई हुई उपमाओं का कुछ अनुमान हो सकता है। जहाँ भी सुत्तों में कोई जटिल प्रश्न आया हम यह वचन देखते हैं 'ओपम्मं ते करिस्सामि, उपमाय हि इधेकच्चे पुरिसा भासितस्स अत्थं आजानन्ति' अर्थात् 'मैं तुम्हें एक उपमा कहूँगा। उपमा से भी कुछ एक मनुष्य कहे हुए का अर्थ समझजाते हैं। उपमाओं की प्रणाली का अनुपिटक साहित्य पर भी इतना प्रभाव पड़ा है कि हम 'मिलिन्दपञ्ह'

---

१. देखिये विंटरनित्ज़ : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६५, पद संकेत १

और 'विसुद्धिमग्ग' जैसे ग्रन्थों तथा बुद्धघोष आदि की अट्ठकथाओं में भी उनका बहुल प्रयोग देखते हैं। निश्चय ही पालि साहित्य अपनी उपमाओं के लिये विशेष गौरव कर सकता है। विषय को सुगम बनाने की दृष्टि से ही भगवान् स्वयं उपमाएँ दिया करते थे। दीघ-निकाय के पोट्ठपाद-सुत्त में जनपद-कल्याणी की सुन्दर उपमा उन्होंने दी है[१]। इसी प्रकार स्वानुभव-शून्य पंडितों की पंक्ति-बद्ध अन्धों से उपमा[२], अतिप्रश्न करने वाले की उस वाण-बिद्ध व्यक्ति से उपमा जो बाण को निकलवाने का प्रयत्न न कर वाण मारने वाले के विषय में असंगत प्रश्न कर रहा है,[३] विषय भोगों के दुष्परिणामों को दिखाने वाली उपमाएँ,[४] विमुक्ति-सुख को दिखाने वाली उपमाएँ,[५] आदिअनेक प्रकार की उपमाएँ भगवान् बुद्ध के मुख से निकली हैं, जो काव्य की वस्तु नहीं किन्तु उनके अन्तस्तल से निकली हुई अनुभव सिद्ध वाणियाँ हैं। संवादों के रूप में सुत्तों के उदाहरण के लिये दीघ-निकाय के अम्बट्ठ-सुत्त, सोणदण्ड-सुत्त, पोट्ठपाद-सुत्त, तेविज्ज-सुत्त आदि विशेष द्रष्टव्य हैं। अन्य निकायों में भी संवाद भरे पड़े हैं। पौराणिक आख्यान भी सुत्तों में कहीं कहीं समाविष्ट हैं, जैसे महाविजित का आख्यान दीघ-निकाय के कूटदत्त-सुत्त में, आदि, आदि। उपनिषदों और महाभारत में भी ऐसे अख्यान पाये जाते है।[६] संयुत्त-निकाय के भिक्खुनी-संयुत्त में भिक्षुणियों के आख्यान बड़े ही मार्मिक हैं। सुत्तों की एक बड़ी विशेषता उनकी नाटकीय द्रुतगति एवं क्रिया-शीलता भी है। इस दृष्टि से दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण-सुत्त और संयुत्त-निकाय के भिक्खुनी-संयुत्त विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। परिप्रश्नात्मक शैली का जैसा पूर्ण परिपाक सुत्तों में हुआ है, वैसा भारतीय साहित्य में अन्य कहीं पाना असम्भव है। बाद में उनका विकसित रूप ही 'मिलिन्द-पञ्ह' में प्रस्फुटित हुआ है, जिसके संवादों को देख कर ही कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने उसके ऊपर ग्रीक प्रभाव की

---

१. देखिये आगे इस सुत्त का विवरण।
२. अन्धवेणु परम्परा (अन्धों की लकड़ी का ताँता) चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम. २।५।५)।
३. चूल मालुंक्य-सुत्त (मज्झिम. २।२।३)।
४. पोतलिय-सुत्त (मज्झिम. २।१।४)।
५. सामञ्ञफल सुत्त (दीघ. १।२) में
६. देखिये विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३४

कल्पना कर ली है, जिसका निराकरण हम छठे अध्याय में उस सम्बन्धी विवरण पर आते समय करेंगे। दीघ-निकाय के 'पायासि-सुत्त' जैसे सुत्तों में संवादात्मक शैली का जो परिष्कृत रूप दिखाई पड़ता है,[1] उसी के आधार पर बाद में 'मिलिन्द-पञ्ह' में इस कला में पूर्णता प्राप्त की गई है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, सुत्त-पिटक बुद्ध-वचनों का सब से अधिक महत्वपूर्ण भाग है। न केवल बुद्ध-उपदेशों को जानने के लिये ही बल्कि छठी और पाँचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व के भारत के सब प्रकार के ऐतिहासिक, सामाजिक और भौगोलिक ज्ञान का वह एक अपूर्व भांडार है। इतिहास और साहित्य के विद्यार्थी के लिये भी वह उतना ही महत्वपूर्ण है जितना बौद्ध धर्म और दर्शन के विद्यार्थी के लिये। गम्भीर विचारों की दृष्टि से उसका स्थान केवल उपनिषदों के साथ है। उपनिषदों से भी उसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि उपनिषदों में जब कि विशुद्ध, निर्वैयक्तिक ज्ञान है, सुत्त-पिटक में उसके साथ साथ जीवन भी है। उपनिषदों में बुद्ध के समान ज्ञानी की जीवन-चर्या कहाँ है? सुत्त-पिटक में निहित बुद्ध-वचनों की गम्भीरता की तुलना रायस डेविड्सने अफलातूँ के संवादों से की है[2]। अफलातूँ के ज्ञान-गौरव की रक्षा करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि तथागत की साधना-मयी वाणी का तो शतांश गौरव भी उसके अन्दर नहीं है। बुद्ध-वचन अपनी गम्भीरता में सर्वथा निरुपमेय हैं। जब सम्यक् सम्बुद्ध जैसा वरदान ही प्रकृति ने मानव को नहीं दिया, तो उनके जैसे वचन भी कहाँ से हों? अतः धर्म, दर्शन, साहित्य, जीवन, इतिहास, प्राचीन भूगोल आदि सभी दृष्टियों से सुत्त-पिटक का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सुत्त-पिटक, जैसा पहले भी दिखाया जा चुका है, पाँच भागों में विभक्त है (१) दीघ-निकाय (२) मज्झिम-निकाय (३) संयुत्त-निकाय (४) अंगुत्तर-निकाय और (५) खुद्दक-निकाय। इनमें प्रथम चार निकाय संग्रह-शैली की दृष्टि से समान हैं। पाँचवाँ निकाय छोटे छोटे (जिनमें कुछ बड़े भी हैं) स्वतन्त्र ग्रन्थों का संग्रह है। विषय तो सब का बुद्ध-वचनों का प्रकाशन ही है। केवल सुत्तों के आकारों या विषय के विन्यास में कहीं कुछ अन्तर है। प्रत्येक निकाय की विषय-वस्तु का अब हम संक्षिप्त परिचय देंगे और साथ ही उनके साहित्यक

---

१. इसके वर्णन के लिये देखिये आगे इस सुत्त का विवरण।

२. दि डायलॉग्स ऑव दि बुद्ध, जिल्द पहली, पृष्ठ २०६

और ऐतिह्रासिक महत्व का भी अनुमापन करना हमारे अध्ययन का एक अंग होगा।

अ—दीघ-निकाय[१]

दीघ-निकाय दीर्घ आकार के सुत्तों का संग्रह है। आकार की दृष्टि से जो सुत्त या बुद्ध-उपदेश बड़े हैं, वे इस निकाय में संगृहीत हैं। दीघ-निकाय तीन भागों में विभक्त है (१) सीलक्खन्ध (२) महावग्ग (३) पाथेय या पाटिक-वग्ग। इनमें कुल मिलाकर ३४ सुत्त हैं, जिनमें सीलक्खन्ध में १-१२, महावग्ग में १४-२३ और पाथेय या पाटिकवग्ग में २४-३४ सुत्त हैं। जिस क्रम से इन सुत्तों का विन्यास किया गया है, वह काल-क्रम के अनुसार पूर्वापरता का सूचक नहीं है। कुछ घटनाएँ या उपदेश जो कालक्रमानुसार बाद के हैं पहले रख दिये गये हैं और इसी प्रकार जिन्हें पहले होना चाहिये वे बाद में रक्खे हुए हैं। इसका कारण यही है कि काल-क्रम के अनुसार सुत्तों को यहाँ विन्यस्त न कर आकार आदि की दृष्टि से किया गया है। पिटक और अनुपिटक (विशेषतः अट्ठकथा) साहित्य के साक्ष्य से महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने दीघ-निकाय के कुछ सुत्तों के कालानुक्रम का निश्चय कर उन्हें उस ढंग से अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'बुद्धचर्या' में अनूदित किया है। यह एक स्तुत्य कार्य है। पश्चिमी विद्वान् अट्ठकथाओं के साक्ष्य पर इतना अधिक विश्वास न कर केवल शैली और भाषा आदि के साक्ष्य से ही दीघ-निकाय या पूरे सुत्त-पिटक के विभिन्न अंशों की पूर्वापरता निश्चित करना चाहते हैं, जो अन्त में केवल उनकी कल्पना का विलास मात्र रह जाता है। फ्रैंक नामक विद्वान् ने तो इसी आधार पर अपने विचित्र मत भी पूरे त्रिपिटक और दीघ-निकाय के सम्बन्ध में प्रकाशित कर दिये हैं। उन्होंने दीघ-निकाय के विषय में कहा है कि यह किसी एक लेखक या साहित्यकार का काम है। चूँकि ओल्डनबर्ग,[२] रायस डेविड्स,[३] विंटरनित्ज़[४], गायगर[५] आदि विद्वानों द्वारा

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३७

२. ३. ४. ५ देखिये विशेषतः विंटरनित्ज़ : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४४-४५; गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १७, पद-संकेत ४; रायस डेविड्स और ओल्डनबर्ग के ग्रन्थों के संकेत भी यहीं दोनों जगह दिये हुए हैं।

उनके मत का पर्याप्त निराकरण कर दिया गया है, अतः उनके अ-महत्वपूर्ण कल्पना-विलास को, जिसे उन्होंने दीघनिकाय की प्रामाणिकता के विरुद्ध रक्खा था, यहाँ उद्धृत और फिर से निराकृत कर, उसे अनावश्यक महत्व देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। दीघ-निकाय के सुत्त कलात्मक एकात्मकता के अनुसार विन्यस्त होने पर भी बुद्ध-वचनों के रूप में प्रामाणिक हैं। यदि उन सब का आधारभूत विचार एक ही है, तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वे किसी एक ही लेखक की कृतियाँ हैं। बुद्ध के उपदेशों के रूप में भी उनमें एकात्मता तो होनी ही चाहिये। पालि दीघ-निकाय के ३४ सुत्तों में से २७ चीनी दीर्घागम में मिलते हैं। शेष सात में से ३ मध्यमागम में मिलते हैं और ४ का पता नहीं लगा है[1]। विषय का विन्यास यहाँ भिन्न होते हुए भी विषय-वस्तु तो प्रायः समान ही है। दूसरी शताब्दी से लेकर चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक इन सब सुत्तों का अनुवाद चीनी भाषा में हो गया था। चूंकि इसके पूर्व प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व के 'मिलिन्दपञ्ह' में भी इनमें से अनेक का नामतः उल्लेख है, अतः इनकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। बाहरी आकार की दृष्टि से दीघ-निकाय के सब सुत्तों में समानता नहीं है। सीलक्खन्ध के सब सुत्त प्रायः गद्य में हैं, केवल कुछ पंक्तियाँ मात्र गाथाओं के रूप में हैं। महावग्ग और पाथेय या पाटिक-वग्ग में अधिकांश सुत्त गद्य-पद्य-मिश्रित हैं। पाथेय या पाटिक-वग्ग के महासमय-सुत्त और आटानाटिय सुत्त तो बिलकुल पद्य में ही है। सील-क्खन्ध के सूत्रों की यह प्रधान विशेषता है कि वे शील, समाधि और प्रज्ञा सम्बन्धी बुद्ध-उपदेशों का विवरण देते हैं और उनमें बुद्धकालीन भारतीय समाज का भी पर्याप्त शील-निरूपण मिलता है, उसके सामाजिक और धार्मिक जीवन का पूराचित्र, आदि। यही उसके 'सीलक्खन्ध' नामकरण का भी कारण है। 'महावग्ग' के प्रत्येक सुत्त के नाम का आरम्भ 'महा' शब्द से होता है। विंटरनित्ज़ ने इस 'महा' शब्द में क्षेपकों का रहस्य निहित माना है। उनका कहना है कि पहले इस वर्ग के उपदेश संक्षिप्त आकार के रहे होंगे और बाद में उन्हें बढ़ाकर 'महा' कर दिया गया है[2]। चूंकि स्वयं भगवान् बुद्ध भी एक ही विषय पर

---

१. पूरे विवरण के लिये देखिये दीघ-निकाय (महापंडित राहुल सांकृत्यायन का हिन्दी अनुवाद) का प्राक्कथन

२. विशेषतः 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' में इस प्रकार के उत्तरकालीन परिवर्द्धनों

अवसर और पात्रों के अनुसार संक्षिप्त और दीर्घ उपदेश दे सकते थे और संकलन के समय भिन्न भिन्न व्यक्तियों और स्रोतों से आने के कारण उन्हें वैसा ही संकलित कर दिया गया है, अतः एक ही विषय-सम्बन्धी दो अल्प और बड़े आकार वाले सुत्तों को देखकर बड़े आकार वाले सुत्तों को बाद के परिवर्द्धन ही नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त तथ्य के प्रकाश में हम 'महावग्ग' के सब सुत्तों को मौलिक बुद्ध-वचन ही मानने के पक्षपाती हैं। 'पाथेय' या 'पाटिक वग्ग' का यह नामकरण इसलिये है कि इस वर्ग के सुत्तों के आदि में 'पाटिक-सुत्त' नामक सुत्त है। दीघ-निकाय[1] का अधिक साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के लिये पहले हम उसके सुत्तों की विषय-वस्तु का अलग-अलग संक्षिप्त निदर्शन करेंगे।

सीलक्खन्ध-वग्ग

ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ १।१)

ब्रह्मजाल-सुत्त दीघ-निकाय का प्रथम और अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्र है। प्राग्बुद्धकालीन भारतीय धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति का एक अच्छा चित्र यहाँ मिलता है। विशेषतः उस धार्मिक विचिकित्सा का, जो उस समय भारतीय वायुमंडल में सर्वत्र फैली हुई थी, और उसके सम्पूर्ण अतिवादों का, एक अच्छा विश्लेषण यहाँ मिलता है। ब्रह्मजाल-सुत्त का अर्थ है श्रेष्ठ (ब्रह्म) जाल रूपी बुद्ध-उपदेश। बुद्ध-उपदेश को यहाँ श्रेष्ठ जाल कहा गया है। किसे पकड़ने के लिये? फिसलकर निकल जाने वाली मछलियों रूपी मिथ्या दृष्टियों को पकड़ने के लिये। इस सुत्त के उपदेश के अन्त में आनन्द ने, जो पीछे से भगवान् को पंखा झल रहे थे, पूछा "भन्ते! इस उपदेश को क्या कह कर पुकारा जाय?" "आनन्द! तुम इस धर्म-उपदेश को 'अर्थ-जाल' भी कह सकते हो, धर्म-जाल भी, ब्रह्म-जाल भी,

---

का विवेचन डा० विंटरनित्ज ने किया है। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३८-४२

१. दीघ-निकाय के १-२३ सुत्त दो भागों में देव-नागरी लिपि में बम्बई विश्व-विद्यालय द्वारा प्रकाशित कर दिये गये हैं। प्रथम भाग, सुत्त १-१३; द्वितीय भाग सुत्त १४-२३; दीघ-निकाय का महापंडित राहुल सांकृत्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप कृत हिन्दी अनुवाद (महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३७) तो प्रसिद्ध ही है।

दृष्टि-जाल भी, लोकोत्तर संग्राम-विजय भी।"[1] मिथ्या-दृष्टियों को पकड़ने के लिये भगवान् ने ब्रह्मजाल-सुत्त का उपदेश दिया।

जिन मिथ्या दृष्टियों का विवरण ब्रह्म जाल सुत्त में दिया गया है, उनकी संख्या ६२ है। इनमें १८ मिथ्या धारणाएँ जीवन और जगत् के आदि सम्बन्धी हैं और ४४ अन्त सम्बन्धी। इनमें पहली १८ मिथ्या धारणाओं को पाँच भागों में बाँटा गया है यथा (१) शाश्वतवाद (२) नित्यता-अनित्यतावाद (३) सान्त-अनन्तवाद (४) अमराविक्षेपवाद और (५) अकारणवाद। इनमें से प्रथम चार की सिद्धि में प्रत्येक में चार चार हेतु दिये गये हैं और अन्तिम सिद्धान्त (अकारणवाद) की सिद्धि में दो। इस प्रकार १८ हेतुओं से नानाश्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक प्राग्बुद्धकालीन भारत में आत्मा और लोक के आदि सम्बन्धी, (पूर्वान्ति कल्पित) उपर्युक्त पाँच मतों का प्रख्यापन किया करते थे। इन्हीं को यहाँ मिथ्या दृष्टियाँ कहा गया है। आत्मा और लोक के अन्त सम्बन्धी (अपरान्त-कल्पिक) ४४ मिथ्या-धारणाएँ थीं। कुछ श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक १६ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद भी आत्मा संज्ञी (होश वाला) रहता है, कुछ ८ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद आत्मा असंज्ञी हो जाता है' (अर्थात् वह होश वाला नहीं रहता) कुछ ७ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'आत्मा का पूर्ण उच्छेद ही हो जाता है'। ये उच्छेदवादी थे। कुछ ५ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि इसी जन्म में निर्वाण या मोक्ष है। इस प्रकार इन परस्पर विरोधी ४४ हेतुओं से आत्मा और लोक के अन्त सम्बन्धी सिद्धान्त कल्पित किये जाते थे। यही ४४ अपरान्तकल्पिक मिथ्या दृष्टियाँ थी। इस प्रकार कुल मिलकर ६२ परस्पर-विरोधिनी, मानसिक आयासों से पूर्ण, मिथ्या-दृष्टियाँ भारतीय वायुमंडल में भगवान् बुद्ध के उदय से पूर्व प्रचलित थीं, जिनका निदर्शन इस सुत्त में किया गया है।

ब्रह्मजाल सुत्त की मुख्य विषय-वस्तु उपर्युक्त ६२ मिथ्यादृष्टियों का विवरण ही है, किन्तु उसमें प्रसंगवश और भी बहुत सी बातें आ गई हैं। प्रारम्भ ही में हम

---

१. **"को नामो अयं भन्ते धम्म परियायायोति" "तस्माति ह त्वं आनन्द इमं धम्म-परियायं अत्थजालं ति पि नं धारेहि, धम्मजालं ति पि नं धारेहि, ब्रह्मजालं ति पि नं धारेहि, दिट्ठि जालं ति पि नं धारेहि, अनुत्तरो संगाम-विजयो ति पि नं धारेहि।"**

भगवान् को भिक्षुओं के सहित राजगृह और नालन्दा के बीच के रास्ते पर जाते हुए देखते हैं। वे भिक्षुओं को निन्दा और स्तुति में समान रहने का उपदेश करते हैं। उसके बाद मूल (आरम्भिक) मज्झिम (मध्यम) और महा के रूप में शील की तीन भूमियों का विवरण है। यहीं प्रसंगवश उन अनेक प्रकार के उद्योगों, शिल्पों, व्यवसायों तथा मनुष्यों के रहन-सहन सम्बन्धी ढंगों का विवरण मिलता है जिनसे विरत रहने का भिक्षुओं को उपदेश दिया गया है। उस समय के समाज के जीवन की दशा का इससे बड़ा अच्छा पता लगता है। उस समय के मनोरंजन के साधनों को लीजिये तो नृत्य, गीत, बाजे, नाटक, लीला, ताली, ताल देना, घड़े पर तबला बजाना, गीत-मंडली, लोहे की गोली का खेल, बाँस का खेल, हस्ति-युद्ध, अश्व-युद्ध, महिष-युद्ध, वृषभ-युद्ध, बकरों का युद्ध......लाठी का खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मारपीट का खेल, सैन्य-प्रदर्शन आदि के विवरण मिलते हैं। मनुष्यों के आमोद-प्रमोद के साधनों को देखें तो दीर्घ आसन, पलंग, बड़े बड़े रोयें वाले आसन चित्रित आसन......फूलदार बिछावन......सिंह, व्याघ्र आदि के चित्र वाले आसन, झालरदार आसन आदि के विवरण, दर्पण, अंजन, माला, लेप, मुख-चूर्ण (पाउडर), मुख-लेपन , हाथ के आभूषण, छड़ी, तलवार, छाता, सुन्दर जूता, टोपी, मणि, चँवर आदि के विवरण पाते हैं। अनेक प्रकार के कथाएँ जैसे राजकथा, चोरकथा, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पनघट और भूत-प्रेत आदि की कथाएँ, अनेक प्रकार के फलित ज्योतिष् के विधान, अनेक प्रकार के मिथ्या सामाजिक विश्वास और माध्यम-जीवन-निर्वाह के ढंग भी विवृत किये गये हैं। यज्ञयागादि की परम्परा कितनी विकृत हो चली थी, इसका एक संकेत अनेक प्रकार के होमों की इस सूची में ही देखिये 'अग्नि-हवन, दर्वी होम, तुष-होम, कण-होम तंडुल होम, घृत-होम, तैल-होम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिर होम' आदि। अनेक प्रकार की विद्याओं यथा वास्तु विद्या, क्षेत्र विद्या, मणि-लक्षण, वस्त्र-लक्षण आदि के विवरण यहाँ दिये गये हैं। सारांश यह कि प्राग्बुद्ध-कालीन भारत का सारा सामाजिक और धार्मिक जीवन यहाँ चित्रित हो उठा है। दार्शनिक दृष्टि से इस सुत्त का यह महत्व है कि वह भगवान् बुद्ध के शासन के उस स्वरूप की ओर इंगित करता है जो मध्यमा-प्रतिपदा पर आधारित है और जिसमें जीवन के सत्य का साक्षात्कार (सच्छिकिरिया) ही मुख्य है, शाश्वतवाद या अशाश्वत-वाद आदि के पचड़ों में पड़ना नहीं। अतः प्राग्बुद्धकालीन भारतीय विचार की विचिकित्साओं और उनकी पृष्ठभूमि में बुद्ध-शासन का सन्देश तथा प्रसंगवश

तत्कालीन भारतीय समाज के उद्योग-व्यवसायों आदि के चित्रण की दृष्टि से यह सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ. १।२)

सामञ्ञफल-सुत्त (श्रामण्य फल सम्बन्धी बुद्ध-उपदेश) में हम पितृ-वध के पश्चात्ताप से संतप्त मगध-राज अजातशत्रु को चित्त-शान्ति प्राप्त करने के हेतु भगवान् के पास आता देखते हैं। पहले वह अन्य आचार्यों के पास भी जा चुका है, किन्तु शान्ति नहीं मिली। इसी कारण यहाँ प्रसंगवश बुद्धकालीन उन छह प्रसिद्ध आचार्यों के मतों का भी निदर्शन कर दिया गया है, जिनका जानना बौद्ध धर्म के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इन छह आचार्यों के नाम थे पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजित केस कम्बलि, प्रक्रुध कात्यायन, निगण्ठ ज्ञातपुत्र और संजय बेलट्ठि पुत्त। मक्खलि गोसाल का मत अक्रियावाद था। उनके मत में पाप-पुण्य कुछ नहीं था। 'छुरे के समान तेज चक्र से कोई इस पृथिवी के प्राणियों के मांस का एक खलियान, मांस का एक पुंज बना दे, तो भी इसके कारण उसे पाप नहीं लगेगा'। दान, दम, संयम, तप में कोई पुण्य नहीं है, हिंसा, चोरी आदि में कोई पाप नहीं है, यही इनका मत था। मक्खलि गोसाल पूरे दैववादी थे। वे कहते थे। 'सत्वों के क्लेश का कोई हेतु नहीं है। बिना हेतु के ही सत्व क्लेश पाते हैं। सत्वों की शुद्धि का भी कोई हेतु नही है। विना हेतु के ही सत्व शुद्ध होते हैं। पुरुष कुछ नहीं कर सकता है। बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी प्राणी अपने बश में नहीं हैं। निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोग के फेर से इधर-उधर उत्पन्न हो दुःख भोगते हैं।" अजित केश कम्बलि का मत था जड़वाद या उच्छेदवाद। वह कहता था 'न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य या पाप या अच्छा बुरा फल होता है, न यह लोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है" आदि, आदि। प्रक्रुध कात्यायन का मत था अकृततावाद। वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन, इन सब को अकृत, अनिर्मित, कूटस्थ, और अचल मानता था। 'यहाँ न हन्ता है, न घातयिता, न सुनने वाला, न सुनाने वाला, न जानने वाला, न जतलाने वाला"। निगण्ठ-नाटपुत्र (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र, भगवान् महावीर, जैन-तीर्थङ्कर) के मत में चार प्रकार के संयमों का विवरण दिया गया है "निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र किस प्रकार के संयमों से संयत रहते हैं? (१) निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र जल का वारण करते हैं (जिसमें जल के

जीव न मारे जायँ) (२) सभी पापों का वारण करते हैं (३) सभी पापों के वारण करने से पाप-रहित होते हैं (४) सभी पापों के वारण करने में लगे रहते हैं।" संजय बेलट्ठिपुत्र का मत अनिश्चिततावाद था। उनका कहना था "मैं यह भी नहीं कहता, मैं वह भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता 'यह है'। मैं यह भी नहीं कहता 'यह नहीं है, मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता"। बुद्धकालीन धार्मिक वातावरण को जानने के लिये इन छह आचार्यों के मतों को जानना अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् ने अज्ञातशत्रु को श्रमणता (श्रामण्य) या प्रव्रज्या का फल नैतिक मूल्यों के द्वारा बतलाया है। संसार के मूल्यों में उसे नहीं तौला जा सकता। पहले यहाँ भी शील का प्रारम्भिक, मध्यम और महा इन तीन भूमियों में विवरण है, फिर इन्द्रिय-संयम, स्मृति-सम्प्रजन्य, सन्तोष आदि के अभ्यास का विवरण है। अन्त में पश्चात्ताप से अभिभूत राजा कहता है "भन्ते! मैंने......धार्मिक, धर्मराज पिता की हत्या की! भन्ते! भविष्य में सँभल कर रहने के लिये मुझ अपराधी पापी को आप क्षमा करें"। जिन दृष्टियों से ब्रह्मजाल सुत्त का महत्व है, उन्हीं 'दृष्टियों' से यह सुत्त भी महत्वपूर्ण है। वास्तव में कुछ हद तक यह उसका पूरक ही है।

अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ. १।३)

पौष्करसाति नामक ब्राह्मण के अम्बष्ट (अम्बट्ठ) नामक शिष्य के साथ भगवान बुद्ध का संवाद है। अम्बष्ट अपने उच्च वर्ण के घमंड के कारण भगवान् के पास जाकर अशिष्टतापूर्वक बातें करता है। शाक्यों पर अनुचित आक्षेप भी करता है। जब भगवान् उसके अशिष्ट व्यवहार का उसे स्मरण दिलाते हैं तो वह कहता है 'हे गोतम! जो मुंडक, श्रमण, इभ्य (नीच) काले, ब्रह्मा के पैर की सन्तान, हैं उनके साथ ऐसे ही कथा संलाप किया जाता है, जैसा मेरा आप गोतम के साथ।" भगवान् उसे मिथ्या जातिवाद के अभिमान को छोड़ देने को कहते हैं। "अम्बष्ट! जहाँ आवाह-विवाह होता है वहीं यह कहा जाता है 'तू मेरे योग्य है' 'तू मेरे योग्य नहीं है'। वहीं यह जातिवाद, गोत्रवाद, मानवाद भी चलता है 'तू मेरे योग्य है' 'तू मेरे योग्य नहीं है'। **अम्बष्ट! जो कोई जातिवाद में फँसे हैं, गोत्रवाद में फँसे हैं, अभिमानवाद में फँसे हैं, आवाह-विवाह में फँसे हैं, वे अनुपम विद्या और आचरण की सम्पदा से दूर हैं। अम्बष्ट! जातिवाद के बंधन, गोत्रवाद-बन्धन, मानवाद-बन्धन और आवाह-विवाह-बन्धन**

छोड़कर ही अनुपम विद्या और आचरण की सम्पदा का साक्षात्कार किया जाता है।" इस प्रकार इस सुत्त को जातिवाद के विरुद्ध भगवान् का सिंहनाद ही समझना चाहिये। इस सुत्त का एक ऐतिहासिक महत्व यह है कि यहाँ कृष्ण को एक प्राचीन ऋषि के रूप में स्मरण किया गया है "वह कृष्ण महान् ऋषि थे। उन्होंने दक्षिण देश में जाकर ब्रह्ममन्त्र पढ़ कर, राजा इक्ष्वाकु के पास जा उसकी क्षुद्ररूपी कन्या को माँगा। तब राजा इक्ष्वाकु ने 'अरे यह मेरी दासी का पुत्र होकर मेरी कन्या को माँगता है, कुपित हो असन्तुष्ट हो, बाण चढ़ाया।"......इक्ष्वाकु ने ऋषि को कन्या प्रदान की। ......वह कृष्ण महान् ऋषि थे।" शाक्यों की उत्पत्ति के विषय में भी यहाँ वर्णन किया गया है।

सोणदण्ड-सुत्त. (दीघ १।४)

सोणदण्ड (स्वर्णदण्ड) नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। विषय वही पूर्ववत् जातिवाद का खंडन। ब्राह्मण बनाने वाले धर्मों अर्थात् सदाचार और ज्ञान का आचरण करने वाला व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण है, न कि केवल ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न। इस सुत्त में अङ्ग की राजधानी चम्पा (वर्तमान चम्पा नगर और चम्पापुर, भागलपुर के समीप) का उल्लेख है। राजा बिम्बसार द्वारा प्रदत्त चम्पा नगर की आय का उपभोग सोणदण्ड ब्राह्मण करता था।

कूटदन्त-सुत्त (दीघ. १।५)

कूटदन्त नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। बड़ी सामग्रियों वाले एवं हिंसामय यज्ञ के स्थान पर यहाँ ज्ञान-यज्ञ का आदर्श रक्खा गया है। कूटदन्त ब्राह्मण एक महायज्ञ करना चाहता था। उसने भगवान् से जाकर पूछा, "भन्ते! मैं महायज्ञ करना चाहता हूँ। मैंने सुना है आप सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ-सम्पदा को जानते हैं। कृपाकर आप मुझे उसे बतावें।" भगवान् ने पूर्वकाल में महाविजित के आख्यान को कह कर उसे यह तत्त्व बताया है। वास्तव में महाविजित का यह आख्यान एक प्रकार का जातक-कथानक ही है। महाविजित नामक राजा ने भी प्राचीन युग में एक यज्ञ किया था। "ब्राह्मण! उस यज्ञ में गाएँ नहीं मारी गईं, बकरे-भेड़ें नहीं मारी गईं, मुर्गे-सूअर नहीं मारे गये। न यज्ञ-स्तम्भ के लिये वृक्ष काटे गये, न पर-हिंसा के लिये कुश काटे गये। जो भी उसके दास और नौकर थे, उन्होंने भी दण्ड के भय से रहित होकर, जिन्होंने चाहा किया, जिन्होंने

नहीं चाहा, नहीं किया। अश्रु मुख, रोते हुए उन्हें सेवा नहीं करनी पड़ी। जिसे चाहा उसे किया, जिसे नहीं चाहा उसे नहीं किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु और खांड से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ"। इस प्रकार द्रव्य-यज्ञ में भी भगवान् सेवकों से बेगार न लेने के विशेषतः पक्षपाती हैं। किन्तु जिस यज्ञ का उन्होंने विधान किया है वह तो इससे भी बहुत बढ़कर है। वह यज्ञ है दान-यज्ञ, त्रिशरण-यज्ञ, शिक्षापद-यज्ञ, शील-यज्ञ, समाधि-यज्ञ, प्रज्ञा-यज्ञ। तथागत इसी यज्ञ के पक्षपाती हैं।

महालि सुत्त (दीघ. १।६)

सुनक्षत्र नामक लिच्छवि-पुत्र भगवान् के शिष्यत्व को छोड़कर चला गया है। उसे आशा थी कि भगवान् के पास रहते मैं दिव्य शब्द सुनूंगा, योग की विभूतियों को प्राप्त करूँगा, आदि। जब ऐसा न हुआ तो उसने उन्हें छोड़ दिया। इसी के बारे में प्रश्न करने के लिये महालि नामक एक अन्य लिच्छवि सरदार भगवान् के पास आया है "भन्ते! क्या सुनक्षत्र लिच्छवि-पुत्र ने विद्यमान ही दिव्य-शब्द नहीं सुने या अविद्यमान।" भगवान् उसे समझाते हैं कि ब्रह्मचर्य का उद्देश्य दिव्य शब्द सुनना या योगकी विभूतियोंको प्राप्त करना नहीं है, बल्कि उसका एक मात्र उद्देश्य तो सदाचार के जीवन के अभ्यास के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करना है। निर्वाण के साक्षात्कार के लिये ही ब्रह्मचर्य का ग्रहण किया जाता है और उसी के द्वारा दुःख का अन्त होता है। "यही है महालि! अधिक उत्तम धर्म जिसके साक्षात्कार करने के लिये भिक्षु मेरे पास आकर ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं।" आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अभ्यास एवं सदाचार, समाधि और प्रज्ञा के जीवन से ही निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है, यह भी अन्त में अन्य सुत्तों की तरह उपदिष्ट किया गया है।

जालिय-सुत्त (दीघ. १।७)

जालिय नामक परिव्राजक से भगवान् का संवाद। यह परिव्राजक भगवान् के पास आकर उनसे पूछता है "आवुस[1]। गौतम! जीव और शरीर अलग-अलग वस्तु हैं या एक ही?" भगवान् उसे समझाते हैं कि जीव और शरीर का भेद-अभेद कथन ही व्यर्थ है। जीवन का तत्त्व साक्षात्कार में है। अतः शील, समाधि और प्रज्ञा का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

---

१. जैसे कि मानो गौतम उससे छोटे हों! संभवतः परिव्राजक की आयु भगवान् से अधिक थी और इस सुत्त का सम्बन्ध भगवान् की तरुण अवस्था से है।

कस्सप सीहनाद-सुत्त (दीघ. १।८)

काश्यप (कस्सप) नामक अचेल (नग्न) साधु के साथ भगवान् का संवाद। अचेल काश्यप ने कहीं से सुन लिया है कि भगवान् बुद्ध सब प्रकार की तपस्याओं की निन्दा करते हैं। वह अपनी शंका लेकर भगवान् के पास आता है। भगवान् उसे कहते हैं कि सब प्रकार की तपस्याओं का निन्दा करने वाला उन्हें कहना तो उनकी असत्य से निन्दा करना है। "काश्यप! मैं सब तपश्चरणों की निन्दा कैसे करूँगा?" सच्ची धर्मचर्या में भगवान् का अन्य साधु-सम्प्रदायों से कोई वैमत्य नहीं है। किन्तु सभी आचार-विचार छोड़ देना या अन्य सैकड़ों प्रकार के कायिक क्लेश देना जिनका विस्तृत विवरण इस सुत्त में है और जो उस समय की भारतीय साधना का अच्छा परिचय देते हैं, उनसे भगवान् की सहमति नहीं है। "काश्यप। जो आचार-विचार को छोड़ देता है, वह शील-सम्पत्ति, समाधि-सम्पत्ति और प्रज्ञा-सम्पत्ति की भावना नहीं कर सकता और न उनका साक्षात्कार ही कर पाता है। अतः वह श्रामण्य और ब्राह्मण्य से बिलकुल दूर है। काश्यप! जब भिक्षु वैर और द्रोह से रहित होकर मैत्री-भावना करता है और चित्त-मलों के क्षय होने से निर्मल चित्त की मुक्ति और प्रज्ञा की मुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जानकर, स्वयं साक्षात्कार कर विहरता है, तो वही यथार्थतः श्रमण कहलाता है और वही ब्राह्मण भी"। वास्तव में उसी की तपस्या भी सच्ची है। शील, समाधि और प्रज्ञा का तथा अतिवाद पर आश्रित कायक्लेशमयी तपस्याओं को छोडकर मध्यम-मार्ग रूपी आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अभ्यास का भी उपदेश यहाँ दिया गया है।

पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ. १।९)

पोट्ठपाद नामक परिव्राजक से भगवान् का संवाद। आत्मा और लोक के आदि और अन्त सम्बन्धी प्रश्नों को उठाना ब्रह्मचर्य के लिये सहायक नहीं, यही यहाँ पोट्ठपाद परिव्राजक को भगवान् ने बताया है और शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना करने का उपदेश दिया है। क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनन्त, आदि प्रश्नों को भगवान् ने क्यों अव्याकृत अर्थात् अनिर्वचनीय या अकथनीय कह कर छोड़ दिया है, इसका भी समाधान करते हुए भगवान् ने कहा है "पोट्ठपाद! न ये अर्थ-युक्त, न धर्म-युक्त, न ब्रह्मचर्य के उपयुक्त, न निर्वेद के लिये, न विराग के लिये, न निरोध के लिये, न शान्ति के लिये, न ज्ञान

के लिये, न संबोधि के लिये, न निर्वाण के लिये हैं, इसलिये मैंने इन्हें अव्याकृत कहा है।"

सुभ-सुत्त (दीघ. १।१०)

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद यह प्रवचन उनके उपस्थाक शिष्य आनन्द के द्वारा दिया गया। शुभ नामक माणवक को एक प्रश्न का उत्तर देते हुए आनन्द बताते हैं कि भगवान् बुद्ध शील, समाधि और प्रज्ञा, इन तीन धर्म-स्कन्धों के बड़े प्रशंसक थे और इन्हें ही वे जनता को सिखाते थे। आनन्द द्वारा इन तीनों धर्मों का बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार यहाँ विवरण दिया गया है।

केवट्ट सुत्त (दीघ. १।११)

केवट्ट नामक गृहपति-पुत्र के साथ भगवान् का संवाद। ऋद्धियों का दिखाना भगवान् ने निषिद्ध कर दिया है। उनके मतानुसार सब से बड़ा चमत्कार तो उपदेश का ही चमत्कार है, आदेशना-प्रातिहार्य या अनुशासनी-प्रातिहार्य (अनुशासन रूपी चमत्कार) ही है। देवताओं और ब्रह्मा को भी यहाँ उस तत्त्व के विषय में जहाँ पृथ्वी, जल, तेज और वायु का निरोध हो जाता है, अनभिज्ञ बताया गया है, जब कि बुद्ध उसमें अभिज्ञ हैं।

लोहिच्च-सुत्त (दीघ. १।१२)

लोहिच्च (लौहित्य) नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। झूठे और सच्चे शास्ताओं के विषय में भगवान् ने लोहिच्च को उपदेश दिया है।

तेविज्ज-सुत्त (दीघ. १।१३)

वाशिष्ट और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मणों के साथ भगवान् का संवाद। अपरोक्ष-अनुभूति और सत्य-साक्षात्कार के बिना तीनों वेदों का ज्ञान व्यर्थ है, यह इस सुत्त की मूल भावना है। इस सुत्त में ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण, छन्दावा ब्राह्मण, इन ग्रन्थों या परम्पराओं का उल्लेख हुआ है जो सम्भवतः उस नाम की उपनिषदों की ओर संकेत करते हैं। अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वशिष्ट, कश्यप और भृगु, इन दस ऋषियों को यहाँ मन्त्रों का कर्ता या वेदों का रचयिता बताया गया है[1]। तीनों

---

१. ये किन किन मन्त्रों के द्रष्टा या रचयिता हैं, इसके लिये देखिये राहुल सांकृत्यायनः दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५२७-५२८

वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा की सलोकता के मार्ग का उपदेश करते हैं, किन्तु ब्रह्मा को अपने अनुभव से, अपने साक्षात्कार से, जानते कोई नहीं। भगवान् बुद्ध एक मधुर व्यंग्यमयी उपमा करते हैं "वाशिष्ट! त्रैविद्य ब्राह्मण जिसे न जानते हैं, जिसे न देखते हैं, उसकी सलोकता के लिये मार्ग उपदेश करते हैं। जैसे कि वाशिष्ट पुरुष ऐसा कहे—इस जनपद की जो सुन्दरतम स्त्री (जनपद कल्याणी) है मैं उसको चाहता हूँ, उसकी कामना करता हूँ। उससे यदि लोग पूछें 'हे पुरुष! जिस जनपद कल्याणी को तू चाहता है, तू क्या जानता है कि वह क्षत्राणी है या ब्राह्मणी है या वैश्य स्त्री है या शूद्र स्त्री है?' ऐसा पूछने पर वह नहीं कहे। तब उससे पूछें हे पुरुष! जिस जनपद-कल्याणी को तू चाहता है वह किस नाम वाली, किस गोत्र वाली, लम्बी, छोटी या मझोली है? काली, श्यामा, ... किस ग्राम या नगर में रहती है? . . . . . वाशिष्ट! त्रैविद्य ब्राह्मणों ने ब्रह्मा को अपनी आँखों से नहीं देखा . . . . . . उसकी सलोकता के लिये मार्ग उपदेश करते हैं!" उपास्य और उपासक के गुणों के भेद की ओर भी भगवान् ने संकेत किया है। उपास्य (ब्रह्मा) अ-परिग्रही, उपासक (ब्राह्मण) परिग्रही; उपास्य अवैर-चित्त, उपासक वैरबद्ध, उपास्य वशवर्ती, उपासक अवशवर्ती। "वाशिष्ट! सपरिग्रह त्रैविद्य ब्राह्मण काया छोड़ मरने के बाद परिग्रह-रहित ब्रह्मा के साथ सलोकता को प्राप्त कर सकेंगे, यह सम्भव नही।" मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना के द्वारा साधक तथागत-प्रवेदित मार्ग का साक्षात्कार कर ब्रह्म-विहार में स्थित हो जाय, तो फिर "वह अपरिग्रह भिक्षु काया छोड़ मरने के बाद अपरिग्रह ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं।" आचरण की सभ्यता को यहाँ भगवान् ने सदा के लिये स्मरणीय शब्दों में रख दिया है।

महावग्ग

महापदान-सुत्त (दीघ. २।१)

भगवान् के पूर्ववर्ती छह बुद्धों, यथा विपस्सी (विपश्यी) सिखी (शिखी) वेस्सभू (विश्वभू) भद्रकल्प, ककुसन्ध (क्रकुच्छन्द) और कोणा-गमन की जीवनियों का वर्णन। गोतम बुद्ध की जीवनी के आधार पर ही ये गढ़ लिये गये हैं, जिनमें ऐतिहासिक तत्त्व कुछ नहीं।

महानिदान-सुत्त (दीघ. २।२)

प्रतीत्यसमुत्पाद का इस सुत्त में विस्तृततम विवरण है। सुत्त के प्रारम्भ में आनन्द यह कहते दिखाई पड़ते हैं "आश्चर्य है भन्ते ! अद्भुत है भन्ते ! कितना गम्भीर है और गम्भीर सा दीखता भी है यह प्रतीत्यसमुत्पाद, किन्तु मुझे यह साफ साफ दिखाई पड़ता है"। भगवान् उन्हें समझाते हैं "ऐसा मत कहो आनन्द ! यह प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर सा दिखाई भी देता है। आनन्द ! इस धर्म के जानने से ही यह प्रजा उलझे सूत सी, गाँठें पड़ी रस्सी सी, मूंज वल्बज सी, अपाय, दुर्गति और पतन को प्राप्त होती है और संसार से पार नहीं हो सकती।" इसके बाद प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तृत विवरण है, उसके विभिन्न १२ अंगों की व्याख्या के साथ।

महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ. २।३)

महापरिनिब्बाण-सुत्त दीघ-निकाय का सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सुत्त है। यहाँ हम भगवान् के अन्तिम जीवन का बड़ा मार्मिक और सच्चा चित्र पाते हैं। इस सुत्त में प्रधानतः इतनी घटनाओं की सूचना हम पाते हैं (१) वज्जियों के विरुद्ध अजातशत्रु के अभियान का इरादा (२) बुद्ध की अन्तिम यात्रा (३) अम्बपाली गणिका का भोजन (४) भगवान् को कड़ी बीमारी (५) चुन्द का दिया अन्तिम भोजन (६) जीवन का अन्तिम समय (७) स्त्रियों के प्रति भिक्षुओं के कर्तव्य (८) चक्रवर्ती की दाह-क्रिया (९) सुभद्र की प्रव्रज्या (१०) अन्तिम उपदेश (११) भगवान् का परिनिर्वाण (१२) दाह-क्रिया (१३) स्तूप-निर्माण। इन सब घटनाओं का संक्षिप्त निदर्शन भी यहाँ नहीं किया जा सकता। केवल एक-दो प्रसंग लेख बद्ध किये जा सकते हैं। परिनिर्वाण से पूर्व आनन्द ने भगवान् से पूछा "भन्ते ! तथागत के शरीर को हम कैसे करेंगे ?" भगवान् ने उत्तर दिया "आनन्द ! तथागत की शरीर-पूजा से तुम बेपर्वाह रहो। तुम तो आनन्द सच्चे पदार्थ के लिये ही प्रयत्न करना, सच्चे पदार्थ के लिये ही उद्योग करना। सच्चे अर्थ के लिये ही अप्रमादी, उद्योगी, आत्मसंयमी हो विहरना।" आनन्द ने पूछा "भन्ते ! स्त्रियों के साथ हम कैसा बर्ताव करेंगे ?" "अ-दर्शन, आनन्द !" वास्तव में बुद्ध के अन्तिम जीवन से परिचित होने के लिये और उनके सेवक शिष्य आनन्द के साथ उनकी इस समय की चारिकाओं के लिये इस सुत्त का पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। महा-परिनिर्वाण प्राप्त करने से पूर्व भगवान् ने भिक्षुओं को

आश्वसित किया "आनन्द ! शायद तुम को ऐसा हो—हमारे शास्ता चले गये, अब हमारे शास्ता नहीं हैं। आनन्द ! ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय तुम्हें उपदेश किये हैं, वे ही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे।" अनुकम्पक शास्ता ने अन्तिम बार भिक्षुओं को सम्बोधित किया "हन्त ! भिक्षुओ, अब तुम्हें कहता हूँ—सभी संस्कार (कृत वस्तुएँ) व्ययधर्मा (नाशवान्) हैं, अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को) सम्पादन करो"—यही तथागत का अन्तिम वचन था। राजगृह से लेकर कुसिनारा तक की बुद्ध-यात्रा का वर्णन, जहाँ-जहाँ भगवान् रुके उनके पूर्ण विवरण के साथ, हमें यहाँ मिलता है। इस प्रकार अम्बलट्ठिका, नालन्दा, पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नादिका, वैशाली, भंडगाम, हत्थिगाम, और पावा आदि स्थानों का वर्णन आया है। वैशाली गणतंत्र के सात गुणों की प्रशंसा भी भगवान् ने इस सुत्त में की है।

महासुदस्सन-सुत्त (दीघ. २।४)

भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में महासुदर्शन नामक चक्रवर्ती राजा थे। उसी समय की उनकी जीवनी का विस्तृत विवरण है। 'महासुदस्सन जातक' के कथानक से यहाँ समानता और असमानता दोनों ही हैं।

जनवसभ-सुत्त (दीघ. २।५)

बिम्बिसार मरने के बाद जनवसभ नामक यक्ष के रूप में स्वर्ग-लोक में उत्पन्न हुआ। उसने इस सुत्त में अपने गुरु से बुद्ध-धर्म की प्रशंसा की है। देवेन्द्र शक्र और सनत्कुमार ब्रह्मा भी इस सुत्त में बुद्ध-धर्म की प्रशंसा करते दिखाये गये हैं। इस सुत्त में काशी, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेति (चेदि) कुरु, पंचाल, मच्छ (मत्स्य) और शूरसेन जनपदों का उल्लेख है।

महागोविन्दसुत्त (दीघ. २।६)

भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में महागोविन्द नामक ब्राह्मण थे। उसी का यहाँ प्रधानतः वर्णन है। अतः इस अंश को एक जातक ही समझना चाहिये। वैसे इस सुत्त में भी पूर्व सुत्त (जनवसभ सुत्त) की तरह देवराज इन्द्र और सनत्कुमार ब्रह्मा द्वारा बुद्ध-धर्म की प्रशंसा करवाई गई है। बुद्धकालीन भारत के राजनैतिक भूगोल का वर्णन इस सुत्त की एक प्रधान विशेषता है। यहाँ काशी-कोशल और अंग-मगध आदि राज्यों का विवरण दिया गया है। अश्मक राज्य के पोतन नामक नगर का भी निर्देश है।

महासमय-सुत्त (दीघ. २।७)

इस सुत्त में बुद्ध के दर्शनार्थ देवताओं का आगमन दिखाया गया है।

सक्कपञ्ह-सुत्त(दीघ. २।९)

शक्र (इन्द्र) द्वारा छह प्रश्नों का पूछा जाना। उसके द्वारा बुद्ध-धर्म की प्रशंसा।

महासतिपट्ठान सुत्त (दीघ. २।९)

इस सुत्त में चार स्मृति-प्रस्थानों यथा कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना का विशद विवरण किया गया है। ये चार स्मृति-प्रस्थान 'सत्वों की विशुद्धि के लिये, शोक के निवारण के लिये, दुःख और दौर्मनस्य का अतिक्रमण करने के लिये, सत्य की प्राप्ति के लिये और निर्वाण की प्राप्ति और साक्षात्कार के लिये एकायन (सर्वोत्तम, अकेले) मार्ग है' ऐसा भगवान् ने यहाँ कहा है।

पायासि राजञ्ञ-सुत्त (दीघ. २।१०)

पायासि राजन्य के साथ भगवान् बुद्ध के शिष्य कुमार काश्यप के संवाद का वर्णन है। पायासि राजन्य परलोक में विश्वास नहीं करता। वह यह मानता है कि मरने के साथ जीवन उच्छिन्न हो जाता है। उसका तर्क स्पष्ट है। (१) मरे हुओं को किसी ने लौट कर आते नहीं देखा। (२) धर्मात्मा आस्तिकों को भी मरने की इच्छा नहीं होती। (३) जीव के निकल जाने पर मृत शरीर का न तो वजन ही कम होता है और न जीव को कहीं से निकलते जाते देखा जाता। भौतिकवादी पायासि का कुमार काश्यप ने समाधान करने का प्रयत्न किया है। पायासि के मतानुसार "यह भी नहीं है, परलोक भी नहीं है। जीव मरने के बाद फिर नहीं पैदा होते और अच्छे बुरे कर्मों का कोई फल भी नहीं होता।" इस मत के अनुसार ब्रह्मचर्य का अभ्यास ही व्यर्थ है। बुद्ध का मन्तव्य अनात्मवाद होते हुए भी पायासि के भौतिकवाद से तो फिर भी ठीक विपरीत है।

पाथिक वग्ग

पाथिक-सुत्त (दीघ. ३।१)

सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र के बौद्ध धर्म-त्याग की बात फिर इस सुत्त में आई है। वह इसलिये रुष्ट होकर भिक्षु-संघ को छोड़ कर चला गया था कि भगवान् ने उसे

ऋद्धिबल नहीं दिखाया। "सुनक्खत्त ! क्या मैंने तुझसे कभी कहा था—सुनक्खत्त ! आ मेरे धर्म को स्वीकार कर। मैं तुझे अलौकिक ऋद्धि-बल दिखाऊँगा ?" "नहीं भन्ते !" "मूर्ख ! यह तेरा ही अपराध है"। ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का भी इस सुत्त में खंडन किया गया है।

उदुम्बरिक सीहनाद सुत्त (दीघ. ३।२)

उदुम्बरिक नामक परिव्राजक-आराम में भगवान् ने यह सिंहनाद किया, अतः इसका यह नाम है। यह सिंहनाद भगवान् ने न्यग्रोध नामक परिव्राजक के प्रति किया। यहाँ भगवान् ने झूठी और सच्ची तपस्याओं विषयक उपदेश दिया है और बुद्ध-धर्म की साधना से इसी जन्म में शान्ति की प्राप्ति को दिखाया है।

चक्कवत्तिसीहनाद सुत्त (दीघ. ३।३)

स्वावलम्बन व्रत-पालन एवं चार स्मृति-प्रस्थानों के अभ्यास का उपदेश। भिक्षुओं के कर्त्तव्यों सम्बन्धी उपदेश भी।

अग्गञ्ञ-सुत्त (दीघ. ३।४)

इस सुत्त में वर्ण-व्यवस्था का खंडन किया गया है। जन्म की अपेक्षा यहाँ कर्म को ही प्रधान माना गया है।

सम्पसादनिय-सुत्त (दीघ. ३।५)

परम ज्ञान में बुद्ध के समान आज तक कोई नहीं हुआ। बुद्ध अत्यन्त विनम्र और निरहंकार हैं। बुद्ध के उपदेशों की विशेषताओं का विवरण भी।

पासदिक-सुत्त (दीघ. ३।६)

निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (तीर्थङ्कर भगवान् महावीर) के पावा में कैवल्य-प्राप्ति की इस सुत्त में सूचना है। बुद्ध के उपदिष्ट धर्म, अव्याकृत और व्याकृत बातें, पूर्वान्त और अपरान्त दर्शन, चार स्मृति-प्रस्थान आदि विषय जो पूर्व के सुत्तों में आ चुके हैं, यहाँ फिर विवृत किये गये हैं। साथ ही यहाँ यह भी बताया गया है कि बुद्ध-धर्म चित्त की शुद्धि के लिये है और यही उसका प्रमुख उद्देश्य और उपयोग है।

लक्खण-सुत्त (दीघ. २।७)

इस सुत्त में ३२ महापुरुष-लक्षणों का विवरण है। साथ ही किस किस कर्म-विपाक से किस किस शुभ लक्षण की प्राप्ति होती है, यह भी दिखाया गया है। इस प्रकार नैतिक उद्देश्य स्पष्ट है।

सिगालोवाद-सुत्त (दीघ. ३।८)

सिगाल (शृगाल) नामक गृहपति-पुत्र (वैश्य-पुत्र) को भगवान् द्वारा पूरे गृहस्थ-धर्म का उपदेश। चार पाप के स्थान, छह सम्पत्ति-नाश के कारण, मित्र और अमित्र की पहचान तथा छह दिशाओं की पूजा करने का बौद्ध विधान, आदि बातों का विवरण है। आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि गृहस्थ सम्बन्धी कर्तव्यों में कोई ऐसा नहीं है जो यहाँ छोड़ दिया गया हो। यह सुत्त बौद्ध धर्म में गृहस्थ धर्म के स्वरूप और महत्व को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अशोक ने इस सुत्त की भावना को अपने अभिलेखों में बार बार ग्रहण किया है।

आटानाटिय-सुत्त (दीघ. ३।९)

बौद्ध रक्षा-मन्त्र। सात बुद्धों को नमस्कार आदि और इस प्रकार भूत-यक्षों से रक्षा करने का उपाय। यह सुत्त बुद्ध की शिक्षाओं से मेल नहीं खाता। यह वाद का परिवर्द्धन ही जान पड़ता है, जैसा अन्य अनेक विद्वानों का भी विचार है।

संगीति परियाय-सुत्त (दीघ. ३।१०)

एक संख्या से लेकर दस संख्या तक के वर्गीकरणों में बुद्ध-मन्तव्यों की सूची।

दसुत्तर-सुत्त (दीघ. ३।११)

एक से लेकर दस संख्या तक के धर्मों में कौन कौन से उपकारक, भावनीय, परिज्ञेय (त्याज्य) प्रहातव्य, हानभागीय (पतनकारक), विशेष भागीय, दुष्प्रतिवेध्य, उत्पादनीय, अभिज्ञेय, या साक्षात्करणीय हैं, इसका विवरण।

आ—मज्झिम-निकाय[1]

मज्झिम-निकाय में मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह है। इसलिये इसका यह नाम पड़ा है। सुत्त-पिटक में इस निकाय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस निकाय को 'बुद्धवचनामृत' कहा है जो इसमें निहित बुद्ध-वचनों की सर्वविध महत्ता को देखते हुए बिलकुल ठीक ही है। फ्रैंक जैसे सन्देहवादी विद्वान् को भी मज्झिम-निकाय की मौलिक सुगन्ध के सामने

---

१. केवल मज्झिम-पण्णासक अर्थात् सुत्त ५१-१०० देवनागरी लिपि में दो भागों में बम्बई विश्व विद्यालय द्वारा प्रकाशित, भाग प्रथम सुत्त ५१–७०; भाग द्वितीय सुत्त ७१-१०० (डा० भागवत द्वारा संपादित) हिन्दी में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसे अनुवादित किया है। यह अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा सन् १९३३ में प्रकाशित किया गया है।

नत-मस्तक होना पड़ा है और उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि मज्झिम-निकाय में हम निश्चय ही धर्म-स्वामी के कुछ महत्त्वपूर्ण उद्गार पाते हैं। जर्मन विद्वान् डा० डालके ने मुख्यतः इसी एक ग्रन्थ के आधार पर अपने गम्भीर बौद्ध धर्म सम्बन्धी निबन्धों की रचना की है। मज्झिम-निकाय का वर्गीकरण १५ वर्गों में है, जिनमें कुल मिला कर १५२ सुत्त हैं। हम इस वर्गीकरण की रूपरेखा पहले दिखा चुके हैं। अतः यहाँ अति संक्षिप्त रूप में केवल मज्झिम-निकाय के सुत्तों के विषय की ओर इंगित मात्र करेंगे।

(१) मूल परियाय वग्ग

१ मूल परियाय-सुत्त—सारे धर्मों का मूल नामक उपदेश—न मैं, न मेरा, न मेरा आत्मा—अनात्मवाद-अनासक्तिवाद।

२. सब्बासव-सुत्त—"भिक्षुओ! सारे चित्त-मलों के संवर (रोक) नामक उपदेश को मैं तुम्हें देता हूँ, ध्यान से सुनो।"

३. धम्म दायाद-सुत्त—"भिक्षुओ! तुम मेरे धर्म के वारिस बनो, धनादि भोगों (आमिष) के दायाद नहीं। भिक्षुओ! तुम पर मेरी अनुकम्पा है।"

४. भय-भेरव-सुत्त—वन-खंड और सूनी कुटियों में रहने वाले अशुद्ध कायिक कर्म संयुक्त भिक्षुओं को कभी-कभी भय हो उठता है। इसे कैसे दूर किया जाय, इसका जानुस्सोणि नामक ब्राह्मण को भगवान् का उपदेश है, स्वकीय पूर्व अनुभव के आधार पर। "ब्राह्मण! शायद तेरे मन में ऐसा हो—आज भी श्रमण गोतम अ-वीतराग' अ-वीत द्वेष, अ-वीत मोह है, इसीलिये अरण्य, वन-खंड तथा सूनी कुटिया का सेवन करता है'! ब्राह्मण! मैं दो बातों के लिये आज भी अरण्य सेवन करता हूँ (१) इसी शरीर में अपने सुख-विहार के विचार से (२) आगे आने वाली जनता पर अनुकम्पा करने के लिये, ताकि मेरा अनुगमन कर वह भी सुफल की भागी हो।"

५. अनंगण-सुत्त—राग, द्वेष और मोह से रहित (अनंगण) और उनसे युक्त व्यक्तियों के चार प्रकार—सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और अन्य भिक्षुओं के धार्मिक संलाप।

६. आकंखेय्य-सुत्त—"भिक्षुओ! शील-सम्पन्न होकर विहरो, प्रातिमोक्ष रूपी संयम से संयमित होकर विहरो......ध्यान और विपश्यना से युक्त हो सूने घरों की शरण लो।"

७. वत्थ सुत्त—मैले वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। किन्तु साफ वस्त्र पर चढ़ जाता है। चित्त के निर्मल होने पर सुगति भी अनिवार्य है। वह नदियों के स्नानादि से प्राप्त नहीं होती। 'ब्राह्मण! तू यदि झूठ नहीं बोलता, प्राणियों को नहीं मारता, बिना दिया लेता नहीं, तो गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय भी तेरे लिये गया है।"

८. सल्लेख-सुत्त—तप-विहार का उपदेश।

९. सम्मादिट्ठि-सुत्त—सम्यक् दृष्टि पर धर्मसेनापति सारिपुत्र का प्रवचन।

१०. सति पट्ठान-सुत्त—चार स्मृति-प्रस्थानों का उपदेश। यही विषय दीघ-निकाय के महासतिपट्ठान-सुत्त का भी है। केवल कुछ अंश वहाँ अधिक है।

(२) सीहनाद वग्ग

११. चूल सीहनाद-सुत्त—चार बातों में बौद्ध भिक्षुओं की अन्य धर्मावलम्बियों से विशेषता।

१२. महासीहनाद-सुत्त—सुनक्खत्त लिच्छविपुत्त यह कह कर भिक्षु-संघ को छोड़कर चला गया है "श्रमण गोतम के पास आर्य ज्ञान-दर्शन की पराकाष्ठता नहीं है, उत्तर-मनुष्य धर्म नहीं है। वह केवल अपने ही चिन्तन से सोचे, अपनी प्रतिभा से जाने, तर्क से प्राप्त, धर्म का उपदेश करते हैं।" इसी प्रसंग को लेकर भगवान् बुद्ध और धर्मसेनापति सारिपुत्र में संलाप। तथागत के दस बल तथा चार वैशारद्यों का वर्णन। इसी प्रसंग में भगवान् ने अपनी पूर्व तपस्याओं का वर्णन भी किया है "सारिपुत्र! यह मेरा रूक्षाचार था। पपड़ी पड़े अनेक वर्ष के मैल को शरीर में संचित किये रहता था...भीषण वन-खंड में प्रवेश कर विहरता था—मुर्दे की हड्डियों का सिरहाना बना श्मशान में शयन करता था—सारिपुत्र! जब मैं पेट के चमड़े को पकड़ता तो पीठ के काँटे को ही पकड़ लेता था, पीठ के काँटे को पकड़ते समय पेट के चमड़े को ही पकड़ लेता था—इस दुष्कर तपस्या से भी मैं उत्तर मनुष्य-धर्म नहीं पा सका......आज सारिपुत्र! मेरी आयु अस्सी को पहुँच गई है......सारिपुत्र! अशन, पान, शयन को छोड़, मल-मूत्र-त्याग के समय को छोड़, तथागत की धर्म-देशना सदा अखंड ही चलती रहेगी।" बुद्ध-जीवनी की दृष्टि से यह सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

१३. महादुक्खक्खन्ध-सुत्त—दुःख, उसका हेतु और निरोध।
१४. चूल दुक्खक्खन्ध-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही विषय।
१५. अनुमान-सुत्त—महामौद्गल्यायन का प्रवचन। सावधानी पूर्वक आत्म-प्रत्यवेक्षण करते हुए सदाचारी जीवन बिताने का उपदेश।
१६. चेतोखिल-सुत्त—चित्त के पाँच काँटों का भगवान् के द्वारा वर्णन।
१७. वनपत्थ-सुत्त—वनप्रस्थ में विहरने का उपदेश।
१८. मधुपिंडिक-सुत्त—भगवान् के द्वारा धर्म की रूपरेखा का वर्णन। कच्चान (कात्यायन) द्वारा उसकी विस्तार से व्याख्या।
१९. द्वेधावितक्क-सुत्त—भगवान् द्वारा अपने पूर्व अनुभवों का वर्णन। चित्तमलों का शमन, ध्यान, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन।
२०. वितक्क सण्ठान-सुत्त—वितर्कों को वश में करने का उपाय।

(३) ओपम्म वग्ग

२१. ककचूपम-सुत्त—आरे से चीरे जाने पर भी जो चित्त को बिना दूषित किये शान्त न रह सके, वह बुद्ध का शिष्य नहीं है।
२२. अलगद्दूपम-सुत्त—धर्म के विषय में मिथ्या धारणायें रखना सर्प को पूंछ से पकड़ना है।
२३. वम्मिक-सुत्त—नर-देह की असारता एवं निर्वाण-प्राप्ति की बाधाएँ।
२४. रथविनीत -सुत्त—ब्रह्मचर्य के उद्देश्य और विशुद्धियाँ।
२५. निवाप-सुत्त—मार से कैसे बचें ?
२६. अरियपरियेसन-सुत्त—बुद्ध के द्वारा अपने महाभिनिष्क्रमण एवं (पासरासि-सुत्त)—अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन। धर्म-चक्र-प्रवर्तन का भी वर्णन।
२७. चूलहत्थिपदोपम-सुत्त—सत्य-प्राप्त मुनि के आश्चर्य !
२८. महाहत्थिपदोपम-सुत्त—उपादान-स्कन्धों से विमुक्ति, प्रतीत्यसमुत्पाद। सभी कुशल धर्म चार आर्य सत्यों में निहित हैं।
२९. महासारोपम-सुत्त—देवदत्त के संघ को छोड़ जाने के बाद भगवान् का भिक्षु जीवन के उद्देश्यों पर उपदेश
३०. चूलसारोपम-सुत्त—पूर्वोक्त के समान ही। इस सुत्त में छह तैर्थिकों या तत्कालीन आचार्यों का वर्णन भी है।

(४) महायमक वग्ग

३१. चूल गोसिंग-सुत्त—अनिरुद्ध, किंविल और नन्दिय की प्रव्रज्या एवं सिद्धि-प्राप्ति।

३२. महागोसिंग-सुत्त—गोसिंग शालवन किस प्रकार के भिक्षु से सुशोभित होगा ?

३३. महागोपालक-सुत्त—भिक्षु के लिये आवश्यक ग्यारह बातें।

३४. चूल गोपालक-सुत्त—अच्छे और बुरे शास्ताओं के अनुयायियों की दशा।

३५. चूल सच्चक-सुत्त—सच्चक नामक आजीवक को पञ्चस्कन्ध और अनात्मवाद का उपदेश।

३६. महासच्चक-सुत्त—भगवान् बुद्ध का अभिसम्बोधि और समाधि पर प्रवचन। काया की साधना के ऊपर मन की साधना की स्थापना।

३७. चूलतण्हासंखय-सुत्त—तृष्णा का क्षय कैसे हो ?

३८. महातण्हा संखय-सुत्त—अनात्मवाद का तृष्णा-क्षय के रूप में उपदेश। धर्म में भी अनासक्ति आवश्यक।

३९. महा-अस्सपुर-सुत्त—
४०. चूल अस्सपुर-सुत्त—
} भिक्षुओं के कर्तव्यों का वर्णन।

(५) चूल यमक वग्ग

४१. सालेय्यक-सुत्त—कुछ प्राणी क्यों सुगति और कुछ क्यों दुर्गति प्राप्त करते हैं ?

४२. वेरंजक-सुत्त—उपर्युक्त के समान विषय।

४३. महावेदल्ल-सुत्त—वेदना, संज्ञा, शील, समाधि, प्रज्ञा, आयु, उष्मा और विज्ञान पर धर्मसेनापति सारिपुत्र का प्रवचन।

४४. चूलवेदल्ल-सुत्त—आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, संज्ञावेदयित-निरोध, स्पर्श, वेदना तथा अनुशयों पर भिक्षुणी धम्मदिन्ना का प्रवचन।

४५. चूल धम्मसमादान-सुत्त—धर्मानुयायियों के चार प्रकार।

४६. महाधम्मसमादान-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।

४७. वीमंसक-सुत्त—ठीक विमर्श कैसे हो ?

४८. कोसम्बिय-सुत्त—कौशाम्बी के भिक्षुओं को मेलजोल के लिये उपयोगी छह बातों का उपदेश।

४९. ब्रह्मनिमन्तिक-सुत्त—ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता मानना ठीक नहीं।

५०. मार-तज्जनिय-सुत्त—महामौद्गल्यायन का मार को तर्जन।

(६) गहपति वग्ग

५१. कन्दरक-सुत्त—आत्म-निर्यातन के विरुद्ध प्रवचन!

५२. अट्ठक नागर-सुत्त—ग्यारह अमृत द्वार (ध्यान)। आनन्द निर्वाण-मार्ग पर स्थित।

५३. सेक्ख-सुत्त—शैक्ष्य जनों के कर्त्तव्यों पर आनन्द का प्रवचन।

५४. पोतलिय-सुत्त—आर्य-मार्ग क्या है?

५५. जीवक-सुत्त—मांस-भक्षण पर बुद्ध-मत।

५६. उपालि-सुत्त—दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ के साथ भगवान् का संवाद।

५७. कुक्कुरवतिक-सुत्त—निरर्थक व्रत। कर्म पर भी प्रवचन।

५८. अभयराजकुमार-सुत्त—उपकारी अप्रिय सत्य को भी बोलना कर्त्तव्य है। यदि वह उपकारी हो है। राजगृह के वेणुवन में इस सुत्त का उपदेश भगवान् ने अभयराजकुमार को दिया।

५९. बहुवेदनिय-सुत्त—वेदनाओं का वर्गीकरण।

६०. अपण्णक-सुत्त—द्विविधा-रहित (अपर्णक) धर्म का उपदेश।

(७) भिक्खु-वग्ग

६१. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्त—"राहुल! तुझे सीखना चाहिये कि मैं प्रत्यवेक्षण कर काय-कर्म, वचन-कर्म, मन-कर्म का परिशोधन करूँगा।" अम्बलट्ठिका (वेणुवन के किनारे वासस्थान) में राहुल के प्रति भगवान् का उपदेश!

६२. महाराहुलोवाद-सुत्त—राहुल को प्रधानतः आनापानसति (प्राणायाम) के अभ्यास का उपदेश। "राहुल! पृथ्वी-समान ध्यान की भावना कर। ......जैसे राहुल! पृथ्वी में शुचि वस्तु भी फेंकते हैं, अशुचि वस्तु भी फेंकते हैं......उससे पृथ्वी दुःखी नहीं होती, ग्लानि नहीं करती, घृणा नहीं करती। इसी प्रकार राहुल! पृथ्वी समान भावना करते तेरे चित्त को अच्छे लगने वाले स्पर्श न चिपटेंगे।......राहुल! मैत्री-भावना

का अभ्यास कर। जो द्वेष है, उससे छूट जायेगा। राहुल ! करुणा-भावना का अभ्यास कर। जो तेरी पर-पीड़ा-करण इच्छा है, वह हट जायगी। राहुल ! उपेक्षा-भावना का अभ्यास कर ! जो तेरी प्रतिहिंसा है, वह हट जायगी। राहुल अशुभ-भावना का अभ्यास कर। जो तेरा राग है, वह चला जायगा' आदि।

६३. चूल-मालुंक्य-सुत्त—लोक शाश्वत है या अशाश्वत, आदि दस प्रश्न चूल-मालुंक्य पुत्र ने भगवान् से किये। भगवान् ने उन्हें अव्याकत (अव्याकृत-अकथनीय) करार दे दिया, क्योंकि इनका उत्तर या कथन सार्थक नहीं, ब्रह्मचर्य-उपयोगी नहीं और न वह वैराग्य, निरोध, शान्ति, उत्तम, परम, ज्ञान एवं निर्वाण के लिये ही आवश्यक है।

६४. महा-मालुंक्य-सुत्त—पाँच संयोजनों (सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शील-व्रत परामर्श, काम-राग, व्यापाद) के प्रहाण का मार्ग।

६५. भद्दालि-सुत्त—भद्दालि नामक भिक्षु को आचार-मार्ग का उपदेश।

६६. लकुटिकोपम-सुत्त—स्थविर उदायी को भगवान् का धर्मोपदेश। "उदायी ! कोई कोई मूर्ख पुरुष मेरे 'यह छोड़ो' कहने पर ऐसा कहते हैं "क्या इस छोटी बात के लिये, तुच्छ बात के लिये, यह श्रमण जिद कर रहा है" और वह उसे नहीं छोड़ते। किन्तु जो भिक्षु सीखने वाले होते है, उन्हें यह होता है-'यह बलवान् बन्धन है, दृढ़ बन्धन है, स्थिर बन्धन है, स्थूल कलिंगर (पशुओं के गले में बाँधने का काष्ठ) है। जैसे उदायी ! पोय-लता के बन्धन से बँधी लकुटिका (गौरैय्या) पक्षी वहीं वध, बन्धन या मरण की प्रतीक्षा करती है। उदायी ! जो आदमी यह कहे 'चूंकि यह लकुटिका पक्षी पोय-लता के बन्धन से बँधा है, वह वहीं वध, बन्धन या मरण की प्रतीक्षा कर रहा है, किन्तु उसका वह निर्बल बन्धन है, सड़ा बन्धन है, कमजोर बन्धन है'। क्या उदायी। ऐसा कहते वह ठीक कह रहा है ?" "नहीं भन्ते ! वह लकुटिका पक्षी जिस पोयलता के बन्धन से बँधा है, वह उसके लिये बलवान् बन्धन है, स्थूल कलिंगर (पशु के गले में बाँधने का काष्ठ) है" आदि।

६७. चातुम-सुत्त—चातुमा के भिक्षुओं को आचार-तत्त्व का उपदेश।

६८. नलक-पान-सुत्त—नलक-पान-के पलास-वन में भगवान् का भिक्षु अनि-रुद्ध से धर्म-संलाप।

६९. गुलिस्सानि-सुत्त—गुलिस्सानि नामक आरण्यक भिक्षु को लक्ष्य कर धर्म-सेनापति सारिपुत्र का भिक्षुओं को उपदेश।

७०. कीटागिरि-सुत्त—भिक्षु-नियमों सम्बन्धी उपदेश, विशेषतः एक समय भोजन करने के प्रसंग को लेकर।

(८) परिब्बाजक—वग्ग

७१. तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त—भगवान् बुद्ध त्रैविद्य हैं।

७२. अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त—अग्गिवच्छगोत्त नामक परिव्राजक को भगवान् की शिष्यत्व-प्राप्ति।

७३. महावच्छगोत्त-सुत्त—उपासकों और भिक्षुओं के कर्तव्य।

७४. दीघनख-सुत्त—दीघनख परिव्राजक से भगवान् का संलाप।

७५. मागन्दिय-सुत्त—मागन्दिय नामक परिव्राजक को कामनाओं के त्याग का उपदेश।

७६. सन्दक-सुत्त—सन्दक नामक परिव्राजक को आनन्द का उपदेश।

७७. महासकुलुदायि-सुत्त—महासकुलुदायि परिव्राजक को उपदेश।

७८. समणमंडिका-सुत्त—शुद्ध आचरण पर भगवान् बुद्ध का उपदेश।

७९. चूलसकुलुदायि-सुत्त—निगण्ठ नाथपुत्त और उनका चातुर्याम संवर।

८०. वेखनस-सुत्त—पूर्वोक्त के समान ही विषय-वस्तु।

(९) राजवग्ग

८१. घाटिकार-सुत्त—भगवान् बुद्ध के एक पूर्वजन्म का विवरण।

८२. रट्ठपाल-सुत्त—राष्ट्र-पाल की प्रव्रज्या का विवरण। कुरुदेश की राजधानी थुल्लकोट्ठित का उल्लेख है। राष्ट्रपाल यहीं के निवासी थे।

८३. मखादेव-सुत्त—बुद्ध के एक पूर्व जन्म की कथा।

८४. माधुरिय-सुत्त—चारों वर्णों की समता का उपदेश आयुष्मान् कात्यायन द्वारा। बुद्ध-निर्वाण के बाद आयुष्मान् कात्यायन का मथुरा के राजा अवन्तिपुत्र से मथुरा के गुन्दावन में संवाद।

८५. बोधिराजकुमार-सुत्त—भगवान् बुद्ध की जीवनी, स्वयं उनके शब्दों में, गृहत्याग से बुद्धत्व-प्राप्ति तक।

८६. अंगुलिमाल-सुत्त—डाकू अंगुलिमाल का जीवन-परिवर्तन।

८७. पियजातिक-सुत्त—सम्पूर्ण दुःख प्रेम से उत्पन्न होने वाले हैं।

८८. बाहितिक-सुत्त—शुभ और अशुभ आचरण । बुद्ध अशुभ आचरण नहीं कर सकते । आनन्द का प्रसेनजित् को उपदेश ।

८९. धम्मचेतिय-सुत्त—भोगों के दुष्परिणाम एवं बुद्ध की प्रज्ञा का दर्शन।

९०. कण्णकत्थल-सुत्त—क्या बुद्ध सर्वज्ञ है ?

(१०) ब्राह्मण—वग्ग

९१. ब्रह्मायु-सुत्त—३२ महापुरुष-लक्षण । तथागत के ईर्यापथ का विवरण । ब्राह्मण, वेदगू आदि शब्दों की बुद्धमतानुसार व्याख्या।

९२. सेल-सुत्त—सेल ब्राह्मण की प्रव्रज्या ।

९३. अस्सलायन-सुत्त—जातिवाद का खंडन । श्रावस्ती-निवासी आश्वलायन ब्राह्मण का यहाँ वर्णन है, जिसे विद्वानों ने प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन से मिलाया है ।

९४. घोटमुख-सुत्त—आत्म-पीड़ा की निन्दा ।

९५. चंकि सुत्त—बुद्ध के गुणों का वर्णन । सत्य की रक्षा और प्राप्ति के उपाय

९६. फासुकारि-सुत्त—जातिवाद की निन्दा ।

९७. धानंजानि-सुत्त—गृहस्थ-बन्धन अशुभ कर्म करने का बहाना नहीं ।

९८. वासेट्ठ-सुत्त—वास्तविक ब्राह्मण कौन ?

९९. सुभ-सुत्त—गृहस्थ और संन्यास की तुलना ।

१००. संगारव-सुत्त—बुद्ध-जीवनी का विवरण । बुद्ध द्वारा देवताओं के अस्तित्व की स्वीकृति ।

(११) देवदह वग्ग

१०१. देवदह-सुत्त—निगंठों के मत का विवरण ।

१०२. पञ्चत्तय-सुत्त—आत्मवाद आदि नाना मतवादों का खंडन ।

१०३. किन्ति-सुत्त—भिक्षुओं को एकता का उपदेश ।

१०४. सामगाम-सुत्त—बुद्ध के मूल उपदेश । संघ में शान्ति सम्बन्धी उपदेश । इस सुत्त में जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर की कैवल्य-प्राप्ति की सूचना है ।

१०५. सुनक्खत-सुत्त—ध्यान और चित्त-संयम पर प्रवचन ।

१०६. आनंजसप्पाय-सुत्त—भोगों की निस्सारता ।

१०७. गणकमोग्गल्लान-सुत्त—आचरण की शिक्षा का क्रमिक विकास ।

१०८. गोपकमोग्गल्लान-सुत्त—बुद्ध के बाद धर्म ही भिक्षुओं का एक मात्र प्रतिशरण। गोपक ब्राह्मण के साथ आनन्द का संलाप। इस सुत्त से हमें यह सूचना मिलती है कि राजा प्रद्योत के भय से मगधराज अजातशत्रु नगर सुरक्षित करवा रहा था।

१०९. महापुण्णम-सुत्त—पञ्चस्कन्ध एवं अनात्मवाद सम्बन्धी उपदेश।

११०. चूलपुण्णम-सुत्त—अच्छे और बुरे मनुष्य।

(१२) अनुपद-वग्ग

१११. अनुपद-सुत्त—भगवान् बुद्ध द्वारा सारिपुत्र के शील, समाधि और प्रज्ञा आदि की प्रशंसा।

११२. छब्बिसोधन-सुत्त—अर्हत् की पहचान क्या है ?

११३. सप्पुरिस-सुत्त—सत्पुरुष और असत्पुरुष की पहचान।

११४. सेवितव्व-असेवितव्व-सुत्त—क्या सेवनीय और क्या असेवनीय है ?

११५. बहुधातुक-सुत्त—धातुओं का निरुपण।

११६. इसिगिलि-सुत्त—प्रत्येक-बुद्ध-सम्बन्धी उपदेश।

११७. महाचत्तारीसक-सुत्त—सम्यक् समाधि सम्बन्धी प्रवचन।

११८. आनापानसति-सुत्त—प्राणायाम और ध्यान सम्बन्धी बुद्ध-प्रवचन।

११९. कायगतासति-सुत्त—काये कायानुपश्यना क्या है ?

१२०. संखारुप्पत्ति-सुत्त—संस्कारों की उत्पत्ति कैसे ?

(१३) सुञ्ञता-वग्ग

१२१. चूल-सुञ्ञता-सुत्त—चित्त की शून्यता का योग।

१२२. महासुञ्ञता-सुत्त—उपर्युक्त का विस्तृत विवरण।

१२३. अच्छरियब्भुतधम्म-सुत्त—आश्चर्य-पुरुष भगवान् बुद्ध का जन्म कहाँ व कैसे?

१२४. वक्कुल-सुत्त—स्थविर वक्कुल की जीवन-चर्या।

१२५. दन्तभूमि-सुत्त—संयम का उपदेश।

१२६. भूमिज-सुत्त—कौन सा ब्रह्मचर्य सफल है ?

१२७. अनुरुद्ध-सुत्त—भिक्षु अनिरुद्ध द्वारा अ-प्रमाणा चेतो-विमुक्ति पर उपदेश।

१२८. उपक्किलेस-सुत्त—कलह रोकने के उपाय। योग-साधन।

१२९. बाल पंडित सुत्त—जीवन के बाद फल ?

१३०. देवदत्त-सुत्त—यम का भय ?

(१४) विभंग-वग्ग

१३१. भद्देकरत्त-सुत्त—भूत और भविष्यत् की चिन्ता छोड़ वर्तमान में कर्म करना ही सर्वोत्तम मंगल है।
१३२. आनन्द भद्देकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
१३३. महाकच्चान भद्देकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त का ही अधिक विस्तृत वर्णन।
१३४. लोमसकंगिय-भद्देकरत्त-सुत्त। उपर्युक्त के समान ही
१३५. चूल कम्मविभंग-सुत्त—संसार में असमानता क्यों? कर्म-फल।
१३६. महाकम्मविभंग-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
१३७. सळायतन-सुत्त—छह आयतनों एवं चार स्मृति-प्रस्थानों का वर्णन।
१३८. उद्देस विभंग-सुत्त—इन्द्रिय संयम, ध्यान और अपरिग्रह का उपदेश।
१३९. अरण-विभंग -सुत्त—शान्ति का रहस्य?
१४०. धातु विभंग-सुत्त—छह धातुओं (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चित्त) का निरूपण
१४१. सच्चविभंग-सुत्त—चार आर्य सत्यों का विवरण।
१४२. दक्षिणा-विभंग-सुत्त—संघ को दिया हुआ दान व्यक्ति को दिये हुए दान से बढ़कर है।

(१५) सळायतन-वग्ग

१४३. अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्त—अनाथपिंडिक की बीमारी और मृत्यु का वर्णन। अन्तिम समय में धर्मसेनापति सारिपुत्र का उसको उपदेश।
१४४. छन्नोवाद-सुत्त—छन्न की आत्महत्या।
१४५. पुण्णोवाद-सुत्त—स्थविर पूर्ण की सहिष्णुता।
१४६. नन्दकोवाद-सुत्त—अनात्मवाद एवं सात बोध्यङ्गों का वर्णन।
१४७. चूलराहुलोवाद-सुत्त—अनात्मवाद-सम्बन्धी उपदेश।
१४८. छछक्क-सुत्त—अनात्मवाद का विस्तृत विवेचन।
१४९. महासळायतनिक-सुत्त—तृष्णा और दुःख का निरूपण।
१५०. नगर विन्देय्य-सुत्त—आदरणीय श्रमण-ब्राह्मण कौन हैं?
१५१. पिंडपात-पारिसुद्धि-सुत्त—भिक्षा की शुद्धि कैसे? स्मृति-प्रस्थान आदि की भावना का उपदेश।
१५२. इन्द्रिय-भावना-सुत्त—इन्द्रिय-संयम कैसे हो?

दीघ-निकाय के समान मज्झिम-निकाय में भी छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसकी पूर्व के भारतीय समाज की सामान्य अवस्था का अच्छा पता चलता है। उसके अनेक वर्णनों में तत्कालीन भौगोलिक और ऐतिहासिक तथ्यों की महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। मज्झिम-निकाय में वर्णित भगवान् के उपदेश जिन जिन प्रदेशों, नगरों, निगमों (कस्बों) ग्रामों या वन-प्रदेशों में हुए उनकी एक सूची बनाई जाय तो उस समय की भौगोलिक परिस्थितियों को समझने में हमारी बड़ी सहायक होगी। अंग, वंग, योनकम्बोज, भग्ग, काशी, कुरु, कोशल जैसे प्रदेश, वैशाली, चम्पा, पाटलिपुत्र, कपिलवस्तु, राजगृह, नालन्दा, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी जैसे नगर, शाक्यों के मेदलुम्प, कोलियों के हलिद्दवसन, कुरुओं के थुल्लकोट्ठित आदि कस्बे तथा दण्डकारण्य, कलिङ्गारण्य जैसे वन-प्रदेश, जो बुद्ध-चरणों की रज से अंकित हुए थे, हमारे लिये एक गौरवमयी स्मृति का सन्देश देते हैं। कोसल-प्रदेश के दो मुख्य नगरों श्रावस्ती और साकेत के बीच डाक (रथ विनीत) का सम्बन्ध था, यह हम रथ विनीत-सुत्तन्त (मज्झिम १।३।४) से जानते हैं। बुद्धकालीन भारत का पूरा धार्मिक वातावरण मज्झिम-निकाय में उपस्थित है। ब्राह्मणों के जीवन, कर्मकांड और सिद्धान्त, उनके मन्त्रकर्ता ऋषि, वाद-परम्परा और पौरोहित्य, सभी का मूर्तिमान् चित्र हमें यहाँ मिलता है। इस दृष्टि से पूरा ब्राह्मण-वर्ग अर्थात् ९१वें सुत्त से लेकर १०० वे सुत्त तक का भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मायु, शैल, आश्वलायन, घोटमुख, चंकि, एसुकारी, धानंजानि, वासेट्ठ, भारद्वाज, सुभ, संगारव, मागन्दिय आदि तत्कालीन ब्राह्मण-दार्शनिकों का पूरा व्यक्तित्व, उनके मत और बुद्ध-धर्म के साथ उनके सम्बन्ध का पूरा चित्र हमें इन सुत्तों में मिल जाता है। इसी प्रकार तत्कालीन परिव्राजकों का चित्र हमें अग्गिवच्छगोत्त सुत्त जैसे सुत्तों में मिल जाता है। दीघनख, सन्दक, सकुलादायि, वेखनस आदि परिव्राजकों के साथ भगवान् के संवाद जो मज्झिम-निकाय में दिये हुए हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। तत्कालीन छह प्रसिद्ध आचार्यों (पुराण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केस कम्बलि आदि) तथा अन्य सम्प्रदायों के मतों को जानने की दृष्टि से अपण्णक-सुत्त, तेविज्ज-वच्छगोत्त-सुत्त, तथा महा-वच्छगोत्त-सुत्त आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कन्दरक-सुत्त, उपालि-सुत्त तथा अभयराजकुमार सुत्त में निर्ग्रन्थ ज्ञात्रपुत्र (भगवान् महावीर) के मत के सम्बन्ध में भी कुछ सूचना मिलती है। तत्कालीन साधकों में जो नाना प्रकार की

पीड़ाजनक तपश्चर्यायें प्रचलित थीं और जिनका अभ्यास गोतम ने भी अपने ज्ञान की खोज में किया था, महासीहनाद-सुत्त, कुक्कुरवतिक-सुत्त बोधि-राजकुमार-सुत्त और कन्दरक-सुत्त में वर्णित हैं। पासरासि-सुत्त, बोधि-राजकुमार सुत्त और महासच्चक-सुत्त में भगवान् बुद्ध की आत्मकथा है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मायु-सुत्त में उनके ईर्यापथ का वर्णन है जो उनकी दैनिक चर्या तथा साधारण शारीरिक चाल-ढाल को समझने के लिये बहुत आव- श्यक है। इसी प्रकार महाराहुलोवाद-सुत्त, महावच्छगोत्त-सुत्त तथा महासकुलुदायि-सुत्त में संघ के नियम और जीवन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री है। कन्दरक-सुत्त और धानंजानि-सुत्त भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। पियजातिक-सुत्त, धम्म-चेतिय-सुत्त, तथा कण्णत्थलक-सुत्त में तत्कालीन राजाओं का कुछ विवरण है। मागन्दिय सुत्त में तत्कालीन आयुर्वेद की अवस्था का कुछ परिचय मिलता है। यहाँ ऊर्ध्व विरेचन, अधो विरेचन आदि का वर्णन है। वाहीतिय-सुत्त में महीन कपडे के बनने का वर्णन है और उपालि-सुत्त में रंगने की कला का निर्देश आया है। सारांश यह कि मज्झिम निकाय में तत्कालीन समाज, धर्म, कला-कौशल आदि का एक अच्छा चित्र हमें मिलता है।

इ—संयुत्त-निकाय[1]

संयुत्त-निकाय (संयुक्त-निकाय) छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संग्रह है। इसीलिये इसका यह नाम पड़ा है।[2] विशेषतः संयुत्त-निकाय में छोटे आकार के सुत्त ही अधिक हैं। संयुत्त निकाय के सुत्तों की कुल संख्या २८८९ है। प्रायः प्रत्येक सुत्त संक्षिप्त गद्यात्मक बुद्ध-प्रवचन के रूप में ही है। बुद्धकालीन

१. लियोन फियर द्वारा पाँच जिल्दों में रोमन-लिपि में सम्पादित एवं पालि-टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८४-९८, द्वारा प्रकाशित। अमरसिंह का सिंहली संस्करण वलीतारा, १८९८, प्रसिद्ध है। इस निकाय का हिन्दी-अनुवाद भिक्षु जगदीश काश्यप ने किया है, किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ।

२. 'दीघ,' 'मज्झिम' और 'खुद्दक' शब्दों की पृष्ठभूमि में तो 'संयुत्त' (संयुक्त, मिश्रित) शब्द का यही अर्थ हो सकता है। बौद्ध परम्परा को भी प्रधानतः यही अर्थ मान्य है। गायगर ने अवश्य 'संयुत्त' शब्द की सार्थकता को उस निकाय में विषय वार सुत्तों के संयुक्त या वर्गीकृत करने के कारण माना है। देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ १८

भारतीय ग्रामीण जीवन का इस निकाय में बड़ा सुन्दर चित्र मिलता है। साथ में काव्यात्मक अंश भी हैं और लोक-आख्यान भी कहीं कहीं समाविष्ट हैं। यक्ष, यक्षिणी, देवता और गन्धर्वों का इस निकाय में कुछ अधिक निर्देश मिलता है। किन्तु इससे पृष्ठ भूमि की स्वाभाविकता में कोई अन्तर नहीं आने पाया। भगवान् बुद्ध के स्वभाव और जीवन की विशेषताएं, उनकी गम्भीरता, प्राणि-मात्र के प्रति उनकी करुणा, इसी कारण मनुष्य-समाज के अज्ञानों पर उनके मृदुल व्यंङ्ग्य, उनकी विनम्रता, मानवीयता, सभी इस निकाय में उसी प्रकार प्रस्फुटित होती है जैसे पूर्व के दो निकायों में। शैली की दृष्टि से भी इस निकाय की दीघ और मज्झिम की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं। पुनरुक्तियाँ वही दोनों निकायों की सी हैं। 'सडायतन वग्ग, इसका एक अच्छा उदाहरण है। यद्यपि संयुत्त-निकाय का अधिकांश भाग गद्य में है, किन्तु प्रथम वर्ग 'सगाथ वग्ग' (गाथा-युक्त वर्ग) में बड़ी सुन्दर, भावात्मक गाथाएँ भी मिलती है। मार-संयुत्त और भिक्खुनी-संयुत्त, आख्यानात्मक काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। गद्य और पद्य दोनों में ही यह आख्यान-साहित्य संयुत्त-निकाय में मिलता है। 'भिक्खुनी-संयुत्त' जैसे आख्यानों में नाटकीय तत्त्व भी अपनी विशेषता लिये हुए है, जो इन रचनाओं को एक विशेष गति और क्रियाशीलता प्रदान करता है।

जैसा पहले दिखाया जा चुका है, संयुत्त-निकाय पाँच वर्गों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः ११, १०, १३, १० और १२ अर्थात् कुल मिला कर ५६ संयुत्त हैं। यह विभाजन पूर्णतया विषय की दृष्टि से नही है। जैसा विंटरनित्ज़ ने कहा है, संयुत्त-निकाय के वर्गीकरण में तीन सिद्धान्तों का अनुवर्तन किया गया मालूम होता है (१) बुद्ध-धर्म के किसी मुख्य पहलू का विवेचन करने वाले सुत्तों को एक संयुक्त में वर्गीकृत कर दिया गया है, जैसे बोज्झङ्ग-संयुत्त आदि। (२) मनुष्य, देवता या यक्ष आदि के निर्देश के आधार पर उनका अलग अलग वर्गो मेंविभाजन कर दिया गया है, जैसे देवता-संयुत्त आदि (३) वक्ता या उपदेष्टा के रूप में जो प्रधान व्यक्ति अनेक सुत्तों में दृष्टिगोचर होता है, उस सम्बंधी उपदेशों को एक संयुत्त में सम्मिलित कर दिया गया है, जैसे सारिपुत्त-संयुत्त आदि।[1] वर्ग वार इन सुत्तों की विषय-वस्तु का यहाँ कुछ संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक होगा।

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५६; मिलाइये गायगर: पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १८

१ – सगाथ-वग्ग

१. देवता-संयुत्त—देवताओं ने भगवान् से कुछ प्रश्न पूछे हैं, जिनका उन्होंने उत्तर दिया है। काम-वासना, पुनर्जन्म, मिथ्या मतवाद और अविद्याश्रित इच्छाओं का किस प्रकार भगवान् ने दमन किया है, यह यहाँ बताया गया है। पाप और आसक्ति मुक्ति पाने का मार्ग भी भगवान् ने यहाँ बताया है।

२. देवदत्त-संयुत्त—देव-पुत्रों के कुछ प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने दिया है। उन्होंने कहा है कि सुख-प्राप्ति का एक मात्र उपाय क्रोध-त्याग और सत्संगति ही है।

३. कोसल-संयुत्त—यह सम्पूर्ण संयुत्त कोशलराज प्रसेनजित् (पसेनदि) के विषय में है। प्रसेनजित् पहले बावरि नामक ब्राह्मण का शिष्य था। बाद में वह बुद्ध-धर्म में गृहस्थ-शिष्य (उपासक) के रूप में प्रविष्ट हो गया। मगधराज अजातशत्रु (अजातसत्तु) और प्रसेनजित् के बीच युद्ध होने का भी उल्लेख इस संयुत्त में मिलता है। यह युद्ध काशी-प्रदेश के ऊपर हुआ। प्राथमिक विजय अजातशत्रु की हुई, किन्तु बाद में वह पराजित किया गया और प्रसेनजित् उसे बन्दी बनाकर कोशल ले गया। वहाँ उसने अपनी पुत्री वज्रा (वजिरा) का उसके साथ पाणि-ग्रहण कर काशी-प्रदेश उसे भेंट-स्वरूप प्रदान किया।

४. मार-संयुत्त—बुद्ध और उनके शिष्यों की मार-विजय का वर्णन है। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद भी मार ने बुद्ध को ब्रह्मचर्य के जीवन से विचलित करने के लिये प्रभूत प्रयत्न किया। ढेले बरसाये, पत्थर फेंके, अनेक प्रकार के भय दिखलाये, यहाँ तक कि 'पंचशाल' नामक गाँव के गृहस्थों को कहा कि इस महाश्रमण को भोजन मत दो। एक दिन भगवान् को भिक्षा भी नहीं मिली। धुला-धुलाया रीता पात्र लेकर लौट आये। किन्तु मार के ये सब प्रयत्न विफल हुए और वह बुद्ध और उनके शिष्यों को ब्रह्मचर्य के जीवन से बिचलित नहीं कर सका।

५. भिक्खुनी-संयुत्त—दस भिक्षुणियों के सुन्दर काव्य-मय आख्यान हैं। किस प्रकार गोतमी, उत्पलवर्णा (उप्पलवण्णा) वज्रा (वजिरा) आदि भिक्षुणियाँ बुद्ध-मार्ग का अनुगमन करती हुई मार पर विजय प्राप्त करती हैं, इसी का सुन्दर काव्य-मय वर्णन है।

६. ब्रह्म-संयुत्त—बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद बुद्ध को उपदेश करने की इच्छा नहीं हुई। तृष्णा-विनाश का यह स्वाभाविक परिणाम था। विमुक्ति-सुख का

अनुभव करते हुए सप्ताहों तक समाधि में बैठे रहे। ब्रह्मा को चिन्ता हुई, इस प्रकार तो लोक नष्ट हो जायगा। जाकर भगवान् से प्रार्थना की—भन्ते ! लोक के हित के लिये धर्मोपदेश करें। भगवान् ने कहा कि जनता काम-वासनाओं में लिप्त है। वह उनके गम्भीर उपदेश को नहीं समझेगी। ब्रह्मा ने भगवान् से अनुनय की कि संसार में कुछ अल्प-मल प्राणी भी हैं और उनको भगवान् के उपदेश से अवश्य लाभ होगा। तथागत ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसके बाद भगवान् ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने के लिये वाराणसी की ओर प्रस्थान किया।

७. ब्राह्मण-संयुत्त—एक भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण की प्रव्रज्या का वर्णन है। अपनी पत्नी के मुख से बुद्ध-प्रशंसा सुन कर वह भगवान् बुद्ध के दर्शन के लिये गया। वहाँ उनके उपदेश से प्रभावित होकर उसने त्रिशरण (बुद्ध, धम्म और संघ की शरण) ली और प्रव्रजित हो गया।

८. वंगीस-संयुत्त—वंगीश नामक भिक्षु की काम-वासना पर विजय-प्राप्ति का वर्णन है। एक बार विहार में आई हुई कुछ सुन्दर, आभूषित स्त्रियों को देख कर उनके मन में काम उत्पन्न हो गया। काम-दुष्परिणाम का पर्यवेक्षण कर किस प्रकार इस भिक्षु ने काम-वासना से बिमुक्ति पाई, इसका सुन्दर भावनामय वर्णन है।

९. वन-संयुत्त—किस प्रकार वन-देवता भी पथ-भ्रष्ट भिक्षुओं को सम्यक् मार्ग पर लगा देते हैं, इसका कुछ भिक्षुओं के उदाहरणों के साथ वर्णन है।

१०. यक्ख-संयुत्त—इन्द्रकूट और गृध्रकूट पर्वतों पर बिचरते हुए भगवान् से कुछ यक्षों ने प्रश्न पूछे हैं, जिनका उन्होंने उत्तर दिया है। अनेक प्रश्नों में एक यह भी है "भन्ते ! बताइये कहाँ से काम-वासना, द्वेष, असन्तोष, भय आदि उत्पन्न होते हैं ?" भगवान् कहते हैं "हे यक्ष ! कहता हूँ। ध्यान से सुन। जो आत्मा और उसकी उत्पत्ति को जानते हैं वे इस दुस्तर भव-बाढ़ को तर जाते हैं, वे फिर इस संसार में जन्म प्राप्त नहीं करते।" इसी प्रकार वैर से कौन मुक्त है, इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं "जिसका चित्त दिन-रात वैर-साधन में लगा है, वह वैर से मुक्त नहीं होता। किन्तु जो सब प्राणियों के प्रति अहिंसा और मैत्री-भावना का आचरण करता है, वह वैर से विमुक्त हो जाता है। इसी संयुत्त में एक यक्षिणी को अपने प्रिय पुत्र को यह कह कर चुप करते हुए हम देखते हैं "चुप हो जा प्रियंकर ! प्रिय वत्स चुप हो जा ! देख यह

भिक्षु कुछ कह रहा है। मुझे इसके वचन सुन लेने दे। यह मेरे लिये हितकर होगा।" इसी प्रकार एक और यक्षिणी कहती है "चुप हो जा उत्तरा! पुनर्वसु! शोर बन्द कर दे! देख, मुझे इन शास्ता के वचन सुन लेने दे।" यक्ष और यक्षिणियों के रूप में यहाँ उस प्रभाव को ही अंकित किया गया है जो न केवल बुद्ध बल्कि तत्कालीन भिक्षु-भिक्षुणियों के भी पवित्र जीवन ने साधारण जनता के हृदय पर डाला था। साधारण गृहिणियाँ भी उनके वचन को सुनने के लिये कितना उत्सुक रहती थीं और उसे अपने लिये कितना कल्याणकारी मानती थीं, यह इस सुत्त में द्रष्टव्य है। इसी संयुत्त के अन्त में एक यक्ष आकर भगवान् से कहता है "भिक्षु! मैं तुम्हें एक प्रश्न पूछता हूँ। तू इसका उत्तर दे। यदि न दे सका तो मै या तो तेरी खोपड़ी को फोड़ दूगा या तुझे पकड़ कर गंगा में फैक दूगा।" भगवान् कहते है "मेरी खोपड़ी को फोड़ने वाला या मुझे पकड़ कर गंगा में फेंकने वाला इस संसार में कोई नही है। हाँ, तू इच्छानुसार प्रश्न पूछ सकता है।" यक्ष भगवान् के उत्तरों से सन्तुष्ट हो जाता है और अन्त में बुद्ध, धम्म और संघ की शरण मे जाता है। इतना ही नही वह कृतज्ञतापूर्वक कहता है "अब मै गाँव से गाँव, कस्बे (निगम) से कस्बे, और नगर से नगर जाकर बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म का जनताओं के कल्याण के लिये प्रचार करूँगा।" यक्ष और बुद्ध के उपर्युक्त संवाद की तुलना विटरनित्ज़ ने महाभारत के यक्ष और युधिष्ठिर के संवाद से की है।[1] किन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। महाभारत में आरम्भ से लेकर अन्त तक युधिष्ठिर यक्ष की कृपा के भिक्षुक है और अपने उत्तरों द्वारा उसे प्रसन्न कर के ही वे अपनी विमुक्ति प्राप्त करते है। इसके विपरीत यहाँ यक्ष पहले ही बुद्ध पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने मे असफल हो जाता है। बुद्ध-गौरव से पराजित होकर ही वह प्रश्न पूछता है और अन्त में तो वह उनका अंजलिबद्ध शिष्य ही हो जाता है।

११. सक्क-संयुत्त—देवराज शक्र की बुद्ध द्वारा प्रशंसा है। ऋग्वेद का वज्र धारी इन्द्र बौद्ध प्रभाव में आकर क्षमाशील बन गया है। वह वैसा असंयमी भी नहीं रहा। भगवान् ने इस प्रशंसा में इन्द्र की क्षमाशीलता और उसकी संयम-परायणता का ही विशेष वर्णन किया है। अपने इन्हीं गुणों के कारण

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५८।

उसने ३३ देवताओं के ऊपर आधिपत्य प्राप्त किया है। इसी प्रसंग में देवासुर-संग्राम का भी इस संयुत्त में वर्णन आया है।

२—निदान-वग्ग

१. निदान-संयुत्त—प्रतीत्य समुत्पाद का विशद वर्णन है। किस प्रकार अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से सळायतन, सळायतन से स्पर्श और इस प्रकार क्रमशः वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख आदि की उत्पत्ति होती है और किस प्रकार इनका क्रमशः निरोध होता है, इसी का उपदेश यहाँ भगवान् ने भिक्षुओं को दिया है। विषय-निरूपण प्रायः महानिदान-सुत्त (दीघ-२।२) के समान ही है।

२. अभिसमय-संयुत्त—अणुमात्र भी चित्त-मलिनता रहते निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं। अतः भिक्षु को उत्तरोत्तर अनवरत अध्यवसाय करते हुए अ-प्रहीण चित्त-मलों को नष्ट करना चाहिये और सदाचरण की वृद्धि करनी चाहिये।

३. धातु-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन, आदि इन्द्रियों, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य और धर्म उनके विषयों एवं चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान एवं मनोविज्ञान उनके विज्ञानों, इस प्रकार इन अठारह धातुओं का यहाँ विवरण दिया गया है।

४. अनमतग्ग-संयुत्त—"भिक्षुओ ! इस संसार का आदि पूर्णतः अज्ञात (अनमतग्ग) है। तृष्णा और अविद्या से संचालित, भटकते-फिरते प्राणियों के आरम्भ का पता नहीं चलता।" यही इस संयुत्त की मूल भावना है।

५. कस्सप-संयुत्त—भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप की सन्तोष-वृत्ति की प्रशंसा की है। महाकाश्यप यथा-प्राप्त भोजन, यथा-प्राप्त वस्त्र, यथा-प्राप्त शयनासन (निवास-स्थान) और यथा-प्राप्त पथ्य-औषध आदि की सामग्री से सन्तुष्ट हो जाने वाले हैं। भगवान् ने दूसरे भिक्षुओं को भी ऐसा ही होने का उपदेश दिया है।

६. लाभ-सक्कार-संयुत्त—लाभ और सत्कार से विरत रहने का भिक्षुओं को भगवान् के द्वारा उपदेश दिया गया है। उन्होंने कहा है कि लाभ और

सत्कार को चाहने वाले भिक्षु का पतन हो जाता है और उसकी वही गति होती है जो अंकुश को निगलने वाली मछली की।

७. राहुल संयुत्त---राहुल को संयम का उपदेश। शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध, सभी अनित्य और दुःख-रूप हैं। उनमें 'मैं' या 'मेरा' की भावना करने से दुःख ही हो सकता है। उनमें से किसी के विषय में 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा आत्मा है' ऐसी भावना करना उपयुक्त नहीं।

८, लक्खण-संयुत्त---एक दिन धर्मसेनापति सारिपुत्र और एक अन्य भिक्षु जिसका नाम लक्खण (लक्षण) था साथ साथ भिक्षा-चर्या को जा रहे थे। अचानक सारिपुत्र को हँसी आ गई। भिक्षा से लौट आने के बाद लक्षण ने उनकी इस हँसी का कारण पूछा। धर्म सेनापति ने भगवान् बुद्ध और अन्य भिक्षुओं की उपस्थिति में उसका कारण बताया।

९. ओपम्म-संयुत्त---भगवान् ने भिक्षुओं को सचेत और जागरूक रहने का उपदेश दिया है। यहाँ उन्होंने उपमा (ओपम्म) की है। जिस प्रकार यदि लिच्छवि गणतन्त्र के लोग सतत जागरूक और सचेत नहीं रहेंगे तो अजातशत्रु (मगधराज) उन्हें दबा लेगा, पराजित कर देगा, इसी प्रकार यदि भिक्षु अपने आचरण में थोड़ा भी प्रमाद करेंगे, तो उन्हें मार अपने फन्दे में दबा लेगा।

१०. भिक्खु-संयुत्त---महामोग्गल्लान (महामौद्गल्यायन) का भिक्षुओं को 'आर्य-मौन' पर उपदेश। उन्होंने बताया है कि 'आर्य-मौन' का वास्तविक आचरण द्वितीय ध्यान की अवस्था में होता है। भगवान् बुद्ध नन्द और तिष्य (तिस्स) नामक भिक्षुओं को भिक्षु-नियमों का पूरा पालन करने को कहते हैं।

३---खन्धवग्ग

१. खन्ध-संयुत्त---पञ्चस्कन्धों का वर्णन है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य, परिवर्तन-शील और दुःख-रूप हैं। इनमें 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' या 'यह मेरा आत्मा है' इस प्रकार की भावना साधक को नहीं करनी चाहिये। बल्कि इनके उदय (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये और इनमें मन को आसक्त नहीं करना चाहिये। पञ्चस्कन्धों की अनित्यता और दुःखमयता का चिन्तन करने पर काम-वासना रह ही नहीं सकती, और पुनर्जन्म, अविद्या, आत्माभिनिवेश, सभी नष्ट हो जाते हैं।

२. राध-संयुत्त—स्थविर राध ने भगवान् से मार, तृष्णा, अनित्यता आदि पर प्रश्न पूछे हैं। भगवान् के उत्तर बड़े मार्मिक हैं।

३. दिट्ठि-संयुत्त—मिथ्या मतवादों की उत्पत्ति का कारण भगवान् ने बताया है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में 'मैं' या 'मेरा' की भावना करना, इस प्रकार के चिन्तनों में लगे रहना जैसे कि क्या यह लोक शाश्वत है या अशाश्वत है, सान्त है या अनन्त है, क्या जीव और शरीर दो अलग अलग हैं या एक हैं, आदि, इस प्रकार के विचारों की आसक्ति ही मिथ्या मतवादों का कारण है।

४. ओक्कन्तिक-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, शरीर और मन, ये सभी अनित्य, परिवर्तशील और दुःख रूप हैं, इनमें 'आत्मा' (अत्ता) की उपलब्धि नहीं होती, इस प्रकार जिसकी स्मृति सदा उपस्थित रहती है वही धर्म-मार्ग में विचरण करने वाला भिक्षु है।

५. उप्पाद-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन का उत्पन्न होना ही जन्म, जरा, मरण, दुःख और शोक का उत्पन्न होना है—बुद्ध-उपदेश।

६. किलेस-संयुत्त—क्लेश या चित्त-मलों का विवरण है। चक्षु और दृश्य पदार्थ में, श्रोत्र और शब्द में, घ्राण और गन्ध में, जिह्वा और रस में, काय और स्पृष्टव्य में, मन और धर्मों (पदार्थों) में इच्छा और आसक्ति का होना ही चित्त का मल है।

७. सारिपुत्त-संयुत्त—आनन्द ने धर्मसेनापति सारिपुत्त से पूछा है कि उन्होंने अपनी इन्द्रियों को किस प्रकार शमित किया है ? धर्मसेनापति ने उत्तर-स्वरूप कहा है "एकान्त-वास (प्रविवेक) से उत्पन्न, सुख और सौमनस्य से युक्त, प्रथम ध्यान में स्थित रह कर, विषयों से दूर रह कर, 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकार के विचारों को त्याग कर मैंने अपनी इन्द्रियों को शमित किया है।"

८. नाग-संयुत्त—नागों की चार प्रकार की उत्पत्तियाँ हैं, जैसे कि अंडे से उत्पत्ति, माँ के पेट से उत्पत्ति, स्वेद से उत्पत्ति, माता-पिता से उत्पत्ति।

९. सुपण्ण-संयुत्त—सुपर्ण नामक पक्षियों की भी चार प्रकार की उत्पत्तियाँ हैं, अंडे से उत्पत्ति, माँ के पेट से उत्पत्ति, स्वेद से उत्पत्ति, बिना माता-पिता के उत्पत्ति।

१०. गन्धब्ब-काय-संयुत्त—गन्धर्व जाति के देवताओं का वर्णन है।

११. वलाह-संयुत्त—'वलाहक कायिक' अर्थात् बादल रूपी काया वाले देवताओं का वर्णन है।

१२. वच्छगोत्त-संयुत्त—वच्छगोत्त नामक परिव्राजक की मिथ्या-धारणाओं का भगवान् के द्वारा निवारण। क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत है, सान्त है या अनन्त है, जीव और शरीर एक ही हैं या अलग अलग हैं, आदि मिथ्या धारणाओं का कारण भगवान् ने पंच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) के वास्तविक स्वरूप (अनित्य, दुःख, अनात्म) का अज्ञान ही बनाया है। वच्छगोत्त परिव्राजक का भगवान् से संवाद मज्झिम-निकाय के तेविज्ज वच्छगोत्त-सुत्त' (१।३।१) में भी हुआ है।

१३. झान (या समाधि) संयुत्त—ध्यान या समाधि का विवरण है। भगवान् ने कहा है कि जो पुरुष ध्यान और उसकी प्राप्ति की रक्षा करने में कुशल है, वही सर्वोत्तम ध्यानी है।

४—सळायतन-वग्ग

१. सळायतन-संयुत्त—चक्षु और रूप, श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, काया और स्पर्श, मन और धर्म, सभी अनित्य, दुःख और अनात्म है। इन सब में 'मैं' और 'मेरा' की भावना करना उपयुक्त नहीं। इनमें जब आसक्ति को मनुष्य नष्ट कर देता है, तो वह बन्धन से छूट जाता है। उच्चतम संयम भी यही है।

२. वेदना-संयुत्त—सुखा, दुःखा और न-सुखा-न-दुःखा, ये तीन वेदनाएँ हैं। इनमें सुख की वेदना को दुःख के रूप में देखना चाहिये, दुःख की वेदना को शूल के रूप में देखना चाहिये और न-सुख-न-दुःख की वेदना को अनित्य के रूप में देखना चाहिये। वेदनाओं को छोड़ देने वाला अनासक्त भिक्षु ही 'सम्यक् दृष्टि' सम्पन्न कहलाता है।

३. मातुगाम-संयुत्त—स्त्रियों-सम्बन्धी बुद्ध-प्रवचन है। भगवान् ने स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक दुःखभागिनी माना है। अतः ब्रह्मचर्य-जीवन की उनके लिये उतनी ही अधिक आवश्यकता भी। स्त्रियों को पाँच विशेष कष्ट हैं—बाल्य काल में माता-पिता का घर छोड़ना पड़ता है, उसे छोड़ कर दूसरे (पति) के घर जाना पड़ता है, गर्भ धारण करना पड़ता है, प्रसव करना पड़ता है, पुरुष की सेवा करनी पड़ती है। संसार में रूप, धन, चरित्र और परिश्रमी स्वभाव

वाली एवं सन्तान प्रसविनी स्त्री का आदर होता है। यदि स्त्री पतिव्रता, विनीत, लज्जाशील और ज्ञानवती हो तो वह मरने के बाद सद्गति प्राप्त करती है। दुराचारिणी, मूर्खा और निर्लज्जा होने पर वह मरने के बाद दुर्गतियों में पड़ती है।

४. जम्बुखादक-संयुत्त—जम्बुखादक नामक परिव्राजक के प्रति धर्म-सेनापति सारिपुत्र का बुद्ध-धर्म पर उपदेश है। निर्वाण और अर्हत्त्व का अर्थ सारिपुत्र ने राग, द्वेष और मोह से विमुक्ति कहा है। इसे प्राप्त करने का उपाय आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग ही है। जिसने राग-द्वेष को छोड़ दिया, वही मनुष्य सुखी है। आस्रवों (चित्त-मलों) से विमुक्ति पाने का आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग से अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

५. सामंडक-संयुत्त—सामंडक नामक परिव्राजक के प्रति सारिपुत्र का 'निब्बाण' (निर्वाण) पर उपदेश है। विषय-वस्तु उपर्युक्त संयुत्त के समान ही है।

६. मोग्गल्लान-संयुत्त—महामोग्गल्लान (महामौद्गल्यायन) द्वारा भिक्षुओं को चार ध्यानों का उपदेश है। दीघ और मज्झिम निकायों के इस सम्बन्धी वर्णन से यहाँ कोई विशेषता नहीं है। बिलकुल उन्हीं शब्दों में यहाँ भी चार ध्यानों का विवरण दिया गया है। अरूपावचर भूमि के आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक ध्यान-अवस्थाओं का भी यहाँ वर्णन किया गया है।

७. चित्त-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, काय और मन रूपी इन्द्रियाँ बन्धन की कारण नहीं हैं। रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श और मानसिक धर्म भी बन्धन के कारण नहीं हैं। बन्धन की कारण तो वह वासना है, तृष्णा है, जो चक्षु और रूप के संयोग से उत्पन्न होती है, श्रोत्र और शब्द के संयोग से पैदा होती है, घ्राण और गन्ध के संयोग से पैदा होती है, काय और स्पर्श के संयोग से पैदा होती है, मन और धर्मों के संयोग से पैदा होती है। अतः इस वासना या तृष्णा का निरोध ही बन्धन-विमुक्ति का कारण है।

८. गामणि-संयुत्त—भोगवाद और तपश्चरण की अतियों को छोड़कर मध्यम मार्ग पर चलने का उपदेश गामणि को दिया गया है। क्रोध को छोड़कर क्षमाशील होने का भी यहाँ उपदेश दिया गया है।

९. असंखत-संयुत्त—निर्वाण असंस्कृत अर्थात् अकृत है। राग, द्वेष और मोह का सम्पूर्ण निरोध ही 'निर्वाण' कहा जाता है, कायिक-मानसिक जागरूकता

(स्मृति-सम्प्रजन्य) चित्त-शान्ति (शमथ), आन्तरिक ज्ञान-दर्शन (विपश्यना) चार स्मृति-प्रस्थान और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, यही उसकी प्राप्ति के सर्वोत्तम साधन हैं।

१०. अव्याकत-संयुत्त—कोशलराज प्रसेनजित् ने क्षेमा (खेमा) नाम की भिक्षुणी से पूछा है "क्या मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं या नहीं रहते ? या रहते भी हैं और नहीं भी रहते ?"। क्षेमा ने इसके उत्तर स्वरूप केवल यह कहा है कि तथागत ने इसे अ-व्याकृत कर दिया है अर्थात् उन्होंने इसे ब्रह्मचर्य के लिये आवश्यक न समझकर अकथनीय कर दिया है । साथ में वह यह भी कहती है कि तथागत का ज्ञान गम्भीर समुद्र के समान है, जिसकी थाह नहीं ली जा सकती। जब अनिरुद्ध, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे बुद्ध के अन्य शिष्यों से यह प्रश्न पूछा जाता है तो वे भी उसका उसी प्रकार उत्तर देते हैं जैसे क्षेमा भिक्षुणी ने दिया है। दीघ और मज्झिम निकायों के 'दस अव्याकृत' (अकथनीय) धर्मों के समान यहाँ भी बुद्ध-मन्तव्य विमल जल के समान स्वच्छ दिखलाई पड़ता है। पासादिक-सुत्त (दीघ. ३।६) और चूल मालुंक्य-सुत्त (मज्झिम. २।२।३) के समान ही इस संयुत्त की विषय-वस्तु है।

५—महावग्ग

१. मग्ग-संयुत्त—आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि) का पूरे विवरण के साथ वर्णन किया गया है।

२. बोज्झंग-संयुत्त—परम ज्ञान (बोधि) के सात अङ्गों यथा स्मृति, धर्म-गवेषणा (धम्मविचय) वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि (चित्त-प्रसाद) समाधि और उपेक्षा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

३. सतिपट्ठान-संयुत्त—काया में कायानुपश्यी होना, वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होना, चित्त में चित्तानुपश्यी होना और धर्मों (पदार्थों) में धर्मानुपश्यी होना, इन चार स्मृति-प्रस्थानों (सतिपट्ठान) का यहाँ दीघ[1] और मज्झिम[2] निकायों के समान शब्दों में विस्तृत वर्णन किया गया है।

---

१. देखिये महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ. २।९)

२. सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०)

४. इन्द्रिय-संयुत्त—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इन पाँच इन्द्रियों अथवा ज्ञान-शक्तियों का वर्णन है।

५. सम्मप्पधान-संयुत्त—जो चित्त-मल अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनकी उत्पत्ति को रोकना, जो चित्त-मल उत्पन्न हो चुके हैं उनको नष्ट करना, जो शुभ कर्म अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं उनको उत्पन्न करना, जो उत्पन्न हो चुके हैं उनको बढ़ाना, इन चार सम्यक्-प्रधानों या शुभ प्रयत्नों का यहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है।

६. बल-संयुत्त—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा, इन पाँच बलों का वर्णन है।

७. इद्धिपाद-संयुत्त—इच्छा-शक्ति (छन्द), वीर्य, चित्त और मीमांसा (वीमंसा) इन चार ऋद्धिपादों या योग-सम्बन्धी विभूतियों का वर्णन है।

८. अनुरुद्ध-संयुत्त—शरीर, वेदना, मन और मानसिक धर्म, इन सब पर अद्भुत संयम प्राप्त कर किस प्रकार स्थविर अनिरुद्ध ने योग की विभूतियों को प्राप्त किया है, इसका वर्णन है।

९. झान-संयुत्त—ध्यान की चार अवस्थाओं का वर्णन है। वर्णन की भाषा बिलकुल वही है जो प्रथम दो निकायों में। किस प्रकार शील और सदाचार में प्रतिष्ठित होकर, एकान्त-वास का सेवन कर, साधक क्रमशः ध्यान की प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओं को प्राप्त करता है, इसका त्रिपिटक में प्रायः समान शब्दों में अनेक बार वर्णन किया गया है।[1] संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि प्रथम ध्यान की अवस्था में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता रहते हैं। द्वितीय ध्यान की अवस्था में वितर्क और विचार का प्रहाण हो जाता है और केवल समाधि से उत्पन्न प्रीति और सुख रहते हैं। तृतीय ध्यान की अवस्था में प्रीति और सुख से भी उपेक्षा हो जाती है और साधक उपेक्षा और स्मृति के साथ ध्यान करने लगता है। चतुर्थ ध्यान में चूंकि सुख-दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य पहले से ही अस्त हुए रहते हैं, अतः साधक न दुःख और न सुख वाले तथा स्मृति और उपेक्षा से शुद्ध, इस ध्यान को प्राप्त करता है।

---

१. मिलाइये आनापान-सति सुत्त (मज्झिम. (३।२।८)

१०. आनापान-संयुत्त—भगवान् ने प्राणायाम या श्वास-प्रश्वास को नियमित करने का उपदेश दिया है और उसे मार्ग-प्राप्ति का सहायक माना है।[२]

सोतापत्ति-संयुत्त—स्रोतापत्ति अवस्था अर्थात् धर्म रूपी नदी की धारा में पड़ना, इसका वर्णन किया गया है। बुद्ध-धर्म और संघ में जिसकी श्रद्धा और निष्ठा है वह सांसारिक लाभों की चिन्ता नहीं करता। वह इच्छा और द्वेष को छोड़कर फिर इस लोक में नहीं आता।

सच्च-संयुत्त—चार आर्य सत्यों का वर्णन है। दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद्, इन चार आर्य सत्यों का उपदेश बुद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा है। प्रायः समान शब्दों में इन सम्बन्धी उपदेश का वर्णन त्रिपिटक में अनेक बार आया है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण में यद्यपि वर्गों और संयुक्तों के क्रम से उनकी विषय-वस्तु का संक्षिप्त दिग्दर्शन करा दिया गया है, किन्तु उनके असंख्य सुत्तों की वह सामग्री अभी बाकी ही बच रहती है जो उन्होंने बुद्ध, उनके जीवन, उनके उपदेश, इसी प्रकार बुद्ध-शिष्यों के जीवन और उपदेश, तत्कालीन धर्मोपदेष्टाओं और धार्मिक विचारों के साथ बुद्ध और उनके धम्म का सम्बन्ध, तत्कालीन ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थिति, एवं इसी प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में दी है। इन सम्बन्धी स्मृतियों का कुछ संक्षिप्त दिग्दर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा। संयुत्त-निकाय के 'धम्म चक्क पवत्तन-सुत्त' में (जो विनय-पिटक—महावग्ग के इस सम्बन्धी वर्णन की पुनरुक्ति ही है) हम वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव (वर्तमान सारनाथ) में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश करते देखते हैं। काम-वासनाओं में काम-लिप्त होना और काय-क्लेश में लगना, इन दो अतियों के त्याग एवं आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग

---

२. मिलाइये विशेषतः भयभेरव-सुत्त (मज्झिम. १।१।४); द्वेधा वितक्क सुत्त (मज्झिम. १।२।९) महाअस्सपुर-सुत्त (मज्झिम. १।४।९); चूलहत्थिपदोपम सुत्त (मज्झिम. १।३।७; सामञ्ञफल सुत्त (दीघ. १।२); अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ. १।३); सोणदंड सुत्त (दीघ. १।४); कूटदन्त सुत्त (दीघ. १।५); महालिसुत्त (दीघ. १।५) पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ. १।९) केवट्ट-सुत्त (दीघ. १।११) सुभ-सुत्त (दीघ. १।१०,; चक्कवत्तिसीहनाद सुत्त (दीघ. ३।३); संगीतिपरियायसुत्त (दीघ. ३।१०) आदि, आदि।

रूपी मध्यम-मार्ग के आचरण तथा चार आर्य सत्यों का उपदेश देते यहाँ हम प्रथम बार भगवान् को देखते हैं। सळायतन-संयुत्त में (यहाँ भी विनय-पिटक-महावग्ग के समान ही) हम तथागत को भिक्षुओं को इस प्रकार सम्बोधित करते हुए देखते हैं "भिक्षुओ! जितने भी मानुष और दिव्य पाश हैं, मैं उन सब से मुक्त हूँ। तुम भी दिव्य और मानुष पाशों से मुक्त होओ! भिक्षुओ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये, विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ! भिक्षुओ! आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी, अन्त में कल्याणकारी धर्म का उसके पूरे शब्दों और अर्थों के साथ उपदेश करते हुए सम्पूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। संसार में अल्प दोष वाले प्राणी भी हैं। धर्म के न श्रवण करने से उनकी हानि होगी। सुनने से वे धर्म के जानने वाले होंगे। भिक्षुओं! मैं भी जहाँ उरुवेला और सेनानी गाँव है, वहाँ धर्म-देशना के लिये जाऊँगा।" सतिपट्ठान-संयुत्त के जरा-सुत्त में भगवान् की वृद्धावस्था का सजीव चित्र है। भगवान् अपराह्ण में ध्यान से उठ कर धूप में बैठे हैं। आनन्द भगवान् को देखकर कहते हैं "आश्चर्य भन्ते! अद्भुत भन्ते! भगवान् के चमड़े का रंग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात (उज्ज्वल) नहीं है। अंग भी शिथिल हो गये हैं। पूरी काया में झुर्रियाँ पड़ी हुई हैं। शरीर आगे की ओर झुका है। आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों में भी विपरिणाम दिखाई पड़ता है।" "आनन्द! यह ऐसा ही होता है! यौवन में जरा-धर्म है, आरोग्य में व्याधि-धर्म है। जीवन में मरण-धर्म है।" हम भगवान् और उनके उपस्थाक शिष्य के विमल मनुष्य-रूप को यहाँ देखते हैं। इसी निकाय के सकलिक-सुत्त में हम सूचना पाते हैं कि भगवान् का पैर पत्थर के टुकड़े से विक्षत हो गया है और वे स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ उसको सहन कर रहे हैं। इसी प्रकार सक्क-संयुत्त में अनाथपिंडिक की दीक्षा एवं जेतवन-दान का वर्णन है। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में भी यही वर्णन आया है। संयुत्त-निकाय के भिक्खु-संयुत्त में हम सूचना पाते हैं कि कौशाम्बिक भिक्षुओं के दुर्व्यवहार के कारण भगवान् पात्र-चीवर ले बिना किसी भिक्षु को कहे अकेले ही पारिलेय्यक (पालिलेय्यक भी) नामक स्थान में एकान्त-वास के लिये चले गये हैं। संयुत्त-निकाय के 'उदायि-सुत्त' में हम भगवान् और स्थविर उदायी का

संवाद देखते हैं जो शास्ता और शिष्य के सम्बन्ध के अलावा बुद्ध-धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। "भन्ते ! पहले गृहस्थ रहते मुझे धर्म से बहुत लाभ न मिला था। किन्तु भन्ते ! आज मैंने धर्म को जान लिया। मुझे वह मार्ग मिल गया !" "साधु उदायी ! तुझे वह मार्ग मिल गया। जैसे जैसे तू इसकी भावना करेगा, वृद्धि करेगा, यह तुझे वैसे ही भाव को ले जायगा जिससे कि तू जानेगा "आवागमन क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो चुका, करना था सो कर लिया, अब कुछ करने को बाकी नहीं है।" भगवान् का अपने शिष्य भिक्षुओं के साथ कैसा अनुकम्पायमय सम्बन्ध था, इसका एक और उदाहरण इसी निकाय में देखिये। मग्ग-संयुत्त के चुन्द-सुत्त में हम चुन्द समणुद्देस को भगवान् के पास धर्मसेनापति के परिनिर्वाण का सन्देश लाते देखते हैं। इसे सुनते ही आनन्द की क्या हालत होती है, यह उन्ही के शब्दों में सुन लीजिए "आयुष्मान् सारिपुत्र परिनिर्वृत्त हो गये, यह सुन कर मेरा शरीर ढीला पड़ गया है, मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं, बात भी नहीं सूझ पड़ती।!" भगवान् सचेत करते हैं "क्यों आनन्द ! क्या मैंने पहले ही नहीं कह दिया है कि सभी प्रियों से जुदाई होती है। इसलिये आनन्द ! आत्म-दीप, आत्म-शरण, अ-परालम्बी होकर विहरो ! धम्मदीप, धम्म-शरण, अपरालम्बी होकर विहरो।" इसी संयुत्त के उक्काचेल-सुत्त में सारिपुत्र के परिनिर्वाण के थोड़े दिन बाद ही भगवान् को अपने द्वितीय प्रधान शिष्य महामौद्गल्यायन के भी परिनिर्वाण की सूचना मिलती है। सभी शिष्य अपने शास्ता के सहित स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ इस दुःख को सहते हैं। एक दिन भगवान् गंगा की रेती में उक्काचेल नामक स्थान पर विहरे रहे हैं। भिक्षु-परिषद को विज्ञापित करने के लिये बैठते हैं किन्तु सर्व प्रथम ध्यान आता है अपने सद्यः परिनिवृत्त शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन का। बुद्ध का मानवीय रूप फूट पड़ता है "भिक्षुओ ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बिना मुझे यह परिषद् शून्य सी जान पड़ती है। जिस दिशा में सारिपुत्र-मौद्गल्यायन विहरते थे, वह दिशा किसी और की न चाहने वाली होती थी" इतना ही कह पाते हैं कि भगवान् का मानवीय रूप उनके बुद्ध-रूप में परिवर्तित हो जाता है और "भिक्षुओ ! आश्चर्य है तथागत को ! अद्भुत है तथागत को ! इस प्रकार के शिष्यों की जोड़ी के परिनिर्वृत्त हो जाने पर भी तथागत को शोक-परिदेव नहीं है।... भिक्षुओ ! जैसे महान् वृक्ष के खड़े रहते भी उसकी सारवाली

शाखाएँ टूट जायें, उसी प्रकार भिक्षुओ ! तथागत को भिक्षु-संघ के रहते भी सार वाले सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन का परि-निर्वाण है । सो वह भिक्षुओ ! कहाँ से मिले। जो कुछ उत्पन्न होने वाला है, सब नष्ट होने वाला है। इसलिये भिक्षुओ ! आत्मदीप, आत्म-शरण, अनन्यशरण होकर विहरो, धर्म-दीप, धर्म-शरण, अनन्यशरण होकर विहरो।" शास्ता का मानवीय रूप और साथ साथ उनका बुद्धत्व यहाँ स्पष्टतम रूप में दिखाई पड़ता है। बुद्ध-धर्म की साधना इसी जन्म की साक्षात् अनुभूति के लिये है, यह तथ्य इस निकाय के संवहुल-सुत्त से भली प्रकार हृदङ्गम किया जा सकता है। एक ब्राह्मण आकर भिक्षुओं से कहता है "आप लोग वर्तमान को छोड़कर कालान्तर की ओर दौड़ रहे हैं। इस से तो यही अच्छा हो कि आप मानुष कामों का भोग करें।" भिक्षु उत्तर देते हैं "ब्राह्मण ! हम वर्तमान को छोड़कर कालान्तर की चीज के पीछे नहीं दौड़ रहे। बल्कि कालान्तर की चीज को छोड़कर ब्राह्मण ! हम वर्तमान के पीछे दौड़ रहे हैं । ब्राह्मण ! भगवान् ने कामों को बहुत दुःख वाले, बहुत प्रयास वाले, बहुत दुष्परिणाम वाले, कालिक (कालान्तर) कहा है। किन्तु यह धर्म तो सांदृष्टिक के (वर्तमान में फल देने वाला) अ-कालिक, यहीं साक्षात्कार किया जाने वाला, तह तक पहुँचाने वाला और प्रत्येक शरीर में अनुभव करने योग्य है।" अत्त-दीप सुत्त में हम आत्म-निर्भर होने का उपदेश पाते है, जिसकी पुनरावृत्ति भगवान् ने अनेक स्थलों पर की है और जो उनके धर्म के स्वरूप को समझने के लिये अति आवश्यक है। भगवान् सब को प्रव्रज्या का ही उपदेश नहीं देते थे। बल्कि गृहस्थाश्रम में रह कर भी वे प्रमाद-रहित जीवन की सम्भावना मानते थे । ऐसा ही उन्होंने राजों (मकान बनाने वाले मजदूरों) से इसी निकाय के थपति-सुत्त में कहा भी है "स्थपतियो ! गृहवास बाधापूर्ण है, मल का आगमन-मार्ग है । प्रव्रज्या खुली जगह है। किन्तु स्थपतियो ! तुम्हारे लिये अप्रमाद से रहना ही उप-युक्त है।" ऐसा मालूम पड़ता है भगवान् के इस अप्रमाद-उपदेश को स्मरण कर के ही अशोक अपनी प्रजाओं को इतनी पुनरावृत्ति के साथ अ-प्रमाद, का जीवन बिताने को कहता है।[1] संयुत्त-निकाय में बुद्धकालीन भारत में प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों और उनके प्रधान आचार्यों एवं बुद्ध और

---

१. देखिये आगे दसवें अध्याय में अशोक के अभिलेखों का विवरण।

उनके धर्म के साथ उनके सम्बन्धों पर भी प्रकाश डालने वाले काफी वर्णन हैं। इस प्रकार संयुत्त-निकाय के खन्ध-संयुत्त में हम उस काल के छः प्रसिद्ध आचार्यों यथा पूर्ण काश्यप, मक्खली (मस्करी) गोशाल, संजय वेलिट्ठिपुत्त, प्रक्रुध-कात्यायन[1] आदि का वर्णन पाते हैं। इसी प्रकार मोग्गल्लान-संयुत्त के असि-बन्धकपुत्त-सुत्त और निगण्ठ-सुत्त से हमें बुद्ध-धर्म और तत्कालीन जैन धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में पर्याप्त सूचना मिलती है। तत्कालीन याज्ञिक ब्राह्मणों के यज्ञवाद और बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद में क्या ऐतिहासिक सम्बन्ध है, और किस प्रकार एक के सामने दूसरे को झुकना पड़ा, यह देखने के लिये संयुत्त-निकाय का सुन्दरिक-भारद्वाज सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कोशल-देश में सुन्दरिका नदी पर भारद्वाज नामक ब्राह्मण हवन कर रहा है। भगवान् भी उधर चारिका करते हुए निकल पड़ते हैं। वह उन्हें देख कर यज्ञ से बचा हुआ अन्न देना चाहता है, किन्तु पहले पूछता है "आप कौन जाति हैं?" भगवान् का ज्ञान उभाड़ पाता है "जाति मत पूछ। आचरण पूछ। काठ से आग पैदा होती है। नीच कुल का भी पुरुष धृतिमान्, ज्ञानी, पाप-रहित मुनि हो सकता है। जो सत्य का आचरण करने वाला, जितेन्द्रिय और ज्ञान के अन्त को पहुँचा हुआ है और जिसने ब्रह्मचर्य-वास समाप्त कर लिया है, वह यज्ञ में उपनीत ही है और वह काल से दक्षिणा देने योग्य है। जो उसे देता है, वह दक्षिणाग्नि में ही हवन करता है।" भारद्वाज को ऐसे उदा-गातिशय वचन सुन कर श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह कहता है "निश्चय ही यह मेरा यज्ञ सुहुत है जो ऐसे ज्ञान को प्राप्त (वेदगू) पुरुष को मैंने देखा। तुम्हारे जैसे को न देखने से ही दूसरे जन हव्य-शेष खाते हैं। हे गोतम! आप भोजन करें। आप ब्राह्मण हैं।" भारद्वाज ब्राह्मण की यह बुद्ध-प्रशंसा दिखलाती है कि यज्ञवादी होते हुए भी ब्राह्मण ज्ञान और सदाचरण की प्रतिष्ठा को समझते थे और उसे देखकर उसके सामने नतमस्तक होना भी जानते थे। भारद्वाज ब्राह्मण का बुद्ध को ब्राह्मण तक मानने को उद्यत हो जाना और उनकी प्रशंसा करना उसकी उदारता का सूचक है। कुछ भी हो, यज्ञ को ही सर्वस्व मानने वाले

---

१. सुत्त-पिटक के प्रक्रुध कात्यायन को डा० हेमचन्द्र रायचौधरी ने उप-निषद् के कबन्धी कात्यायन से मिलाया है। देखिये उनका पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियेन्ट इन्डिया, पृष्ट २१ (तृतीय संस्करण, १९३२)

ब्राह्मणों को भी बुद्ध के ज्ञान-यज्ञ का लोहा अवश्य मानना पड़ा। भारद्वाज को उद्‌बोधित करते हुए भगवान् उसे कहते हैं "ब्राह्मण ! लकड़ी जला कर शुद्धि मत मानो। यह तो बाहरी चीज है। पंडित लोग उससे शुद्धि नहीं बतलाते जो बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण ! मैं दारु-दाह छोड़ भीतर की ज्योति जलाता हूँ। नित्य आग वाला, नित्य एकान्त-चित्त वाला हो, मैं ब्रह्मचर्य-पालन करता हूँ। ब्राह्मण ! यह तेरा अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुंवा है, मिथ्या-भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण ! शील तीर्थ वाला, सन्तजनों से प्रशंसित, निर्मल धर्म रूपी सरोवर है। इसी में वेद को जानने वाले (वेदगू) पुरुष नहाकर बिना भीगे गात्र के पार उतरते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति, सत्य, धर्म, संयम और ब्रह्मचर्य पर आश्रित है। तू ऐसे हवन किये हुओं को नमस्कार कर। मैं उनको पुरुषों को संयमी बनाने के लिये सारथी-स्वरूप कहता हूँ।" इस प्रकार इस निकाय में हमें बुद्ध-जीवन, बुद्ध और उनके शिष्य, एवं बुद्ध-धर्म और तत्कालीन अन्य धार्मिक साधनाओं के साथ उसके सम्बन्ध आदि के विषय में प्रभूत जानकारी मिलती है।

ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी इस निकाय में प्रथम दो निकायों की तरह काफी परिचय मिलता है। जहाँ तक राजनैतिक इतिहास का सम्बन्ध है, इस निकाय में कोशलराज प्रसेनजित् का वर्णन आया है और मगध-राज अजातशत्रु के साथ उसके युद्ध, अजातशत्रु की पराजय और बाद में प्रसेनजित् की पुत्री वज्रा (वजिरा) का उससे विवाह और भेंट-स्वरूप काशी-प्रदेश की प्राप्ति इन घटनाओं का विवरण पहले किया ही जा चुका है। कौशाम्बी-नरेश उदयन (उदेन) का भी यहीं वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त लिच्छवि, कोलिय आदि क्षत्रिय राजाओं के जहाँ-तहाँ वर्णन भरे पड़े हैं। भौगोलिक दृष्टि से राजगृह में वेलुवन, सुंसुमार गिरि में भेसकलावन, वैशाली में महावन आदि वनों, नेरंजरा, गंगा, यमुना आदि नदियों, मगध में गिरिव्रज और अवन्ती में कुररघर आदि पर्वतों, न्यग्रोधाराम (कपिलवस्तु) कुक्कुटाराम (पाटलिपुत्र) आदि आरामों (भिक्षु-निवासों), नालक (मगध) शाल (कोसल) वेलुवार (कोसल) आदि ग्रामों, मगध, वज्जि, कोसल आदि प्रदेशों, और देवदह, कपिलवस्तु, साकेत आदि नगरों तथा अनेक कस्बों (निगमों) के वर्णन भरे पड़े हैं, जो तत्कालीन भारतीय प्रदेशों और

उनके निवासियों के जीवन सम्बन्धी काफी महत्त्वपूर्ण ज्ञान को हमें प्रदान करते हैं।

ई—अंगुत्तर-निकाय[1]

अंगुत्तर-निकाय सुत्त-पिटक का चौथा बड़ा भाग है। बुद्ध-धर्म के जिस स्वरूप का ज्ञान हमें प्रथम तीन निकायों में मिलता है, वही अंगुत्तर-निकाय का भी विषय है। केवल अंगुत्तर-निकाय की शैली में कुछ भिन्नता है। संख्याबद्ध शैली इस निकाय की सब से बड़ी विशेषता है। जैसा पहले दिखाया जा चुका है, सम्पूर्ण निकाय ग्यारह निपातों में विभक्त हैं, यथा—एक-निपात, दुक-निपात, तिक-निपात, चतुक्क-निपात, पञ्चक-निपात, छक्क-निपात, सत्तक-निपात, अट्ठक-निपात, नवक-निपात, दसक-निपात तथा एकादसक-निपात। प्रत्येक निपात वर्गों में विभक्त है। ग्यारह निपातों की वर्ग-संख्या क्रमशः इस प्रकार है (१) २१ वर्ग (२) १६ वर्ग (३) १६ वर्ग (४) २६ वर्ग (५) २६ वर्ग (६) १२ वर्ग (७) ९ वर्ग (८) ९ वर्ग (९) ९ वर्ग (१०) २२ वर्ग (११) ३ वर्ग। इस प्रकार ग्यारह निपात कुल १६९ वर्गों में विभक्त हैं। प्रत्येक वर्ग में अनेक सुत्त हैं, जिनकी कम से कम संख्या ७ और अधिक से अधिक २६२ हैं। कुल मिलाकर अंगुत्तर-निकाय में २३०८ सुत्त हैं। आकार में प्रायः संयुत्त-निकाय के सुत्तों के समान ही छोटे हैं और उन्हीं के समान उनका विषय भी कोई बुद्ध-प्रवचन या किसी के साथ हुआ बुद्ध-संवाद है। अंगुत्तर-निकाय के प्रत्येक निपात में ऐसी संख्याओं से सम्बद्ध उपदेशों का संग्रह किया गया है जिनकी समता उक्त निपात की संख्या से है। इस प्रकार एकक-निपात में केवल उन उपदेशों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध संख्या एक से है। इसी प्रकार दुक-नियात में केवल उन उपदेशों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध संख्या दो से है। इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यह संख्या

---

१. मॉरिस तथा हार्डी द्वारा पाँच जिल्दों में रोमन लिपि में सम्पादित, पालि-टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८८५-१९००। छठी जिल्द में मेबिल हन्ट ने अनुक्रमणियाँ दी हैं। सिंहली लिपि में देवमित्त का संस्करण, कोलम्बो १८९३, प्रसिद्ध है। बरमी और अन्य सिंहली संस्करण भी उपलब्ध हैं। हिन्दी में अभी कोई संस्करण या अनुवाद नहीं निकला।

एकादसक-निपात तक पहुँच जाती है, जिसमें भगवान् बुद्धदेव के उन उपदेशों का संग्रह है जिनके विषय का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार संख्या ग्यारह से है। यही कारण इस निकाय के अंगुत्तर-निकाय (अंकोत्तर-निकाय) नामकरण का भी है। 'मिलिन्दपञ्ह' में इसी निकाय का नाम 'एकुत्तर-निकाय' (एकोत्तर-निकाय) भी कहा गया है।[1] उसका भी यही अर्थ है। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के संस्कृत-त्रिपिटक में भी यह निकाय 'एकोत्तरागम' के नाम से ही प्रसिद्ध था, यह उसके चीनी अनुवाद से विदित होता है। अंगुत्तर-निकाय की संख्या-बद्ध शैली उस के लिये कोई नही है। थोड़ी बहुत यह प्रत्येक निकाय में पाई जाती है। अतः उसके आधार पर इस संग्रह को प्रथम तीन निकायों की अपेक्षा काल-क्रम में बाद का ठहराना ठीक नहीं माना जा सकता। वास्तव में तो प्रत्येक निकाय में ही, बल्कि कहीं कहीं प्रत्येक सुत्त में ही, पूर्व और उत्तर-कालीन परम्पराओं के साक्ष्य साथ साथ दिखाई पड़ते हैं। यही बात अंगुत्तर-निकाय में भी है। अतः गणनात्मक शैली की बहुलता होने के कारण ही अंगुत्तर-निकाय को बाद का संग्रह नहीं माना जा सकता। जैसा अभी कहा गया, गणनात्मक प्रणाली थोड़ी-बहुत मात्रा में प्रत्येक निकाय में पाई जाती है। दीघ-निकाय के संगीति-परियाय-सुत्त और दसुत्तर-सुत्त एवं खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ (कुमारपञ्ह) थेरगाथा, थेरीगाथा, इतिवुत्तक आदि में वस्तु-विन्यास संख्यात्मक वर्गीकरण को के शैली आधार पर ही किया गया है। बाद में चल कर अभिधम्म-पिटक में तो यह प्रणाली पूरे सात महाग्रंथों का ही आधार बन जाती है। चूँकि अंगुत्तर-निकाय की अभिधम्म-पिटक से इस विषय में सब से अधिक समानता है, बल्कि उसके ग्यारह निपातों से अभिधम्म-पिटक के एक ग्रन्थ (पुग्गल पञ्ञत्ति) की तो सारी विषय-वस्तु ही निकाली जा सकती है, अंगुत्तर-निकाय के इस प्रकार वर्गीकृत बुद्ध-वचनों को उत्तरकालीन संग्रह नहीं माना जा सकता। जैसा हम पहले भी दिखा चुके हैं, बुद्ध-वचनों का संरक्षण, उस युग में, सुनने वालों की स्मृति में ही किया जाने के कारण, उसकी सहायतार्थ संख्यात्मक संविधान की आवश्यकता पड़ती थी। इसलिये कभी कभी स्वयं शास्ता भी अपने उपदेशों में इस प्रकार के तत्त्व का संमिश्रण कर देते थे।

---

१. पृष्ठ ३५४ (बम्बई विश्वविद्यालय का देव-नागरी संस्करण)

यह हम अंगुत्तर-निकाय के एकक-निपात के 'कजंगला-सुत्त' में अच्छी प्रकार देख सकते हैं। कुछ उपासक कजंगला नामक भिक्षुणी के पास आकर पूछते हैं "अय्या! भगवान् ने यह कहा है 'महा प्रश्नों में एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर; दो प्रश्न, दो उद्देश, दो उत्तर......दस प्रश्न, दस उद्देश, दस उत्तर! भगवान् के इस संक्षिप्त कथन का उत्तर किस प्रकार समझना चाहिये?" कजंगला भिक्षुणी ने कहा "एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर! यह जो भगवान् ने कहा, वह इस कारण कहा। आवुसो! एक वस्तु में भिक्षु भली प्रकार निर्वेद को प्राप्त हो, भली प्रकार विराग को प्राप्त हो, भली प्रकार विरक्त हो, अच्छी प्रकार अन्तर्दर्शी हो, इसी जन्म में दुःख का अन्त करने वाला हो। किस एक धर्म में? 'सभी सत्व आहार पर निर्भर हैं'। आवसो! भगवान् ने जो यह कहा 'एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर! वह इसी कारण कहा!" इसी प्रकार उत्तरोत्तर क्रम से बढ़ती हुई कजंगला भिक्षुणी दस प्रश्न, दस उद्देश, दस उत्तर (व्याकरण) तक की व्याख्या करती है। गणनात्मक विधान होते हुए भी स्वयं उपदेश की गम्भीरता में कोई अन्तर यहाँ नहीं आता। यही बात विस्तार से हम अंगुत्तर-निकाय में भी देखते हैं। चार आर्य सत्य, आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग, सात बोध्यङ्ग, चार सम्यक् प्रधान, पांच इन्द्रिय आदि सभी मौलिक बुद्ध-उपदेश इसी संख्यात्मक तत्व की सूचना देते हैं। अंगुत्तर-निकाय में केवल इसे उनके वर्ग-बद्ध स्वरूप में प्रस्तुत करने का आधार मान लिया गया है। अतः निश्चित है कि इसके अनेक सुत्त या अंश जो पिछले निकायों में अनेक प्रसंगों में आ चुके हैं, यहाँ संख्यात्मक प्रणाली को पूर्णता देने के लिये फिर रख दिये गये हैं।[1] उदाहरणतः चार आर्य सत्यों और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग सम्बन्धी उपदेश विनय-पिटक के महावग्ग तथा संयुत्त-निकाय के 'धम्मचक्क पवत्तन-सुत्त' में स्वभावतः वाराणसी में दिये हुए उपदेश के रूप में अंकित है, किन्तु अंगुत्तर-निकाय में चार आर्य सत्यों सम्बन्धी उपदेश चतुक्क-निपात और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग सम्बन्धी उपदेश अट्ठक-निपात में संगृहीत है। अतः यह बहुत सम्भव है कि कुछ स्थलों में अंगुत्तर-निकाय के सुत्त दीघ और मज्झिम निकायों के परिवर्तित, विभक्त अथवा संक्षिप्त स्वरूप ही हों। किन्तु अधिकतर स्थलों में वे मौलिक ही हैं और

---

१. इनकी सूची के लिये देखिये पालि टैक्सट सोसायटी द्वारा प्रकाशित अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ८ (भूमिका)

उनकी उपयुक्तता उनके संख्यात्मक स्वरूप में बहाँ असंदिग्ध भी है। अंगुत्तर-निकाय, जैसा हम अभी देखेंगे, बुद्ध और उनके धम्म और विनय के सम्बन्ध में कुछ ऐसी भी सूचना देता है जो प्राचीन भी है और साथ ही साथ अन्य निकायों में भी नहीं मिलती । पुनरुक्तियाँ और संख्यात्मक विवरण विशेषतः पाश्चात्य विद्वानों को बड़े अरुचिकर प्रतीत हुए हैं, अतः उन्होंने अंगुत्तर-निकाय के वास्तविक मूल्यांकन करने में बड़ी कृपणता दिखाई है । साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टियों से अंगुत्तर-निकाय का स्थान दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों के साथ ही है और उसमें भी, केवल कुछ कृत्रिम वर्गीकरण में, बुद्ध के जीवन और उपदेशों की वही साक्षात् सम्पर्क से प्राप्त स्मृतियाँ उपलब्ध होती है, जैसी प्रथम तीन निकायों में । यह हम उसकी विषयवस्तु के विवरण से अभी देखेंगे।

अंगुत्तर-निकाय की विषय-वस्तु का चाहे जितना विस्तृत विवरण दिया जाय वह उसकी वास्तविक विभूति को नहीं दिखा सकता। इसका कारण यह है कि केवल संख्यात्मक सूचियों का संकलन ही अंगुत्तर-निकाय नहीं है। अंगुत्तर-निकाय को केवल संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ. ३।१०) या दसुत्तर-सुत्त (दीघ. ३।११) का ही विस्तृत रूप समझ लेना एक भारी भ्रम होगा। इसमें सन्देह नहीं कि अंगुत्तर-निकाय के एक से लेकर ग्यारह निपातों की विषय-वस्तु का स्वरूप वहाँ किसी न किसी प्रकार उनके अनुरूप संख्या से सम्बन्धित है, जैसे कि

१. एकक-निपात—एक धर्म क्या है ? इसी प्रकार के प्रश्नोत्तर के अनेक रूप।

२. दुक-निपात—दो त्याज्य वस्तुएँ, दो प्रकार के ज्ञानी पुरुष, दो प्रकार के बल, दो प्रकार की परिषदें, दो प्रकार की इच्छाएँ, आदि, आदि ।

३. तिक-निपात—तीन प्रकार के दुष्कृत्य (कायिक, वाचिक, मानसिक) तीन प्रकार की वेदनाएँ (सुखा, दुःखा, न-सुखा-न-दुःखा), आदि, आदि ।

४. चतुक्क-निपात—चार आर्यसत्य, चार ज्ञान, चार श्रामण्य-फल, चार समाधि, चार योग, चार आहार, आदि, आदि।

५. पञ्चक-निपात—पाँच अङ्गों वाली समाधि, पाँच उपादान-स्कन्ध, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच निस्सरणीय धातु, पाँच धर्मस्कन्ध, पाँच विमुक्ति-आयतन आदि आदि।

६. छक्क-निपात---छः अनुस्मृति-स्थान, छः आध्यात्मिक आयतन, छः अभिज्ञेयं आदि, आदि।

७. सत्तक-निपात---सात सम्बोध्यङ्ग, सात अनुशय, सात सध्दर्म, सात संज्ञाएँ, सात सत्पुरुष-धर्म आदि, आदि ।

८. अट्ठक-निपात---आर्य अष्टाङ्गिक-मार्ग, आठ आरब्ध वस्तु, आठ अभिभू-आयतन, आठ विमोक्ष, आदि, आदि।

९. नवक-निपात---नव तृष्णामूलक, नव सत्वावास, आदि, आदि।

१०. दसक-निपात---दस तथागत-बल, दस आर्य-वास आदि, आदि।

११. एकादसक-निपात---निर्वाण-प्राप्ति के ग्यारह उपाय, आदि, आदि।

किन्तु इस उपर्युक्त सूची मात्र से अंगुत्तर-निकाय के विषय या उसके महत्त्व को नहीं समझा जा सकता। उसके लिये हमें उद्धरणों से उसके विषय की मूल बुद्ध-वचनों के रूप में प्रामाणिकता और बुद्ध-कालीन इतिहास के लिये उसके महत्त्व को हृदयङ्गम करना होगा। पहले एकक-निपात को ही लीजिये। धम्म-विनय की दृष्टि से ही अंगुत्तर-निकाय के प्रथम निपात में उद्धृत इस बुद्ध-वचन को देखिये "नाहं भिक्खवे! अञ्ञं एक धम्मंपि समनुपस्सामि यो एवं महतो अनत्थाय संवत्तति, यदिदं भिक्खवे पापमित्तता। पापमित्तता भिक्खवे महतो अनत्थाय संवत्तति।" इसका अर्थ है "भिक्षुओ! मैं किसी भी दूसरी चीज को नहीं देखता जो इतनी अधिक अनर्थकर, हो, जितनी पाप-मित्रता। भिक्षुओ! पाप-मित्रता बहुत अनर्थकारी है।" जो दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों में निहित बुद्ध-वचनों की आत्मा और बाह्याभिव्यक्ति से परिचित हैं वे यहाँ उनकी अपेक्षा कुछ विभिन्नता नहीं देख सकते। अतः केवल इसीलिये कि संगीतिकारों ने कुछ बुद्ध-वचनों को संख्याबद्ध वर्गीकरण में बाँधकर रख दिया है, उनकी मौलिकता या महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता। अंगुत्तर-निकाय की सब सामग्री अन्य निकायों से भी ली हुई नहीं है, बल्कि उसमें बहुत सी ऐसी भी सूचना है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। इसका भी एक उदाहरण एकक-निपात के ही 'एतदग्गवग्ग' के उस महत्त्वपूर्ण विवरण में पाते हैं, जिसमें बताया गया है कि भगवान् बुद्ध के किस-किस भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, या उपासिका, ने साधना के किस-किस विभाग में दक्षता या विशेषता प्राप्त की थी। महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित इस अंश को,

उसके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण, यहाँ पूर्णतः उद्धृत करना ही उपयुक्त होगा, "ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन में विहार करते थे। ...... भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया, (१) भिक्षुओ ! मेरे रक्तज्ञ (अनुरक्त) भिक्षु श्रावकों में यह आज्ञा-कौण्डिन्य अग्र (श्रेष्ठ) है। (२) महाप्रज्ञों में यह सारिपुत्र अग्र है (३) ऋद्धि-मानों में यह महामौद्गल्यायन अग्र है (४) धुतवादियों (अवधूत-व्रतों का का अभ्यास करने वालों) में यह महाकाश्यप अग्र है (५) दिव्यचक्षुकों में यह अनिरुद्ध अग्र है। (६) उच्च-कुलीनों में यह भद्दिय कालिगोधा-पुत्र अग्र है। (७) मंजु स्वर से धर्म उपदेश करने वालों में यह लंकुटिक-भद्दिय अग्र है। (८) सिंहनाद करने वालों में यह पिंडोल भारद्वाज अग्र है (९) धर्म-उपदेश करने वालों में यह पूर्ण मैत्रायणी पुत्र अग्र है (१०) संक्षिप्त धर्मोपदेश को विस्तृत रूप से समझाने वालों में यह महाकात्यायन अग्र है। (११) मनो-मय काय निर्माण करने वालों में यह चुल्ल पंथक अग्र है। (१२) संज्ञा-विवर्त-चतुरों में यह महापंथक अग्र है। (१३) अरण्य विहारियों में यह सुभूति अग्र है; दान-पात्रों में भी यह सुभूति अग्र है। (१४) आरण्यकों में यह रेवत खदिर वनिय अग्र है। (१५) ध्यानियों में यह कंखा-रेवत अग्र है। (१६) आरब्ध-वीर्यों में यह सोण कोडिवीस (शोणकोटिविंश) अग्र है। (१७) सुवक्ताओं में यह सोण कुटिकण्ण अग्र है। (१८) लाभ पाने वालों में यह सीवली अग्र है। (१९) श्रद्धावानों में यह वक्कली अग्र है। (२०) शिक्षा-कामों (भिक्षु-नियम के पाबन्दों में) यह राहुल अग्र है। (२१) श्रद्धा से प्रव्रजितों में यह राष्ट्रपाल अग्र है। (२२) प्रथम शलाका ग्रहण करने वालों में यह कुंडधान अग्र है। (२३) प्रतिभा वालों में यह वंगीश अग्र है। (२४) समन्त प्रासादिकों (सब ओर से सुन्दरों) में यह उपसेन वंगन्तपुत्त अग्र है। (२५) शयनासन-प्रज्ञापकों (गृह-प्रबन्धकों) में यह दब्ब मल्लपुत्त अग्र है। (२६) देवताओं के प्रियों में यह पिलिन्द वात्स्य-पुत्र अग्र है। (२७) क्षिप्राभिज्ञों (प्रखर बुद्धियों) में यह बाहिय दारुचीरिय अग्र है। (२८) चित्र कथिकों (विचित्र वक्ताओं) में यह कुमार काश्यप अग्र है। (२९) प्रति-संवित्-प्राप्तों में यह महाकोट्ठित (महाकोष्ठित) अग्र है। (३०) बहुश्रुतों में, गतिमानों में, स्थितिमानों में, यह आनन्द अग्र है। (३१) महापरिषद् वालों में यह उरुवेल-काश्यप अग्र है। (३२) कुल-प्रसादकों (कुलों को प्रसन्न

करने वालों) में यह काल-उदायी अग्र है। (३३) अल्पाबाधों (निरोगों) में यह वक्कुल अग्र है। (३४) पूर्व-जन्म स्मरण करने वालों में यह शोभित अग्र है। (३५) विनय-धरों में यह उपालि अग्र है। (३६) भिक्षुणियों के उपदेशकों में यह नन्दक अग्र है। (३७) जितेन्द्रियों में यह नन्द अग्र है। (३८) भिक्षुओं के उपदेशकों में यह महाकप्पिन अग्र है। (३९) तेज-धातु-कुशलों में यह स्वागत अग्र है। (४०) प्रतिभाशालियों में यह राध अग्र है (४१) रुक्ष चीवरधारियों में यह मोघराज अग्र है। (४२) भिक्षुओ ! मेरी रक्तज्ञ भिक्षुणी-श्राविकाओं में महाप्रजापति गोतमी अग्र है। (४३) महाप्राज्ञाओं में खेमा अग्र है (४४) ऋद्धिमतियों में उत्पलवर्णा अग्र है। (४५) विनय धारण करने वालियों में पटाचारा अग्र है। (४६) धर्मकथिकाओं में धम्मदिन्ना अग्र है। (४७) ध्यानियों में नन्दा अग्र है। (४८) आरब्धवीर्यायों में सोणा अग्र है। (४९) क्षिप्राभिज्ञाओं में भद्रा कुंडल केशा अग्र है (५०) पूर्व जन्म की अनुस्मृति करने वालियों में भद्रा कापिलायिनी अग्र है। (५१) महा-अभिज्ञा-प्राप्तों में भद्रा कात्यायनी। (५२) रुक्ष चीवरधारिणियों में कृशा गौतमी (५३) श्रद्धा-युक्त भिक्षुणियों में श्रृगाल-माता। (५५-५६) भिक्षुओ ! मेरे उपासक श्रावकों में प्रथम शरण आने वालों में तपस्सु और भल्लुक वणिक अग्र हैं। (५७) दायकों में अनाथ-पिंडिक सुदत्त गृहपति अग्र है। (५८) धर्मकथिकों (धर्मोपदेष्टाओं) में मच्छिकाषण्डवासी चित्र गृहपति अग्र है। (५९) चार संग्रह-वस्तुओं से परिषद् को मिलाकर रखने वालों में हस्तक आलवक अग्र है। (६०) उत्तम दायकों में महानाम शाक्य अग्र है। (६१) प्रिय-दायकों में वैशाली का निवासी उग्र गृहपति अग्र है। (६२) संघ-सेवकों में उद्गत (उग्गत) गृहपति अग्र है। (६३) अत्यन्त प्रसन्नों में शूर अम्बष्ठ अग्र है। (६४) व्यक्तिगत प्रसन्नों में जीवक कौमार भृत्य अग्र है। (६५) विश्वासकों में नकुल-पिता गृहपति अग्र है। (६६) भिक्षुओ ! मेरी उपासिका श्राविकाओं में प्रथम शरण आने वालियों में सेनानी दुहिता सुजाता अग्र है। (६७) दायिकाओ में विशाखा मृगारमाता अग्र है। (६८) बहुश्रुताओं में खुज्जुत्तरा (कुब्जा उत्तरा) अग्र है। (६९) मैत्री विहार प्राप्त करने वालियों में सामावती (श्यामावती) अग्र है। (७०) ध्यानियों में उत्तरा नन्द-माता अग्र है। (७१) प्रणीत दायिकाओं में सुप्रवासा कोलिय-दुहिता अग्र है। (७२) रोगी की सेवा करने वालियों में सुप्रिया उपासिका अग्र है। (७३)

अतीव प्रसन्नों में कात्यायनी अग्र है। (७४) विश्वासिकाओं में नकुल-माता गृहपत्नी अग्र है। (७५) अनुश्रव प्रसन्नों में कुरर घर में व्याही काली उपासिका अग्र है।[1] भगवान् बुद्ध-देव के प्रधान शिष्य-शिष्याओं का यह विवरण, जिसमें उनके भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका सभी कोटि के पुरुष और स्त्री साधक-साधिकाओं के नाम हैं, बुद्ध-धर्म और संघ के इतिहास की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। धर्म, साहित्य और इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस प्रकार की प्रभूत सामग्री अंगुत्तर-निकाय में भरी पड़ी है। दुक-निपात के इस सुन्दर भाव-पूर्ण बुद्ध-वचन को लीजिये, "द्वे मे भिक्खवे असनिया फलन्तिया न सन्तसन्ति। कतमे द्वे? भिक्खु च खीणासवो, सीहोच मिगराजा। इमे खो भिक्खवे द्वे असनिया फलन्तिया न सन्तसन्तीति।" अर्थात् "भिक्षुओ! बिजली कड़कने पर दो ही प्राणी नहीं चौंक पड़ते हैं। कौन से दो? क्षीणास्रव भिक्षु और मृगराज सिंह। भिक्षुओ! यही दो बिजली कड़कने पर चौंक नहीं पड़ते।"[2] इस प्रकार के अर्थ-गर्भित उपदेश जिनकी मौलिकता और स्वभाविकता में उनका संख्याबद्ध विन्यास कोई क्षति नहीं पहुंचाता, अंगुत्तर-निकाय में भरे पड़े हैं। तिक-निपात के भरंडुसुत्त में हम भगवान् को, बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद अपने पन्द्रहवें वर्षा-वास में, कपिल वस्तु में विचरते देखते हैं। महानाम शाक्य उनका सत्कार करता है। भगवान् नगर से बाहर भरंड-कालाम नामक अपने पूर्व स-ब्रह्मचारी के आश्रम में एक रात भर ठहरते हैं। रात के बीतने पर महानाम शाक्य फिर उनकी सेवा में उपस्थित होता है। भगवान् उसे उपदेश देते हैं "महानाम! लोक में तीन प्रकार के शास्ता विद्यमान हैं। कौन से तीन? (१) यहाँ एक शास्ता महानाम! कामों के त्याग का उपदेश करते हैं, किन्तु रूपों और वेदनाओं के त्याग को प्रज्ञापित नहीं करते (२) कामों और रूपों के त्याग का उपदेश

---

१. बुद्ध चर्या, पृष्ठ ४६७-४७२ (कुछ अल्प शाब्दिक परिवर्तनों के साथ)

२. "क्षीणास्रव भिक्षु नहीं चौंक पड़ता है क्योंकि उसका 'अहंभाव' बिलकुल निरुद्ध हुआ रहता है। मृगराज सिंह नहीं चौंक पड़ता है, क्योंकि उसका 'अहंभाव' अत्यन्त प्रबल होता है; चौंकने के बदले वह और गरज उठता है कि कौन दूसरा उसकी बराबरी करने आ रहा है।" भिक्षु जगदीश काश्यप: पालि महाव्याकरण, पृष्ठ चवालीस (वस्तुकथा) में।

करते हैं किन्तु वेदनाओं के त्याग को प्रज्ञापित नहीं करते (३) कामों के त्याग को भी, रूपों के त्याग को भी और वेदनाओं के त्याग को भी प्रज्ञापित करते हैं। महानाम ! लोक में यही तीन प्रकार के शास्ता हैं।" अंगुत्तर-निकाय के चतुक्क-निपात के केस-पुत्तिय-सुत्त में हम बुद्धके बुद्धिवादी दृष्टिकोण को स्पष्टतः देखते हैं। कोसल-प्रदेश में चारिका करते करते भगवान् केसपुत्त नामक निगम (कस्बे) में, जो कालाम नामक क्षत्रियों का निवास-स्थान था, पहुँचते हैं। कालाम क्षत्रिय भगवान् को हाथ जोड़-जोड़ कर एक ओर चुपचाप बैठ जाते हैं। वे भगवान् से विनम्रता के साथ पूछते हैं "भन्ते ! कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण केसपुत्त में आते हैं। वे अपने ही मत की प्रशंसा करते हैं, दूसरे के मत की निन्दा करते हैं, उसे छुड़वाते हैं। भन्ते ! दूसरे भी कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण केसपुत्त में आते हैं और वे भी वैसा ही करते हैं। तब भन्ते ! हमको संशय अवश्य होता है, कौन इन आप श्रमण-ब्राह्मणों में सच कहता है, कौन झूठ ?" कालामों का प्रश्न ऐसा है जो दुनिया के धार्मिक इतिहास में हर युग में और हर व्यक्ति के हृदय में आता है। अतः कालामों के प्रश्न का महत्त्व सब काल के मनुष्य के लिये समान रूप से है। भगवान् ने जो उत्तर दिया है, वह उससे भी अधिक विश्वजनीन महत्ता लिये हुए है। भगवान् कहते हैं "कालामो ! तुम्हारा संशय ठीक है। संशय-योग्य स्थान में ही तुम्हें संशय उत्पन्न हुआ है। आओ कालामो ! मत तुम अनुश्रव से विश्वास करो, मत परम्परा से विश्वास करो। 'यह ऐसा ही है' इस से भी तुम मत विश्वास करो। कालामो ! मान्य शास्त्र की अनुकूलता (पिटक-सम्प्रदाय) से भी तुम विश्वास मत करो। मत तर्क से, मत न्याय-हेतु से, मत वक्ता के आकार के विचार से, मत अपने चिर-धारित विचार के होने से, मत वक्ता के भव्य रूप होने से, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' इस भावना से, कालामो ! मत इन सब कारणों से तुम विश्वास करो ! बल्कि कालामो ! जब तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म अकुशल हैं, ये धर्म सदोष हैं, ये धर्म विज्ञ-निन्दित हैं, ये ग्रहण करने पर अहित, दुःख के लिये होंगे, तो कालामो ! तुम उन्हें छोड़ देना।......इसी प्रकार कालामो ! जब तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म कुशल हैं, ये धर्म निर्दोष हैं, ये धर्म विज्ञ-प्रशंसित हैं, ये ग्रहण कर लेने पर सुख और कल्याण के लिये होंगे, तो कालामो ! तुम उन्हें प्राप्त कर विहरो।" इस प्रकार पात्रता की उपयुक्त भूमि तैयार कर बाद में तथागत कालामों को विज्ञापित करते हैं "तो क्या मानते हो कालामो ! पुरुष के भीतर

उत्पन्न हुआ लोभ (राग) हित के लिये होता है या अहित के लिये ?" "अहित के लिये, भन्ते !" "पुरुष के भीतर उत्पन्न हुआ द्वेष......हित के लिये या अहित के लिये ?" "अहित के लिये, भन्ते।" "मोह?" "अहित के लिये, भन्ते !" "तो क्या मानते हो कालामो ! ये धर्म (राग, द्वेष, मोह) सदोष हैं या निर्दोष ?" "सदोष, भन्ते !" "प्राप्त करने पर अहित के लिये, दुःख के लिये हैं या नहीं?" "ग्रहण करने पर भन्ते ! अहित के लिये हैं, ऐसा हमें लगता है।" बुद्ध की उठाने वाली आदेश ना होती है "तो कालामो ! तुम इन्हें छोड़ दो।" इसी प्रकार अ-लोभ, अद्वेष, अमोह को हित, दुख का कारण समझा कर भगवान् कालामों को उन्हें ग्रहण करने की प्रेरणा करते हैं। किसी भी विश्वास को मानने याँ न मानने की अपेक्षा के बिना ही स्वयं सदाचार का जीवन सम्पूर्ण आश्वासनों से किस प्रकार आश्वस्त है, इसे समझाते हुए भगवान् कहते हैं, "कालामो ! जो आर्य साधक (श्रावक) अ-वैर-चित्त, अ-व्यापन्न-चित्त, अ-संक्लिष्ट-चित्त (विशुद्धि-चित्त) है, उसको इसी जन्म में चार आश्वासन (आश्वासन) मिले रहते हैं, (१) यदि परलोक है, यदि सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल है, तो निश्चय ही मैं काया छोड़, मरने के बाद, सुगति, स्वर्ग-लोक में उत्पन्न होऊँगा, यह उसे प्रथम आश्वास प्राप्त रहता है। (२) यदि परलोक नहीं है, यदि सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल नहीं है, तो इसी जन्म में, इसी समय, अ-वैर-चित्त, अ-व्यापन्न-चित्त, अ-संक्लिष्ट-चित्त, अपने को रखता हूँ, यह उसको द्वितीय आश्वास प्राप्त रहता है। (३) यदि काम करते पाप किया जाये, तो भी मैं किसी का बुरा नहीं चाहता, बिना किये फिर पाप-कर्म मुझे क्यों दुःख पहुँचायेगा। यह उसे तीसरा आश्वास प्राप्त रहता है। (४) यदि करते हुए पाप न किया जाय, तो इस समय मैं दोनों से ही मुक्त अपने को देखता हूँ। यह उसे चौथा आश्वास प्राप्त हुआ रहता है।" यह उपदेश न केवल बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद और विचार-स्वातन्त्र्य का बल्कि भगवान् की उपदेश-प्रणाली का भी अच्छा सूचक है। अंगुत्तर-निकाय की एक बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ भिक्षु-धर्म (भिक्खु-विनय) के साथ-साथ गृहस्थ-धर्म (गिहि-विनय) का भी उपदेश दिया गया है। चतुक्क-निपात के वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त में भगवान् मथुरा और वेरंजा के बीच के रास्ते में गृहस्थों को विज्ञापित करते हुए दिखाई देते हैं, "गृहपतियो ! चार प्रकार के संवास होते हैं। कौन से चार ? (१) शव शव के साथ संवास करता है (२) शव देवी के साथ संवास करता है (३) देव शव के साथ संवास करता है (४)

देव देवी के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! शव शव के साथ संवास करता है ? यहाँ गृहपतियो ! पति हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, नशाबाज, दुःशील, पाप-धर्मा, कंजूसी की गन्दगी से लिप्त चित्तवाला, श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाला हो, इस प्रकार गृह में वास करता हो और उसकी भार्या भी उसी के समान हिंसक, चोर, दुराचारिणी......श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाली हो। उस समय गृहपतियो ! शव शव के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! शव देवी के साथ संवास करता है ? गृहपतियो ! पति हिंसक, चोर, दुराचारी......श्रमण-ब्राह्मणो को दुर्वचन कहने वाला हो, किन्तु उसकी भार्या अ-हिंसा-रत, चोरी रहित, सदाचारिणी, सच्ची, नशा-विरत, सुशीला, कल्याण-धर्म-युक्त, मल-मात्सर्य-रहित, श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन न कहने वाली हो, तो गृहपतियो ! शव देवी के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! देव शव के साथ संवास करता है ? गृहपतियो ! पति हो अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारी......उसकी भार्या हो हिंसा-रत चोर, दुराचारिणी......गृहपतियो ! देव शव के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! देव देवी के साथ संवास करता है ? गृहपतियो ! पति अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारी......उसकी भार्या भी अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारिणी......गृहपतियो ! देव देवी के साथ संवास करता है।" इसी प्रकार एकादस-निपात के महानाम-सुत्त में हम भगवान् को महानाम शाक्य के प्रति, जो गृहस्थ था, बुद्ध, धर्म, संघ आदि की अनुस्मृति करने का उपदेश देते हुए देखते हैं "महानाम !" तुम चलते भी भावना करो, खड़े भी, लेटे भी, कर्मान्तिक (खेती आदि) का अधिष्ठान (प्रबंध) करते भी, पुत्रों से घिरी शय्या पर भी।" बुद्ध ने गृहस्थ, भिक्षु, सब के लिये अ-प्रमाद या सतत पुरुषार्थ पर कितना अधिक जोर दिया, यह हमने दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों के विवरण में देखा है। अंगुत्तर-निकाय के छक्कक-निपात के पधानीय-सुत्त में भी हम भगवान् को भिक्षुओं के प्रति यही उपदेश करते देखते हैं। श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन-आराम में कुछ नये प्रविष्ट भिक्षु सूर्योदय तक खर्राटे ले सो रहे हैं। भगवान् भिक्षुओं को विज्ञापित करते हैं, "भिक्षुओ ! सूर्योदय तक खर्राटे मार कर सोते हो। तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या तुमने देखा या सुना है मूर्धाभिषिक्त (अभिषेक-प्राप्त) क्षत्रिय राजा को इच्छानुसार शयन-सुख, स्पर्श-सुख, आलस्य-सुख के साथ बिहार करते और जीवन-पर्यन्त राज्य करते या

देश का भला होते ?" "नहीं भन्ते !" "साधु भिक्षुओ ! मैंने भी नहीं देखा। तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या तुमने देखा है या सुना है, शयन-सुख, स्पर्श-सुख, आलस्य-सुख से युक्त, इन्द्रियों के द्वारों को सुरक्षित न रखने वाले, भोजन की मात्रा को न जानने वाले, जागरण में अ-तत्पर, कुशल धर्मों की विपश्यना (साक्षात्कार) न करने वाले, रात के पहले और पिछले पहर में जगकर बोधि-पक्षीय धर्मों की भावना न करने वाले, किसी भी श्रमण या ब्राह्मण को चित्त-मलों के क्षय से प्राप्त निर्मल चित्त की विमुक्ति या प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म में स्वयं साक्षात्कार कर, स्वयं जान कर, स्वयं प्राप्त कर विहरते ?" "नहीं भन्ते !" "साधु भिक्षुओ ! मैंने भी नहीं देखा। तो भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये—इन्द्रिय-द्वार को सुरक्षित रक्खूँगा। भोजन की मात्रा को जानने वाला होऊँगा। जागने वाला, कुशल कर्मों की विपश्यना करने वाला, रात के पहले और पिछले पहरों में बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने वाला, इस प्रकार मैं साधना में लग्न रह कर विहरूँगा। भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये।" अंगुत्तर-निकाय के अट्ठक-निपात के पजावती-पवज्जा-सुत्त में महाप्रजापती गोतमी की प्रव्रज्या का बिलकुल उन्हीं शब्दों में वर्णन है, जैसा विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में। कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में भगवान् के विहार करते समय महाप्रजापती गोतमी भगवान् के पास आकर उनसे प्रार्थना करती है, "भन्ते ! अच्छा हो, यदि मातृग्राम (मातृ-समूह—स्त्रियाँ) भी तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में प्रव्रज्या पावें।" भगवान् ने उत्तर दिया, "गोतमी ! मत तुझे यह रुचे कि स्त्रियाँ तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में प्रव्रज्या पावें।" महाप्रजापती दुःखी, दुर्मना, अश्रुमुखी होकर चली गई। बाद में वह वैशाली में भगवान् के पास पहुँची। वहाँ आनन्द ने स्त्री-जाति की ओर बोलते हुए भगवान् से निवेदन किया, "भन्ते ! महाप्रजापती गोतमी फूले पैरों, धूल भरे शरीर से, दुःखी, दुर्मना, अश्रुमुखी रोती हुई द्वार-कोष्ठक के बाहर खड़ी है। भन्ते ! स्त्रियों को प्रव्रज्या की आज्ञा मिले।" "आनन्द ! मत तुझे यह रुचे।" आनन्द ने तथागत-प्रवेदित धर्म की मूल आत्मा को लेकर ही कहा, "भन्ते ! क्या तथागत-प्रवेदित धर्म में घर से बे घर प्रव्रजित हो, स्त्रियाँ स्रोत-आपत्ति-फल, सकृदागामि-फल, अनागामि-फल, अर्हत्व-फल को साक्षात कर सकती हैं ?" भगवान् को कहते देर न लगी, "साक्षात् कर सकती हैं, आनन्द !" बस प्रजापती गोतमी और आनन्द की इच्छा को पूरी होते देर न लगी। भगवान् ने आठ गुरु-धम्मों

(जिनके कारण ही इस प्रसंग को यहाँ अंगुत्तर-निकाय के इस निपात में स्थान मिला है) के पालन करने की शर्त लेकर महाप्रजापती को प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा दे दी। उसी समय से अन्य भी स्त्रियाँ भिक्षुणियाँ हुईं और बाद में एक अलग भिक्षुणी-संघ ही बन गया। किन्तु स्त्रियों को प्रव्रज्या की अनुमति देते समय भगवान् ने चेतावनी भी दी, जिसे बुद्ध-धर्म के बाद के इतिहास ने सम्भवतः सच्चा भी प्रमाणित कर दिया है "आनन्द! यदि तथागत-प्रवेदित-धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं, तो यह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष ठहरता। किन्तु चूँकि आनन्द! स्त्रियाँ प्रव्रजित हुईं, अब सद्धर्म चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म अब पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।......आनन्द! जैसे आदमी पानी की रोक-थाम के लिये, बड़े तालाब को रोकने के लिये, मेंड़ बाँधे, उसी प्रकार आनन्द। मैंने रोक-थाम के लिये भिक्षुणियों को जीवन-भर अनुल्लंघनीय आठ गुरु-धर्मों में प्रतिष्ठापित किया।" इसी प्रसंग में यहाँ यह भी कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि आनन्द किस प्रकार स्त्री-जाति के समर्थन में अपने युग से बहुत आगे थे, इसकी भी सूचना हमें इस निकाय में मिलती है। स्त्रियों को प्रव्रज्या दिलाने में उन्होंने महाप्रजापती गोतमी की किस कुशलता के साथ सहायता की, यह हम अभी देख ही चुके हैं। हम एक बार उन्हें (चतुक्क-निपात में) भगवान् से यह तक पूछते देखते हैं, "भन्ते! क्या कारण है कि स्त्रियाँ परिषदों में स्थान नहीं पातीं, स्वतन्त्र उद्योग नहीं करतीं, स्वावलम्बन का जीवन नहीं बितातीं?" हम जानते हैं कि आनन्द को अपने इन सब विचारों के कारण ही प्रथम संगीति में क्षमा-याचना करनी पड़ी। मनुष्यता के नाते आज आनन्द इसीलिये हमारे लिये अधिक प्रिय बन गये हैं, उस समय के लोगों ने चाहे जो सोचा हो। अंगुत्तर-निकाय में इस प्रकार बुद्ध के शिष्यों के स्वभाव और जीवन पर प्रकाश डालने वाली प्रभूत सामग्री मिलती है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद प्रजापती गोतमी इसी निकाय (अट्ठक-निपात) में भगवान् से पूछती है "भन्ते! अच्छा हो यदि भगवान् संक्षेप से मुझे धर्म का उपदेश करें, ताकि मैं उसे सुन कर, प्रमाद-रहित हो, आत्म-संयम कर जीवन में विचरूँ।" भगवान् का उत्तर बुद्ध-धर्म के उदार मन्तव्य को समझने के लिये इतना महत्वपूर्ण है कि उसको उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। "गोतमी! जिन बातों को तू जाने कि ये बातें सराग के लिये हैं, विराग के लिये नहीं, संयोग के लिये हैं वियोग के लिये नहीं, संग्रह के लिये हैं, असंग्रह के लिये नहीं, इच्छाओं को बढ़ाने

के लिये हैं, घटाने के लिये नहीं, असन्तोष के लिये हैं, सन्तोष के लिये नहीं, भीड़ के लिये हैं, एकान्त के लिये नहीं, अनुद्योगिता के लिये हैं, उद्योगिता के लिये नहीं, कठिनाई के लिये हैं, सुगमता के लिये नहीं, तो तू गोतमी ! सोलहो आने जानना कि वह न धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है। किन्तु गोतमी ! जिन बातों को तू जाने कि वे विराग के लिये हैं, सराग के लिये नहीं.....इच्छाओं को घटाने के लिये हैं, बढ़ाने के लिये नहीं.....सुगमता के लिये हैं कठिनाई के लिये नहीं, तो गोतमी ! तू सोलहो आने जानना वही विनय है, वही शास्ता का शासन है।"

सुत्तक-निपात में भगवान् बुद्ध का ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी गम्भीर उपदेश है जो अपनी सूक्ष्मता और मार्मिकता में अद्वितीय है। उसे यहाँ उद्धृत करना उपयोगी सिद्ध होगा। "ब्राह्मण ! यहाँ कोई एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नही भी करता, किन्तु वह स्त्री के द्वारा (स्नान-चूर्ण आदि) उबटन किये जाने, मले जाने, स्नान कराये जाने और मालिश किये जाने को स्वीकार करता है । वह उसमें रस लेता है, उसकी इच्छा करता है, उसमें प्रसन्नता अनुभव करता है। ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का टूटना है, छिद्रयुक्त होना है, चितकबरा होना है, धब्बेदार होना है। ब्राह्मण! इस पुरुष के लिये कहा जायगा कि वह मैथुन (स्त्री-सहवास) से युक्त होकर ही मलिन ब्रह्मचर्य का सेवन कर रहा है। वह मनुष्य जन्म से, जरा से, मरण से नहीं छूटता ......नहीं छूटता दुःख से भी—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता और न स्त्री के द्वारा अपने उबटन आदि किये जाने को ही स्वीकार करता है, किन्तु वह स्त्री के साथ हँसी-मजाक करता है, क्रीड़ा करता है, खेलता है, वह उसमें रस लेता है...... दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता, उसके द्वारा उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नहीं करता, उसके साथ हँसी मजाक भी नहीं करता, किन्तु वह स्त्री को आँख गड़ाकर देखता है, नजर भर कर देखता है, वह उसमें रस लेता है......दुःख से नहीं छूटता—

मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न प्रत्यक्ष स्त्री के साथ सहवास करता, न उससे उबटन आदि लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसे आंख गड़ाकर देखता, किन्तु वह दीवार या चहारदीवारी की ओट से छिपकर स्त्री के शब्दों को सुनता है, जब कि वह हँस रही हो, या बात कर रही हो, या गा रही हो, या रो रही हो, वह उसमें रस लेता है ...... दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको नजर भर कर देखता है जब कि वह गा रही हो या रो रही हो, किन्तु वह अपने उन हँसी-मजाकों, सम्भाषणों और क्रीड़ाओं को स्मरण करता है जो उसने पहले स्त्री के साथ की थीं, वह उनमें रस लेता है ...... दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको आँख गड़ा कर देखता, न उसके साथ किये हुए अपने पुराने हँसी-मजाकों, सम्भाषणों और क्रीड़ाओं आदि को ही स्मरण करता है, किन्तु वह किसी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को पूरी तरह पाँच प्रकार के (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सम्बन्धी) विषयों से समर्पित, संयुक्त हो, विलास करते देखता है, वह उसमें रस लेता है ...... दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और न वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको आँख गड़ाकर देखता, न उसके साथ किये हुए अपने पुराने हँसी-मजाकों को स्मरण करता, न किसी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को कामासक्त होकर सुख-विहार करते देख कर प्रसन्न होता, किन्तु वह किसी देव-योनि में जन्म लेने की अभिलाषा से ब्रह्मचर्य का आचरण करता है और सोचता है कि इस प्रकार के शील, तप, व्रत या ब्रह्मचर्य से मैं देव हो जाऊँगा या देवोंमें कोई, वह इसमें रस लेता है, इसकी इच्छा करता है, इसमें प्रसन्नता अनुभव करता है। ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का खंडित

हो जाना है, टूट जाना है, छिद्र-युक्त हो जाना है, चितकबरा हो जाना है, धब्बेदार हो जाना है। इसीलिये कहा जाता है कि इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाला पुरुष मलिन मैथुन के संयोग से युक्त ब्रह्मचर्य का ही आचरण करता है और वह जन्म से, जरा से, मरण से नहीं छूटता, नहीं छूटता दुःख से—में कहता हूँ।" साधना के इतिहास में इससे गम्भीर प्रवचन ब्रह्मचर्य पर नहीं दिया गया।

तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये कितनी महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक सामग्री हमें अंगुत्तर-निकाय में मिलती है, इसका कुछ दिग्दर्शन किया जा चुका है। तत्कालीन इतिहास की झलक भी उसमें कितनी मिलती है, यह अब हमें देखना है। सिंह सेनापति (लिच्छवि सरदार) बुद्ध-युग का एक आकर्षक व्यक्ति है।[1] अट्ठक-निपात में हम सिंह सेनापति को भगवान् से भेंट करते हुए देखते हैं। सिंह पहले निगण्ठों (निर्ग्रन्थों-जैन साधुओं) का शिष्य रहा है वह अपनी कुछ आपत्तियों को लेकर भगवान् बुद्ध के पास आता है। वह उन्हें पूछता है कि वे कहाँ तक अक्रियावादी, उच्छेदवादी हैं या नहीं। भगवान् एक-एक कर उसको बतला देते हैं कि किन-किन अर्थों में उनको ऐसा (अक्रियावादी, उच्छेदवादी आदि) कहा भी जा सकता है। सिंह सेनापति संतुष्ट होकर उपासक बनना चाहता है। भगवान् उसे कहते हैं "सिंह! सोच-समझ कर करो। तुम्हारे जैसे सम्भ्रान्त मनष्यों का सोच-समझ कर निश्चय करना ही अच्छा है।" सिंह सेनापति जब अपनी दृढ़ श्रद्धा दिखाता है तो भगवान् उसे उपासक के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु चूँकि वह पहले निर्ग्रन्थों का शिष्य रहा है और वे उससे दान पाते रहे हैं, इसलिये उदार शास्ता सिंह को यह भी आदेश देना नहीं भूलते, "सिंह! तुम्हारा कुल दीर्घ-काल से निगंठों के लिये प्याऊ की तरह रहा है। उनके आने पर उन्हें पहले की ही तरह तुम्हारे घर से दान मिलता रहना चाहिये।" बुद्ध के विरुद्ध किस प्रकार मिथ्या प्रचार किया जाता था इसका विवरण हम इसी निकाय के वेरंजक-सुत्त में पाते हैं। वेरंजक नामक ब्राह्मण भगवान् के पास जाकर कहता है, "हे गोतम! मैंने सुना है कि आप गोतम अ-रस

---

१. देखिये महापंडित राहुल सांकृत्यायन का 'सिंह सेनापति' शीर्षक उपन्यास।

रूप हैं ....आप गोतम निर्भोग हैं......आप गोतम अक्रियावादी हैं .....आप गोतम उच्छेदवादी हैं.....आप गोतम जुगुप्सु (घृणा करने वाले) हैं........आप गोतम वैनयिक (हटाने वाले) हैं......आप गोतम तपस्वी हैं....आप गोतम अपगर्भ हैं। भगवान् उसे बताते हैं कि उन्हें किस-किस अर्थ में ऐसा कहा भी जा सकता है।" उदाहरणतः "ब्राह्मण ! मैं काया के दुराचार, वाणी के दुराचार, मनके दुराचार को अक्रिया कहता हूँ। अनेक प्रकार के पाप कर्मों को मैं अ-क्रिया कहता हूँ। यही कारण है ब्राह्मण ! जिससे 'श्रमण गोतम अक्रियावादी है'। ऐसा कहा जा सकता है।........ब्राह्मण ! मैं राग, द्वेष, मोह के उच्छेद का उपदेश करता हूँ। अनेक प्रकार के पाप-कर्मों का उच्छेद कहता हूँ। 'श्रमण गोतम उच्छेदवादी है' ऐसा कहा जा सकता है। ...... ब्राह्मण ! जिसका भविष्य का गर्भ-शयन, आवागमन नष्ट हो गया, जड़-मूल से चला गया, उसको मैं अपगर्भ करता हूँ। ब्राह्मण ! तथागत का गर्भ-शयन, आवागमन, नष्ट हो गया, जड़-मूल से चला गया। 'श्रमण गोतम अपगर्भ है', ऐसा कहा जा सकता है," आदि, आदि। यहीं भगवान् अपनी जीवनी का भी कुछ वर्णन करने लगते हैं, "ब्राह्मण ! इस अविद्या में पड़ी, अविद्या रूपी अंडे से जकड़ी प्रजा में, मैं अकेला ही अविद्या रूपी अंडे को फोड़ कर, अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जानने वाला हूँ। मैं ही ब्राह्मण ! लोक में ज्येष्ठ हूँ, अग्र हूँ। मैंने न दबने वाला वीर्यारम्भ किया था, विस्मरण-रहित स्मृति मेरे सम्मुख थी, अचल और शान्त मेरा शरीर था, एकाग्र समाहित चित्त था। ......ब्राह्मण ! उस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर, आत्म-संयम-युक्त होकर विहरते हुए, मुझे रात के पहले याम में, पहली विद्या प्राप्त हुई, अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण ! अंडे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह पहली फूट हुई। फिर ब्राह्मण ! रात के बीच के याम में द्वितीय विद्या उत्पन्न हुई......रात के पिछले याम में तृतीय विद्या उत्पन्न हुई। अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई। तम गया, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण ! अंडे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह तीसरी फूट हुई।"

कोशल-राज प्रसेनजित् बुद्ध का श्रद्धावान् उपासक था, यह हम संयुत्त निकाय में देख चुके हैं। मज्झिम-निकाय (बाहीतिक-सुत्त) में हमने प्रसेन-

जित् और आनन्द का संवाद भी देखा है। अंगुत्तर-निकाय के कोसल-सुत्त में हम उसे बुद्ध के प्रति अतीव श्रद्धा और प्रेम प्रदर्शित करते हुए देखते हैं। श्रावस्ती में भगवान् के दर्शनार्थ वह जाता है। जेतवन-आराम के द्वार पर ही वह भिक्षुओं से भगवान् के दर्शन-विषयक अपनी इच्छा को प्रकट करता है। "महाराज! यह द्वार-बन्द कोठरी है, चुपके से धीरे धीरे वहाँ जाकर बरामदे में प्रवेश कर, खाँस कर जंजीर को खटखटा देना। भगवान् तुम्हारे लिये द्वार खोल देंगे।" भगवान् ने द्वार खोल दिया। "विहार में प्रविष्ट हो प्रसेनजित् भगवान् के पैरों में गिर-कर, भगवान् के पैरों को मुख से चूमता था, हाथ से पैरों को दबाता था और अपना नाम सुनाता था 'भन्ते! मैं राजा प्रसेनजित् कोसल हूँ।" "महाराज! तुम किस बात को देखकर इस शरीर में इतनी मैत्री का उपहार दिखाते हो?" "भन्ते! कृतज्ञता, कृतवेदिता को देखते हुए मैं भगवान् की इस प्रकार की परम सेवा करता हूँ, मैत्री उपहार दिखाता हूँ। भन्ते! भगवान् बहुत जनों के हित, बहुत जनों के सुख के लिये हैं"। अंगुत्तर-निकाय में हम देखते हैं कि मगध-राज अजातशत्रु वज्जियों के गण-तन्त्र के विरुद्ध अभियान करना चाहता है। भगवान् जिस समय राजगृह में गृध्रकूट-पर्वत (गिज्झकूट पब्बत) पर विहर रहे थे, उसने अपने मन्त्री वर्षकार (वस्सकार) नामक ब्राह्मण को उनसे इस सम्बन्ध में पूछने के लिये भेजा था। सोलह महाजन-पदों का इस निकाय में विशेष वर्णन है।[1] इन सोलह महाजन पदों के नाम हैं अंग, मगध, काशी, कोशल, वज्जि, मल्ल, चेति, वंस, कुरु, पंचाल (पांचाल), मच्छ (मत्स्य), सूरसेन (शूरसेन), अस्सक (अश्वक-अश्मक), अवन्ती, गन्धार और कम्बोज। ये सभी नाम उन प्रदेशों के निवासियों (जनों) के सूचक हैं। गणतन्त्र-प्रणाली की यह मुख्य विशेषता थी। भौगोलिक दृष्टि से भी इस निकाय के अनेक वर्णन बड़े महत्त्व के हैं। उदाहरणतः यहाँ गंगा, यमुना, अचिरवती, सरभू (सरयू) और मही इन पाँच बड़ी नदियों का वर्णन है। इसी प्रकार भंडगाम (वज्जि-प्रदेश) इच्छा-मंगल (कोशल) आदि ग्रामों, केसपुत्त (कालाम नामक क्षत्रियों का कस्बा)

---

१. अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पहली, पृष्ठ २१३, जिल्द चौथी, पृष्ठ २५२, २५६, २६०, आदि (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

कुसीनारा (मल्ल-प्रदेश में), नलकपान (कोशल), कम्मासदम्म (कुरु-प्रदेश) आदि कस्बों और श्रावस्ती, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र आदि अनेक नगरों के वर्णन हैं जो बुद्ध-कालीन भारत के वातावरण को आज भी हमारे लिये सजीव बनाते हैं।

५—खुद्दक-निकाय

खुद्दक-निकाय के स्वरूप की अनिश्चितता।

खुद्दक-निकाय सुत्त-पिटक का पाँचवाँ मुख्य भाग है। पहले चार निकायों की सी एकरूपता यहाँ नहीं मिलती। खुद्दक-निकाय छोटे-छोटे (खुद्दक) स्वतन्त्र ग्रन्थों का संग्रह (निकाय) है। सभी ग्रन्थ छोटे भी नहीं हैं। कुछ तो (जैसे जातक आदि) काफी बड़े भी हैं। भाषा-शैली में भी समानता नहीं है। कुछ विशुद्ध पद्यात्मक और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ हैं। काव्य, आख्यान, गीत, यही खुद्दक-निकाय के विषय हैं। निश्चयतः खुद्दक-निकाय के विषय और शैली की सब से बड़ी विशेषता उसकी विविधरूपता ही है। जैसा अंशतः दूसरे अध्याय में दिखाया जा चुका है, वर्गीकरण के भेद से खुद्दक-निकाय की ग्रन्थ-संख्या में भी पर्याप्त भेद पाया जाता है।

सुत्त-पिटक के अङ्ग के रूप में

सामान्यतः खुद्दक-निकाय सुत्त-पिटक का एक अङ्ग है। इस रूप में खुद्दक-निकाय में पन्द्रह ग्रन्थ सम्मिलित हैं, जिनकी गणना नीचे लिखे क्रम से आचार्य बुद्धघोष ने की है[1]—

१ खुद्दक-पाठ
२ धम्मपद
३ उदान
४ इतिवुत्तक
५ सुत्त-निपात
६ विमानवत्थु
७ पेतवत्थु
८ थेरगाथा
९ थेरी गाथा
१० जातक

---

१. सुमंगल विलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ १७ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

११ निद्देस
१२ पटिसम्भिदामग्ग
१३ अपदान
१४ बुद्धवंस
१५ चरियापिटक

निद्देस के दो भाग चूलनिद्देस और महानिद्देस हैं। उनको दो स्वतंत्र ग्रन्थ मान कर गिनने से उपर्युक्त ग्रन्थ-संख्या १६ हो जाती है। किन्तु स्थविर-वादी बौद्ध परम्परा १५ ही ग्रन्थ मानती है। "पण्णरसभेदो खुद्दक-निकायो"। आचार्य बुद्धघोष ने हमें सूचना दी है कि प्रथम संगीति के अवसर पर मज्झिम-निकाय का संगायन करने वाले (मज्झिम-भाणक) भिक्षु उपर्युक्त १५ ग्रन्थों को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत खुद्दक-निकाय में सम्मिलित मानते थे।[1]

खुद्दक-निकाय अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत भी

किन्तु एक दूसरी परम्परा उसी समय से खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत मानने के विपक्ष में थी। यह दीघ-निकाय का संगायन करने वाले (दीघ-भाणक) भिक्षुओं की परम्परा थी। ये भिक्षु खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत न मान कर उसे अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत मानते थे। ग्रन्थ-संख्या के विषय में भी मतभेद था। इन्हें खुद्दक-निकाय के सिर्फ निम्न-लिखित ११ ग्रन्थ, जिन्हें वे खुद्दक-ग्रन्थ कहते थे मान्य थे। आचार्य बुद्धघोष ने इन ग्रन्थों की सूची इस प्रकार दी है[2]—

१ जातक
२ निद्देस
३ पटिसम्भिदा मग्ग
४ सुत्त-निपात
५ धम्मपद
६ उदान,
७ इतिवुत्तक
८ विमानवत्थु
९ पेतवत्थु
१० थेरगाथा
११ थेरीगाथा

१. मज्झिमभाणका पन..... सब्बंपि तं खुद्दक-गन्थं सुत्तन्तपिटके परियापन्नं ति वदन्ति। सुमंगलविलासिनी की निदानकथा।

२. ततो परं जातकं......थेर-थेरी गाथाति इमं तन्तिं संगायित्वा 'खुद्दक-

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि चरियापिटक, अपदान, बुद्धवंस और खुद्दक-पाठ, ये चार ग्रन्थ खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों के रूप में दीघ-भाणक भिक्षुओं को मान्य नहीं थे। वास्तव में खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत न मानना दीघ-भाणक भिक्षुओं का इतना साहसिक कृत्य नहीं था जितना वह हमें आज लगता है। प्रथम संगीति के अवसर पर ही हम आर्य महाकाश्यप को आनन्द से पूछते हुए देखते हैं "सुत्त-पिटक में चार संगीतियाँ (संग्रह) हैं। इनमें से पहले किसका संगायन करना होगा?"[1] इससे स्पष्ट है कि पहले सुत्त-पिटक को चार भागों में ही विभाजित करने की प्रणाली थी। बाद में स्वतन्त्र ग्रन्थों का एक अलग संग्रह कर दिया गया, जिसकी न तो ग्रन्थ-संख्या का ही ठीक निश्चय हो सका और न जिसे निश्चयपूर्वक सुत्त-पिटक या अभिधम्म-पिटक में ही रक्खा जा सका। खुद्दक-निकाय के अनिश्चित स्वरूप का यही कारण है।

अभिधम्म-पिटक खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत भी-

किन्तु इस अनिश्चितता का यहीं अन्त नहीं है। समग्र बुद्ध-वचनों का जब पाँच निकायों में वर्गीकरण किया जाता है, तो वहाँ भी खुद्दक-निकाय पाँचवाँ भाग है। किन्तु वहाँ इसका विषय-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों को छोड़कर बाकी सभी बुद्ध-वचन जिनमें पूरे विनय और अभिधम्म पिटक भी सम्मिलित हैं, वहाँ खुद्दक-निकाय के ही अन्तर्गत समझे जाते हैं। खुद्दक-निकाय के इस विस्तृत विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में 'सुमंगल-विलासिनी' की निदान-कथा में कहा गया है "क्या है खुद्दक-निकाय? सम्पूर्ण विनय-पिटक, सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक, खुद्दक-पाठ आदि १५ ग्रन्थ, सारांश यह कि चार निकायों को छोड़कर बाकी सभी बुद्ध-वचन खुद्दक-निकाय हैं।"[2]

गन्थो' नाम अयं ति च वत्वा अभिधम्मपिटकस्मिं येव संगहं आरोपयिंसूति दीघभाणका वदन्ति। अट्ठसालिनी की निदान-कथा।

१. सुत्तन्त-पिटके चतस्सो संगीतियो, तासु पठमं कतरं संगीतिन्ति। अट्ठसालिनी की निदान-कथा।

२. कतमो खुद्दक-निकायो? सकलं विनय-पिटकं अभिधम्म-पिटकं खुद्दक-

निकाय की दृष्टि से यहाँ अभिधम्म-पिटक को खुद्दक-निकाय में ही सम्मिलित कर दिया गया है, केवल पिटक के रूप में उसकी स्वतन्त्र सत्ता अवश्य स्वीकार की गई है।[1]

इसका अभिप्राय

उपर्युक्त वर्गीकरणों को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि उनमें खुद्दक-निकाय और अभिधम्म-पिटक को एक दूसरे में मिला दिया गया है। इसका अभिप्राय क्या है ? ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य बड़े महत्व का है। 'अभिधम्म' धम्म का, सुत्त-पिटक का, परिशिष्ट है। 'अभिधम्म' में 'अभि' शब्द यही रहस्य लिये बैठा है, यह हम आगे देखेंगे। प्रथम चार निकायों के अतिरिक्त जो कुछ भी बुद्ध-वचन है, वे इस विस्तृत अर्थ में सभी अभिधम्म हैं, 'अतिरिक्त' धम्म है। खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ इसी प्रकार के अतिरिक्त धम्म है। अतः उन्हें 'अभिधम्म' के साथ उपर्युक्त अर्थ में मिला दिया गया है। इस तथ्य से खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों के संकलन-काल पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

सिंहल, बरमा और स्याम में खुद्दक-निकाय की ग्रन्थ-संख्या के विषय में विभिन्न मत

सिंहलदेशीय परम्परा खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत १५ ग्रन्थों को (जो निद्देस को दो ग्रन्थ मान कर १६ हो जाते हैं) मानती है। बरमा में इनके अतिरिक्त चार अन्य ग्रन्थ भी खुद्दक-निकाय में सम्मिलित माने जाते हैं। इनके नाम हैं, मिलिन्द-पञ्ह, सुत्त-संगह, पेटकोपदेस और नेत्ति या नेत्ति-पकरण[2]। सिंहली परम्परा इन्हें खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करती। १८९४ ई० में

पाठावयो च पुब्बे निवस्सितपंचदसभेदा, ठपेत्वा चत्तारो निकाये अवसेसं बुद्ध-वचनं ति। सुमंगलविलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ २३ (पालि-टै० सो०); मिलाइये अट्ठसालिनी, पृष्ठ २८ (पालि० टै० सो०); गन्धवंस, पृष्ठ ५७ (जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी, १८८६)

१. अयं अभिधम्मो पिटकतो अभिधम्मपिटकं, निकायतो खुद्दक-निकायो। अट्ठसालिनी की निदान-कथा।

२. मेबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४

प्रकाशित त्रिपिटक के स्यामी संस्करण में ये आठ ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं—विमान-वत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, अपदान, बुद्धवंस और चरिया-पिटक। विंटरनित्ज़ ने कहा है कि यह बात आकस्मिक नहीं हो सकती।[1] इससे उनका तात्पर्य यह है कि स्याम में ये ग्रन्थ बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक नहीं माने जाते। कम से कम उनका अल्प महत्त्व तो निश्चित है ही।

खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का काल-क्रम

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि खुद्दक-निकाय पहले चार निकायों के बाद का संकलन है। बुद्ध-वचन के रूप में उसका महत्त्व भी उनके बाद ही मानना चाहिये। चीनी आगमों में तो उसे एक प्रकार स्वतन्त्र निकाय का स्थान ही नहीं मिला। केवल कुछ स्फुट ग्रन्थों के पाये जाने के कारण ही वहाँ 'क्षुद्र-कागम' के अस्तित्व का अनुमान कर लिया गया है[2]। ये ग्रन्थ भी वहाँ कभी कभी अन्य निकायों में ही सम्मिलित कर दिये जाते हैं[3]। अतः स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी दोनों ही परम्पराओं में प्रथम चार निकायों की प्रधानता, पालि-त्रिपिटक में उसके स्वरूप की बहुत-कुछ अनिश्चितता, सर्वास्तिवादी त्रिपिटक में उसके स्वतन्त्र रूप की अ-प्राप्ति अथवा आंशिक प्राप्ति, एवं सब से बढ़ कर स्थविरवादी परम्परा में भी उसके कुछ ग्रन्थों को बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक न मानने की ओर प्रवृत्ति, ये सब तथ्य इसी बात के सूचक हैं कि खुद्दक-निकाय प्रथम चार निकायों के बाद का संकलन है। विचारों के विकास की दृष्टि से भी इसी निष्कर्ष पर आना पड़ता है। प्रथम चार निकायों में विवेकवाद की प्रधानता है। खुद्दक-निकाय में काव्यात्मक तत्त्व का आधार लेकर भावुकता भी काफी प्रधानता लिये हुए है। स्थविरवादी परम्परा बुद्ध-वचनों की गम्भी-

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७७ पद-संकेत ३

२. देखिये पहले इसी अध्याय में 'पालित्रिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन हैं'? इसका विवेचन।

३. देखिये ट्रांजैक्शन्स ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव जापान, जिल्द ३५, भाग ३, पृष्ठ ९ में प्रो० एम० अनेसाकि का लेख, विंटरनित्ज़ : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७७, पद-संकेत २ में उद्धृत।

रता को काव्योचित भावनाओं और कल्पनाओं में खो देना पसन्द नहीं करती थी। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में बुद्ध-उपदेशों को गीतों की तरह गाना स्पष्ट रूप से निषिद्ध किया गया है और उसे अपराध बतलाया गया है। गम्भीर अनात्मदर्शन पर प्रतिष्ठित बुद्ध-वचनों को भावात्मक कविताओं में गाना स्थविरवादी परम्परा संघ के लिये एक आने वाली विपत्ति समझती थी।[1] खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों में इसी विपत्ति के दर्शन हुए हैं, विंटरनित्ज़ का यह समझना[2] यद्यपि ठीक नहीं माना जा सकता, किन्तु यह उसके अपेक्षाकृत उत्तरकालीन होने का सूचक तो है ही। खुद्दक-निकाय का अधिकांश स्वरूप काव्यात्मक होते हुए भी उसकी मूल भावना सर्वांश में बौद्ध है। बल्कि उसकी गाथाओं में अनेक तो पिटक-संकलन के प्राचीनतम युग की सूचक भी हैं। उनके सर्वांश में बुद्ध-वचन होने का दावा तो स्वयं खुद्दक-निकाय में भी नहीं किया गया, क्योंकि थेर-थेरी गाथाओं जैसी रचनाओं को वहाँ स्पष्टतः भिक्षु-भिक्षुणियों की कृतियाँ कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि तत्कालीन लोक-साहित्य और भावनाओं का प्रभाव खुद्दक-निकाय के कुछ ग्रन्थों (विशेषतः विमान-वत्थु, पेतवत्थु, जातक, चरियापिटक आदि) में अधिक परिलक्षित होता है, जो उनकी आपेक्षिक अर्वाचीनता का सूचक अवश्य है, किन्तु साहित्य और इतिहास के विद्यार्थी के लिये इसी दृष्टि से उसका महत्व भी बढ़ गया है। पालि के सर्वोत्तम काव्य-उद्गार खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों में ही सन्निहित हैं और उनका प्रणयन मानवीय तत्त्वों के आधार पर निश्चय ही चार निकायों के बाद हुआ है, यद्यपि उनमें से अनेक अत्यन्त प्राचीन युग के भी हैं, यह भी उतना ही सुनिश्चित तथ्य है। इसका एक स्पष्टतम प्रमाण तो यही है कि 'पंचनेकायिक' भिक्षुओं की परम्परा विनय-पिटक—चुल्लवग्ग से आरम्भ होकर, भारहुत और साँची के स्तूपों (तृतीय शताब्दी या कम से कम २५० वर्ष ईसवी पूर्व) में

---

१. देखिये ओपम्म-संयुत्त (संयुत्त-निकाय) एवं अंगुत्तर-निकाय के अनागत-भय-सूत्र

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ ७७

अंकित होती हुई[1], अविच्छिन्न रूप से मिलिन्दपञ्ह'[2] (प्रथम शताब्दी ई० पू०) तक दृष्टिगोचर होती है। 'पंचम' निकाय के अस्तित्व के बिना यह असम्भव है। अतः यह निश्चित है कि प्रथम संगीति के समय से ही, जब कि दीघ-भाणक और मज्झिम-भाणक भिक्षुओं में खुद्दक-निकाय के विषय में मत-भेद प्रारम्भ हुआ, खुद्दक-निकाय का संकलन होने लगा था, किन्तु प्रथम चार निकायों से इसका अन्तर केवल इतना था कि जब कि उनका स्वरूप उसी समय स्थिर हो गया था, खुद्दक-निकाय में तृतीय संगीति तक परिवर्द्धन होते गये। अतः प्रथम और तृतीय संगीतियाँ उसके प्रणयन या संकलन काल की क्रमशः उपरली और निचली काल-सीमाएँ हैं।

इस सामान्य कथन के बाद अब हमें खुद्दक-निकाय के १५ ग्रन्थों की पूर्वापरता पर विचार करना है। वाह्य साक्ष्य के आधार पर हम किन ग्रन्थों को कम या अधिक प्रामाणिक मान सकते हैं, इसका दिग्दर्शन करने के लिये हमें उन परम्पराओं को देखना है, जो खुद्दक-निकाय की प्रामाणिकता के विषय में पालि-साहित्य के इतिहास में चल पड़ी हैं। इन्हें इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

(१) प्रथम संगीति के अवसर पर दीघ-भाणक भिक्षुओं ने जिन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना—(१) बुद्धवंस (२) चरियापिटक (३) अपदान।

(२) द्वितीय संगीति के अवसर पर महासंगीतिक भिक्षुओं ने जिन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना—(१) पटिसम्भिदामग्ग (२) निद्देस (३) जातक के कुछ अंश

(३) स्यामी परम्परा जिन्हें बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक नहीं समझती—(१) विमानवत्थु (२) पेतवत्थु (३) थेरगाथा (४) थेरीगाथा (५) जातक (६) अपदान (७) बुद्धवंस (८) चरियापिटक।

जिन ग्रन्थों को दीघ-भाणक भिक्षुओं ने प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया वे सभी स्यामी परम्परा द्वारा बहिष्कृत ग्रंथों की सूची में भी सम्मिलित हैं। महा-संगीतिक भिक्षुओं ने जातक के कुछ अंशों को भी प्रामाणिक नहीं समझा और

---

१. देखिये रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६९

२. पृष्ठ २३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

स्यामी परम्परा भी इसमें उसके समान ही है। पटिसम्भिदामग्ग और निद्देस को महासंगीतिक भिक्षुओं ने अवश्य प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया जब कि स्यामी परम्परा में उन्हें प्रामाणिक मान लिया गया है। यदि हम सम्पूर्ण उपर्युक्त बहिष्कृत ग्रन्थों को मिलाकर गिनें तो अप्रमाणिक ग्रन्थों की यह सूची इस प्रकार होगी (१) विमानवत्थु (२) पेतवत्थु (३) थेरगाथा (४) थेरीगाथा (५) जातक (६) अपदान (७) बुद्धवंस (८) चरियापिटक (९) पटिसम्भिदामग्ग और (१०) निद्देस। खुद्दक-निकाय के १५ ग्रन्थों में से इन्हें निकाल दें तो बाकी ये बच रहते हैं (१) खुद्दक-पाठ (२) धम्मपद (३) सुत्त-निपात (४) उदान और (५) इतिवुत्तक। अतः बाह्य साक्ष्य के आधार पर उपयुक्त पाँच ग्रन्थ ही अन्य १० की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक बुद्ध-वचन ठहरते हैं। खुद्दक-पाठ को छोड़कर शेष चार ग्रन्थ चीनी अनुवाद में भी उपलब्ध हैं।

आन्तरिक साक्ष्य भी इसी निष्कर्ष का अधिकतर समर्थन करता है। भाषा और विषय दोनों की दृष्टि से धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान और इतिवुत्तक प्राचीनतम युग के सूचक हैं। इनकी विषय-वस्तु का जो विवेचन आगे किया जायगा, उससे यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। खुद्दक-पाठ अवश्य बाद का संकलन जान पड़ता है। उसमें कुछ सामग्री सुत्त-निपात मे ली गई है और कुछ त्रिपिटक के अन्य अंशों से। शरण-त्रय और शरीर के ३२ अङ्गों के विवरण जो इस संकलन में हैं, चार निकायों में प्राप्त विवरणों से कुछ अधिक विकसित अवस्था के सूचक हैं।[१] अतः खुद्दक-पाठ का स्थान भी काल-क्रम की दृष्टि से

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३५; वास्तव में शरण-त्रय के सम्बन्ध में तो ऐसा कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि 'बुद्धं सरणं गच्छामि' आदि के बाद वहाँ केवल 'दुतियम्पि' (दूसरी बार भी) 'ततियम्पि' (तीसरी बार भी) अधिक है। हाँ, शरीर के ३२ अंगों के कथन में 'मत्थके मत्थलुंगंति' (मस्तक का गूदा) पद अवश्य अधिक है। प्रथम चार निकायों में केवल ३१ अंगों का ही वर्णन है।

शेष १० ग्रन्थों के साथ है। इन सब ग्रन्थों के संकलन की निश्चित तिथि के सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें जो अधिक उत्तरकालीन हैं वे भी अशोक के काल से बाद के नहीं हैं। धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान और इतिवुत्तक के बाद काल-क्रम की दृष्टि से जातक और थेर-थेरी गाथाओं का स्थान कहा जा सकता है। 'जातक' में बुद्ध के पूर्व -जन्म की कथाएँ हैं। मूल जातक में ऐसी केवल ५०० कहानियाँ थीं। चुल्ल-निद्देस में ५०० जातक-कहानियों का ही निर्देश हुआ है।[१] फाहयान ने भी सिंहल में ५०० जातक-कहानियाँ के चित्र अंकित देखे थे।[२] बाद में जातक-कहानियों की संख्या बढ़कर ५४७ हो गई। मूल जातक की प्राचीनता इस बात से प्रकट होती है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व के साँची और भारहुत के स्तूपों में उसकी अनेक कहानियों के दृश्य अंकित किये गये हैं।[3] अतः जातकों का काल उस से काफी पहले का होना चाहिये। थेर-और थेरी-गाथाओं में बुद्ध-कालीन भिक्षुओं और भिक्षुणियों की गाथाएँ हैं। केवल थेरगाथा की कुछ गाथाएँ अशोक के समय के भिक्षुओं की बताई जाती है।[४] अतः सम्भव है थेरगाथा ने भी अपना अन्तिम स्वरूप अशोक के काल में ही प्राप्त किया हो और तृतीय संगीति के अवसर पर उसका संगायन हुआ हो। जातकों के बोधिसत्व-आदर्श पर ही आधारित बुद्धवंस और चरिया-

---

१. पृष्ठ ८०

२. रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट किंग्डम्स, ऑक्सफर्ड १८८६, पृष्ठ १०६ (जे० लेग का अनुवाद)

३. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २०९; हल्श : जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१२, पृष्ठ ४०६; इस सम्बन्धी अधिक साहित्य के परिचय के लिये देखिये विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६, पदसंकेत ३; पृष्ठ ११३ पद संकेत ३

४ गाथाएँ १६९-७० अशोक के कनिष्ठ भ्राता वीतसोक की रचनाएँ हैं। मिलाइये "इमस्मिं बुद्धुप्पादे अट्ठारस वस्साधिकानं द्विन्नं वस्स सतानं मत्थके धम्मासोकरञ्ञो कनिट्ठ भाता हुत्वा निब्बत्ति। तस्स वीत-सोकोति नामं अहोसि।" (वीतसोकथेरस्स गाथावण्णना।)

पिटक हैं। बुद्धवंस में गोतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन है, जब कि प्रथम चार निकायों (विशेषतः महापदानसुत्त-दीघ. २।३) में केवल ६ पूर्ववर्ती बुद्धों का ही वर्णन मिलता है। चरियापिटक में बोधिसत्वों की जीवन-चर्या का वर्णन मिलता है। यहीं पर सर्व प्रथम दस पारमिताओं का भी वर्णन मिलता है। जातक की कहानियों से इन सब की बड़ी समानता है। बल्कि कहना चाहिये एक प्रकार से चरियापिटक २६ पद्य-बद्ध जातकों का संग्रह ही है। जिस प्रकार बुद्धवंस और चरियापिटक जातक के उत्तरवर्ती हैं, उसी प्रकार निद्देस भी जातक के बाद का संकलन है। जैसा अभी कहा जा चुका है, चुल्ल-निद्देस में जातक का निर्देश मिलता है। निद्देस (जिसमें चुल्ल-निद्देस और महानिद्देस दोनों सम्मिलित है) सुत्त-निपात से बाद का संकलन है। एक प्रकार से निद्देस सुत्त-निपात के कुछ अंशों की व्याख्या ही है। चुल्ल-निद्देस खग्गविसाणसुत्त और पारायणवग्ग की व्याख्या है, जब कि महानिद्देस में अट्ठकवग्ग की व्याख्या की गई है। अतः निद्देस सुत्त-निपात से बाद की रचना ही मानी जा सकती है। डा० लाहा का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि निद्देस सुत्त-निपात से पहले की रचना होनी चाहिये। इसके लिये उन्होंने दो कारण दिये हैं, (१) महानिद्देस में सुत्त-निपात के अट्ठकवग्ग की व्याख्या उस युग की सूचक है जब अट्ठकवग्ग एक अलग वर्ग की अवस्था में था, (२) सुत्त-निपात के पारायणवग्ग के आरम्भ में एक प्रस्तावना है जो चुल्ल-निद्देस की व्याख्या में लुप्त है। यदि चुल्ल-निद्देस सुत्त-निपात के बाद का संकलन होता तो इस प्रस्तावना की भी व्याख्या वहाँ अवश्य होती।[1] डा० लाहा न जो कारण दिये हैं वे निषेधात्मक ढंग के हैं। निद्देस के रचयिता या संकलनकर्ता को सुत्त-निपात के सम्पूर्ण अंशों की जानकारी होते हुए भी वह उसके कुछ अंशों को ही व्याख्या के लिये चुन सकता था। इसी प्रकार प्रस्तावना की भी व्याख्या करना या न करना उसकी इच्छा पर निर्भर था। सब से बड़ी बात तो यह है कि निद्देस में सुत्त-निपात की कतिपय गाथाओं की व्याख्या की गई है अतः वह उसके बाद की रचना ही हो सकती है। जिस प्रकार बुद्धवंस चरियापिटक और निद्देस जातक के बाद की रचनाएँ हैं उसी प्रकार थेर

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३८

थेरी—गाथाओं के बाद अपदान का भी प्रणयन निश्चित है। अपदान के दो भाग हैं, थेर अपदान और थेरी अपदान। इन दोनों भागों में क्रमशः भिक्षु और भिक्षुणियों के पूर्व जन्म की कथायें हैं। इस प्रकार यह पूरा ग्रंथ थेर और थेरी गाथाओं का पूरक ही कहा जा सकता है। अपदान निश्चयतः अशोककालीन रचना है। इसका कारण यह है कि उसमें कथावस्तु का निर्देश हुआ है, जो निश्चयतः तृतीय संगीति के समय लिखी गई। विमानवत्थु और पेतवत्थु भी उत्तरकालीन रचनाएँ हैं। इनमें क्रमशः देव-लोकों और प्रेतों के वर्णन हैं, जो स्थविरवादी बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप से बहुत दूर हैं। विमानवत्थु में तो एक ऐसी घटना का भी वर्णन है जो उसी के वर्णन के अनुसार पायासि राजन्य के १०० साल बाद हुई।[1] पायासि की मृत्यु भगवान् बुद्ध से कुछ साल बाद हुई थी, अतः जिस घटना का विमानवत्थु में वर्णन है वह बुद्ध-निर्वाण के सौ से कुछ अधिक साल बाद ही हुई होगी। इस प्रकार विमानवत्थु की रचना तृतीय संगीति के कुछ पहले की ही अधिक से अधिक हो सकती है। इसी प्रकार पेतवत्थु भी अशोककालीन रचना है। उसमें 'मौर्य-अधिपति' का निर्देश हुआ है[2] जिसका अभिप्राय 'अट्ठकथा' के अनुसार धम्माशोक से है।[3] 'पटिसम्भिदा-मग्ग' की रचना अभिधम्म-पिटक की शैली में हुई है, अतः वह भी इसी युग की रचना है। इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन के आधार पर खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का काल-क्रम तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, जो इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

१ धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान, इतिवुत्तक।
२ जातक, थेरगाथा, थेरीगाथा।

---

१. मानुस्सकं वस्ससतं अतीतं यदग्गे कायम्हि इधूपपन्नो। पृष्ठ ८१ (पालि-टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)
२. राजा पिंगलको नाम सुरट्ठानं अधिपति अहु मोरियानं उपट्ठानं गन्त्वा सुरट्ठं पुनरागमा।
३. मोरियानंति मोरियराजूनं धम्मासोकं सन्धाय वदति। पृष्ठ ९८ (पालि-टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

३ बुद्धवंस, चरियापिटक, निद्देस, अपदान, पटिसम्भिदामग्ग, विमानवत्थु, पेतवत्थु, खुद्दक-पाठ।

प्रत्येक श्रेणी के ग्रन्थों में भी कौन किस से पहले या पीछे का है, इसका सम्यक् निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके लिये उतने स्पष्ट बाह्य और आन्तरिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। निश्चित तिथियों के अभाव में इस प्रकार के निर्णय का कोई अधिक महत्व भी नहीं हो सकता। अब हम खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

खुद्दक-पाठ[1]

खुद्दक-पाठ छोटे छोटे नौ पाठों या सुत्तों का संग्रह है। ये सभी पाठ विशेषतः सुत्त-पिटक और विनय-पिटक से संगृहीत हैं। पहले चार पाठ पिछले पाँच की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त हैं। इनका संकलन प्रारम्भिक विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये अथवा बौद्ध गृहस्थों के दैनिक पाठ के लिये किया गया है। अतः सिंहल में खुद्दक-पाठ का बड़ा आदर है। खुद्दक-पाठ के नौ पाठों या सुत्तों के नाम और विषय इस प्रकार हैं—

१. सरणत्तयं (तीन शरण)—मैं बुद्ध की, धम्म की, संघ की, शरण जाता हूँ। दूसरी बार भी—तीसरी बार भी—मैं बुद्ध की, धम्म की, संघ की, शरण जाता हूँ।

२. दस सिक्खापदं—(दस शिक्षापद या सदाचार-सम्बन्धी नियम) (१) जीवहिंसा (२) चोरी (३) व्यभिचार (४) असत्य-भाषण (५) मद्य-पान (६) असमय-भोजन (७) नृत्य-गीत (८) माला-गन्ध-विलेपन (९) ऊँची और बड़ी शय्या (१०) सोने और चाँदी का ग्रहण, इन दस बातों से विरत रहने का व्रत लेता हूँ।

---

१. राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन एवं जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित तथा भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित (बुद्धाब्द २४८१, १९३७ ई०) नागरी संस्करण उपलब्ध है। भिक्षु धर्मरत्न एम० ए० का मूल-पालि-सहित हिन्दी अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथ (१९४५) ने प्रकाशित किया है।

३. द्वत्तिंसाकारं (शरीर के ३२ अङ्ग)—शरीर के ये ३२ (गन्दगियों से भरे) अङ्ग हैं, जैसे कि केश, रोम, नख, दाँत आदि।

४. कुमारपञ्हं (कुमार विद्यार्थियों के लिये प्रश्न)

एक क्या है ?	सभी प्राणी आहार पर स्थित हैं।
दो क्या है ?	नाम और रूप।
तीन क्या है ?	तीन वेदनाएँ।
चार क्या है ?	चार आर्य-सत्य।
पाँच क्या है ?	पाँच उपादान-स्कन्ध।
छः क्या है ?	छः आन्तरिक आयतन।
सात क्या है ?	बोधि के सात अङ्ग।
आठ क्या है ?	आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग।
नौ क्या है ?	प्राणियों के नौ आवास।
दस क्या है ?	दस बातें, जिनसे मुक्त होने पर मनुष्य अर्हत् बनता है।

५. मङ्गल सुत्त (मङ्गल-सूत्र)—प्राणी नाना प्रकार के मङ्गल-कार्य करते हैं। किन्तु सर्वोत्तम मंगल क्या है ?

" माता-पिता की सेवा, पत्नी और पुत्रों का भरण-पोषण,
शान्ति से अपना काम करना—यही सर्वोत्तम मंगल है।
" दान देना, धर्म का जीवन, जाति-बन्धुओं की सहायता करना,
कर्म निर्दोष रखना—यही सर्वोत्तम मंगल है।
" पाप और मद्य-पान से अलग रहना, संयमी जीवन,
धर्म के कार्यों में आलस्य न करना—यही सर्वोत्तम मंगल है !
" गुरुजनों का आदर, विनम्रता, सन्तोष-वृत्ति, कृतज्ञता,
समय पर धर्म को श्रवण करना—यही सर्वोत्तम मंगल है !
" क्षमा, ब्रह्मचर्य, ज्ञानी भिक्षुओं का दर्शन,
समय पर धर्म का साक्षात्कार—यही सर्वोत्तम मंगल है !
" तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य, चार आर्य सत्यों का दर्शन
अन्त में निर्वाण का साक्षात्कार—यही सर्वोत्तम मंगल है !"

६. रतन सुत्त (रत्नसूत्र)—१७ गाथाओं म बुद्ध, धम्म और संघ, इन तीन रत्नों की महिमा वर्णन की गई है और उसी से लोक-कल्याण की कामना की गई है। आरम्भ की दो और अन्त की तीन गाथाएं तो बड़ी ही मार्मिक हैं। बौद्ध परम्परा इन्हें मौलिक गाथाएँ मानती है। बुद्ध, धर्म और संघ की महिमा का वर्णन करते हुए प्रत्येक के विषय में कहा गया है 'इदं पि बुद्धे रतनं पणीतं' (यह बुद्ध रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है। 'इदं पि धम्मे रतनं पणीतं' (यह धम्म रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है) और 'इदंपि संघे रतनं पणीतं' (यह संघ रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है)। इस सत्य रूपी वाणी से लोक-कल्याण की कामना करते हुए कहा गया है—एतेन सच्चेन सुवत्थि होतु (इस सत्य से लोक का कल्याण हो)

७. तिरोकुंड्ड-सुत्त—मृत आत्माएं अपने छोड़े हुए घरों के दरवाजों पर और उनकी देहलियों पर आकर खड़ी हो जाती हैं। वे अपने सम्बन्धियों से भोजन और पान की इच्छा रखती हैं। प्रेतों के लोक में खेती और वाणिज्य नहीं होते। उन्हें जो कुछ इस लोक से मिलता है, उसी पर वे गुजारा करते है। सद्गृहस्थ प्रेतों के कल्याण की कामना से भोजन और जल का दान करते हैं। सुप्रतिष्ठित भिक्षु-संघ को जो कुछ दान किया जाता है, वह प्रेतों के चिर सुख और कल्याण के लिये होता है। यह सुत्त भारतीय समाज में प्रचलित श्राद्ध-विधान और पितर-पूजा का बौद्ध संस्करण ही है। दार्शनिक सिद्धान्त भिन्न रखते हुए भी बौद्ध जनता किस प्रकार भारतीय समाज में प्रचलित व्यवहारों और सामान्य विश्वासों से अपने को विमुक्त नहीं कर सकी, यह सुत्त इसका एक अच्छा उदाहरण है। इस सुत्त की कुछ गाथाओं का पाठ आज भी सिंहल और स्याम देशों में मुर्दों को जलाते समय किया जाता है।

८. निधिकंड सुत्त (निधि सम्बन्धी सूत्र)—सर्वोत्तम निधि क्या है? दान, शील, संयम, इन्द्रिय-विजय, संक्षेप में पुण्य कर्मों का करना ही सर्वोत्तम निधि है। अन्य सब निधियाँ तो नष्ट हो जाने वाली हैं, किन्तु किया हुआ शुभ कर्म कभी नष्ट नहीं होता। यही वह निधि है जो मनुष्य के पीछे जाने वाली है—यो निधि अनुगामिको।

९. मेत्त-सुत्त (मैत्री-सूत्र)—ऊपर, नीचे, चारों ओर, लोक को मित्रता की भावना से भर दो। किसी का दुःख-चिन्तन मत करो। भावना करो कि

सभी प्राणी सुखी हों—सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता। ब्रह्मविहार भी तो यही है—ब्रह्ममेतं विहारं इधामाहु !

खुद्दक-पाठ के उपर्युक्त ९ सुत्तों में से मंगल-सुत्त, रतन-सुत्त, और मेत्त-सुत्त सुत्त-निपात म भी हैं। सुत्त-निपात में मंगल-सुत्त का नाम महा-मंगलसुत्त अवश्य है। इसी प्रकार तिरोकुड्ड-सुत्त पेतवत्थु में भी है। तीन शरण और दस शिक्षापदों के विवरण विनय-पिटक के आधार पर संकलित हैं। कुमारपञ्ह सुत्त को भी विनय-पिटक या दीघ-निकाय के संगीति-परियाय और दसुत्तर जैसे सुत्तों अथवा अंगुत्तर निकाय के विशाल तत्सम्बन्धी भांडार में से संकलित कर लिया गया है। 'कायगतासति' के रूप में शरीर के ३२ आकारों का वर्णन दीघ और मज्झिम-निकायों के क्रमशः महासतिपट्ठान और सति-पट्ठान सुत्तों के वर्णनों की अनुलिपि है। केवल अन्तर इतना है कि वहाँ ३१ अङ्गों का वर्णन है जब कि यहाँ एक और (मत्थके मत्थलुंगं—माथे का गूदा) बढ़ा दिया गया है। कायगता-सति (शरीर की गन्दगियों और अनित्यता पर विचार) का विधान बौद्ध योग में प्रारम्भ से ही है। दीघ और मज्झिम निकायों के उपर्युक्त सुत्तों के अतिरिक्त संयुत्त-निकाय के कस्सप-सुत्त में भी भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप को 'कायगता सति' का ध्यान करने का उपदेश दिया है। धम्मपद २१।१० में भी भिक्षुओं को 'कायगतासतिपरायण' होने को कहा गया है। 'उदान' में भगवान् बुद्ध के योग्य शिष्य महामौद्गल्यायन और महाकात्यायन को काय-गता-सति की भावना करते दिखलाया गया है[1]। 'विसुद्धि-मग्ग' (पाँचवीं शताब्दी) में इस सम्बन्धी ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है[2]।

खुद्दक-पाठ के समान, किन्तु आकार में उससे बड़ा, एक और संग्रह पालि साहित्य में प्रसिद्ध है। इसका नाम 'परित्त' या 'महापरित्त' है। 'परित्त' शब्द का अर्थ है 'परित्राण' या 'रक्षा'। भिक्षुओं और गृहस्थों की रक्षा के उद्देश्य

१. क्रमशः पृष्ठ ३८ एवं १०५ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

२. विसुद्धिमग्ग ८।४२-१४४; देखिये ११।४८-८१ भी (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

से सुत्त-पिटक से लगभग ३० सुत्तों का संग्रह कर लिया गया है, जिनका पाठ, बौद्धों के विश्वास के अनुसार, रोग, दुर्भिक्ष आदि उपद्रवों को शान्त करने वाला और सामान्यत: मङ्गलकारी होता है। लंका और बरमा में परित्त-पाठ की प्रथा अधिक प्रचलित है।[1] मेबिल बोड ने हमें बतलाया है कि बरमा में तो इसके समान लोक-प्रिय पुस्तक ही पालि-साहित्य की दूसरी नहीं है।[2] खुद्दक-पाठ के ऊपर निर्दिष्ट ९ सुत्तों में से सात 'परित्त' में भी सम्मिलित हैं। 'परित्त' में विशेषत: निम्नलिखित सुत्त सम्मिलित हैं—

१ दस धम्म-सुत्त
२ महामंगल सुत्त
३ करणीय मेत्त सुत्त
४ चुन्दपरित्त सुत्त
५ मेत्त सुत्त
६ मेत्तानिसंस सुत्त
७ मोरपत्ति सुत्त
८ चन्दपरित्त सुत्त
९ सुरिय परित्त सुत्त
१० धजग्ग सुत्त
११ महाकस्सपथेर बोज्झंग सुत्त
१२ महामोग्गल्लानथेर बोज्झंग सुत्त
१३ महाचन्दत्थेर बोज्झंग सुत्त
१४ गिरिमानन्द सुत्त
१५ इसिगिलि सुत्त
१६ धम्मचक्कपवत्तन सुत्त

---

१. लंका में यह 'पिरित' कहलाता है। लंका में परित्त-पाठ की सांगोपांग विधि के विवरण के लिये देखिये त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित का "परित्त-पाठ और लंका" शीर्षक लेख "धर्मदूत" फर्वरी-मार्च १९४८ पृष्ठ, १६३-६७ में;
२. दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३-४

१७ आलवक सुत्त

१८ कसिभारद्वाज सुत्त

१९ पराभव सुत्त

२० वसल सुत्त

२१ सच्चविभंग सुत्त

२२ आटानाटिय सुत्त

इनके अतिरिक्त परित्त-पाठ से 'अनुलोम-पटिलोम-पटिच्चसमुप्पादसुत्त' आदि कुछ सूत्रों का भी पाठ किया जाता है। परित्त-पाठ की प्रथा बुद्ध-कालमें भी प्रचलित थी, ऐसा बौद्धों का विश्वास है। कहा जाता है कि एक बार लिच्छवियों के नगर वैशाली में दुर्भिक्ष पड़ा था। भगवान् के आदेशानुसार उन्होंने परित्त पाठ किया था, जिसके परिणामस्वरूप वर्षा हुई थी। परित्तपाठ से बीमारी की शान्ति हुई, इसके तो उदाहरण त्रिपिटक में काफी मिलते हैं। दीर्घ लम्बक ग्राम के किसी ब्राह्मण का पुत्र परित्त-पाठ से रोग-विमुक्त हो गया। इसी प्रकार आर्य महाकाश्यप की बीमारी के समय स्वयं भगवान् ने बोज्झंग-सुत्त का पाठ किया और महाकाश्यप उसी समय रोग-मुक्त हो गये। स्वयं भगवान् बुद्ध ने एक बार अपनी बीमारी की शान्ति के लिये महाचुन्द स्थविर से बोज्झंग-सुत्त का पाठ करवाया। गिरिमानन्द नामक भिक्षुकी रोग-शान्ति के लिये विधान बतलाते हुए भगवान् ने स्वयं आनन्द से कहा "आनन्द! यदि तुम गिरिमानन्द भिक्षुके पास जाकर 'दश-संज्ञा-सूत्र' का पाठ करो, तो उसे सुनकर अवश्य ही उसका रोग शान्त हो जायगा।[1]" 'मिलिन्द-प्रश्न' में 'परित्र' को भगवान् बुद्ध का ही उपदेश बतलाया गया है।[2] अतः परित्त पाठ का महत्व स्थविरवादी परम्परा में सुप्रतिष्ठित है, इसमें सन्देह नहीं।

परित्त के संकलन का ठीक काल निश्चय नहीं किया जा सकता, किन्तु इसमें

---

१. सचे खो त्वं आनन्द! गिरिमानन्दस्स भिक्खुनो उपसंकमित्वा दस सञ्ञा भासेय्यासि, ठानं खो पनेतं विज्जति यं गिरिमानन्दस्स भिक्खुनो दससञ्ञा सुत्वा सो आबाधो ठानसो पटिप्पस्सम्भेय्य।

२. परित्ता च भगवता उद्दिट्ठाति। मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ १५३ (बम्बई विश्व-विद्यालय का संस्करण)

सन्देह नहीं कि वह काफी बाद का है। स्थविरवाद-परम्परा के पूर्वतम स्वरूप में भूत-प्रेत आदि की बातें अथवा उनसे बचने के लिये जादू के से प्रयोग बिलकुल नहीं हैं। ये सब बातें सामान्य अंध विश्वासों के आधार पर उसमें प्रवेश कर गईं। इस दृष्टि से दीघ-निकाय के आटानाटीय-सुत्त जैसे अंश भी उत्तरकालीन ही कहे जा सकते हैं। भगवान् बुद्ध ने योग की विभूतियों के भी प्रदर्शन की निन्दा ही की[1]। फिर जादू के प्रयोगों की तो बात ही क्या ? प्रतीत्य समुत्पाद के आधार पर सृष्टि के व्यापारों की व्याख्या करने वाला मन्त्रों के जप से बीमारी से विमुक्ति दिलाने नहीं आया था। जहाँ तक 'परित्त' के सुत्तों का सम्बन्ध है, वे अपने आप में नैतिक भावना से ओतप्रोत हैं। उनके अन्दर स्वयं कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उस उदात्त गम्भीरता से रहित हो जो सामान्यतः बौद्ध साहित्य की विशेषता है। उनका पाठ निश्चय ही मनको ऊँची आध्यात्मिक अवस्था में ले जाने वाला है। अतः उनका संगायन करना प्रत्येक अवस्था में मंगल का मूल ही हो सकता है। बीमारी की अवस्था में वह मानसोपचार का अङ्ग भी हो सकता है, कुछ-कुछ उसी प्रकार जैसे रामनाम के स्मरण को गांधी जी ने प्राकृतिक चिकित्सा का एक अङ्ग बना दिया। यदि परित्त पाठ में अन्ध-विश्वास है तो उसी हद तक जितना गांधीजी की उपर्युक्त उपचार-विधि में। फिर हम इसे अन्ध-विश्वास भी क्यों कहे ? जिससे मन ऊँची अवस्था में जा सकता है, उससे शरीर पर भी स्वस्थ प्रभाव क्यों न पड़ेगा ? इस दृष्टि से परित्त-पाठ का उपदेश स्वयं बुद्ध भगवान् का भी दिया हुआ हो सकता है, हाँ वहाँ कर्मकांड अवश्य नहीं है। भगवान् ने सर्प को अपनी मैत्री-भावना से आच्छादित कर देने का आदेश दिया।[2] सर्प के भय से बचने का यही

---

१. विनय-पिटक, चुल्लवग्ग में विभूति-प्रदर्शन को 'दुक्कट' अपराध बतलाया गया है; मिलाइये ; धम्मपदट्ठकथा ४।२, बुद्धचर्या, पृष्ठ ८२-८३ में अनुवादित। देखिये केवट्ट-सुत्त (दीघ १।११) तथा सम्पसादनिय-सुत्त (दीघ. ३।५) महालि-सुत्त (दीघ ३।६), आदि।

२. मेत्तेन चित्तेन फरितुं (मित्रतापूर्ण चित्त से आच्छादित कर देने के लिये)— विनय-पिटक। साधारण अर्थ में इसे मन्त्र कहना तो बुद्धि का उपहास ही होगा।

एक 'मन्त्र' है। शेष जीव-जगत् के साथ मैत्री स्थापित कर इस 'मन्त्र' की सत्यता देखी जा सकती है। 'परित्त' में संगृहीत सुत्तों की भावनाएँ बड़ी मङ्गलमय और उदात्त हैं। उनमें चित्त को डुबो देने पर शरीर और मन प्रसन्नता से न भर जायँ, यह असम्भव है। प्रसन्नता (चित्त-प्रसाद) ही तो स्वास्थ्य और मङ्गलों की जननी है। भिक्षु-गण परित्त पाठ के अन्त में ठीक ही संगायन करते हैं—सब्बीतियो विवज्जन्तु सब्बरोगो विनस्सतु। मा ते भवत्वन्तरायो सुखी दीघायुको भव॥ तेरी सारी आपदाएँ दूर हों, सब रोग नष्ट हो जायँ, तुझे विघ्न न हो, तू सुखी और दीर्घायु हो।

धम्मपद[1]

बौद्ध साहित्य का सम्भवतः सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। एक प्रकार इसे बौद्धों की गीता ही कहना चाहिये। सिंहल में बिना धम्मपद का पारायण किये किसी भिक्षु की उपसम्पदा नहीं होती। बुद्ध-उपदेशों का धम्मपद से अच्छा संग्रह पालि-साहित्य में नहीं है। इसकी नैतिक दृष्टि जितनी गम्भीर है, उतनी ही वह प्रसादगुणपूर्ण भी है। धम्मपद में कुल मिलाकर ४२३ गाथाएँ हैं, जो २६ वर्गों में बँटी हुई हैं। प्रत्येक वर्ग में गाथाओं की संख्या इस प्रकार है—

वर्ग	गाथाओं की संख्या
१ यमक वग्ग	२०
२ अप्पमाद वग्ग	१२

यह तो एक गम्भीर नैतिक उपदेश है। अधिकतर बुद्ध-वचनों का यही हाल है, फिर चाहे उनका उपयोग उत्तरकालीन बौद्ध जनता किसी प्रकार करने लगी हो।

१. धम्मपद के अनेक संस्करण और अनुवाद हिन्दी-भाषा में उपलब्ध हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कौसल्यायन के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं।

३	चित्त वग्ग	११
४	पुप्फ वग्ग	१६
५	बाल वग्ग	१६
६	पंडित वग्ग	१४
७	अरहन्त वग्ग	१०
८	सहस्स वग्ग	१६
९	पाप वग्ग	१३
१०	दंड वग्ग	१७
११	जरावग्ग	११
१२	अत्त वग्ग	१०
१३	लोकवग्ग	१२
१४	बुद्धवग्ग	१८
१५	सुखवग्ग	१२
१६	पियवग्ग	१२
१७	कोधवग्ग	१४
१८	मलवग्ग	२१
१९	धम्मट्ठवग्ग	१७
२०	मग्गवग्ग	१७
२१	पकिण्णकवग्ग	१६
२२	निरयवग्ग	१४
२३	नागवग्ग	१४
२४	तण्हावग्ग	२६
२५	भिक्खुवग्ग	२३
२६	ब्राह्मणवग्ग	४१
		४२३

'यमकवग्ग' (वर्ग १) में अधिकतर ऐसे उपदेशों का संग्रह है, जिनमें दो दो बातें जोड़े के रूप में आती हैं। " 'मुझे गाली दी', 'मुझे मारा', 'मुझे हरा दिया',

मुझे लूट लिया, ऐसा जो मन में बाँधते हैं, उनका वैर कभी शान्त नहीं होता ।"[१] अहिंसा का यह सनातन सन्देश भी कितना मार्मिक है "यहाँ वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता । अवैर से ही वैर शान्त होता है, यही सनातन धर्म है ।[२]" बड़ी बड़ी संहिताओं का भाषण करने वाले किन्तु उनके अनुसार आचरण न करने वाले व्यक्ति को 'धम्मपद' में उस ग्वाले के समान कहा गया है जिसका काम केवल दूसरों की गायों को गिनना है ।[३] बौद्ध चिन्तकों ने शारीरिक संयम की मूल को सदा मन के अन्दर देखा था, इसीलिए धम्मपद की प्रथम गाथा मन की महिमा का वर्णन करती हुई कहती है "मन ही सब धर्मों (कायिक, वाचिक मानसिक कर्मों) का अग्रगामी है मन ही उनका प्रधान है। सभी कर्म मनोमय हैं।" आत्म-संयम वास्तविक श्रामण्य और सत्संकल्प के स्वरूप और महत्व के वर्णन इस वर्ग के अन्य विषय हैं। 'अप्पमाद-वग्ग' में प्रमाद की निन्दा और अ-प्रमाद की प्रशंसा की गई है। अप्रमाद के द्वारा ही अनुपम योग-क्षेम रूपी निर्वाण को प्राप्त किया जाता है।[४] अप्रमाद के कारण ही इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ बना है।[५] अप्रमाद में रत भिक्षुओं को ही यहाँ 'निर्वाण के समीप' (निब्बाणस्सेव सन्तिके) कहा गया है।[६] 'चित्तवग्ग' (वर्ग ३) में चित्त-संयम का वर्णन है। "जितनी भलाई न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बन्धु, उससे अधिक भलाई ठीक मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है।" 'पुप्फवग्ग (वर्ग ४) में पुष्प को आलम्बन मानकर नैतिक उपदेश दिया गया है। सदाचार रूपी गन्ध की प्रशंसा करते हुए कहा गया है "तगर और चन्दन की जो यह गन्ध फैलती है, वह अल्पमात्र है। किन्तु यह जो सदाचारियों की गन्ध है वह देवताओं में फैलती है।" 'बालवग्ग'

---

१. १।४

२. १।५

३. १।१९

४. २।३

५. २।१०

६. २।१२

(वर्ग ५) में मूर्खों के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि उनके लिये संसार (आवा गमन) लम्बा है। इसी वर्ग में सांसारिक उन्नति और परमार्थ के मार्ग की विभिन्नता बतलाते हुए कहा गया है "लाभ का रास्ता दूसरा है और निर्वाण को ले जाने वाला रास्ता दूसरा है। इसे जानकर बुद्ध का अनुगामी भिक्षु सत्कार का अभिनन्दन नहीं करता, बल्कि एकान्तचर्या को बढ़ाता है।" 'पंडितवग्ग' (वर्ग ६) में वास्तविक पंडित पुरुषों के लक्षण बतलाये गये हैं। "जो अपने लिये या दूसरों के लिये पुत्र, धन और राज्य नहीं चाहते, न अधर्म से अपनी उन्नति चाहते हैं, वही सदाचारी पुरुष, प्रज्ञावान् और धार्मिक हैं।" अर्हन्त वग्ग (वर्ग ७) में बड़ी सुन्दर काव्य-मय भाषा में अर्हतों के लक्षण कहे गये हैं। "जिसका मार्ग-गमन समाप्त हो चुका है। जो शोक-रहित तथा सर्वथा मुक्त है, जिसकी सभी ग्रन्थियाँ क्षीण हो गई हैं, उसके लिये सन्ताप नहीं है।" "सचेत हो वह उद्योग करते हैं। गृह-सुख में रमण नहीं करते। हंस जैसे क्षुद्र जलाशय को छोड़ कर चले जाते हैं, वैसे ही अर्हत् गृह को छोड़ चले जाते हैं।" "जो वस्तुओं का संचय नहीं करते, जिनका भोजन नियत है, शून्यता-स्वरूप तथा कारण-रहित मोक्ष-जिनको दिखाई पड़ता है, उनकी गति आकाश में पक्षियों की भाँति अज्ञेय है।" "गाँव में या जंगल में, नीचे या ऊँचे स्थल में, जहाँ कहीं अर्हत् लोग विहार करते हैं, वही रमणीय भूमि है।" सहस्सवग्ग (वर्ग ८) की मूल भावना यह है कि सहस्रों गाथाओं के सुनने से एक शब्द का सुनना अच्छा है, यदि उससे शान्ति मिले। सिद्धान्त के मन भर से अभ्यास का कण भर अच्छा है। सहस्रों यज्ञों से सदाचारी जीवन श्रेष्ठ है। पापवग्ग (वर्ग ९) में पाप न करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि "न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर— संसार में कोई स्थान नहीं है जहाँ रह कर, पाप कर्मों के फल से प्राणी बच सके।" दंडवग्ग (वर्ग १०) में कहा गया है कि जो सारे प्राणियों के प्रति दंडत्यागी है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।" 'जरावग्ग' (वर्ग ११) में वृद्धा-वस्था के दुःखों का वर्णन है। इसी वर्ग में संसार की अनित्यता की याद दिलाते हुए यह मार्मिक उपदेश दिया गया है "जब नित्य ही आग जल रही हो तो क्या हँसी है, क्या आनन्द मनाना है! अन्धकार से घिरे हुए तुम दीपक को क्यों नहीं ढूंढते हो?" इसी वर्ग में भगवान् के वे उद्‌गार भी संनिहित हैं जो उन्होंने सम्यक्

सम्बोधि प्राप्त करने के अनन्तर ही किये थे, "अनेक जन्मों तक बिना रुके हुए मैं संसार में दौड़ता रहा। इस (काया-रूपी) कोठरी को बनाने वाले (गृहकारक) को खोजते खोजते पुनः पुनः मुझे दुःख-मय जन्मों में गिरना पड़ा। आज हे गृह-कारक ! मैंने तुझे पहचान लिया। अब फिर तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सारी कड़ियाँ भग्न कर दी गईं। गृह का शिखर भी निर्बल हो गया। संस्कार-रहित चित्त से आज तृष्णा का क्षय हो गया।"अत्तवग्ग (वर्ग १२) में आत्मोन्नति का मार्ग दिखाया गया है। इसी वर्ग की प्रसिद्ध गाथा है "पुरुष आप ही अपना स्वामी है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है? अपने को भली प्रकार दमन कर लेने पर वह दुर्लभ स्वामी को पाता है।" लोक-वग्ग (वर्ग १३) में लोक सम्बन्धी उपदेश हैं। बुद्ध-वग्ग (वर्ग १४) में भगवान् बुद्ध के उपदेशों का यह सर्वोत्तम सार दिया हुआ है "सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यही बुद्ध का शासन है। निन्दा न करना, घात न करना, भिक्षु-नियमों द्वारा अपने को सुरक्षित रखना, परिमाण जानकर भोजन करना, एकान्त में सोना-बैठना, चित्त को योग में लगाना—यही बुद्धों का शासन है।" "सुख-वग्ग" (वर्ग १५) में उस सुख की महिमा गाई गई है जो धन-सम्पत्ति के संयोग से रहित और केवल सदाचारी और अकिंचनता मय एवं मैत्रीपूर्ण जीवन से ही लभ्य है। भिक्षु कहते हैं "वैर-बद्ध प्राणियों के बीच अवैरी होकर विहरते हुए अहो ! हम कितने सुखी हैं। वैर-बद्ध मानवों में हम अवैरी होकर विहरते हैं ! भयभीत प्राणियों के बीच में अभय होकर विहरते हुए अहो ! हम कितने सुखी हैं ! भयभीत मानवों में हम अभय होकर विहरते हैं। आसक्ति-युक्त प्राणियों के बीच में अनासक्त होकर विहरते हुए अहो ! हम कितने सुखी हैं ! आसक्ति-युक्त मानवों में हम अनासक्त होकर विहरते हैं।" "पियवग्ग" (वर्ग १६) में यह कहा गया है कि जिसके जितने अधिक प्रिय हैं उसको उतने ही अधिक दुःख हैं। "प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है। प्रेम से मुक्त को कोई शोक नहीं, फिर भय कहाँ से ?" "क्रोधवग्ग" (वर्ग १७) की मुख्य भावना है "अक्रोध से क्रोध को जीतो, असाधु को साधुता से जीतो, कृपण को दान से जीतो, झूठ बोलने वाले को सत्य से जीतो।" "मलवग्ग" (वर्ग १८) में भगवान् ने कहा है कि अविद्या ही सब से बड़ा मल है

"भिक्षुओ ! इस मल को त्याग कर निर्मल बनो।" "धम्मट्ठवग्ग" (वर्ग १९) में वास्तविक धर्मात्मा पुरुष के लक्षण बतलाये गये हैं।" "बहुत बोलने से धर्मात्मा नहीं होता। जो थोड़ा भी सुन कर शरीर से धर्म का आचरण करता है और जो धर्म में असावधानी नहीं करता, वही वास्तव में धर्मधर है।" इसी प्रकार "मौन होने से मुनि नहीं होता। वह तो मूढ़ और अविद्वान् भी हो सकता है। जो पापों का परित्याग करता है, वही मुनि है। चूंकि वह दोनों लोकों का मनन करता है, इसीलिये वह मुनि कहलाता है।" इसी वर्ग में भगवान् का यह उत्साहकारी मार्मिक उपदेश भी है, 'भिक्षुओ ! जब तक चित्त-मलों का विनाश न कर दो चैन मत लो"—भिक्खू ! विस्सास मापादि अप्पत्तो आसवक्खयं। "मग्गवग्ग" (वर्ग २०) में निर्वाण-गामी विशुद्धि -मार्ग का वर्णन है। सभी संस्कारों को अनित्य, दुःख और अनात्म समझते हुए मनुष्य को चाहिये कि "वाणी की रक्षा करने वाला और मन से संयमी रहे तथा काया से पाप न करे। इन तीनों कर्म-पथों की शुद्धि करे और ऋषि (बुद्ध) के बताये धर्म का सेवन करे।" 'पकिण्णक-वग्ग' (वर्ग २१) में अहिंसा, और शरीर के दुःखदोषानुचिन्तन आदि का वर्णन है। "निरय- वग्ग" (वर्ग २२) में बतलाया गया है कि कैसे पुरुष नरक-गामी होते हैं। "नाग-वग्ग" (वर्ग २३) में नाग (हाथी) के समान अडिग रहने का उपदेश दिया गया है। "जैसे युद्ध में हाथी धनुष से गिरे वाण को सहन करता है, वैसे ही वाक्यों को सहन करूँगा। संसार में तो दुःशील आदमी ही अधिक हैं।" "तण्हा वग्ग" (वर्ग २४) में तृष्णा को खोद डालने का उपदेश है। अपने पास दर्शनार्थ आये हुए आदमियों को सम्बोधन करते हुए भगवान् कहते हैं, "इसलिए तुम्हें कहता हूँ, जितने यहाँ आये हो, तुम्हारा सब का मंगल हो। जैसे खस के लिए लोग उशीर को खोदते हैं, वैसे ही तुम तृष्णा की जड़ को खोदो।" "भिक्खु वग्ग" (वर्ग २५) में भिक्षुओं के लिए लोमहर्षक उपदेश हैं। "हे भिक्षु ! इस नाव को उलीचो। उलीचने पर यह तुम्हारे लिए हल्की हो जायगी। राग और द्वेष को छेदन कर फिर तुम निर्वाण को प्राप्त कर लोगे।" पुनः "हे भिक्षु ! ध्यान में लगो। मत असावधानी करो। मत तुम्हारा चित्त भोगों के चक्कर में पड़े। प्रमत्त हो कर मत लोहे के गोले को निगलो। 'हाय दुःख !' कह कर दग्ध होते हुए मत तुम्हें पीछे क्रन्दन करना पड़े।" "भिक्षुओ ! जैसे जूही कुम्हलाये हुए फूलों को

छोड़ देती है, वैसे ही तुम राग और द्वेष को छोड़ दो।" "ब्राह्मण-वग्ग" (वर्ग २६) में ब्राह्मणों के लक्षण गिनाये गए हैं। २६।१३-४१ गाथाएँ तो बड़ी ही काव्य-मय हैं। भगवान् की दृष्टि में वास्तविक ब्राह्मण कौन है, इस पर कुछ गाथाएँ देखिए—

"माता और योनि से उत्पन्न होने से मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता। वह तो 'भोवादी' ('भो' 'भो' कहने वाला, जैसा ब्राह्मण उस समय एक दूसरे को सम्बोधन करते समय करते थे) है और संग्रही है। मैं तो ब्राह्मण उसे कहता हूँ जो अपरिग्रही और लेने की इच्छा न रखने वाला है।

"जो विना दूषित चित्त किये गाली, वध और बन्धन को सहन करता है, क्षमा बल ही जिसकी सेना का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"कमल के पत्ते पर जल और आरे के नोक पर सरसों की भाँति जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जो विरोधियों के बीच विरोध-रहित रहता है, जो दंडधारियों के बीच दंड रहित रहता है, संग्रह करने वालों में जो संग्रह-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जिसने यहां पुण्य और पाप दोनों की आसक्ति को छोड़ दिया, जो शोक-रहित, निर्मल और शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जिसके आगे, पीछे और मध्य में कुछ नहीं है, जो सर्वश परिग्रह रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" आदि।

ऊपर धम्म-पद की विषय-वस्तु के स्वरूप का जो परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि उसमें नीति के वे सभी आदर्श संगृहीत हैं जो भारतीय संस्कृति और समाज की सामान्य सम्पत्ति हैं।[1] धम्मपद की आधी से अधिक गाथाएँ त्रिपिटक

---

१. डा० विमलाचरण लाहा ने 'हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर' जिल्द पहली पृष्ठ २००–२१४ के अनेक पद-संकेतों में उपनिषद्, महाभारत, गीता, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों से उद्धरण देकर धम्मपद की गाथाओं से उनकी समानता दिखाई है। इस विषय का अधिक तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है।

के अन्य भागों में भी मिलती है। धम्मपद के पालि संस्करण के अतिरिक्त कुछ अन्य संस्करण भी मिलते हैं। उनका भी उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक होगा। इस प्रकार के मुख्यतः चार संस्करण उपलब्ध हैं। सर्वप्रथम प्राकृत धम्मपद है। खोतान में खंडित खरोष्ट्री लिपि में यह प्राप्त हुआ है। यह बिलकुल अपूर्ण अवस्था में है और यह नहीं कहा जा सकता कि इसका मौलिक स्वरूप क्या था। इस ग्रन्थ का सम्पादन पहले फ्रेंच विद्वान् सेनाँ ने किया था। बाद में इसका सम्पादन डा० वेणीमाधव वाडुआ और सुरेन्द्रनाथ मित्र ने किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में १२ अध्याय हैं, जिनकी अनुरूपता पालि-धम्मपद के साथ इस प्रकार है[१]—

प्राकृत धम्मपद		पालि धम्मपद
वर्ग-क्रम	वर्ग-नाम और गाथाओं की संख्या	इनके अनुरूप क्रम, नाम और गाथाओं की संख्या जो पालि धम्मपद में पाई जाती है
१	मगवग ३०	२० मग्ग वग्ग १७
२	अप्रमाद वग २५	२ अप्पमाद वग्ग १२
३	चितवग ५ (अपूर्ण)	३ चित्त वग्ग ११
४	पुष वग १५	४ पुप्फ वग्ग १६
५	सहस वग १७	८ सहस्स वग्ग १६
६	पनित वग या धमठ वर्ग १०	६ पंडित वग्ग १४
		१९ धम्मट्ठ वग्ग १७
७	बाल वग ७ (अपूर्ण)	५ बाल वग्ग १६
८	जरा वग २५	११ जरावग्ग ११
९	सुह वग २०	१५ सुख वग्ग १२
१०	तष वग ७ (अपूर्ण)	२४ तण्हा वग्ग २६
११	भिख वग ४०	२५ भिक्खु वग्ग २३
१२	ब्राह्मण वग ५०	२६ ब्राह्मण वग्ग ४१

१. देखिये वाडुआ और मित्र : प्राकृत धम्मपद, पृष्ठ ८ (भूमिका)

चूंकि प्राकृत धम्म पद की अभी कोई पूर्ण प्रति नहीं मिल सकी है, अतः दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँचा जा सकता। जिन वर्गों के नामों में समानता है उनके भी क्रमों और गाथाओं की संख्या के सम्बन्ध में काफी असमानता है। अधिकतर पालि धम्मपद की अपेक्षा प्राकृत-धम्मपद के वर्गों में ही गाथाएँ अधिक हैं। इस गाथा-वृद्धि का कारण यही जान पड़ता है कि चूंकि धम्मपद की गाथाओं का संग्रह पूरे सुत्त-पिटक के ग्रन्थों से ही किया गया है, अतः उनके चुनने में विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में विभिन्नता आ गई है।[१] अन्य संस्करणों के बारे में भी यही बात है। धम्मपद का दूसरा संस्करण, जिसका भी स्वरूप अभी अनिश्चित ही है उसका गाथा-संस्कृत या मिश्रित संस्कृत में लिखा हुआ रूप है। इसका साक्ष्य हमें 'महावस्तु' से मिलता है जो स्वयं गाथा-संस्कृत में लिखी हुई रचना है और जिसने 'धर्मपद' का एक अंश मानते हुए 'सहस्र वर्ग' (धर्मपदेषु सहस्रवर्गः) नामक २४ गाथाओं के समूह को उद्धृत किया है।[२] 'सहस्सवग्ग' नामक धम्मपद का भी आठवाँ 'वग्ग' है, यह हम पहले देख चुके हैं। किन्तु वहाँ केवल १६ गाथाएँ हैं। 'महावस्तु' में उद्धृत 'सहस्र वर्ग' के अतिरिक्त प्राकृत धम्मपद के पूरे स्वरूप के बारे में हमें कुछ अधिक ज्ञान नहीं है। धम्मपद के 'चुह्-खि-उ-थिङ' नामक चीनी अनुवाद से जो २२३ ई० में किया गया था, यह अवश्य ज्ञात होता है कि उसका मूल प्राकृत धम्मपद था, किन्तु उसके भी आज अनुपलब्ध होने के कारण प्राकृत-धम्मपद के वास्तविक स्वरूप की समस्या उलझी ही रह जाती है। धम्मपद का तीसरा रूप विशुद्ध संस्कृत में है जो अपने खंडित रूप में तुर्फान में पाया गया है। इस ग्रन्थ में ३३ अध्याय हैं, अर्थात् पालि धम्म पद से ६ अधिक। इसी संस्करण का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी मिलता है जो ८१७-८४२ ईसवी में किया गया था। रॉकहिल ने इसका अनुवाद 'उदान वर्ग' शीर्षक से किया है और उसे संस्कृत-धर्मपद का प्रतिरूप

---

१. गाथा-वृद्धि के उदाहरणों और उनके कारणों के अधिक विस्तृत विवेचन के के लिये देखिये बाडुआ और मित्र : प्राकृत धम्मपद, पृष्ठ ३१ (भूमिका)

२. तेषां भगवान् जटिलानां धर्मपदेषु सहस्रवर्गं भासति 'सहस्रमपि वाचानां अनर्थपदसंहितानां, एकार्थवती श्रेया यं श्रुत्वा उपशाम्यति'।

माना है। धम्मपद का चौथा रूप फ-ख्यू-किङ् नामक चीनी अनुवाद में पाया जाता है। यह अनुवाद मूल संस्कृत धम्मपद से २२३ ई० में किया गया। मूल आज अनुपलब्ध है। अतः पालि धम्मपद से उसकी तुलना तो नहीं की जा सकती, किन्तु चीनी अनुवाद के आधार पर कुछ ज्ञातव्य बातें अवश्य जानी जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि चीनी अनुवाद मात्र अनुवाद ही नहीं है। उसे या तो एक अर्थ-कथा ही कहा जा सकता है, या यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसमें वास्तविक धर्मपद का काफी परिवर्द्धन किया गया है। इस चीनी अनुवाद में पालि धम्मपद के २६ वर्गों या अध्यायों की जगह ३९ तो अध्याय हैं और ४२३ गाथाओं की जगह ७५२ गाथाएँ हैं। इनका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है—

चीनी धम्मपद (फ-ख्यू-किङ)	पालि धम्मपद
१. अनित्यता (२१)	अनुपलब्ध
२. ज्ञान-दर्शन (२९)	
३. श्रावक (१९)	
४. श्रद्धा (१८)	
५. कर्तव्य-पालन (१६)	
६. विचार (१२)	
७. मैत्री भावना (१९)	
८. संलाप (१२)	
९. यमक वग्ग (२२)	१. यमक वग्ग (२०)
१०. अप्रमाद वग्ग (२०)	२. अप्पमाद वग्ग (१२)
११. चित्त वग्ग (१२)	३. चित्त वग्ग (११)
१२. पुप्फ वग्ग (१७)	४. पुप्फ वग्ग (१६)
१३. बाल वग्ग (२१)	५. बाल वग्ग (१६)
१४. पंडित वग्ग (१७)	६. पंडित वग्ग (१४)
१५. अर्हन्त वग्ग (१०)	७. अर्हन्त वग्ग (१०)
१६. सहस्र वग्ग (१६)	८. सहस्स वग्ग (१६)
१७. पाप वग्ग (२२)	९. पाप वग्ग (१३)
१८. दंड वग्ग (१४)	१०. दंड वग्ग (१७)

१९. जरा वग्ग (१४)	११. जरा वग्ग (११)
२०. अत्त वग्ग (१४)	१२. अत्त वग्ग (१०)
२१. लोक वग्ग (१४)	१३. लोक वग्ग (१३)
२२. बुद्ध वग्ग (२१)	१४. बुद्ध वग्ग (१८)
२३. सुख वग्ग (१४)	१५. सुख वग्ग (१२)
२४. पिय वग्ग (१२)	१६. पिय वग्ग (१२)
२५. कोध वग्ग (२६)	१७. कोध वग्ग (१४)
२६. मल वग्ग (१९)	१८. मल वग्ग (२१)
२७. धम्मट्ठ वग्ग (१७)	१९. धम्मट्ठ वग्ग (१७)
२८. मग्ग वग्ग (२८)	२०. मग्ग वग्ग (१७)
२९. पकिण्ण वग्ग (१४)	२१. पकिण्ण वग्ग (१६)
३०. निरय वग्ग (१६)	२२. निरय वग्ग (१४)
३१. नाग वग्ग (१८)	२३. नाग वग्ग (१४)
३२. तण्हा वग्ग (३२)	२४. तण्हा वग्ग (२६)
३३. सेवा (२०)	—
३४. भिक्खु वग्ग (३२)	२५. भिक्खु वग्ग (२३)
३५. ब्राह्मण वग्ग (४०)	२६. ब्राह्मण वग्ग (४१)
३६. निर्वाण (३६)	—
३७. जन्म और मृत्यु (१८)	—
३८. धर्म-लाभ (१९)	—
३९. महामंगल (१९)	—

ऊपर चीनी अनुवाद के वर्गों के नाम जहाँ उनकी पालि धम्मपद के साथ समता है, पालि में सुविधा के विचार से दे दिये गए हैं। चीनी अनुवादों में तो उनके स्वभावतः चीनी भाषा में ही शीर्षक हैं। ऊपर की तुलना से स्पष्ट है कि पालि धम्मपद की गाथाओं की संख्या को चीनी अनुवाद में बढ़ा दिया गया है। वास्तव म ऊपर जितने संस्करणों का विवरण दिया है उनमें यही घटा-बढ़ी की गई है। वास्तव में सब का मूलाधार तो पालि धम्मपद ही है जिसकी गाथाओं को अक्सर बढ़ा कर और कहीं कहीं घटा कर भी भिन्न-भिन्न बौद्ध सम्प्रदायों

ने अपने अलग अलग् संग्रह बना लिए जिनके कुछ उदाहरण हम धम्मपद के ऊपर निर्दिष्ट स्वरूपों में देख चुके हैं। अब हम बुद्ध-वचनों के एक दूसरे संग्रह पर आते हैं।

उदान[1]

'उदान' भगवान् बुद्ध के मुख से समय-समय पर निकले हुए प्रीति-वाक्यों का एक संग्रह है। "भावातिरेक से कभी कभी सन्तों के मुख से जो प्रीति-वाक्य निकला करते हैं, उन्हें 'उदान' कहते हैं।" "उदान" में भगवान् बुद्ध के ऐसे गम्भीर और उनकी समाधि-अवस्था के सूचक शब्द संगृहीत हैं जो उन्होंने विशेष अवसरों पर उच्चरित किये। भगवान् द्वारा उच्चरित वचन अधिकतर गाथाओं के रूप में हैं और जिन अवसरों पर वे उच्चरित किये गये, उनका वर्णन गद्य में है। गद्य-भाग निश्चयतः संगीतिकारों की रचना है जिसे उन्होंने बुद्ध-जीवन के प्रत्यक्ष सम्पर्क से ग्रथित किया है। उसकी प्रामाणिकता के विषय में यही कहा जा सकता है कि विनय-पिटक के चुल्लवग्ग और महावग्ग में तथा महापरिनिब्बाण-सुत्त जैसे सुत्त-पिटक के अंशों में बुद्ध-जीवन का जो चित्र उपस्थित किया गया है उसकी वह अनुरूपता में ही है। गद्य-भाग के अन्त में आने वाले 'उदानों' में तो वास्तविक बुद्ध-वचन होने की सुगन्ध आती ही है। उनमें जैसे शास्ता ने अपने आपको अनुप्राणित कर दिया है, अपनी प्राण-ध्वनि ही फूंक दी है, ऐसा मालूम पड़ता है। वास्तव में 'उदान' का अर्थ भी यही है। 'उदान' की सब से बड़ी विशेषता है बौद्ध जीवन-दर्शन का उसके अन्दर स्पष्टतम प्रस्फुटित स्वरूप। बुद्ध-जीवन के अनेक प्रसंगों के अतिरिक्त चित्त की परम शान्ति, निर्वाण, पुनर्जन्म, कर्म और आचार-तत्व सम्बन्धी गम्भीर उपदेश 'उदान' में निहित है।

'उदान' में ८ वर्ग (वग्ग) हैं और प्रत्येक वर्ग में प्रायः दस सुत्त हैं। केवल सातवें वर्ग में ९ सुत्त हैं। ८ वर्गों के नाम इस प्रकार हैं (१) बोधि वर्ग (बोधि-

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा देव-नागरी लिपि में सम्पादित, तथा उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित, सारनाथ १९३७ ई० । भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया है, महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा प्रकाशित, बुद्धाब्द, २४८२।

वग्ग), (२) मुचलिन्द वर्ग (मुचलिन्द वग्ग), (३) नन्द वर्ग (नन्द वग्ग), (४) मेघिय वर्ग (मेघिय वग्ग), (५) शोण-स्थविर संबंधी वर्ग (सोणत्थेरस्स वग्ग), (६) जात्यन्ध वर्ग (जच्चन्ध वग्ग), (७) चूल वर्ग (चूल वग्ग), और (८) पाटलिग्राम वर्ग (पाटलिगामिय वग्गो)। प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक सूत्र में भगवान् का गाथा-बद्ध उदान है। शैली सरल है और सब जगह प्रायः एक सी ही है। उदाहरण के लिए पांचवें वर्ग के इस सातवें सुत्त को उद्धृत किया जाता है— "ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवनाराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् के पास ही आयुष्मान् कांक्षारेवत आसन लगाये, अपने शरीर को सीधा किए, कांक्षाओं से शुद्ध हो गये अपने चित्त का अनुभव करते बैठे थे। भगवान् ने पास ही में आयुष्मान् कांक्षारेवत को आसन लगाये, अपने शरीर को सीधा किये, कांक्षाओं से शुद्ध हो गए अपने चित्त का अनुभव करते देखा। इसे जान, उस समय भगवान् के मुंह से उदान के य शब्द निकल पड़े—

"लोक या परलोक में, अपनी या परायी,
(संसार सम्बन्धी) जितनी कांक्षाएं हैं,
ध्यानी उन सभी को छोड़ देते हैं,
तपस्वी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं।"

सब सुत्तों की यही शैली है। पहले कहानी या पृष्ठभूमि आती है, फिर बुद्ध का भावातिरेकमय वचन। कहीं कहीं कहानी अपनी प्रभावशीलता और मौलिकता भी लिये हुए है जैसे ३।२ में नन्द की कहानी, या २।८ में सुप्रवासा की कथा। कहीं कहीं, जैसा विंटरनित्ज़ ने दिखाया है, उदानों के लिए उपर्युक्त पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए संगीतिकारों ने कथाओं को अपनी तरफ से गढ़ा भी है जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली है। विंटरनित्ज़ के इस कथन से सर्वांश में सहमत होना अशक्य है। उदाहरणतः ८।९ में आयुष्मान् दब्ब जो एक महान् साधक और भगवान् बुद्ध के शिष्य थे, की निर्वाण-प्राप्ति के अवसर पर भगवान् ने यह उदान किया "शरीर को छोड़ दिया, संज्ञा निरुद्ध हो गई, सारी वेदनाओं को भी बिलकुल

जला दिया। संस्कार शान्त हो गए, विज्ञान अस्त हो गया।" विंटरनित्ज़ का कहना है कि ऐसे गम्भीर प्रवचन के लिए उपर्युक्त अवसर ठीक नहीं था। कम ही लोग डा० विंटरनित्ज़ के इस मत से सहमत हो सकते हैं। जिन-जिन अवसरों पर या जिस-जिस पृष्ठभूमि में बुद्ध के उद्गारों का 'उदान' में निकलना दिखलाया गया है, उन्हें हम ऐतिहासिक रूप से अधिकतर ठीक ही मानने के पक्षपाती हैं। अब हम प्रत्येक वर्ग की विषय-वस्तु का संक्षिप्त निर्देश करेंगे।

"बोधि वर्ग" (वर्ग १) में भगवान् बुद्ध की सम्बोधि-प्राप्ति के बाद के कुछ सप्ताहों के जीवन का वर्णन है। उस समय भगवान् विमुक्ति-सुख का अनुभव करते हुए विहर रहे थे। इसी समय उन्होंने अनुलोम और प्रतिलोम प्रतीत्य-समुत्पाद का चिन्तन किया था। कुछ ब्राह्मणों को देख कर उन्होंने वास्तविक ब्राह्मण पर उद्गार किये। स्नान और होम में रत कुछ व्यक्तियों को देख कर भगवान् ने यह उद्गार भी किया, "स्नान तो सभी लोग करते हैं, किन्तु पानी से कोई शुद्ध नहीं होता। जिसमें सत्य है और धर्म है, वही शुद्ध है, वही ब्राह्मण है।" "मुचलिन्द वर्ग" (वर्ग २) में भी भगवान् की सम्बोधि-प्राप्ति के कुछ सप्ताहों बाद तक की जीवनी का वर्णन है, किन्तु यहा कुछ अलौकिकता से अधिक काम लिया गया है। मुचलिन्द नामक सर्पराज समाधिस्थ भगवान् बुद्ध के शरीर की वर्षा से रक्षा करने के लिए जो उस समय होने लगी थी, उनके शरीर को सात बार लपेट कर उनके ऊपर अपना फन फैला कर खड़ा हो गया, ताकि भगवान् को वर्षा का कष्ट न होने पावे। जिन घटनाओं का प्रथम और इस दूसरे वर्ग में वर्णन हैं, उनमें काल-क्रम का कोई तारतम्य नहीं है, क्योंकि प्रथम वर्ग के कुछ सूत्र भगवान् की सम्बोधि-प्राप्ति की बाद की अवस्था का वर्णन करते हैं और इसके बाद ही कुछ सूत्र सूचना देते हैं "एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन आराम में विहार करते थे"। (१।५; १।८; १।१०)। इसी प्रकार दूसरे वर्ग में भी प्रथम सूत्र में तो भगवान् उरुवेला में नेरंजना नदी के तीर पर ही विहार करते हैं, किन्तु दूसरे सूत्र में वे श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन आराम में विहार कर रहे हैं। बुद्धत्व के तीसरे वर्ष जेतवन-आराम का दान किया गया था। अतः ये घटनायें काफी बाद की हैं। इसी प्रकार भगवान् अन्य स्थानों में भी विहार

करते दिखाये गए हैं, जैसे मृगारमाता के पूर्वाराम प्रासाद में (२।९) या कुंडिया नगर के कुंडिधान बन में (२।८)। दूसरे वर्ग में हम भिक्षुओं को इस निरर्थक बात पर विवाद करते हुए पाते है कि "मगधराज बिम्बिसार और कोशलराज प्रसेनजित् में कौन अधिक धनी, सम्पत्तिशाली या अधिक सेनाओं वाला है।" भगवान् इसे सुन कर उन्हें कहते हैं "भिक्षुओ ! तुम श्रद्धापूर्वक घर से बेघर होकर प्रव्रजित हुए हो। तुम कुलपुत्रों के लिए यह अनुचित है कि तुम ऐसी चर्चा में पड़ो। भिक्षुओ ! इकट्ठे हो कर तुम्हें दो ही काम करने चाहिए, या तो धार्मिक कथा या उत्तम मौन भाव।" इसी वर्ग में सुप्रवासा की कथा भी है। यह स्त्री गर्भ की असह्य पीड़ा में पड़ी थी। प्रसव न होता था। उसने सुन रक्खा था भगवान् दुःखों के प्रहाण के लिये धर्मोपदेश करते है। पति से कहा--भगवान् के चरणों में मेरा शिर से प्रणाम कहना, उनका कुशल-मंगल पूछना और मेरी दशा से अवगत कराना। उसके पति ने ऐसा किया। भगवान् ने अनुकम्पा-पूर्वक आशीर्वाद देते हुए कहा, "कोलिय पुत्री सुप्रवासा सुखी हो जाय. चंगी हो जाय, बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव करे।" पति घर लौटा तो सुप्रवासा को सुखी और चंगी पाया, जिसने बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव कर दिया था। सारा घर सन्तोष और प्रमोद से भर गया। कृतज्ञता से भर कर सुप्रवासा ने एक सप्ताह भर तक बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को भोजन के लिये आमन्त्रित किया। भगवान् शिष्यों सहित उपस्थित हुए। सात दिन बीत जाने पर भगवान् ने सुप्रवासा से कहा, "सुप्रवासे ! ऐसा ही एक और भी पुत्र लेना चाहती है ?" सुप्रवासा ने प्रमोद में भर कर कहा "भगवन् । मैं ऐसे सात पुत्रों को लेना चाहूँगी।" भगवान् के मुंह से उस समय उदान के ये शब्द निकल पड़े "बुरे को अच्छे के रूप में, अप्रिय को प्रिय के रूप में, दुःख को सुख के रूप में प्रमत्त लोग समझा करते हैं।" बुद्ध के जीवन-दर्शन को समझने के लिये यह कहानी एक अच्छा उदाहरण है। विंटरनित्ज़ ने कहा है कि यह कहानी यह भी दिखाती है कि बुद्ध-काल में ही बुद्ध-भक्ति के द्वारा लोग अपने कल्याण की कामना करने लगे थे। महात्माओं के वचनों और आशीर्वादों में मङ्गल प्रसविनी शक्ति होती है, ऐसा विश्वास भारतीय जनता में प्रायः सैदा से ही रहा है। अतः इसमें कोई विशेषता दिखाई नहीं पड़ती। विशेषता उस बात में है जो भगवान् ने बाद में सुप्रवासा की सात पुत्रों

वाली कामना को सुनकर कही। यह बात बुद्ध के मुख से ही निकल सकती थी। बुद्ध, जिसने अपने एकमात्र पुत्र का जन्म होते समय उसे अपने उदीयमान विचार-चन्द्र को ग्रसने के लिये राहु समझ कर 'राहुल' नाम दिया, "राहु पैदा हुआ, बन्धन पैदा हुआ।" या तो 'प्रजया किं करिष्यामः" (हम सन्तान से क्या करेंगे) कहने वाले उपनिषदों के ऋषि या सम्यक् सम्बुद्ध ही इतना ऊँचा और निवृत्ति-परायण दृष्टिकोण ले सकते थे। १।८ में वर्णित आर्य संगाम जी की कथा और २।७ में प्रेम को छोड़ देने का उपदेश, ऐसे ही निवृत्ति-परायण उपदेश हैं। नन्द-वर्ग (वर्ग ३) में विशेषतः भगवान् बुद्ध के मौसेरे भाई नन्द की कथा है। किस प्रकार यह विलासी युवक भगवान् के उपदेश से विरक्त बन गया, यही इसमें वर्णन किया गया है। यहाँ भी निवृत्ति का आदर्श ही सामने रक्खा गया है। नन्द पहले भगवान् की जामिनी पर अप्सराओं के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करता है। किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करते-करते उसकी अप्सराओं सम्बन्धी इच्छा प्रहीण हो जाती है। भगवान् कहते है "नन्द! जिस समय तुम्हारी सांसारिक आसक्ति से मुक्ति हो गई उसी समय मैं जामिनी से छूट गया।" कुछ अन्य कथाएँ और उद्गार भी इस वर्ग में सम्मिलित हैं। ३।५ में महामौद्गल्यायन की कायगतासति-भावना का वर्णन है। ३।१० में भगवान् ने कहा है कि अनासक्ति ही मुक्ति-मार्ग है। मेघिय-वर्ग (वर्ग ४) में मेघिय नामक भिक्षु की कथा है। यह भिक्षु भगवान् की सेवा में नियत था। एक दिन एक रमणीय आम्र-वन देख कर इसने वहां जाकर योग-साधन करने की भगवान् से अनुमति माँगी। भगवान् ने कहा "मेघिय! ठहरो, अभी मैं अकेला हूँ, किसी दूसरे भिक्षु को आ जाने दो।" मेघिय ने भगवान् के आदेश को न माना और ध्यान करने चला गया। किन्तु वहाँ जाकर जैसे ही ध्यान के लिये बैठा उसके मन में पाप-वितर्क उठने लगे। शाम को फिर भगवान् के पास लौटकर आया। भगवान् ने उसे ध्यान-सम्बन्धी उपदेश दिया। इसी वर्ग में भिक्षुओं पर व्यभिचार के मिथ्यारोप का वर्णन है (४।८)। इस अवस्था में भी वे शान्त रहते हैं और बाद में उनकी निष्पापता सिद्ध हो जाती है। भगवान् का एक ग्वाले ने मक्खन और खीर से आतिथ्य किया, इसका भी वर्णन इस वर्ग में आता है (४।३)। आदमियों की भीड़ से तंग आकर भगवान् को पालिलेय्यक के रक्षितवन में एकान्त-वास करते भी इस वर्ग में हम देखते

है (४।५)। भव-तृष्णा मिट जाने से ही मुक्ति होती है, इस अर्थ का एक उदान भी भगवान् ने यहीं किया है (४।१०)। पाँचवें वर्ग (शोण स्थविर सम्बन्धी वर्ग) में शोण नामक भिक्षु के संघ-प्रवेश, अर्हत्त्व-प्राप्ति आदि का वर्णन है। इसी वर्ग में कोशलराज प्रसेनजित् का बुद्ध के दर्शनार्थ जेतवन-आराम में जाना (५।२) तथा सुप्रबुद्ध नामक कोढ़ी की उपासक (गृहस्थ-शिष्य) के रूप में दीक्षा (५।३) का भी वर्णन है। छठे वर्ग (जात्यन्ध-वर्ग) में जात्यन्ध पुरुषों को हाथी दिखाये जाने की कथा है। इस कथा का प्रवचन भगवान् ने श्रावस्ती के जेतवन-आराम में दिया। अनेक अन्धे हाथी को देखते हैं, किन्तु उसके पूरे स्वरूप को कोई नहीं देख पाता। जो जिस अंग को देखता है वह उसका वैसा ही रूप बताता है। "भिक्षुओ! जिन जात्यन्धों ने हाथी के शिर को पकड़ा था, उन्होंने कहा, 'हाथी ऐसा है जैसे कोई बड़ा घड़ा'। जिन्होंने उसके कान को पकड़ा था उन्होंने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई सूप'। जिन्होंने उसके दाँत को पकड़ा था, उन्होंने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई खूंटा'। जिन्होंने उसके शरीर को पकड़ा था उन्होंने कहा, 'हाथी ऐसा है जैसे कोई कोठी' आदि। इस प्रकार अन्धे आपस में लड़ने-भिड़ने लगे और कहने लगे हाथी ऐसा है, वैसा नहीं, वैसा है, ऐसा नहीं। यही हालत मिथ्यामतवादों में फँसे हुए लोगों की है। कोई कहते हैं 'लोक शाश्वत है, यही सत्य है, दूसरा बिलकुल झूठ' कोई कहते हैं 'लोक अशाश्वत है, यही सत्य है दूसरा बिलकुल झूठ' आदि।" कितने श्रमण और ब्राह्मण इसी में जूझे रहते हैं। (धर्म के केवल) एक अङ्ग को देख कर वे आपस में विवाद करते हैं।" उपर्युक्त दृष्टान्त बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। संस्कृत में भी 'अन्धगजन्याय' प्रसिद्ध है। जैन-साहित्य में भी यह सिद्धान्त विदित है। मानवीय बुद्धि की अल्पता और सर्व-धर्म-समन्वय की दृष्टि से यह दृष्टान्त इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भी इसका उद्धरण अपने 'अखरावट' में दिया है "सुनि हाथी कर नाँव अँधन टोआ धायकै। जो देखा जेहि ठाँव मुहम्मद सो तैसेहि कहा।" विश्व का धार्मिक साहित्य इस बहुमूल्य दृष्टान्त के लिये अपने मूल रूप में बौद्ध साहित्य का ही ऋणी है, इसमें बिलकुल भी सन्देह नहीं। सातवें वर्ग (चूलवर्ग) में अनेक स्फुट बातों का वर्णन है, यथा लंकुटक भद्दिय नामक भिक्षु को सारिपुत्र का उपदेश (७।२) और

उसकी समाधि-प्राप्ति (७।५), महाकात्यायन की कायगता-सति की भावना (७।७) तथा कौशाम्बी के राजा उदयन के अन्तःपुर में अग्निकांड की सूचना जिसमें रानी श्यामावती (सामावती) के साथ ५०० स्त्रियाँ जल मरीं (७।९)। आठवें वर्ग (पाटलि ग्राम-वर्ग) में निर्वाण-सम्बन्धी गम्भीर प्रवचन हैं। केवल एक को यहाँ उद्धत किया जाता है "भिक्षुओ ! वह एक आयतन है जहाँ न पृथ्वी है, न जल है, न तेज है, न वायु है, न आकाशानन्त्यायतन, न विज्ञाना-नन्त्यायतन, न आकिञ्चन्यायतन, न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है। वहाँ न तो यह लोक है, न परलोक है, न चन्द्रमा है, न सूर्य है। न तो मैं उसे 'अगति' कहता हूँ और न 'गति'। न मैं उसे स्थिति और न च्युति कहता हूँ। मैं उसे उत्पत्ति भी नहीं मानता। वह न तो कहीं ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है। यही दुःखों का अन्त है" (८।१) आयुष्मान् दब्ब के निर्वाण पर भगवान् ने जो उद्‌गार किया उसे हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं। बौद्ध निर्वाण के स्वरूप को समझने के लिये 'उदान' का आठवाँ वर्ग भूरि भूरि पढ़ने और मनन करने योग्य है। भगवान् के चुन्द सोनार के यहाँ अन्तिम भोजन करने का भी इस वर्ग में वर्णन है, जो महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३) के समान ही है।

इतिवुत्तक[1]

'इतिवुत्तक' खुद्दक-निकाय का चौथा ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनों में है। 'इतिवुत्तक' का अर्थ है 'ऐसा कहा गया' या 'ऐसा तथागत ने कहा'। 'इतिवुत्तक' में भगवान् बुद्ध के ११२ प्रवचनों का संग्रह है। ये सभी प्रवचन अत्यन्त लघु आकार के और नैतिक विषयों पर हैं। 'इतिवुत्तक' का प्रायः प्रत्येक सूत्र इन शब्दों के साथ आरम्भ होता है—"भगवान् (बुद्ध) ने यह कहा, पूर्ण

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा देवनागरी लिपि में सम्पादित। उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित, १९३७ ई०। इस ग्रन्थ के गद्य-भाग का अनुवाद प्रस्तुत लेखक ने 'ऐसा तथागत ने कहा' शीर्षक से किया है।

पुरुष (तथागत) ने यह कहा, ऐसा मैंने सुना।" केवल ८१-८८, ९१-९८, और १००-१०१ संख्याओं के सूत्र इसके अपवाद हैं। बुद्ध-वचनों के उद्धरण की यह विशिष्ट शैली ही इस संग्रह के "इतिवुत्तक' (ऐसा तथागत ने कहा) नामकरण का आधार है।

'इतिवुत्तक' के विषय-संकलन और शैली की अपनी विशेषताएँ हैं। 'इतिवुत्तक' के ११२ सुत्त चार बड़े बड़े वर्गों या निपातों में विभक्त हैं। पहले निपात में उन उपदेशों का संकलन है जिनका सम्बन्ध संख्या एक से है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे निपातों में उन उपदेशों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध क्रमशः दो, तीन और चार संख्याओं से है। इसीलिये इनके नाम भी क्रमशः एकक-निपात, दुक-निपात, तिक-निपात और चतुक्क-निपात हैं। पहले निपात में २७ सूत्र हैं, दूसरे में २२, तीसरे में ५० और चौथे में १३। इस प्रकार सूत्रों की कुल संख्या मिलाकर ११२ है। विषय-संकलन की यह शैली आज कृत्रिम जान पड़ती है, किन्तु अध्ययन-अध्यापन के उस युग में जब सारा काम मौखिक रूप से (मुखपाठवसेन) ही चलता था, गणनात्मक संकलन और वर्गीकरण की यह पद्धति स्मृति के लिये बड़ी सहायक सिद्ध होती थी। फलतः बौद्धों और जैनों का अधिकांश प्राचीन साहित्य इसी शैली में लिखा गया है। संस्कृत के सूत्र-साहित्य का भी उद्भावन इसी आवश्यकता के कारण हुआ। 'इतिवुत्तक' की संख्याबद्ध शैली का ही विकसित रूप हमें अंगुत्तर-निकाय और बाद में अभिधम्म-पिटक में मिलता है। 'इतिवुत्तक' के विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस गणनात्मक विधान ने उसके विषय-स्वरूप की स्वाभाविकता में कोई बाधा नहीं पहुँचाई है। उसका अलंकार-विहीन सौन्दर्य हमें बुद्ध-वचनों को उनके उस नैसर्गिक रूप में, जिसमें वे उच्चरित किये गये थे, ठीक प्रकार देखने में सहायता देता है।

'इतिवुत्तक' की एक बड़ी विशेषता उसके अन्दर गद्य और पद्य दोनों का होना है। प्रत्येक सूत्र के आदि में पहले "ऐसा भगवान् ने कहा, ऐसा पूर्ण पुरुष (अर्हत्) ने कहा, ऐसा मैंने सुना" आता है। फिर गद्य में बुद्ध-वचन का उद्धरण होता है। फिर उसके बाद "भगवान् ने यह कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है" इस प्रस्तावना के साथ कोई गाथा या गाथाएँ आती हैं, जिनका या तो बिल-

कुल वही अभिप्राय होता है जो गद्य-भाग का अथवा जो उसकी पूरक-स्वरूप होती हैं। शब्दों में भी बहुत थोड़ा ही हेर-फेर होता है, अक्सर गद्य-भाग को गाथा-बद्ध कर के रख दिया जाता है। इस गाथा-भाग को भी बुद्ध-वचन की सी प्रामाणिकता देने के लिये उसका उपसंहार करते हुए अन्त में लिख दिया जाता है, 'यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना।" इस प्रकार गद्य-भाग और गाथा-भाग दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। 'इतिवुत्तक' के प्रत्येक सूत्र की यही शैली है। इसका दिग्दर्शन करने के लिये एक पूरे सूत्र को उद्धृत कर देना आवश्यक होगा। एकक-निपात के इस तीसरे सूत्र को लीजिये—"ऐसा मैंने सुना—

भगवान् ने यह कहा, पूर्ण पुरुष (अर्हत्) ने यह कहा, "भिक्षुओ! एक वस्तु को छोड़ो। मैं तुम्हारा साक्षी होता हूँ तुम्हें फिर आवागमन में पड़ना नहीं होगा। किस एक वस्तु को? भिक्षुओ! मोह ही एक वस्तु को छोड़ो। मैं तुम्हारा साक्षी होता हूँ तुम्हें फिर आवागमन में पड़ना नहीं होगा।"

भगवान् ने यह कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है—

जिस मोह के कारण मूढ़ बन कर प्राणी बुरी गतियों में पड़ते हैं, उसी मोह को तत्त्वदर्शी मनुष्य सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये छोड़ देते हैं, छोड़ कर वे इस लोक में फिर नहीं आते।

यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना।"

विद्वानों में इस बारे में कुछ मत-भेद है कि 'इतिवुत्तक' के गद्य और पद्य भाग में कौन अधिक प्राचीन या प्रामाणिक है। किन्तु उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि संकलनकर्ता ने भी गद्य-भाग में रक्खे हुए अंश को ही बुद्ध-वचन के रूप म उद्धृत किया है और फिर उसकी व्याख्या-स्वरूप गाथा-भाग को जोड़ दिया है, जिसकी प्रशंसा मात्र करने के लिये ही उसने अन्त में यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना, जोड़ दिया है। वास्तव में, जैसा संकलनकर्ता ने स्वयं कहा है, गाथा-भाग वास्तविक बुद्ध-वचन का, जो गद्य में है, अर्थ (अत्थो) ही है। मूल-बुद्ध-वचन के साथ इस प्रकार उसकी अर्थ-कथा देने की प्रवृत्ति त्रिपिटक के कुछ अन्य अंशों में भी देखी जाती है। 'इतिवुत्तक' में इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया गया जान पड़ता है। अतः 'इतिवुत्तक' के गाथा-भाग का उसके गद्य-भाग से उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा 'उदान' के गद्य-भाग का उसके गाथा-भाग

के साथ। 'उदान' में गाथा-भाग मुख्य प्रामाणिक बुद्ध-वचन है। उसकी पृष्ठभूमि के रूप में ही वहां के गद्य-भाग का उपयोग है। कुछ कुछ इसी प्रकार 'इतिवुत्तक' में गद्य-भाग मुख्य प्रमाणिक बुद्ध-वचन है, जिसकी व्याख्या स्वरूप ही गाथा-भाग की अवतारणा की गई है। अतः 'इतिवुत्तक' के पद्य-भाग की अपेक्षा उसके गद्य-भाग की ही प्रमाणवत्ता और प्राचीनता हमें अधिक मान्य होगी। शैली की दृष्टि से भी यही निष्कर्ष ठीक जान पड़ता है। 'इतिवुत्तक' का गद्य सरल, स्वाभाविक और आलङ्कारिक कृत्रिमताओं से रहित है। अतः उसको मूल बुद्ध-वचन मानना अधिक युक्ति-युक्त जान पड़ता है। निःसन्देह यह भाग शास्ता के मुख से ही निकला हुआ है। एक एक शब्द यहाँ 'धर्म-मेघ' (धर्म रूपी मेघ-वृद्ध) की वर्षा से अभी तक आर्द्र है। ए० जे० एडमंड्स के इस कथन से हम अक्षरशः सहमत हैं कि "यदि 'इतिवुत्तक' बुद्ध-वचन न हो तो और कुछ भी बुद्ध-वचन नहीं है।" हमें 'इतिवुत्तक' को इसी गौरव-दृष्टि से देखना है।

'इतिवुत्तक' के पहले निपात में, जैसा पहले कहा जा चुका है, उन सुत्तों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध एक संख्या वाली वस्तुओं से है। इसी निपात में से एक पूरे सुत्त का उद्धरण पहले दिया भी जा चुका है। इसी प्रकार राग, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या आदि पर भी सूत्र हैं। यह निपात तीन वर्गों में विभक्त है, जिनमें से प्रत्येक में क्रमशः १०, १० और ७ सूत्र हैं। इस निपात का मेत्तभाव-सुत्त (मैत्री-भाव सूत्र---१।३।७) तो भाषा और भाव की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर है। उसके गद्य-भाग को उद्धृत करना यहाँ उपयुक्त होगा। भगवान् कहते हैं, "भिक्षुओ! पुनर्जन्म के आधारभूत सब पुण्यकर्म मिलकर भी उस मैत्री भावना के जो चित्त की विमुक्ति है, सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं होते। भिक्षुओ! मैत्री भावना ही सब पुण्यकारी कर्मों से अधिक चमकती है, प्रभासित होती है, क्योंकि वह चित्त की विमुक्ति ही है। भिक्षुओ! जैसे तारागणों का सारा प्रकाश मिलाकर भी एक चन्द्रमा के प्रकाश के सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं होता...—जैसे वर्षा के अन्त में शरद् ऋतु में जब आकाश साफ और मेघों से रहित होता है तो सूर्य वहाँ आरोहण कर अन्धकार-समूह को विच्छिन्न कर चमकता है......जैसे भिक्षुओ! रात के पिछले पहर में, प्रत्यूष काल के समय, शुक्र-

तारा चमकता है . . . भिक्षुओ ! मैत्री भावना भी सब पुण्यकारी कर्मों के ऊपर चमकती है, प्रभासित होती है, क्योंकि वह चित्त की विमुक्ति ही है ।"

सुत्तनिपात[1]

सुत्त-निपात भी खुद्दक-निकाय का धम्मपद के समान ही अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, यद्यपि हिन्दी में वह अभी इतना लोक-प्रिय नहीं हुआ जितना धम्मपद। फिर भी मौलिक बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ-रत्न का अत्यन्त ऊँचा स्थान है। अशोक ने भाब्रू शिला लेख में जिन सात बुद्धोपदेशों के नाम दिये हैं उनमें से तीन अकेले सुत्तनिपात में हैं, यथा मोनेय्य सूते=नालक सुत्त; मुनि गाथा=मुनि सुत्त एवं उपतिसपसने=सारिपुत्त-सुत्त। सुत्त-निपात की भाषा वैदिक भाषा के बहुत अधिक समीप है। वैदिक भाषा की विविधरूपता और उसके अनेक प्रकार के व्यत्ययों का विवरण हम पहले दे चुके हैं।[2] जिन अनेक प्रयोगों को बाद में चल कर संस्कृत ने छोड़ दिया, सुत्त-निपात में हमें ज्यों के त्यों मिलते हैं। संस्कृत और पालि का विकास समकालिक है, पर चूंकि पालि विशेषतः जन-भाषा थी उसने

---

१. नागरी लिपि में डा० बापट द्वारा सम्पादित, पूना १९२४। पर यह संस्करण आज कल अप्राप्य है। सन् १९३७ (बुद्धाब्द २४८१) में खुद्दक-निकाय के अन्य दस ग्रन्थों के साथ-साथ सुत्त-निपात का भी नागरी लिपि में सम्पादन महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप ने किया है। बर्मी विहार सारनाथ (बनारस) द्वारा प्रकाशित। पर यह संस्करण भी अब नहीं मिलता। सुत्त-निपात के पाँच वर्गों में से प्रथम वर्ग (उरग वर्ग) का हिन्दी-अनुवाद भिक्षु धर्मरत्न ने किया है। साथ में मूल पालि भी दी है। प्रकाशक भिक्षु महानाम, मूलगन्धकुटी विहार, सारनाथ (बनारस), बुद्धाब्द २४८८ (१९४४ ई०)। सुत्त-निपात के शेष भाग का भी अनुवाद भिक्षु धर्मरत्न ने किया है, और इस समय प्रेस में है। बंगला में पूरे सुत्त-निपात का अनुवाद भिक्षु शीलभद्र ने किया है; जो कलकत्ता से सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ है।

२. देखिए प्रथम परिच्छेद में पालि और वैदिक भाषा की तुलना।

ऋग्वेद की भाषा के उन अनेक प्रादेशिक प्रयोगों को ले लिया है जो वहाँ विद्यमान हैं। अतः उसकी भाषा में पर्याप्त प्राचीनता है। अनेक गाथाओं में हमें इस प्रकार वैदिक भाषा के प्रभाव के लक्षण मिलते हैं। उदाहरणतः समूहतासे (गाथा १४) पच्चायासे (१५), चरामसे, भवामसे (३२), आतुमान, सुवानि, सुवाना (२०१), अवीवदाता (७८४) जैसे प्राचीन वैदिक प्रयोग हमें सुत्त-निपात की भाषा में, विशेषतः उसकी गाथाओं की भाषा में, मिलते हैं। इसी प्रकार 'जनेत्वा' के स्थान पर 'जनेत्व' (६९५) और कुप्पटिच्चसन्ति (७८४) जैसे प्रयोग भी बिलकुल ऋग्वेद की भाषा के प्रयोग हैं। सुत्त-निपात की गाथाओं के छन्द भी प्रायः वैदिक हैं। अनुष्टुभ्, त्रिष्टुभ् और जगती छन्दों की वहाँ अधिकता है और वैदिक छन्दों के समान गण का बन्धन भी नहीं है[1]। भाषा के समान विचार के साक्ष्य से भी सुत्त-निपात की प्राचीनता सिद्ध है। वैदिक युग के देवयजनवाद का पूरा चित्र हमें यहाँ मिलता है। उसका वर्णन इतना सजीव है कि वह प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही लिखा हुआ हो सकता है। भाषा और विचारों में सभी जगह एक निसर्गगत स्वाभाविकता और सरलता मिलती है जो बौद्धधर्म के विकास के प्रथम स्तर का पर्याप्त रूप से परिचय देती है। उसकी प्रभावशीलता भी इसीलिए अत्यन्त उच्चकोटि की है। बुद्ध-धर्म के नैतिक रूप का बड़ा सुन्दर चित्र हमें सुत्त-निपात में मिलता है। उरग-सुत्त में निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग को बताते हुए कहा गया है :

यो उप्पतितं विनेति कोधं, विसतं सप्पविसं व ओसधेहि।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं॥

जो भिक्षु चढ़े क्रोध को, सर्प-विष को औषध की तरह, शान्त कर देता है, वह इस पार (अपने प्रति आसक्ति) और उस पार (दूसरे के प्रति आसक्ति) को छोड़ता है, साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को। 'साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को' कैसी सुन्दर उपमा है!

---

१. देखिये सुत्त-निपात (भिक्षु धर्मरत्न-कृत हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग) की वस्तुकथा में भिक्षु जगदीश काश्यप का 'सुत्तनिपात की प्राचीनता' सम्बन्धी विवेचन, पृष्ठ ३-५

धनिय-सुत्त में गृहस्थ-सुख और ध्यान-सुख की तुलना की गई है, जिसके उद्धरण का मोह संवरण नहीं किया जा सकता। धनिय गोप पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि से समृद्ध है। वह एक सुखी गृहस्थ किसान है। वर्षा-काल में वह उद्-गार कर रहा है :—

भात मेरा पक चुका। दूध दुह लिया। मही (गंडक) नदी के तीर पर स्वजनों के साथ वास करता हूँ। कुटी छा ली है। आग सुलगा ली है। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

मक्खी मच्छर यहाँ पर नहीं हैं। कछार में उगी घास को गौवें चरती हैं। पानी भी पड़े तो वे उसे सह लें। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

मेरी ग्वालिन आज्ञाकारी और अचंचला है। वह चिरकाल की प्रिय संगिनी है। उसके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

मैं आप अपनी ही मजदूरी करता हूँ। मेरी सन्तान अनुकूल और नीरोग है। उनके विषय में कोई पाप भी नही सुनता। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो।

. . . .

मेरे तरुण बैल और बछड़े हैं। गाभिन गायें हैं और तरुण गायें भी, और सब के बीच वृषभराज भी है। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

खूंटे मजबूत गड़े हैं, मूंज के पगहे नये और अच्छी तरह बटे हैं, बैल भी उन्हें नहीं तोड़ सकते। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो।[1]

पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के मगध-कोसल के किसान के सुखी जीवन का कैसा सुन्दर चित्रण है, उसकी आशा-आकांक्षाओं का कैसा सुन्दर निरूपण है ! ग्रामीण जीवन का यह चित्र, उसके सुख का यह आदर्श, आज भी उतना ही सत्य है जितना बुद्ध-काल में।

---

१. भिक्षु धर्मरत्न का अनुवाद, पृष्ठ ७-१० (कुछ अल्प परिवर्तनों के सहित)

वेद की एक प्रार्थना में राष्ट्र की विभूति का चित्र खींचा गया है।[१] पर उसके रंग इतने गहरे नहीं हैं, उसकी रेखाएं इतनी और स्पष्ट नहीं हैं, जितनी सुत्त-निपात के वर्णन की। इतना होते हुए भी सुखी कृषक के जीवन का वर्णन सुत्त-निपात में केवल एक पृष्ठभूमि के रूप में है, वह स्वयं अपना लक्ष्य नहीं है। उसका वर्णन यहाँ उससे बड़े एक अन्य सुख की केवल अभिव्यक्ति के रूप में किया गया है। उस सुख का उपभोग भगवान् बुद्ध कर रहे हैं। उनके उद्गारों को कृषक के उद्गारों से पंक्तिशः मिलाइये। मही नदी के तट पर खुले आकाश में बैठे हुए भगवान् उमड़ते हुए बादलों को देख कर प्रसन्न उद्गार कर रहे हैं :—

मैं क्रोध और राग से रहित हूँ। एक रात के लिए मही नदी के तीर पर ठहरा हूँ। मेरी कुटी खुली है। अग्नि (रागाग्नि, द्वेषाग्नि, मोहाग्नि) बुझ चुकी है। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

मैंने एक अच्छी तरणी बना ली है। भव सागर को तर कर पार चला आया। अब तरणी की आवश्यकता नहीं। हे देव ! चाहो तो खूब बरसो।

. . . .

मेरा मन वशीभूत और विमुक्त है, चिर काल से परिभावित और दान्त है। मुझ में कोई पाप नहीं। हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

मैं किसी का चाकर नहीं। स्वच्छन्द सारे संसार में विचरण करता हूँ। मुझे चाकरी से मतलब नहीं। हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

---

१. "आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्......दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा......निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्"। यजुर्वेद २२।२२

मेरे न तरुण बैल हैं और न बछड़े, न गाभिन गायें हैं और न तरुण गायें और सब के बीच वृषभराज भी नहीं। हे देव ! चाहो तो खूब बरसो।[1]

. . . .

सांसारिक सुख और ध्यान-सुख को आमने-सामने रख कर कितनी सुन्दर तुलना है। सांसारिक मनुष्य कहता है 'उपधी हि नरस्स नन्दना, न हि सो नन्दति यो निरूपधि' अर्थात् विषय-भोग ही मनुष्य के आनन्द के कारण हैं। जिन्हें विषय-भोग नहीं, उन्हें आनन्द भी नहीं। पर राग-विमुक्त महात्मा कहता है "उपधी हि नरस्स सोचना न हि सो सोचति यो निरूपधि" अर्थात् विषय-भोग ही मनुष्य की चिन्ता के कारण हैं। जो विषय-रहित हैं, वे चिन्तित भी नहीं। दोनों आदर्शों का इससे अधिक सुन्दर निरूपण, इस नाटकीय गति और संवाद-शैली के साथ, सम्भवतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में नहीं मिल सकता। बौद्ध धर्म के आचार-तत्त्व के रूप को समझने के लिए भी यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार 'खग्गविसाण सुत्त' में एकान्तवास का सुन्दर उपदेश दिया गया है। 'एको चरे खग्गविसाण कप्पो' (अकेला विचरे गैंडे के सींग की तरह) से अन्त होने वाली इन गाथाओं का सौन्दर्य भी अपना है।

कसी भारद्वाज सुत्त में हम ५०० हल लेकर जुताई के काम में लगे हुए कृषि भारद्वाज नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् के प्रसिद्ध काव्यात्मक संवाद को देखते हैं। भिक्षा के लिए मौन खड़े हुए भगवान् को देख कर कृषि भारद्वाज कहता है "श्रमण। मैं जोतता हूँ, बोता हूँ। श्रमण ! तुम भी जोतो, बोओ। जोताई-बोआई कर खाओ।" भगवान् कहते हैं "ब्राह्मण ! मैं भी जोताई बोआई करता हूँ, जोताई बोआई कर खाता हूँ।" (अहम्पि खो ब्राह्मण कसामि च वपामि च कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि) आगे भगवान् ने अपने इस कथन की व्याख्या की है, जो बड़ी सुन्दर है। चन्द-सुत्त में भगवान् ने मग्गजिन (मार्ग जिन) आदि चार प्रकार के श्रमणों की व्याख्या की है। पराभव-सुत्त में पतन के कारणों

---

१. भिक्षु धर्मरत्न का अनुवाद, पृष्ठ ७-१० (कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ); भगवान् के इन उद्गारों के साथ मिलाइये 'थेरगाथा' में प्राप्त भिक्षुओं के इस प्रकार के उद्गार भी (आगे 'थेरगाथा' के विवेचन में)

को बतलाया गया है। बसल सुत्त में हम अग्नि-भारद्वाज नामक ब्राह्मण को भगवान् के प्रति यह कहते सुनते हैं "मुण्डक ! वहीं ठहर ! श्रमण वहीं ठहर ! वृषल वहीं ठहर !" (तत्रेव मुण्डक, तत्रेव समणक, तत्रेव वसलक तिट्ठाहीति)। भगवान् ने बिना क्रोध किए उस अग्निहोत्री ब्राह्मण को बतलाया कि वृषल किसे कहते हैं। लज्जित होकर ब्राह्मण भगवान् बुद्ध का जीवन-पर्यन्त उपासक (गृहस्थ-शिष्य) बना। हेमवत सुत्त में भगवान् बुद्ध के स्वभाव का वर्णन है। अन्य अनेक बातों के साथ कहा गया है कि उनका ध्यान कभी रिक्त नहीं होता—बुद्धो झानं न रिञ्चति। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के विषय में कहा गया है :

"उनका चित्त समाधिस्थ है। सब प्राणियों के प्रति वे एक समान हैं। इष्ट और अनिष्ट विषयक संकल्प उनके वश में हैं।" आलवक सुत्त आलवक यक्ष के साथ भगवान् का संवाद है, जिसकी तुलना महाभारत में युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद से की जा सकती है। यक्ष के इस प्रश्न के उत्तर में कि सब रसों में कौन सा रस उत्तम है (किं सु हवे सादुतरं रसानं) भगवान् ने कहा है 'सच्चं हवे सादुतरं रसानं' अर्थात् सत्य ही सब रसों में उत्तम है।

ब्राह्मण बावरि और उनके शिष्यों के भगवान् से संवाद तो विश्व के दार्शनिक काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार पब्बज्जा, पधान और नालक सुत्त भी अपनी आख्यानात्मक गीतात्मकता के साथ साथ दार्शनिक गम्भीरता में अपनी तुलना नहीं रखते। सुत्त-निपात की विषय-वस्तु पांच वर्गों में विभक्त है (१) उरगवग्ग (२) चूल वग्ग (३) महावग्ग (४) अट्ठकवग्ग और (५) पारायण वग्ग। प्रथम वग्ग में १२ सुत्त हैं, यथा (१) उरग (२) धनिय (३) खग्गविसाण (४) कसि भारद्वाज (५) चुन्द (६) पराभव (७) वसल (८) मेत्त (९) हेमवत (१०) आलवक (११) विजय और (१२) मुनि। द्वितीय वर्ग में १४ सुत्त हैं, यथा (१) रतन (२) आमगन्ध (३) हिरि (४) महामंगल (५) सुचिलोम (६) धम्मचरिय (७) ब्राह्मण-धम्मिय, (८) नावा (९) किंसील (१०) उट्ठान (११) राहुल (१२) वंगीस (१३) सम्मापरिब्बाजनिय और (१४) धम्मिक। तीसरे वर्ग में १२ सुत्त हैं, यथा (१) पब्बज्जा (२) पधान (३) सुभासित (४) सुन्दरिक भारद्वाज (५) माघ (६) समिय (७) सेल, (८) सल्ल

(९) वासेट्ठ (१०) कोकालिय (११) नालक और (१२) द्वायतानुपस्सना। चौथे वर्ग में १६ सुत्त हैं, यथा (१) काम (२) गुहट्ठक (३) दुट्ठक (४) सुद्धट्ठक (५) परमट्ठक (६) जरा (७) तिस्समेत्तेय्य, (८) पसूर (९) मागन्दिय, (१०) पुराभेद (११) कलहविवाद (१२) चूल वियूह (१३) महावियूह (१४) तुवटक (१५) अत्तदण्ड और (१६) सारिपुत्त। पाँचवें वर्ग में ये १७ सुत्त हैं, (१) वत्थुगाथा (२) अजितमाणवपुच्छा (३) तिस्समेत्तेयमाणवपुच्छा (४) पुण्णकमाणवपुच्छा (५) मेत्तगुमाणवपुच्छा (६) धोतकमाणवपुच्छा (७) उपसीवमाणवपुच्छा (८) नन्दमाणवपुच्छा (९) हेमकमाणवपुच्छा (१०) तोदेय्यमाणवपुच्छा (११) कप्पमाणवपुच्छा (१२) जतुकण्णिमाणवपुच्छा (१३) भद्रावुधमाणवपुच्छा (१५) उदयमाणवपुच्छा (१५) पोसालमाणवपुच्छा (१६) मोघराजमाणवपुच्छा और (१७) पिंगियमाणवपुच्छा।

यद्यपि सुत्त-निपात की गाथाओं के अनेक अंश, जिनमें आख्यान भी कहीं कहीं कलात्मक सुन्दरता के साथ अनुविद्ध है, उद्धरण की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु विस्तार-भय से ऐसा नहीं किया जा सकता। वास्तव में सुत्त-निपात में सभी कुछ इतना महत्त्वपूर्ण, सभी कुछ इतना आकर्षक है कि कुछ समझ में नहीं आता कि उसकी सुन्दरता का क्या नमूना सामने रक्खा जाय। वह सब का सब बौद्ध-साहित्य में जो कुछ भी अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, उसका नमूना है। फिर भी पाँचवें वर्ग (पारायण वग्ग) में बुद्ध के समकालिक गोदावरी-तटवासी प्रसिद्ध वेदज्ञ ब्राह्मण बावरि के १६ शिष्यों के भगवान् बुद्ध के साथ जो उदात्त-गम्भीर संलाप हुए उनका कुछ दिग्दर्शन तो आवश्यक ही है। यहाँ हम देखेंगे कि वैदिक परम्परा के सच्चे साधकों ने भी बुद्ध को कितनी जल्दी पहचान लिया था और उन्हें कितना ऊँचा स्थान दिया था।

अजित-माणव-पुच्छा

(अजित) "लोक किससे ढँका है? किससे प्रकाशित नहीं होता? किसे इसका अभिलेपन कहते हो? क्या इसका महाभय है?"

(भगवान्) "अविद्या से लोक ढँका है, प्रमाद से प्रकाशित नही होता।

तृष्णा को अभिलेपन कहता हूँ। जन्मादि दुःख इसके महाभय हैं।"

(अजित) "चारों ओर सोते बह रहे है। सोतों का क्या निवारण है? सोतों का ढँकना बतलाओ, किससे ये सोते ढाँके जा सकते हैं?"

(भगवान्) "जितने लोक में सोते हैं, स्मृति उनका निवारण है। सोतों की की रोक प्रज्ञा है, प्रज्ञा से ये रोके जा सकते हैं।"

(अजित) "हे मार्ष! प्रज्ञा और स्मृति नाम-रूप ही हैं। यह पूछता हूँ, बतलाओ, कहाँ यह नाम-रूप निरुद्ध होता है?"

(भगवान्) "अजित! जो तूने यह प्रश्न पूछा, उसे तुझे बतलाता हूँ, जहाँ पर कि सारा नाम-रूप निरुद्ध होता है। विज्ञान के निरोध से यह निरुद्ध हो जाता है।"

पुण्णक-माणव-पुच्छा

(पुण्णक) "हे तृष्णा-रहित मूल-दर्शी! मैं आपके पास प्रश्न के सहित आया हूँ........जिन ऋषियों ने यज्ञ कल्पित किये, क्या वे यज्ञ-पथ में अ-प्रमादी थे? हे मार्ष! क्या वे जन्म-जरा को पार हुए? हे भगवान्! तुम्हें यह पूछता हूँ, मुझे बताओ।"

(भगवान्) "वे जो हवन करते हैं, लाभ के लिए ही कामों को जपते है। वे यज्ञ के योग से भव के राग से रक्त हो, जन्म-जरा को पार नहीं हुए, ऐसा मैं कहता हूँ।"

(पुण्णक) "हे मार्ष! यदि योग के योग (आसक्ति) से यज्ञों द्वारा जन्म-जरा को पार नही हुए तो हे मार्ष! फिर लोक में कौन देव-मनुष्य जन्म-जरा को पार हुए, तुम्हें हे भगवन्! मैं पूछता हूँ। मुझे बतलाओ?"

(भगवान्) "लोक में बार-पार को जान कर, जिसको लोक में कहीं भी तृष्णा नहीं, जो शान्त, धूम-रहित, रागादि-बिरत और आशा-रहित है वह जन्म-जरा को पार हो गया—मैं कहता हूँ।"

मेत्तगू-माणव पुच्छा

(मेत्तगू) "हे भगवान् ! मैं तुम्हें पूछता हूँ, मुझे यह बतलाओ, तुम्हें मैं ज्ञानी (वेदगू-वेदज्ञ) और भावितात्मा समझता हूँ। जो भी लोक में अनेक प्रकार के दुःख हैं, वे कहाँ से आये हैं ?"

(भगवान्) "दुःख की इस उत्पत्ति को पूछते हो। प्रज्ञानुसार मैं उसे तुम्हें कहता हूँ। तृष्णा के कारण ही लोक में अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं।"

धोतक माणव पुच्छा

(धोतक) "हे भगवान् ! तुम्हें यह पूछता हूँ, महर्षे ! तुम्हारा वचन सुनना चाहता हूँ। तुम्हारे निर्घोष को सुन कर मैं अपने निर्वाण को सीखूंगा।"

(भगवान्) "तो तत्पर हो. . . . .स्मृतिमान् हो, यहाँ से वचन सुन तुम अपने निर्वाण को सीखो।"

(धोतक) "मैं तुम्हें देव-मनुष्य-लोक में निर्लोभ होकर विहरने वाला ब्राह्मण देखता हूँ। हे समन्तचक्षु ! (चारों ओर आँखों वाले) तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ। हे शक्र ! मुझे वाद-विवाद से छुड़ाओ।"

(भगवान्) "हे धोतक ! लोक में मैं किसी वाद-विवाद-परायण (कथंकथी) को छुड़ाने नहीं जाऊँगा। इस प्रकार श्रेष्ठ धर्म को जान कर तुम इस ओघ (भव-सागर) को तर जाओगे।"

(धोतक) "हे ब्रह्म ! करुणा कर विवेक-धर्म को मुझे उपदेश करो, जिसके अनुसार मैं यहीं शान्त और विमुक्त हो कर विचरूँ।"

(भगवान्) "धोतक ! इसी शरीर में प्रत्यक्ष धर्म को बतलाता हूँ, जिसे जान कर, स्मरण कर, आचरण कर, तू लोक में अशान्ति से तर जायगा।"

कप्प-माणव पुच्छा

(कप्प) "बड़ी भयानक बाढ़ में सरोवर के बीच में खड़े, मुझे तुम द्वीप (शरण-स्थान) बतलाओ, जिससे यह संसार फिर न हो।"

(भगवान्) "हे कप्प। तुझे द्वीप बतलाता हूँ। अकिंचनता ही सर्वोत्तम द्वीप है। इसे मैं जरा-मृत्यु-विनाश रूप निर्वाण कहता हूँ[1]।" आदि, आदि।

विमानवत्थु और पेतवत्थु

विमानवत्थु (विमानवस्तु) का अर्थ है विमानों या देव-आवासों की कथाएँ। इसी प्रकार पेतवत्थु का अर्थ है प्रेतों की कथाएँ। विमानवत्थु और पेतवत्थु में क्रमशः देवताओं और प्रेतों की कहानियोंके द्वारा कर्म-फल के सिद्धान्त का प्राकृत-जनोपयोगी दिग्दर्शन कराया गया है। देवता प्रकाश-रूप हैं। वे सुन्दर आवासों में रहते हैं। स्वर्ग-लोक नाना प्रकार के आमोद-प्रमोदों से पूरित है। इसके विपरीत प्रेत-योनि दुःखमय है। प्रेतों को नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं। इस जन्म में जो नाना प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म किये जाते है, उन्हीं के परिणामस्वरूप मृत्यु के उपरान्त क्रमशः देवताओं या प्रेतों की गतियाँ प्राप्त होती है, यह दिखाने के लिए ही विमानवत्थु और पेतवत्थु की रचना की गई है। इस प्रकार बौद्ध नैतिक-वाद ने यहाँ पौराणिक परिधान ग्रहण कर लिया है। ऐसा लगता है नैतिक प्रयोजन के लिए बौद्धों ने स्वर्ग-नरक मय प्राचीन पौराणिकवाद को स्वीकार कर लिया है। किन्तु स्वर्ग का लक्ष्य उन्होंने गृहस्थ-जनों के लिए ही रक्खा है। भिक्षु का पद इससे बहुत अधिक ऊँचा है। वह तो निर्वाणका अभिलाषी है। स्वर्ग-लोक भी उसके लिए एक बन्धन है, कामनाओं की तृप्ति का ही एक साधन है। वह तो कामनाओं से ऊपर उठ कर, मनुष्य और देवता सब का ही अनुशासक है। अतः यह ठीक ही है कि किसी भी भिक्षु को शुभ कर्म के परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते 'विमानवत्थु' में नहीं दिखाया गया। केवल सद्गृहस्थ ही शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते हैं और वहाँ नाना प्रकार के रमण, क्रीड़ा दिव्य माल्य-धारण आदि का उपभोग करते हैं। विमानवत्थु"[2] में ८५ देव-आवासों

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा बुद्धचर्या, पृष्ठ ३७३-३८४ में अनुवादित।

२. देवनागरी लिपि में महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित, बुद्धाब्द २४८१ (१९३७ ई०)

(विमानों) का वर्णन है, जिन्हें सात वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग का नाम 'पीठ वग्ग' है। इसमें १७ देव-निवासों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार शेष ६ वर्गों में जिनके नाम क्रमशः 'चित्तलता वग्ग', 'पारिच्छत्तक वग्ग', 'मञ्जेट्ठ वग्ग', 'महारथ वग्ग', 'पायासि वग्ग' और 'सुनिक्खित्त वग्ग' हैं, क्रमशः ११, १०, १२, १४, १० और ११ देव-निवासों का वर्णन किया गया है। केवल नाम और थोड़े से आमोद-प्रमोदों को छोड़ कर प्रायः प्रत्येक देव-आवास के वर्णन की शैली और मूल भावना एक ही है। कोई देवता किसी आवास-विशेष में आमोद-प्रमोद करता हुआ दिखाई पड़ता है। उसे देख कर कोई भिक्षु (मोग्गल्लान) उससे पूछता है "हे देवते! तू सुन्दर वर्ण से युक्त है। अपने शुभ्र वर्ण से तू शुक्र-तारा के समान सारी दिशाओं को आलोकित कर रहा है। मनुष्यों को प्रिय लगने वाले सारे भोग तुझे प्राप्त हैं। हे महानुभाव देवते! मैं तुझसे पूछता हूँ—मनुष्य होते हुए तूने क्या पुण्य किया था जिसके फलस्वरूप तुझे ये सब भोग मिले—"पुच्छामि नं देवि महानुभावे मनुस्सभूता किमकासि पुञ्ञं......यम्म कम्मस्सिदं फलं।" देवता प्रसन्न हो कर अपने मनुष्य रूप में किए हुए पुण्यादि का वर्णन करता है—"महानुभाव भिक्षु! सुन, मैं तुझे अपने मनुष्य-रूप में किए हुए पुण्य को बतलाता हूँ। प्राण-हिंसा से विरत, मृषावाद से विरत, संयत, सदा शील से संवृत हो कर मैं चक्षुष्मान्, यशस्वी, गोतम का उपासक था.......इसी कारण मेरा यह शुभ्र वर्ण है। इसी कारण मैं दिशाओं को आलोकित कर रहा हूँ।" सब वर्णनों की प्रायः यही बानगी है। बौद्ध धर्म में जन-साधारण के लिए जिस नीति-विधान का आदर्श रक्खा गया है उसी का दिग्दर्शन ये करते हैं। अधिक काव्यमय नवीनता इनमें न होते हुए भी वे केवल उन नैतिक गुणों को जिन्हें बौद्ध धर्म में सद्गृहस्थों के लिए साधारणतः आदरणीय माना गया है, बार बार हमारी स्मृति में अङ्कित करने का प्रयत्न करते हैं। आज इससे अधिक विमानवत्थु के वर्णनों का महत्व हमारे लिए नहीं माना जा सकता। उनकी पौराणिक पृष्ठभूमि तो निश्चय ही बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास की सूचक है, अतः उसे बुद्ध-शासन का उतना आवश्यक अंग मानने की गलती नहीं करनी चाहिए। काव्यात्मक गुण भी उनके अन्दर अधिक नहीं है। 'पेतवत्थु' में ५० प्रेतों की कहानियाँ हैं, जिन्हें ४ भागों में विभक्त किया गया है, यथा (१) पेतवत्थु,

(२) उरग पेतवत्थु, (३) उब्बरी पेतवत्थु और (४) धातु विवण्ण पेतवत्थु। 'पेतवत्थु' में प्रेतों की कहानियों के द्वारा यह दिखाया गया है कि किस किस दुष्कर्म के कारण परलोक में क्या क्या दुःख भोगने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए एक भिक्षु की कथा देखिए। भिक्षु नारद किसी प्रेत से पूछते हैं—"तेरी सम्पूर्ण काया शुभ्र है। तू सारी दिशाओं को अपने कान्त वर्ण से आलोकित भी कर रहा है। किन्तु तेरा मुख शूकर का है। तूने पूर्व जन्म में क्या कर्म किया था ?"[1] प्रेत उत्तर देता है "नारद ! मैं काया से संयत था, किन्तु वाणी से असंयत था। इसी लिये नारद ! मेरा यह ऐसी अवस्था है जिसे तू देखता है। हे नारद ! जैसा तुमने स्वयं देखा है, मैं भी तुम्हें कहता हूँ—मुख से पाप न करना, ताकि तुम्हें भी कहीं शूकर के मुख वाला न होना पड़े।"[2] इस प्रकार शुभ कर्म का परिणाम मरने के बाद शुभ और अशुभ कर्म का अशुभ होता है, इसी नैतिक सत्य को क्रमशः 'विमानवत्थु' और 'पेतवत्थु' में दिखलाया गया है।

थेरगाथा[3] और थेरीगाथा[4]

थेरगाथा और थेरीगाथा खुद्दक-निकाय के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन दो ग्रन्थों में क्रमशः बुद्धकालीन भिक्षु और भिक्षुणियों के पद्य-बद्ध जीवन-संस्मरण हैं।

---

१. कायो ते सब्बसोवण्णो सब्बा ओभाससे दिसा। मुखं ते सूकरास्स एव किं कम्मं अकरी पुरे।

२. कायेन सञ्ञतो आसिं वाचा आसिं असञ्ञतो। तेन मे तादिसो वण्णो यथा पस्ससि नारद।
तं त्याहं नारद ब्रूमि सामं दिट्ठं इदं तया। मा कासि मुखसा पापं मा खो सूकर-मुखो अहु ति। पेतवत्थु (सूकरमुख पेतवत्थु)

३. ४. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप ने इन दोनों ग्रंथों का सम्पादन देवनागरी लिपि में किया है जिसे भिक्षु उत्तम ने बुद्धाब्द २४८१ (१९३७ ई०) में प्रकाशित किया है। प्रोफेसर भागवत ने भी थेरीगाथा का सम्पादन नागरी लिपि में किया है, जिसे बम्बई विश्व विद्यालय ने सन् १९३७ में प्रकाशित किया है। 'थेरीगाथा'

थेरगाथा में २५५ भिक्षुओं के उद्गार हैं, जब कि थेरीगाथा में ७३ भिक्षुणियों के। थेरगाथा में १२७९ गाथाएँ (पद्य) हैं जो २१ निपातों (वर्गों) में विभक्त हैं। थेरीगाथा में ५२२ गाथाएँ हैं जो १६ निपातों में विभक्त हैं। वास्तव में थेरगाथा से थेरीगाथा अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, क्योंकि यहाँ भिक्षुणियों की आत्मीयता और यथार्थवादिता अधिक स्पष्ट झलकती है। थेरगाथा में अन्तर्जगत् के अनुभवों की बहुलता है, जबकि थेरीगाथा में वैयक्तिक ध्वनि प्रधान है। थेरगाथा में सुरम्य प्राकृतिक वर्णनों की अधिकता है। भिक्षुओं के ध्यान के प्रसंग में ये वर्णन वहाँ स्वभावतः आ गए हैं। किन्तु भिक्षुणियों ने अपने जीवन की वास्तविक परिस्थितियों पर ही अधिक पर्यवेक्षण किया है। दोनों के ही उद्गारों में जीवन के करुण पक्ष के अनुभव की अधिक अभिव्यक्ति है। फिर भी वहाँ निराशा नहीं है। बुद्ध-शासन का अवलम्बन पा कर दोनों ने ही उस गंभीर और शान्त सुख का स्पर्श किया है, जो जीवन की विषमताओं और कटुताओं को घोल डालता है और उन पर मनुष्य की विजय का सूचक बनता है। किसी किसी भिक्षु के शब्दों में नारी के प्रति विरक्त भाव भी है। इसी प्रकार किसी किसी भिक्षुणी ने पुरुष के द्वारा उस पर किये गए अत्याचार का भी दुःखपूर्वक स्मरण किया है। मानव-जीवन की ये सामान्य विषमताएँ हैं। इनसे हमें किसी विशेष सिद्धान्त को यहाँ निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अब हम थेर और थेरी गाथाओं से कुछ उद्धरण दे कर उनकी विषय-वस्तु की विशेषताओं को स्पष्ट करेंगे। स्थविर आतुम अपने अनुभव का वर्णन करते हुए कहते हैं—मैंने वृद्ध, दुःखी, व्याधि से मारे हुए, समाप्त आयु-संस्कार वाले, पुरुष को इन आँखों से देखा। बस इन (दुःखों) से निष्कमण पाने के लिए मैंने सारे मनोरम भोगों को छोड़ कर प्रव्रज्या ले ली[1]।" स्थविर वल्लिय का अनुभव भी मार्मिक है "मेरे बाल बनाने के लिए नाई मेरे पास आया।

का अनुवाद (परमत्थदीपनी के आधार पर भिक्षुणियों की जीवनियों के सहित, लेखक ने किया है, जो सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हो चुका है)।

१. जिण्णञ्च दिस्वा दुक्खितञ्च व्याधितं मतञ्च दिस्वा गतमायुसंखयं।
ततो अहं निक्खमितून पब्बजिं पहाय कामानि मनोरमानि ॥ गाथा ७३

उसके हाथ से दर्पण ले कर मैं अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण करने लगा। काया की तुच्छता को मैंने देखा। मेरा अन्धकार वहीं विदीर्ण हो गया! अहंकार का वस्त्र फाड़ डाला गया। सारे आवरणों से मैं अब विमुक्त हो गया! अब मेरे लिए पुनर्जन्म होना नहीं है।"[1] एक विषयी पुरुष बुद्ध-शासन को सुन कर किस प्रकार प्रव्रजित हो गया है, यह स्थविर किम्बिल के शब्दों में सुनिये, "बुरे चिन्तन में लगा हुआ मैं पहले इस काया के श्रृंगार-साधन में लगा रहता था। मैं उद्धत था, चपल था, एवं काम-वासना से बुरी तरह व्यथित था। सौभाग्यवश आदित्य-बन्धु भगवान् बुद्ध ने, जो मेरे जैसों का उपाय करने में कुशल है, अपने उपदेश से मुझे सत्पथ पर लगा दिया। अब संसार से मेरा चित्त अनासक्त हो चुका है।"[2] स्थविर नन्द का गम्भीर अनासक्त भाव देखिये, "चित्त समाधि-मग्न नहीं है और दूसरे इसकी प्रशंसा करते हैं। यदि चित्त समाधि-मग्न नहीं है तो दूसरों की प्रशंसा व्यर्थ ही है। चित्त अच्छी प्रकार समाधि-मग्न है और दूसरे इसकी निन्दा करते हैं। यदि चित्त अच्छी प्रकार समाधि-मग्न है, तो दूसरे की निन्दा व्यर्थ ही है।"[3]

वस्तुतः 'थेरगाथा' की दो बड़ी विशेषताएँ हैं, भिक्षुओं के आन्तरिक अनुभव का वर्णन और उनका प्रकृति-दर्शन। भिक्षुओं ने संस्कारों की अनित्यता को देख कर सांसारिक जीवन से वैराग्य लिया है। चित्त की शान्ति ही उनके लिए सब से बड़ा सुख है। जीवन के प्रति न उनमें उत्सुकता है और न विषादमय दृष्टिकोण।

---

१. केसे मे ओलिखिस्सन्ति कप्पको उपसंकमि। ततो आदासं आदाय सरीरं पच्चवेक्खिसं। तुच्छो कायो अदिसित्थ, अन्धकारे तमो ब्यगा। सब्बे चोला समुच्छिन्ना नत्थि दानि पुनब्भवो' ति"॥ गाथाएँ १६९-१७०

२. अयोनिसोमनसीकारा मण्डनं अनुयुञ्जिसं। उद्धतो चपलो चासिं कामरागेन अट्टितो। उपायकुसलेनाहं बुद्धेनादिच्चबन्धुना। योनिसो पटिपज्जित्वा भवे चित्तं उदब्बहिन्ति॥ गाथाएँ १५७-१५८

३. परे च नं पसंसन्ति अत्ता चे असमाहितो। मोघं परे पसंसन्ति अत्ता हि असमाहितो॥

परे च नं गरहन्ति अत्ता चे सुसमाहितो। मोघं परे गरहन्ति अत्ता हि सुसमाहितो॥ गाथाएँ १५९-१६०

वे केवल शान्त और गम्भीर हैं। अनासक्ति उनके जीवन का मुख्य लक्षण है। जिन्होंने विषयों को वमन के समान छोड़ दिया है, सुख-दुःख जिनके लिए अर्थहीन हो गए हैं, शीत और उष्ण जिनके लिए समान हैं, ऐसे साधकों की मानसिक दशाओं का वर्णन ही हमें 'थेरगाथा' में मिलता है। भिक्षु-जीवन के आदर्श को धर्म-सेनापति सारिपुत्र ने सदा के लिए स्मरणीय शब्दों में व्यक्त करते हुए अपने विषय में कहा है :—

> **नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं ।**
> **कालञ्च पटिकङ्खामि सम्पजानो पटिस्सतो ॥**
> **नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं ।**
> **कालञ्च पटिकङ्खामि निब्बिसं भतको यथा ॥**[1]

(न मुझे मरने की इच्छा है, न जीने की अभिलाषा। ज्ञान पूर्वक सावधान हो मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। न मुझे मरने की इच्छा है, न जीने की अभिलाषा। काम करनेके बाद अपनी मजूरी पाने की प्रतीक्षा करने वाले दास के समान मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ)

धर्मसेनापति सारिपुत्र के परिनिर्वाण पर महामोग्गल्लान स्थविर ने संस्कारों की अनित्यता पर जो भाव प्रकट किए हैं, वे भगवान् के उन महाशिष्य के हृदय के अन्तस्तल तक हमें ले जाते हैं। 'अनिच्चा वत संखारा' का उद्गार करते हुए महा-मोग्गल्लान स्थविर कहते हैं—

> **तदासि यं भिंसनकं तदासि लोमहंसनं ।**
> **अनेकाकारसम्पन्ने सारिपुत्तम्हि निब्बुते ॥**[2]

यह भीषण हुआ, यह रोमांचकारी हुआ। अनेक ध्यान-समापत्तियों से सम्पन्न सारिपुत्र परिनिर्वृत्त हो गये !

---

१. गाथाएँ १००२-१००३; स्थविर संकिच्च ने भी इन भावों की पुनरावृत्ति की है, गाथाएँ ६०६-६०७ और अंशतः स्थविर निसभ ने भी, गाथा १९६; मिलिन्दप्रश्न में भी इन गाथाओं को उद्धृत किया गया है। देखिये मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ५५ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

२. गाथाएँ ११५८-११५९।

भिक्षुओं ने स्त्री के कामिनी-रूप पर विजय प्राप्त की है। उसके प्रलोभनों में वे नहीं आ सकते, ऐसा उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कहा है।[1] एक अलंकृता, सुवसना, मालाधारिणी, चन्दन लेप किये हुए नर्तकी को महापथ के बीच में नृत्य-गान करते हुए भिक्षु ने देखा है। उसी समय उसने वासना के दुष्परिणाम पर चिन्तन किया है, अशुभ-भावना की है, और इस प्रकार अपने चित्त को विमुक्त किया है।[2] स्त्री के रूपादि की आसक्ति को भिक्षुओं ने सब दुःख का कारण माना है।[3] श्मशान में स्त्री के सड़ते हुए शरीर को कृमि आदि से खाये जाते हुए देख कर उन्होंने उसके अनित्य और अशुभ रूप की भावना की है और सत्य का दर्शन किया है।[4] स्त्री की काया के ही नहीं, उन्होंने अपनी काया के भी अशुभ, तुच्छ रूप

---

१. सचे पि एत्तका भिय्यो आगमिस्सन्ति इत्थियो ।
नेव मं व्याधयिस्सन्ति धम्मे स्वम्हि पतिट्ठितो ।। गाथा, १२११

२. अलंकता सुवसना मालिनी चन्दनुस्सदा ।
मज्झे महापथे नारी तुरिये नच्चति नट्टकी ।। गाथा, २६७
. . . .
ततो मे मनसीकारो . . . . . . ततो चित्तं विमुच्चि मे ।।२६९-७०; मिलाइये गाथाएँ ४५९-४६५ भी जहाँ 'पैरों में महावर लगाये हुए' (अलत्तककता पादा) सुवसना, अलंकृता, स्मित करती हुई वेश्या ने भिक्षु के सामने गृहस्थ-जीवन में प्रवेश का प्रस्ताव रक्खा है 'अहं वित्तं ददामि ते' (मैं तुझे धन देती हूँ) यह कहते हुए, पर भिक्षु के उसे मृत्यु का पाश समझ कर अशुभ की भावना की है और सत्य का साक्षात्कार किया है। "काम-वासना में दुष्परिणाम देख कर मैंने चित्तमल-रहित अवस्था को प्राप्त कर लिया" (कामेस्वादीनवं . . . . . . पत्तो मे आसवक्खयो—गाथा ४५८); मिलाइये "अंकेन पुत्तमादाय भरिया मं उपागमि . . . . . . ततो मे मनसीकारो . . . . . ततो चित्तं विमुच्चि मे", आदि गाथाएँ २९९-३०१ भी

३. इत्थिरूपे इत्थिरसे फोट्ठब्बे पि च इत्थिया । इत्थिगन्धेसु सारत्तो विविधं विन्दते दुखं ।। गाथा ७३८

४. अपविद्धं सुसानस्मिं खज्जन्तिं किमिही फुटं ।
आतुरं असुचिं पूतिं पस्स कुल्ल समुस्सयं । गाथा ३९३ मिलाइये 'धिरत्थु पूरे

का दर्शन ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिए किया है।[1] एक भिक्षु ने हमें बताया है कि भिक्षु होने से पहले वह एक राज-पुरोहित का पुत्र था और जाति-मद और भोग और ऐश्वर्य के मद से मतवाला रहता था, किन्तु अब उसका सब मान, मद और अस्मिमान छूट चुका है और वह प्रसन्न और शान्त है।[2] इसी प्रकार एक अन्य भिक्षु ने हमें बताया है कि पहले राजा होते समय किस प्रकार उसके हाथी की ग्रीवाओं में सूक्ष्म वस्त्र लटकते थे, पर वही आज परिग्रह-रहित सुख से ध्यान करता है। उच्च मंडलाकार दृढ़ अट्टालिकाओं और कोठों में वह पहले हाथ में खड्ग धारण किये सिपाहियों और पहरेदारों द्वारा रक्षित होते हुए भी त्रासपूर्वक सोता था, पर आज वही बिना किसी त्रास के, सम्पूर्ण भयों से विमुक्त हो कर वन में प्रवेश कर ध्यान करता है।[3] एक दूसरे भिक्षु (शीलव) ने हमें बताया है कि वह पहले नीच कुल में उत्पन्न हुआ था। दरिद्र था और भोजन भी नहीं पाता था। सूखे फूलों को बीन बीन कर वह बेचता था और अपनी जीविका कमाता था। उसका कर्म हीन था। अपने मन को नीचा कर के वह अनेक मनुष्यों की वन्दना करता था। एक दिन भिक्षु-संघ के साथ मगध के उत्तम नगर (राजगृह) में प्रवेश करते हुए भगवान् सम्यक सम्बुद्ध को उसने देखा। वह आगे

दुग्गन्धे ...' आदि गाथा २७९ तथा गाथा ११५० भी।

१. धम्मादासं गहेत्वान ञाणदस्सनपत्तिया। पच्चवेक्खिं इमं कायं तुच्छं सन्तरबाहिरं॥ गाथा ३९५

२. जातिमदेन मत्तोहं भोगैसरियेन च।.........मानं मदञ्च छड्डेत्वा विप्पसन्नेन चेतसा। अस्मिमानो समुच्छिन्नो सब्बे मानविधा हता॥४२३-४२८

३. या तं मे हत्थिगीवाय सुखुमा वत्था पधारिता।
सोज्ज भद्दो झायति अनुपदानो......
उच्चे मण्डलियाकारे दल्हमट्टालकोट्ठके।
रक्खितो खग्गहत्थेहि उत्तसं विहरिं पुरे॥
सोज्ज भद्दो अनुत्रासी पहीनभयभेरवो।
झायति वनमोगह्य........." ८४२-८६४

बढ़ कर भगवान् की वन्दना करने गया। पुरुषोत्तम (बुद्ध) उस पर कृपा करके स्वयं खड़े हो गए। फिर सर्वलोकानुकम्पक कारुणिक शास्ता ने उससे कहा "आ भिक्षु'! यही उसकी उपसम्पता हुई। आज भिक्षु की यह हालत है कि इन्द्र और ब्रह्मा भी आकर अञ्जलि बाँध कर उसको प्रणाम करते हैं।[1] भिक्षुओं के आन्तरिक जीवन का एक अनूठा चित्र हमें स्थविर तालपुट के आत्मोद्गार में मिलता है। इस भिक्षु ने अपने चित्त को सम्बोधन कर कुछ महनीय उद्गार किए हैं जिनकी तुलना समर्थ रामदास के 'मनाचे श्लोक' और गोस्वामी तुलसीदास के 'विनय-पत्रिका' के अनेक पदों से अच्छी प्रकार की जा सकती है। वैसे तो तालपुट स्थविर द्वारा उच्चरित सभी गाथाएँ (१०९१-११४५) उद्धरणीय है, परन्तु यहाँ स्थानाभाव से केवल कुछ का उद्धरण ही उपयुक्त होगा। स्थविर तालपुट अपने मन को सम्बोधन करते हुए कहते है, "हे चित्त ! जैसे फल की इच्छा करने वाला मनुष्य वृक्ष को लगाकर फिर उसकी जड़ को ही तोड़ने की इच्छा करे, उसी प्रकार हे चित्त ! मुझको चल और अनित्य इस संसार में लगातार तू वैसा ही करता है ![2].....हे चित्त ! सर्वत्र ही तो मैंने तेरे वचन को किया है, अनेक पूर्व

---

१. नीचे कुलम्हि जातोहं दलिद्दो अप्पभोजनो।
हीनं कम्मं ममं आसि अहोसिं पुप्फछड्डको ॥६२०
....
नीचं मनं करित्वान वन्दिस्सं बहुकं जनं ।६२१
अथ अद्दसासिं सम्बुद्धं भिक्खुसंघपुरक्खतं पविसन्तं महावीरं मगधानं पुरुत्तमं ॥ ६२२
निक्खिपित्वान ब्याभंगिं वन्दितुं उपसंकमिं।
ममेव अनुकम्पाय अट्ठासि पुरिसुत्तमो ॥६२३
ततो कारुणिको सत्था सब्बलोकानुकम्पको। एहि भिक्खूति मं आह सा मे आसूपसम्पदा ॥६२५
........इन्दो ब्रह्मा च आगन्त्वा मं नमस्सिंसु पञ्जलि ॥६२८

२. रोपेत्वा रुक्खानि यथा फलेसी मूले तरुं छेत्तु तमेव इच्छसि।
तथूपमं चित्त इदं करोसि यं मं अनिच्चम्हि चले नियुञ्जसि ॥११२१

जन्मों में भी तो मैंने तुझे कभी कुपित नहीं किया। तू मेरे ही अन्दर से उत्पन्न है, इसलिए कृतज्ञतावश हे चित्त ! मैंने तेरे लिए चिरकाल तक दुःख में संसरण किया है[1] ! हे चित्त ! तू ही ब्राह्मण बनाता है और तू ही क्षत्रिय राजर्षि। हे चित्त ! तेरे ही कारण वैश्य और शूद्र बनते हैं और देवत्व भी पाते हैं तेरे ही कारण! हे चित्त ! तेरे ही कारण असुर बनते हैं नरक-योनियाँ भी तेरे ही कारण हैं। हे चित्त ! पशु-पक्षी की योनियाँ और पितरों की योनियों में भी तू ही डालता है[2]। धिक् ! धिक् ! रे चित्त ! अब तू आगे का क्या करना चाहता है। अब तू मुझे अपना वशवर्ती बना न सकेगा।"[3] यही भिक्षु आगे कामना करता है :—

कदा नु हं दुब्बचनेन वुत्तो ततो निमित्तं विमनो न हेस्सं।
अथो पसट्ठो पि ततो निमित्तं तुट्ठो न हेस्सं तदिदं कदा मे ॥[4]

अर्थात्—कब मैं अपने लिए प्रयुक्त दुर्वचनों को सुनकर उनके कारण दुःखी और उदासीन नहीं हूँगा, और इसी प्रकार अपनी प्रशंसा किये जाने पर उसके कारण प्रसन्न भी नहीं हूँगा—क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ? आदि, आदि।

अपने पुत्र भिक्षु को बुद्ध के साथ देखकर एक पिता उसका अभिनन्दन करता है :—

---

१. सब्बत्थ ते चित्त वचो कतं मया बहूसु जातिसु न मे सि कोपितो। अज्झत्त-सम्भवो कतञ्ञुताय ते दुक्खे चिरं संसरितं तया कते ॥११२६

२. तवेव हेतू असुरा भवामसे, त्वं मूलकं नेरयिका भवामसे। अथो तिरच्छान गतापि एकदा पेतत्तनं वापि तवेव वाहसा ॥११२८
त्वञ्ञेवनो चित्त करोसि ब्राह्मणो त्वं खत्तिया वापि राजदिसी करोसि।
वेस्सा च सुद्दा च भवाम एकदा, देवत्तनंवापि तवेव वाहसा ॥११२७

३. धी धी परं किं मम चित्त काहसि न ते अलं चित्त वसानुवत्तको। ११३४; मिलाइये.........नाहं अलं तुय्ह वसे निवत्तितुं ।११३२

४. गाथा ११००; मिलाइये तुलसीदास "कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।..... परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो। बिगतमान, सम सीतल मन......" विनय-पत्रिका।

जैसे पर्वत-गुफा में दो सिंह एक दूसरे को देखकर नाद करें, उसी प्रकार दोनों ज्ञानी एक दूसरे का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं :—मार को सेना-सहित जीत कर हम दोनों वीरों ने संग्राम विजय किया है।[1]

अपने प्रव्रजित पुत्र को देखकर माता विलाप करती है। पुत्र उसे समझाता हुआ कहता है :—माता! मृत पुत्र के लिए माता रो सकती है, अथवा उस पुत्र के लिए भी जो जीवित होते हुए भी उसे दिखाई नहीं देता, अनुपस्थित है। माता! मैं तो जीवित हूँ और तू मुझे सामने देख भी रही है। फिर माता! मेरे लिए तू रोदन क्यों करे?

मतं वा अम्म रोदन्ति वो वा जीवं न दिस्सति।
जीवन्तं मं अम्म दिस्सन्ती कस्मा मं अम्म रोदसि॥[2]

पर्वत-गुफाओं में ध्यान करते हुए अनेक भिक्षुओं के चित्र हमें 'थेरगाथा' में मिलते हैं। पांशुकूल धारी (गुदड़ी धारी) भिक्षु पर्वत-गुफा में सिंह के समान सुशोभित है—'सोभति पंसुकूलेन सीहो व गिरिगब्भरे'।[3] इसी प्रकार भिक्षु की अचल, ध्यानस्थ अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है : जिस प्रकार सुदृढ़ पर्वत निश्चल और सुप्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार जिस भिक्षु का मोह नष्ट हो चुका है, वह अचल पर्वत के समान कम्पित नही होता।

यथापि पब्बतो सेलो अचलो सुपतिट्ठितो।
एवं मोहक्खया भिक्खु पब्बतो' व न वेधति॥[4]

इस प्रकार भिक्षु-जीवन के बाह्य और आन्तरिक रूप के अनेक चित्र हमें 'थेरगाथा' में मिलते हैं। उनके आन्तरिक अनुभवों और ध्यानी जीवन का पूरा परिचय हमें यहाँ मिलता है।

---

१. नन्दन्ति एवं सपञ्ञा सीहा व गिरिगब्भरे।
वीरा विजितसंगामा जेत्वा मारं सवाहनं॥ गाथा १७७

२. गाथा ४४

३. गाथा १०८१

४. गाथा १०००

भिक्षुओं ने अपनी साधना में प्रकृति का कितना सहयोग लिया था, इसका भी पूरा दर्शन हमें 'थेरगाथा' में मिलता है। 'थेरगाथा' में इस प्रकार वन्य और पार्वत्य दृश्यों के तथा वर्षा और शरद् आदि ऋतुओं के जितने सुन्दर, संश्लिष्ट चित्र प्रसंगवश आ गये है, वे उसकी एक विभूति बन गये हैं। 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णन की तुलना भारतीय साहित्य में केवल वाल्मीकि के इस विषय-सम्बन्धी वर्णनों से की जा सकती है। उसकी उदात्तता, सरलता और सूक्ष्म निरीक्षण सब अद्वितीय हैं। विन्टरनित्ज़ ने 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णनों को 'भारतीय गीति-काव्य के सच्चे रत्न' कहा है[१]। प्रस्तुत लेखक ने 'पालि साहित्य में प्रकृति-वर्णन' शीर्षक लेख में पालि साहित्य, विशेषतः 'थेरगाथा', में प्राप्त प्रकृति-वर्णन का विस्तृत विवेचन करते हुए भारतीय काव्य-साहित्य में उसके स्थान को निर्धारित किया है।[२] अतः यहाँ केवल संक्षेप से ही कुछ कहना उपयुक्त होगा।

भिक्षुओं का जीवन प्रकृति से गहरे रूप से सम्बद्ध था। गिरि-गुहा, नदी-तट, वन-प्रस्थ, पुआल-पुज अथवा किसी छाई हुई या बिना छाई हुई ही[3] कुटिया में ध्यान करते हुए भिक्षुओं को वर्षा, शीत आदि ऋतुओं के परिवर्तन का और पृथ्वी और आकाश के अनेक रंगो और रूपों के परिवर्तन का साक्षात् अनुभव होता था। प्रकृति के अनेक रूपों की प्रतिक्रिया उनके चित्त पर कैसी होती है, इसके अनेक चित्र वे 'थेरगाथा' में हमारे लिए छोड़ गये हैं। उनमें से कुछ का अवलोकन करना यहाँ आवश्यक होगा।

मूसलाधार वर्षा हो रही है। ध्यानस्थ भिक्षु अपनी कुटिया में बैठा है। हाँ, उसकी कुटिया छाई हुई है। भिक्षु उद्गार करता है :—

---

१. "The Real Gems of Indian Lyric Poetry" इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०६

२. धर्मदूत, अप्रेल-मई १९५१

३. वर्षा होने वाली है। भगवान् मही (गंडक) नदी के तट पर खुली कुटिया (विवटा कुटि) में बैठे हैं। देखिये सुत्त-निपात, गाथा १९ (धनिय-सुत्त)

बरसो देव ! यथासुख बरसो !
मेरी कुटिया छाई हुई है।
(ठंडी) हवा अन्दर न आ सकने के कारण वह सुखकारी है।
मेरा चित्त समाधि में दृढ़तापूर्वक लीन है।
(कामासक्ति से) विमुक्त हो चुका है।
निर्वाण के लिए उद्योग चल रहा है।
बरसो देव ! यथा सुख बरसो।[1]

एक दूसरे भिक्षु ने इसी अनुभव को इनसे भी अधिक सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है

सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !
मेरी कुटिया छाई हुई है !
(ठंडी) हवा अन्दर न आ सकने के कारण वह सुखकारी है !
उसमें शान्त-चित्त, ध्यानस्थ मैं बैठा हूँ।
बरसो देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो !
. . . .
सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !
मेरी कुटिया छाई हुई है !
(ठंडी) हवा अन्दर न आ सकने के कारण वह सुखकारी है !
उसमें शान्त-चित्त मैं ध्यान कर रहा हूँ !
वीत-राग ! वीत-द्वेष ! वीत-मोह !
बरसो देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो ![2]

---

१. छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथासुखं।
चित्तं मे सुसमाहितं विमुत्तं आतापी विहरामि वस्स देवा' ति। गाथा १

२. वस्सति देवो यथा सुगीतं, छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता।
तस्सं विहरामि वूपसन्तो, अथ चे पत्थयसि पवस्स देव॥
वस्सति देवो यथा सुगीतं, छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता।
वीतरागो. . . . . .वीतदोसो. . . . . . .वीतमोहो. . .अथ चे
पत्थयसि पवस्स देवा' ति॥ गाथाएँ ३२५-३२९

'वस्सति देवो यथा सुगीतं' (सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !) कैसी सुन्दर उपमा है ! प्राकृतिक सौन्दर्य का कैसा मनोज्ञ प्रत्यक्षीकरण है ! झड़ी लगाकर बरसते हुए बादल के समान सुन्दर गीत की वर्षा के सौन्दर्य को भी देखने की क्षमता वीतराग भिक्षु में है । पर ध्यान का सुख तो इससे भी बड़ा है :

पञ्चङ्गिकेन तुरियेन न रति होति तादिसी ।
यथा एकग्गचित्तस्स सम्मा धम्मं विपस्सतो ॥[1]

(पञ्चविध तूर्यध्वनि (सङ्गीत) से भी वैसा आनन्द प्राप्त नहीं होता, जैसा एकाग्र चित्त पुरुष का धर्म के सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होता है) अतः ध्यान का सुख ही भिक्षु के लिए सब से बड़ा सुख है और प्राकृतिक सौन्दर्य उसके लिए इसी ध्यान का उद्दीपन बनता है ।

वर्षाकाल है । सुन्दर नीली ग्रीवा वाले, कलँगीधारी मोर अपने सुन्दर मुखों से बोल रहे हैं । कितनी मधुर है उनकी गर्जन ! विस्तृत पृथ्वी चारों ओर हरियाली से भरी हुई है । सारी सृष्टि जल से व्याप्त है । आकाश में जल-पूरित कृष्ण मेघ छाये हुए हैं । ध्यान के लिए यह उपयुक्त अवसर है । भिक्षु को प्रसन्नता है कि उसका ध्यान अत्यन्त सुचारु रूप से चल रहा है । बुद्ध-शासन के अभ्यास में वह सुन्दर रूप से अप्रमादी है । यदि प्रकृति में उल्लास और उत्साह है, तो भिक्षु का मन भी सुन्दर है । उसे भी उत्साह होता है अत्यन्त पवित्र, कुशल, दुर्दर्श, उत्तम, अच्युत पद (निर्वाण) का साक्षात्कार करने के लिए । वर्षाकालीन सौन्दर्य के बीच ध्यानस्थ भिक्षु के इस पराक्रम को देखिये :—

नन्दन्ति मोरा सुसिखा सुपेखुणा सुनीलगीवा सुमुखा सुगज्जिनो ।
सुसद्दला चापि महा मही अयं सुब्यापितम्बु सुवलाहकं नभं ॥
सुकल्लरूपो सुमनस्स झायितं सुनिक्खमो साधु सुबुद्धसासने ।
सुसुक्कसुक्कं निपुणं सुदुद्दसं फुसाहितं उत्तममच्चुतपदं ॥[2]

छतके नीचे बैठे हुए, मित्र परिजनादि से घिरे हुए, सांसारिक मनुष्यके समान वर्षा का सौन्दर्य केवल दूर से अवलोकन करने की वस्तु भिक्षु के लिए नहीं थी ।

---

१. गाथा ३९८, मिलाइये गाथा १०७१

२. गाथाएँ २११-२१२

उसके लिए वर्षा अपने सम्पूर्ण आकर्षण और भय के साथ ही आती थी। उसके रौद्र रूप का भी वह उसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करता था जैसे उसके मधुर गीत के समान स्रवित होने का। अकेला ध्यानस्थ भिक्षु भयंकर गुफा में बैठा है। बादल बरस रहा है और आकाश में गड़गड़ा रहा है। भयंकर मूसलाधार वर्षा और आकाश में निरन्तर बिजली की गड़गड़ाहट! पर भिक्षु को भय कहाँ? निर्भयता उसका स्वभाव है, उसकी 'धम्मता' है। अतः उसे न भय है, न स्तम्भ है और न रोमांच! स्थविर सम्बुल कच्चान के अनुभव को उनके शब्दों में ही सुनिये :

देवो च वस्सति देवो च गळगळायति
एकको चाहं भेरवे बिले विहरामि।
तस्स मय्हं एककस्स भेरवे बिले विहरतो
नत्थि भयं वा छम्भितत्तं वा लोमहंसो वा॥
धम्मता ममेसा यस्स मे एककस्स
भेरवे बिले विहरतो नत्थि भयं वा
छम्भितत्तं वा लोमहंसो वा॥[1]

भिक्षुओं की वृत्ति वर्षाकालीन प्राकृतिक सौन्दर्य और विशेषतः ध्यान के लिए उसकी उपयुक्तता पर बहुत रमी है। सुन्दर ग्रीवा वाले मोरों का बोलना और एक दूसरे को बुलाना भिक्षुओं के लिए ध्यान का निमंत्रण है। शीत वायु में कलित विहार करते हुए मोर भिक्षु को ध्यान के लिए उद्बोधन करते हैं :

नीला सुगीवा मोरा कारंवियं अभिनदन्ति।
ते सीतवातकलिता सुत्तं झायं निबोधेन्ति॥[2]

इसी प्रकार सप्पक स्थविर का भी वर्षाकालीन सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त कर ध्यान के लिए बैठ जाना एक पवित्रताकारी वस्तु है। महास्थविर अपने

---

१. गाथाएँ १८९-१९०; निर्भयता-विहार के लिए देखिये स्थविर न्यग्रोध का का उद्गार भी "नाहं भयस्स भायामि सत्था नो अमतस्स कोविदो। यत्थ भयं नावतिट्ठति तेन मग्गेन वजन्ति भिक्खवो॥ गाथा २१

२. गाथा २२

प्रकृति-प्रेम और उससे उत्पन्न ध्यान की इच्छा का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

जब स्वच्छ पांडुर पंख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत हुए अपनी खोहों की खोज करते हुए उड़ते हैं। उस समय बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है!

जब स्वच्छ पांडुर पंख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत हुए अपनी खोहों की खोज करते हुए उड़ते हैं,

और उनकी खोहें वर्षा के अन्धकार से ढँकी हुई है! उस समय बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है!

इस नदी के दोनों ओर जामुन के पेड़ हैं, वहाँ मेरा मन कैसे न रमेगा? महामार्ग के पीछे, नदी के किनारे पर अन्य अनेक निर्झरिणियाँ सुशोभित है। जगे हुए मेंढ़क मृदुल नाद कर रहे हैं।

आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है।

बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी कितनी सुरम्य, शिव और क्षेमकारी है! मैं यहाँ ध्यान करूँगा।[1]

'नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो' (आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है) इस उद्गार में भिक्षु ने प्रकृति-प्रेम की उस पूरी निष्ठा को रख दिया है, जो आज तक विश्व-साहित्य में कहीं भी व्यक्त हुई है।

---

१. यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं॥
यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
परियेसतिलेन मलेन दस्सिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं॥
कन्नु तत्थ न रमेन्ति जम्बुयो उभतो तहिं, सोभेन्ति आपगा
कूलं महालेनस्स पच्छतो॥
तामतमदसं सुसुप्पहीना भेका मन्दवती पनादयन्ति
नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो,
खेमा अजकरणी सिवा सुरम्माति॥ गाथाएँ, ३०७-३१०

प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच एकान्त ध्यान करते हुए जो आनन्द प्राप्त होता है उससे अधिक आनन्द और कुछ नहीं है, ऐसा साक्ष्य देते हुए एक स्थविर साधक ने प्रभावशाली शब्दों में कहा है :

जब आकाश में मेघों की दुन्दुभी बजती है और पक्षियों के मार्गों में चारों ओर धाराकुल बादल चक्कर लगाते हैं ;

उस समय भिक्षु पहाड़ पर जाकर ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नही है ।

जब कुसुमों से आच्छादित नदियों के. . . .

किनारे पर बैठ कर सुन्दर मन वाला भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नही है ।

जब एकान्त वन में, अर्द्ध रात्रि में, बादल गड़गड़ा रहा है और शूकर दहाड़ रहे हैं,

उस समय पर्वत पर बैठा हुआ भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नही है ![1]

इसी परमानन्द को प्राप्त करने के लिए एक भिक्षु गिरिव्रज (राजगृह के समीप गृध्रकूट पर्वत) जाने का इच्छुक है ।

अहो ! कब मैं बुद्ध द्वारा प्रशंसित वन को जाऊंगा !

. . . .

योगियों को प्रसन्नताकारी मन्त, कुंजरों से सेवित,
रमणीय, उस वन में मैं कब प्रवेश करूंगा !

---

१ . यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि धाराकुला विहंगपथे समन्ततो ।
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति ततो रतिं परमतरं न विन्दति ।।
यदा नदीनं कुसुमाकुलानं. . . . .
तीरे निसिन्नो सुमनो व झायति ततो रतिं परमतरं न विन्दति ।।
यदा निसीथे रहितम्हि कानने देवे गळन्तम्हि नदन्ति दाठिनो ।
भिक्खु च पब्भारगतो' व झायति ततो रतिं परमतरं न विन्दति ।।
गाथाएँ ५२२-५२४

उस सुपुष्पित शीत वन में, गिरि और कन्दराओं में,
कब मैं अकेला चंक्रमण करूँगा।
अकेला, बिना साथी के, उस रमणीय महावन में,
एकान्त, शीतल , पुष्पों से आच्छादित पर्वत पर,
विमुक्ति-सुख से सुखी , मैं गिरिव्रज में कब विचरण करूँगा ![1]

एक दूसरे स्थविर (तालपुट) की भी इस इच्छा को देखिये :

कब मैं अकेला, बिना किसी साथी के, (गिरिव्रज के) पर्वत-कन्दराओं में ध्यान करता हुआ विचरूँगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?[2]

कब मैं एकान्त वन में विदर्शना भावना का अभ्यास करता हुआ निर्भय विचरूँगा। क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?[3]

कब मैं वन के उन मार्गों पर जिन पर ऋषि (बुद्ध) चले, चलता हूँगा, और वर्षा काल के मेघ नये जल की वृष्टि सचीवर मुझ पर करते होंगे ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?[4]

कब मैं वन और गिरिगुहाओं में कलँगीधारी मयूर पक्षियों की मधुर ध्वनि

---

१. हन्द एको गमिस्सामि अरञ्ञं बुद्धवण्णितं। गाथा ५३८
योगिपीतिकरं रम्मं मत्तकुञ्जरसेवितं।५३९
सुपुप्फिते सीतवने सीतले गिरिकन्दरे।
. . . . .चंकमिस्सामि एकको।।५४०
एकाकियो अदुतियो रमणीये महावने।५४१
चित्ते कुसुमसञ्छन्ने पब्भारे नून सीतले।
विमुत्तिसुखेन सुखितो रमिस्सामि गिरिब्बजे।।५४५

२. कदा नु हं पब्बतकन्दरासु एकाकियो अदुतियो विहस्सं। . . . . .तं मे इदं तं नु कदा भविस्सति।।१०९१

३. विपस्समानो वीतभयो विहस्सं एको वने तं नु कदा भविस्सति।।१०९३

४. कदा नु मं पावुसकालमेघो नवेन तोयेन सचीवरं मे। इसिप्पयातम्हि पथे वजन्तं ओवस्सते, तं नु कदा भविस्सति।।११०२

को सुनकर अमृत की प्राप्ति के लिए जागरूक होकर ध्यान करूँगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?[१]

फिर अपने मन को सम्बोधन कर भिक्षु कहता है :

हे चित्त ! उस गिरिव्रज में अनेक विचित्र और रंग बिरंगे पंखधारी पक्षी हैं। सुन्दर नीली ग्रीवा वाले मोर हैं। (इन्द्र के घोष को सुनकर उसका अभिनन्दन करते हुए) वे नित्य ही मंजुल ध्वनि करते हैं। हे चित्त ! जब तू ध्यानी होकर वहाँ विचरेगा तो ये तुझे कितने प्रीतिकर होंगे ![२]

नये वर्षाजल से सिक्त कानन में, किसी गुहा-गृह में ध्यान लगाते हुए[3] .... मयूर और क्रौंच के रव से पूरित उस वन में, हाथी और व्याघ्रों के सामने बसते हुए,[४] हे चित्त ! तुझ ध्यानी को ये कितने प्रीतिकर होंगे ॥[५]

एक दूसरे ध्यानी भिक्षु को भी पर्वत कितने प्रिय हैं।

करेरि-वृक्षों की पंक्तियों से आपूर्ण, मनोरम भूमिभाग वाले
कुंजरों से अभिरुद्ध, रमणीय—वे पर्वत मुझे प्रिय हैं।
नीले आकाश के समान वर्ण वाले, सुन्दर, शीतल जल
से परिपूर्ण, पवित्रताकारी

. . . .

हाथियों के शब्दों से परिपूर्ण—वे पर्वत मुझे प्रिय हैं !
मुझ ध्यानेच्छु, आत्मसंयमी, स्मृतिमान् भिक्षु के लिये पर्याप्त,
मृग समूहों से सेवित।

---

१. कदा मयूरस्स सिखण्डिनो वने दिजस्स सुत्वा गिरिगब्भरे रुतं। पच्चुट्ठहित्वा अमतस्स पत्तिया संचिन्तये तं नु कदा भविस्सति ॥११०३

२ सुनीलगीवा सुसिखा सुपेखुणा सुचित्तपत्तच्छदना विहंगमा। सुमञ्जुघोसत्थनिताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं ॥११३६

३. नवाम्बुना पावुससित्तकानने तहिं गुहागेहगतो रमिस्ससि। ११३५

४. मयूरकोञ्चाभिरुदम्हि कानने दीपीहि ब्यग्घेहि पुरक्खतो वसं। ११११

५. ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं।११३६ आदि

अनेक पक्षि-समूहों से आकीर्ण—वे पर्वत मुझे प्रिय हैं[1]।

शीतकाल का पूरा अनुभव लेते हुए भी ध्यानी भिक्षुओं को हम 'थेरगाथा' में देखते हैं :

हेमन्त की शीतल काल रात्रि है !

खाल को भी पार करने वाली, मन को भी विदीर्ण करने वाली, ठंढी हवा है !

भिक्षु ! तू कैसे करेगा ?

मैंने सुना है मगध निवासी लोग शस्यों की पूर्णता से सम्पन्न हैं। उनका जीवन सुखी है। मैं भी उनके समान सुख अनुभव करता हूँ।

शीत की यह रात मैं इस पुआल-पुंज में लेटकर बिताऊँगा।[2]

इसी प्रकार एक दूसरे भिक्षु ने 'चारों ओर मनोरम द्रुम फूले हुए हैं' (दुमानि फुल्लानि मनोरमानि—गाथा ५२८) आदि रूप से वसन्त ऋतु का वर्णन कर[3] 'कालो इतो पक्कमनाय वीर' (हे वीर ! यह प्रक्रमण करने का समय है) इस प्रकार ध्यानमयी प्रेरणा दी है।

भगवान् ने मध्य रात्रि में उठ कर बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने का

---

१. करेरिमालावितता भूमिभागा मनोरमा। कुञ्जराभिरुद्धा ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६२

नीलब्भवण्णा रुचिरा वारिसीता सुचिन्धरा ।१०६३

वारणाभिरुदा ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६४

अलं झायितुकामस्स पहितत्तस्स मे सतो ।१०६६

........मिगसंघनिसेविता ।

नानादिजगणाकिण्णा ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६९

२. छविपापक चित्तभद्दक......हेमन्तिक सीतकालरत्तियो भिक्खु त्वं सि कथं करिस्ससि ॥सम्पन्नसस्सा मगधा केवला इति मे सुतं। पलालच्छन्नको सेय्यं यथञ्ञे सुखजीविनो ॥२०७—२०८

३. वसन्त ऋतु के सुन्दर वर्णन के लिए देखिये थेरीगाथा, गाथाएँ २७१-२७२ आदि भी।

आदेश दिया है। भिक्षु की रात्रि ध्यान करने के लिए है। एक भिक्षु का कहना है :

न ताव सुपितं होति रत्ति नक्खत्तमालिनी।
पटिजग्गितुमेवेसा रत्ति होति विजानता ।।[१]

यह ताराओं से भरी रात सोने के लिए नहीं है। ज्ञानी के लिए यह रात जाग कर ध्यान करने के लिए है।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशेषतः वन्य और पार्वत्य प्रकृति के अनेक सुन्दर संश्लिष्ट चित्र हमें 'थेरगाथा' में मिलते हैं। वेस्सन्तर जातक (संख्या ५४७) में भी हमें ऐसे अनेक चित्र मिलते हैं। महर्षि वाल्मीकि को छोड़कर ऐसे संश्लिष्ट वर्णन किसी प्राचीन या अर्वाचीन भारतीय कवि ने नहीं किये हैं। जितना शम और विराग इन प्राकृतिक वर्णनों में 'थेरगाथा' मे मिलता है, उतना अन्य किसी काव्य में नहीं । विश्व-साहित्य में प्रकृति का वर्णन अधिकतर कवियों ने राग के उद्दीपन की दृष्टि से ही किया है। वाल्मीकि के समान उदात्त वर्णन करने वाले कवि बहुत कम हैं। हिन्दी के कवियों ने प्रायः संस्कृत के उत्तर-कालीन कवियों का अनुसरण कर प्रकृति को शृंगार रस के उद्दीपन के रूप में ही चित्रित किया है। आधुनिक कवि और साधकों को वाल्मीकि की ओर देखने के साथ-साथ रागशमनकारी 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णनों की ओर भी देखना चाहिये।

'थेरीगाथा', जैसा अभी कहा गया, ५२२ पालि श्लोकों (गाथाओं) का संग्रह है जिसमें ७३ वृद्ध बौद्ध भिक्षुणियों के उद्गार सन्निहित हैं। अत्यन्त संगीतात्मक भाषा में, आत्माभिव्यञ्जनात्मक गीतिकाव्य की शैली के आधार पर अपने जीवनानुभवों को व्यक्त करते हुए यहाँ बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन-काव्य को गाया है। नैतिक सच्चाई, भावनाओं की गहनता और सब से बढ़कर एक अपराजित वैयक्तिक ध्वनि, इन गीतों की मुख्य विशेषताएँ हैं। निर्वाण की परम शान्ति से भिक्षुणियों के उद्गारों का एक एक शब्द उच्छ्वसित है। यहाँ संगीत

---

१. गाथा १९३

२. मिलाइये, "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" गीता २।६९

भी है और जीवन का सच्चा दर्शन भी। निर्वाण की परम शान्ति का वर्णन करते हुए भिक्षुणियाँ कभी थकती नहीं। जीवन की विषमताओं पर वे अपनी विजय का ही गीत गाती हैं। "अहो! मैं कितनी सुखी हूँ!" यही उनके उद्‌गारों की प्रतिनिधि ध्वनि है। बार बार उनका यही प्रसन्न उद्‌गार होता है "सीतिभूतम्हि निब्बुता" अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर मैं परम शान्त हो गई, निर्वाण की परम-शान्ति का मैंने साक्षात्कार कर लिया। भिक्षुणियों की गाथाओं में निराशावाद का निराकरण है, साधनालब्ध इन्द्रियातीत सुख का साक्ष्य है और नैतिक ध्येयवाद की प्रतिष्ठा है। बुद्ध-शासन की भावना से ओतप्रोत हैं, यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं। 'थेरीगाथा' की भावना-शैली से परिचित होने के लिये महाप्रजापती गोतमी की भगवान् बुद्ध के प्रति यह श्रद्धाञ्जलि देखिये—

हे बुद्ध! हे वीर! हे सर्वोत्तम प्राणी! तुम्हें नमस्कार!
जिसने मुझे और अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से उबारा।
मेरे सब दुःख दूर हो गये, उनके मूल कारण वासना का भी उच्छेदन कर दिया गया!
आज मैंने दुःखनिरोध-गामी आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग में विचरण किया।
माता, पुत्र, पिता, भाई, स्वामिनी, मैं पूर्व जन्मों में अनेक बार बनती रही!
यथार्थ ज्ञान न होने के कारण मैं लगातार संसार में घूमती रही! अब मैंने इस जन्म में उन भगवान् (बुद्ध) के दर्शन किये, मुझे अनुभव हुआ—यह मेरा अन्तिम शरीर है!
मेरा आवागमन क्षीण हो गया, अब मेरा फिर जन्म होना नहीं है।

. . . .

बहुतों के हित के लिये ही महामाया ने गोतम को जाना!
जिसने व्याधि और मरण से आकुल जन-समूह के दुःख-पुंज को काट दिया!

एक अन्य भिक्षुणी (चन्दा) अपने पूर्व के दुःख-मय जीवन का प्रत्यवेक्षण करती हुई कहती है—

विधवा और निःसन्तान—मैं पहले बड़ी मुसीबत में पड़ी थी,
मित्र-साथी मेरे कोई नहीं थे, जाति-बन्धु मेरे कोई नहीं थे!
भोजन और वस्त्र भी मैं नहीं पाती थी!

लकड़ी और भिक्षापात्र लेकर घर से घर भिक्षा माँगती फिरती थी,
गर्मी और सर्दी से व्याकुल हुई, मैं सात वर्ष तक इसी प्रकार घूमती रही,
एक दिन एक भिक्षुणी के दर्शन मुझे हुए,
उसने आदरपूर्वक भोजन और जल देकर मुझे अनुगृहीत किया,
फिर मैंने उसके पास जाकर प्रार्थना की—
मैं प्रव्रज्या लूंगी।
उस दयामयी पटाचारा ने मुझे अनुकम्पापूर्वक प्रव्रज्या दी।
फिर मुझे धर्मोपदेश देकर उसने मुझे परमार्थ में लगाया।
उसके उपदेश को सुनने के बाद मैंने उसके अनुशासन को पूरा किया।
अहो! अमोघ था देवी का उपदेश!
मैं आज तीनों विद्याओं को जानने वाली हूँ, सम्पूर्ण चित्त-मलों से रहित हूँ!

पटाचारा भिक्षुणी की शिष्या तीस भिक्षुणियाँ किस प्रकार उसके प्रति अपनी कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करती हैं, यह उनके उद्गारों में देखिये—

"लोग मुसलों से अन्न कूट कूट कर वित्तार्जन करते और अपने स्त्री-पुत्रादि का पालन करते हैं।'
तो फिर तुम भी बुद्ध-शासन को पूरा क्यों नहीं करतीं,
जिसे कर के पछताना नहीं होता!
अभी शीघ्र पैर धोकर बैठ जाओ,
चित्त की एकाग्रता से युक्त होकर बुद्ध-शासन को पूरा करो।"

पटाचारा के शासन के इन इन शब्दों को सुनकर हम सब पैर धोकर एकान्त में ध्यान के लिये बैठ गईं।

चित्त की समाधि से युक्त होकर हमने बुद्ध-शासन को पूरा किया?
रात्रि के प्रथम याम में हमने पूर्व-जन्मों का स्मरण किया!
रात्रि के मध्यम भाग में हम ने दिव्य चक्षुओं को विशोधित किया! रात्रि के अन्तिम भाग में अन्धकार-पुंज को विनष्ट कर दिया।

भिक्षुणी अम्बपाली ने अपनी वृद्धावस्था में अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण कर जो उद्गार किये हैं, वे तो पालि-काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण ही हैं। अम्बपाली अपने जीर्ण शरीर को देख कर कहती है—

किसी समय भौंरे के समान कृष्ण वर्ण और घना मेरा केशपाश और सघन उपवन सी मेरी यह वेणी, पुष्पाभरणों और स्वर्णालंकारों से सुगंधित और सुशोभित रहा करती थी, वही आज जरावस्था में श्वेत, गन्धपूर्ण, बिखरी हुई, जीर्ण सन के वस्त्रों जैसी झर रही है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन मिथ्या नहीं होते !

गाढ़ नील मणियों से समुज्ज्वल, ज्योतिपूर्ण नेत्र आज शोभा विहीन हैं !

नवयौवन के समय सुदीर्घ नासिका, कर्णद्वय और कदली-मुकुल के सदृश पूर्व की दन्तपंक्ति क्रमशः ढुलकती और भग्न होती जा रही है।

वनवासिनी कोकिला के समान मेरा मधुर स्वर और चिकने शङ्ख की भाँति सुघड़ ग्रीवा आज कम्पित हो रही है।

स्वर्ण-मंडित उँगलियाँ आज अशक्त एवं मेरे उन्नत स्तन आज ढुलकते शुष्क चर्म मात्र हैं।

स्वर्ण नूपुरों से सुशोभित पैरों और कटि-प्रदेश की गति आज श्री-विहीन है। आदि

प्रायः सभी भिक्षुणियों के उद्‌गारों में काव्यगत विशेषताएँ भरी पड़ी हैं, जिनका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता। निश्चय ही भिक्षुणियों के उद्‌गारों की मार्मिकता और उनकी शान्त, गम्भीर ध्वनि भारतीय साहित्य में अद्वितीय है और पालि-काव्य की तो वह अमूल्य सम्पत्ति ही है। जिन ७३ भिक्षुणियों के उद्‌गार 'थेरीगाथा' में सन्निहित हैं, वे सभी बुद्धकालीन हैं। बल्कि यों कहना चाहिये, वे सभी भगवान् बुद्ध की शिष्याएँ है। नारी जाति के प्रति भगवान् की कितनी अनुकम्पा थी, यह इसी से समझा जा सकता है कि उनमें से अनेक अपने को 'बुद्ध की हृदय से उत्पन्न कन्या' (ओरसा धीता बुद्धस्स) कह कर अभिनन्दित करती थीं[1]। वे मानती थीं कि 'जब चित्त सुसमाहित है, तो स्त्री-भाव इसमें हमारा क्या करेगा (इत्थिभावो नो

---

१. देखिये गाथाएँ ४६ एवं १३६

किं कयिरा चित्तम्हि सुसमाहिते (गाथा ६१)। फलतः निर्वाण-प्राप्ति में उनका अधिकार था और उसे प्राप्त भी उन्होंने किया था, जिसके साक्ष्य-स्वरूप उन्होंने अपने उद्गार भी किये हैं। महाराज शुद्धोदन की मृत्यु के उपरान्त भगवान् बुद्ध ने अपनी विमाता महाप्रजापती गोतमी को भिक्षुणी होने की अनुमति दे दी थी। उसके साथ पाँच सौ अन्य शाक्य-महिलाएँ भी प्रव्रजित हुई थीं। कालान्तर में भिक्षुणियों का एक अलग संघ ही बन गया था और नाना कुलों और नाना जीवन की अवस्थाओं से प्रव्रजित होकर उन्होंने शाक्य-मुनि के पाद-मूल में बैठकर साधना का मार्ग स्वीकार किया था। इन्हीं में से कुछ भिक्षुणियाँ अपने जीवनानुभवों को हमारे लिये छोड़ गई हैं जो 'थेरीगाथा' के रूप में आज हमारे लिये उपलब्ध है। किस उद्देश्य से, किन कारणों से, किस सामाजिक परिस्थिति में, प्रत्येक भिक्षुणी ने बुद्ध, धम्म और संघ की शरण ली थी, इसका विस्तृत विवरण तो 'थेरीगाथा' की अर्थकथा 'परमत्थदीपनी' में उपलब्ध है, जो पाँचवीं शताब्दी ईसवी की रचना है। इसी के आधार पर यहाँ संक्षेप में यह दिखाया जा सकता है कि किन नाना कारणों से इन भिक्षुणियों ने घर को छोड़कर प्रव्रज्या ली। इनमें से कुछ, जैसे मुक्ता (२) और पूर्णा (३) अपनी ज्ञान-सम्पत्ति की पूर्णता के कारण प्रव्रजित हुईं। कुछ ने घर के काम काज और दोषों से ऊब कर प्रव्रज्या ली, जैसे मुक्ता (११) गुप्ता (५६) और शुभा (७०)। धम्मदिन्ना (१६) ने पति की विरक्ति के कारण प्रव्रज्या ली। धम्मा (१७) मैत्रिका (२४) दन्तिका (३२) सिंहा (४०) सुजाता (५३) पूर्णिका (६५) रोहिणी (६७) शुभा (७१) चित्रा (२३) शुक्ला (३४) अम्बपाली (६६) अनोपमा (५४) तथा शोभा (२८) ने शास्ता में श्रद्धा के कारण प्रव्रज्या ली। प्रियजनों की मृत्यु और उनके विरह के कारण प्रव्रज्या लेने वाली भिक्षुणियों में श्यामा (३६) उब्बिरी (३३) किसा गोतमी (६३) वासेट्ठी (५१) सुन्दरी-नन्दा (४१) चन्दा (४९) पटाचारा (४७) तथा महाप्रजापती गोतमी हैं। पुत्रों की अकृतज्ञता सोणा (४५) की प्रव्रज्या का कारण हुई। भद्रा कुंडलकेशा और ऋषिदासी ने अकृतज्ञ, धूर्त पतियों के कारण प्रव्रज्या ली। पति का अनुसरण कर भद्रा कापिलायिनी और चापा प्रव्रजित हुईं। इसी प्रकार भाई (सारिपुत्र) का अनुसरण कर चाला, उपचाला और शिशूपचाला प्रव्रजित हो गईं।

बुद्ध-शिष्य को पराजित न कर सकने पर विमला प्रव्रजित हो गई। जहाँ तक इन भिक्षुणियों के वंश या सामाजिक कुल-शील आदि का सम्बन्ध है, ये प्रायः सभी परिस्थितियों की थीं। उदाहरणतः खेमा, सुमना, शैला और सुमेधा कोशल और मगध के राजवंशों की महिलाएँ थीं। महाप्रजापती गोतमी, तिष्या, अभिरूपानन्दा, सुन्दरी नन्दा, जेन्ती, सिंहा, तिष्या, धीरा, मित्रा, भद्रा, उपशमा और अन्यतरा स्थविरी, शाक्य और लिच्छवि आदि सामन्तों की लड़कियाँ थीं। मैत्रिका, अन्यतरा उत्तमा, चाला, उपचाला, शिशूपचाला, रोहिणी, सुन्दरी, शुभा, भद्रा कापिलायिनी, मुक्ता, नन्दा, सकुला, चन्दा, गुप्ता, दन्तिका और शोभा ब्राह्मण-वंश की थी। गृहपति और वैश्य (सेट) वर्ग की महिलाओं में पूर्णा, चित्रा, श्यामा, उर्विरी, शुक्ला, धम्मदिन्ना, उत्तमा, भद्रा कुंडलकेशा, पटाचारा, सुजाता, अनोपमा और पूर्णिका थीं। अड्ढकासी, अभय माता, विमला और अम्बपाली जैसी गणिकाएँ थीं। इसी प्रकार शुभा बढ़ई की पुत्री और चापा एक बहेलिये की लड़की थी। सारांश यह कि अनेक कुल-शीलों से स्त्रियों ने बुद्ध-शासन में दीक्षा ग्रहण की थी। 'थेरीगाथा' में सन्निहित इनके उद्‌गारों और उनमें प्रतिध्वनित इनकी पूर्व जीवन-चर्याओं से पाँचवीं-छठीं शताब्दी ईस्वी पूर्व के भारतीय समाज में नारी के स्थान पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। परन्तु 'थेरीगाथा' का मुख्य आकर्षण तो उसकी काव्य और साधना की भूमि ही है, जिसके विषय में पीछे काफी कहा जा चुका है।

हम देखते हैं कि प्रकृति-वर्णन की ओर जितनी प्रवृत्ति भिक्षुओं की है, उतनी भिक्षुणियों की नहीं। 'थेरीगाथा' में केवल शुभा भिक्षुणी की गाथाओं में वसन्त का वर्णन है। वह अत्यन्त सुन्दर, संश्लिष्ट और सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित है। पर उसका लक्ष्य वहाँ केवल पृष्ठभूमि को तैयार कर देना है। शुभा भिक्षुणी अपनी आँख को अश्रुजल-सिंचित जल-बुद्‌बुद् मात्र कहती है। बाद में निर्विकार भाव से उसे निकाल कर कामी पुरुष को दे देती है। इसके प्रभाव में तीव्रता लाने के लिए ही यहाँ पृष्ठभूमि रूप में वसन्त का वर्णन किया गया है। वसन्त की शोभा काव्य का सत्य है, आँख का वर्णन विज्ञान का सत्य है। इन दो सत्यों को इतने सुन्दर ढंग से आमने-सामने रख कर काव्य में कभी वर्णन नहीं किया गया। भिक्षुणियों की प्रवृत्ति अपने आन्तरिक अनुभव के वर्णन

के साथ-साथ अपने पूर्व आश्रम के जीवन की अवस्थाओं के वर्णन की ओर ही अधिक है। भिक्षुओं में तो शीलव और जयन्त पुरोहित-पुत्र आदि कुछ-एक भिक्षुओं ने ही हमें अपने पूर्व जीवन से परिचित कराया है। बाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक अनुभव के प्रकाशन पर ही उनका ध्यान अधिक है, और उस अनुभव में इतना साम्य है कि कहीं-कहीं न केवल भिक्षुओं के उद्गारों की भाषा ही समान है, बल्कि वे कई जगह व्यक्ति के प्रतिनिधि न होकर वर्ग (भिक्षु-वर्ग) के ही प्रतिनिधि हो गये है। इसके विपरीत भिक्षुणियों के उद्गारों में व्यक्तिगत विशिष्टता की पूरी ध्वनि विद्यमान है। उन्होंने अपने पारिवारिक और सामाजिक जीवन के विषय में हमें बहुत कुछ बतलाया है। अपने पूर्व जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि के बारे में भी उन्होंने बहुत कुछ कहा है। इस प्रकार अपने गृहस्थ-जीवन के झंझटों की ओर संकेत मुक्ता, गुप्ता और शुभा भिक्षुणियां ने किया है। उब्बिरी, किसा गोतमी और वाशिष्ठी भिक्षुणियों के वचनों में उनके सन्तान-वियोग की पूरी झलक है। सुन्दरी नन्दा और चन्द्रा ने पति आदि सम्बन्धियों की मृत्यु से प्रव्रज्या प्राप्त की, इसकी सूचना है। पटाचारा के शब्दों मे उसके करुण जीवन की सारी गाथा छिपी हुई पड़ी है। भिक्षुणियों की अनेक गाथाएँ (११; २५-२६; ३५-३८; ६१; ७२-८१; ९१-१०१; १०७-१११; १५७-१५८, आदि, आदि) 'अहं' से ही प्रारम्भ होती है और उनकी आन्तरिक ध्वनि भी अपनी विशिष्टता लिए हुए है।

जहाँ तक विचार और काव्यगत सौन्दर्य का सम्बन्ध है, थेरगाथा और थेरीगाथा में अनेक समानताएँ है। जिस प्रकार भिक्षुओं ने अशुभ की भावना की है उसी प्रकार भिक्षुणियों ने भी। "आज मेरी भव-बेड़ी कट गई! 'मेरे हृदय में बिंधा तीर निकल गया, 'तृष्णा की लौ सदा के लिए बुझ गई!' 'मै सब मलों से विमुक्त हूँ' 'अब मैं सर्वथा शान्त हूँ, निष्पाप हूँ' आदि भिक्षुणियों के उद्गार अपना गम्भीर और शान्त प्रभाव लिए हुए हैं और मानव-मन को पवित्रता की उच्च भूमि में ले जाते है। पटाचारा का यह उपदेश-वाक्य 'बुद्ध-शासन को पूरा करो, जिसे करके पछताना नहीं होता। अभी शीघ्र पैर धोकर एकान्त (ध्यान) में बैठ जाओ" कितना प्रेरणादायक है! भिक्षुणियों को जीवित विश्वास था कि वे निर्वाण का साक्षात्कार कर सकती हैं। स्त्री-भाव की अशक्तता दिखाई

जाने पर एक भिक्षुणी (सोमा) आत्मविश्वासपूर्वक कह उठती है "जब चित्त अच्छी प्रकार समाधि में स्थित है, जीवन नित्य ज्ञान में विद्यमान है, अन्तर्ज्ञान पूर्वक धर्म का सम्यक् दर्शन कर लिया गया है, तो स्त्री-भाव इसमें हमारा क्या करेगा?" 'थेरीगाथा' में नाटकीय तत्त्व की कमी नही है और अनेक महत्त्व पूर्ण संवाद हैं। रोहिणी और उसके पिता का संवाद (२७१-२९०) सुन्दरी, उसकी माता और सारथी का संवाद (३१२-३३७) चापा और उसके पति का संवाद (२९१-३११) शैला और मार का संवाद, (५७-५९) चाला और मार का संवाद (१८२-१९५) शिशूपचाला और मार का संवाद (१९६-२०३), उत्पलवर्णा और मार का का संवाद (२२४-२३५) बड्ढमाता और उसके पुत्र का संवाद (२०४-२१२) आदि नाटकीय गति से परिपूर्ण है। पनिहारिन के रूप में पूर्णा ने अपने पूर्व जीवन का जो परिचय दिया है, वह अपनी करुणा लिए हुए है। अम्बपाली की गाथाओं में अनित्यता का चित्रण गीतिकाव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ हुआ है। सुन्दरी की गाथाओं (३१२-३३७) और शुभा की गाथाओं (३६६-३९९) को विन्टर-नित्ज ने सुन्दर आख्यान-गीति कहा है[1]।

थेर और थेरीगाथाएँ क्रमशः उन भिक्षु और भिक्षुणियों की रचनाएं हैं, जिनके नामों से वे सम्बन्धित हैं। जर्मन विद्वान् के.ई. न्यूमनने उन पर एकमनुष्य के मन की छाप देखी है।[2] बौद्धधर्म की प्रभाव-समष्टि के कारण, जो स्वभावतः ही इन साधक और साधिकाओं के अनुभव-सिद्ध वचनों मे होनी चाहिये, न्यूमन को यह भ्रम हो गया है। विन्टरनित्ज ने न्यूमन के मत से सहमति तो नहीं दिखाई पर कुछ भिक्षुओं की रचनाओं मे भिक्षुणियों की रचनाएँ और इसी प्रकार कुछ भिक्षुणियों की रचनाओं में भिक्षुओं की रचनाएँ सम्मिलित हो गई हैं, ऐसा उन्होंने माना है।[3] वस्तुतः बात यह है कि गाथाओं का संकलन विषय-क्रम से न होकर गाथाओं की

---

१. इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०८-१०९

२. देखिये विन्टर नित्ज, इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०२, पद-संकेत १

३. इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०१

संख्या के क्रम से है, जो कृत्रिम है। फिर संकलन में भी कहीं कुछ कमियाँ रह ही गई हैं। स्थविरिणियों के साथ पुरुषों के संवाद भी 'थेरीगाथा' में कहीं कहीं पाये जाते ही हैं। दोनों की कथा भी कहीं कहीं मिलती दिखाई देती है। उदाहरणार्थ थेरीगाथा (२०४-२१२) में वड्ढ की माता उसे ज्ञान-मार्ग पर लगाती है और थेरगाथा (३३५-३३९) में वह उसे धन्यवाद देता है। जिस प्रकार तीन टेढ़ी वस्तुओं (हँसिया, हल और कुदाल) से मुक्ति पाकर भिक्षु प्रसन्न है[1] उसी प्रकार ओखल से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से मुक्ति पाकर भिक्षुणी प्रसन्न है।[2] इसी प्रकार के वर्णनों से विन्टरनित्ज़ को गाथाओं के सम्मिलित होने का भ्रम हो गया है। गाथाओं के संकलन में भले ही कहीं कोई प्रमाद हो, पर थेर और थेरी गाथाओं को मूलतः उन भिक्षु और भिक्षुणियों की रचनाएँ ही माना जा सकता है, जिनके नामों से वे सम्बन्धित हैं।

जातक[3]

जातक खुद्दक-निकाय का दसवाँ प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जातक को वस्तुतः ग्रन्थ न कह कर ग्रन्थ-समूह ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। जैसा हम आगे देखेंगे,

---

१. असितासु मया नंगलासु मया खुद्दकुद्दालासु मया। गाथा ४३ (थेरगाथा)

२. उदुक्खलेन मुसलेन पतिना खुज्जकेन च। गाथा ११ (थेरीगाथा)

३. भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने जातक का हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, से वह तीन भागों में प्रकाशित हो चुका है। जातक (प्रथम खंड), १९४१; जातक (द्वितीय खंड) १९४२; जातक (तृतीय खंड) १९४६। प्रथम खंड में जातक-संख्या १–१००; द्वितीय खंड में जातक-संख्या १०१–२५० और तृतीय खंड में जातक-संख्या २५१–४०० अनुवादित हैं। चतुर्थ खंड प्रेस में है। राय साहब ईशानचन्द्र घोष का बँगला अनुवाद प्रसिद्ध है। अँग्रेजी में कॉवल के सम्पादकत्व में ६ जिल्दों में जातक का अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। सातवीं जिल्द में अनुक्रमणी है। कॉवल के अतिरिक्त चामर्स आदि अन्य चार विद्वानों ने इस अनुवाद-कार्य में भाग लिया है। जातक का यह सम्पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद केम्ब्रिज से १८९५–१९१३ में प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने जातक के कुछ अंशों का अनुवाद भी

उसका कोई-कोई कथानक पूरे ग्रन्थ के रूप में है और कहीं-कहीं उसकी कहानियों का रूप संक्षिप्त महाकाव्य का सा है। 'जातक' शब्द का अर्थ है 'जात' अर्थात् जन्म-सम्बन्धी। 'जातक' भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्म सम्बन्धी कथाएँ है। बुद्धत्व प्राप्त कर लेने की अवस्था से पूर्व भगवान् बुद्ध 'बोधिसत्व' कहलाते हैं। वे उस समय बुद्धत्व के लिए उम्मेदवार होते हैं, और दान, शील, मैत्री, सत्य आदि दस पारमिताओं अथवा परिपूर्णताओं का अभ्यास करते हैं। भूत-दया के लिए वे अपने प्राणों का अनेक बार बलिदान करते हैं। इस प्रकार वे बुद्धत्व की योग्यता का सम्पादन करते हैं। 'बोधिसत्व' शब्द का अर्थ ही है बोधि के लिए उद्योगशील प्राणी (सत्व)। बोधि के लिए है सत्व (सार) जिसका, ऐसा अर्थ भी कुछ विद्वानों

किया है। इनमें रायस डेविड्स का 'बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज', जो सन् १८८० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था, अति प्रसिद्ध है। इसमें जातक-संख्या १–४० अनुवादित है। सम्पूर्ण जातक का जर्मन अनुवाद भी हो चुका है (लीपज़िग, १९०८)। फॉसबाल का रोमन लिपि में जातक का संस्करण एक महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक कार्य है। यह भी ६ जिल्दों में है और सातवीं जिल्द में अनुक्रमणी है (लन्दन, १८७७–१८९७)। सिआमी राजवंश की दो श्रद्धालु रानियों के द्वारा सन् १९२५ में १० जिल्दों में जातक का सिआमी लिपि में सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया जा चुका है। सिंहली लिपि में हेवावितरणे निधि की की ओर से प्रकाशित संस्करण वैज्ञानिक सम्पादन-कला का एक सुन्दर नमूना है। 'जातक' के अनेक बरमी संस्करण भी उपलब्ध हैं। यह खेद है कि नागरी लिपि में अभी जातक का कोई संस्करण नहीं निकला। अंग्रेजी में तथा अन्य अनेक यूरोपीय भाषाओं में तो 'जातक' पर प्रभूत विवेचनात्मक साहित्य भी लिखा गया है। इसके अतिपय परिचय के लिए देखिये, विन्टरनित्ज़, इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११६, पद-संकेत ३, तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड ईथिक्स, जिल्द सातवीं, पृष्ठ ४९१ से आगे उन्हीं का जातक सम्बन्धी विवरण; रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १८९; गायगरः पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३०, पद संकेत २ एवं ३; लाहा : पालि लिटरेचर, जिल्द पहली , पृष्ठ २७६-७७, आदि, आदि

ने किया है।[१] पालि सुत्तों में हम अनेक बार पढ़ते हैं "सम्बोधि प्राप्त होने से पहले, बुद्ध न होने के समय, जब मैं बोधिसत्व ही था "[२] आदि। अतः बोधिसत्व से स्पष्ट तात्पर्य ज्ञान, सत्य, दया आदि का अभ्यास करने वाले उस साधक से है, जिसका आगे चलकर बुद्ध होना निश्चित है। भगवान् बुद्ध भी न केवल अपने अन्तिम जन्म में बुद्धत्व-प्राप्ति की अवस्था से पूर्व बोधिसत्व रहे थे, बल्कि अपने अनेक पूर्व जन्मों में भी बोधिसत्व की चर्या का उन्होंने पालन किया था। 'जातक' की कथाएँ भगवान् बुद्ध के इन विभिन्न पूर्व-जन्मों से, जब कि वे 'बोधिसत्व' रहे थे, सम्बन्धित हैं। किसी-किसी कहानी में वे प्रधान पात्र के रूप में चित्रित हैं। कहानी के वे स्वयं नायक हैं। कहीं-कहीं उनका स्थान एक साधारण पात्र के रूप में गौण है और कहीं कहीं वे एक दर्शक के रूप में भी चित्रित किये गए हैं। प्रायः प्रत्येक कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है "एक समय (राजा ब्रह्मदत्त के वाराणसी में राज्य करते समय) बोधिसत्व कुरङ्ग मृग की योनि में उत्पन्न हुए"[3] अथवा "......सिन्धु पार के घोड़ों के कुल में उत्पन्न हुए"[४] अथवा "....बोधिसत्व उसके (ब्रह्मदत्त के) अमात्य थे।"[५] अथवा "..... बोधिसत्व गोह की योनि में उत्पन्न हुए"[६] आदि, आदि।

जातकों की निश्चित संख्या कितनी है, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। लंका, बरमा, और सिआम में प्रचलित परम्परा के अनुसार जातक ५५० हैं। यह संख्या मोटे तौर पर ही निश्चित की गई जान पड़ती है। जातक के वर्तमान रूप में ५४७ या ५४८ जातक-कहानियाँ पाई जाती हैं। पर यह संख्या भी केवल ऊपरी है। कई कहानियाँ अल्प रूपान्तर के साथ दो जगह भी पाई जाती हैं या एक दूसरे में समाविष्ट भी कर दी गई है, और इसी प्रकार कई जातक-

---

१. विन्टरनित्ज—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११३, पद-संकेत २
२. भय-भेरव सुत्तन्त (मज्झिम १।१।४)
३. कुरुंगमिग जातक (२१)
४. भोजाजानीय जातक (२३)
५. अभिण्ह जातक (२७)
६. गोध जातक (३२५)

कथाएँ सुत्त-पिटक, विनय-पिटक तथा अन्य पालि ग्रन्थों में तो पाई जाती हैं, किन्तु 'जातक' के वर्तमान रूप में संगृहीत नहीं हैं। अतः जातकों की संख्या में काफी कमी की भी और वृद्धि की भी सम्भावना है। उदाहरणतः, मुनिक जातक (३०) और सालूक जातक (२८६) की कथावस्तु एक ही सी है, किन्तु केवल भिन्न-भिन्न नामों से वह दो जगह आई है। इसके विपरीत 'मुनिक जातक' नाम के दो जातक होते हुए भी उनकी कथा भिन्न-भिन्न है। कहीं-कहीं दो स्वतंत्र जातकों को मिला कर एक तीसरे जातक का निर्माण कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, पञ्चपंडित जातक (५०८) और दकरक्खस जातक (५१७) ये दोनों जातक महाउम्मग्ग जातक (५४६) में अन्तर्भावित हैं। जो कथाएँ जातक-कथा के रूप में अन्यत्र पाई जाती हैं, किन्तु 'जातक' में संगृहीत नहीं हैं, उनका भी कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। मज्झिम-निकाय का घटिकार सुत्तन्त (२।४।१) एक ऐसी ही जातक-कहानी है, जो 'जातक' में नहीं मिलती। इसी प्रकार दीघ-निकाय का महागोविन्द सुत्तन्त (२।६) जो स्वयं 'जातक' की निदान-कथा में भी 'महागोविन्द-जातक' के नाम से निर्दिष्ट हुआ है, 'जातक' के अन्दर नहीं पाया जाता। इसी प्रकार धम्मपदट्ठकथा और मिलिन्दपञ्ह में भी कुछ ऐसी जातक-कथाएँ उद्धृत की गई हैं, जो 'जातक' में संगृहीत नहीं हैं।[1] अतः कुल जातक निश्चित रूप से कितने हैं, इसका ठीक निर्णय नहीं हो सकता। जब हम जातकों की संख्या के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो 'जातक' से हमारा तात्पर्य एक विशेष शीर्षक वाली कहानी से होता है, जिसमें बोधिसत्व के जीवन-सम्बन्धी किसी घटना का वर्णन हो, फिर चाहे उस एक 'जातक' में कितनी ही अवान्तर कथाएँ क्यों न गूँथ दी गई हों। यदि कुल कहानियाँ गिनी जायँ तो 'जातक' में करीब तीन हजार कहानियाँ पाई जाती हैं।[2] वास्तव में जातकों का संकलन सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के आधार पर किया गया है। सुत्त-पिटक में अनेक ऐसी कथाएँ हैं जिनका उपयोग वहाँ उपदेश देने के लिए किया गया है। किन्तु बोधिसत्व का उल्लेख उनमें नहीं है। यह काम बाद में करके प्रत्येक कहानी को जातक का

---

१. विन्टरनित्ज—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११५, पद-संकेत ४

२. देखिये जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २१ (वस्तुकथा)

रूप दे दिया गया है। तित्तिर जातक (३४) और दीघित कोसल जातक (३७१) का निर्माण इसी प्रकार विनय-पिटक के क्रमशः चुल्लवग्ग और महावग्ग से किया गया है। मणिकंठ जातक (२५३) भी विनय-पिटक पर ही आधारित है। इसी प्रकार दीघ-निकाय के कूटदन्त-सुत्तन्त (१।५) और महासुदस्सन सुत्तन्त (२।४) तथा मज्झिम-निकाय के मखादेव-सुत्तन्त (२।४।३) भी पूरे अर्थों में जातक हैं। कम से कम १३ जातकों की खोज विद्वानों ने सुत्त-पिटक और विनय-पिटक में की है।[1] यद्यपि राज-कथा, चोर-कथा, एवं इसी प्रकार की भय, युद्ध, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पनघट, भूत-प्रेत आदि सम्बन्धी कथाओं को 'तिरश्चीन' (व्यर्थ की, अधम) कथाएँ कह कर भिक्षु-संघ में हेयता की दृष्टि से देखा जाता था,[2] फिर भी उपदेश के लिए कथाओं का उपयोग भिक्षु लोग कुछ-न-कुछ मात्रा में करते ही थे। स्वयं भगवान् ने भी उपमाओं के द्वारा धर्म का उपदेश दिया है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर जातक-कथाओं का विकास हुआ है। जन-समाज में प्रचलित कथाओं को भी कहीं-कहीं ले लिया गया है, किन्तु उन्हें एक नया नैतिक रूप दे दिया गया है जो बौद्ध धर्म की एक विशेषता है। अतः सभी जातक कथाओं पर बौद्ध धर्म की पूरी छाप है। पूर्व परम्परा से चली आती हुई जनश्रुतियों का आधार उनमें हो सकता है। पर उसका सम्पूर्ण ढाँचा बौद्ध धर्म के नैतिक आदर्श के अनुकूल है। हम पहले देख चुके हैं कि बुद्ध-वचनों का नौ अंगों में विभाजन, जिनमें जातक की संख्या सातवी है, अत्यन्त प्राचीन है।[3] अतः जातक कथाएँ सर्वांश में पालि साहित्य के महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग हैं। उनकी संख्या के विषय में अनिश्चितता विशेषतः उनके समय-समय पर सुत्त-पिटक और विनय-पिटक तथा अन्य स्रोतों से संकलन के कारण और स्वयं पालि त्रिपिटक के नाना वर्गीकरणों और उनके परस्पर संमिश्रण के कारण उत्पन्न हुई है। चुल्ल-निद्देस में हमें केवल ५०० जातकों का (पञ्च जातकसतानि) का उल्लेख मिलता

---

१. विन्टरनित्ज़—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११५, पद-संकेत २

२. ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ १।१), सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ १।२), विनय-पिटक—महावग्ग, आदि, आदि।

३. देखिये पीछे दूसरे अध्याय में पालि साहित्य के वर्गीकरण का विवेचन।

है।[1] चीनी यात्री फ-शिनयन ने पाँचवीं शताब्दी ईसवी में ५०० जातकों के चित्र लंका में अंकित हुए देखे थे।[2] द्वितीय-तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व के भरहुत और साँची के स्तूपों में कम से कम २७ या २९ जातकों के चित्र उत्कीर्ण मिले हैं।[3] ये सब तथ्य 'जातक' की प्राचीनता और उसके विकास के सूचक हैं।

रायस डेविड्स का कथन है कि जातक का संकलन और प्रणयन मध्य-देश में प्राचीन जन-कथाओं के आधार पर हुआ।[4] विन्टरनित्ज़ ने भी प्रायः इसी मत का प्रतिपादन किया है।[5] अधिकांश जातक बुद्धकालीन हैं। साँची और भरहुत के स्तूपों के पाषाण-वेष्टनियों पर उनके अनेक दृश्यों का अङ्कित होना उनके पूर्व-अशोककालीन होने का पर्याप्त साक्ष्य देता है। 'जातक' के काल और कर्तृत्व के सम्बन्ध में अधिक प्रकाश उसके साहित्यिक रूप और विशेषताओं के विवेचन से पड़ेगा।

प्रत्येक जातक-कथा पाँच भागों में विभक्त है (१) पच्चुप्पन्नवत्थु (२) अतीतवत्थु (३) गाथा (४) वेय्याकरण या अत्थवण्णना (५) समोधान। पच्चुप्पनवत्थु का अर्थ है वर्तमान काल की घटना या कथा। बुद्ध के जीवन काल में जो घटना घटी, वह पच्चुप्पन्नवत्थु है। उस घटना ने भगवान् को किसी पूर्व जन्म के वृत्त को कहने का अवसर दिया। यह पूर्व जन्म का वृत्त ही अतीतवत्थु है। प्रत्येक जातक का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग यह अतीतवत्थु ही है। इसी के अनुकूल पच्चुप्पन्नवत्थु कहीं-कहीं गढ़ ली गई प्रतीत होती है। पच्चुप्पन्नवत्थु के बाद एक या अनेक गाथाएं आती हैं। गाथाएं जातक के प्राचीनतम अंश हैं। वास्तव में गाथाएँ ही जातक हैं। पच्चुप्पन्नवत्थु आदि पाँच भागों से समन्वित जातक तो वास्तव में 'जातकत्थवण्णना' या जातक की अर्थकथा है। गाथाओं के बाद प्रत्येक जातक में वेय्याकरण या अत्थवण्णना आती है। इसमें गाथाओं की व्याख्या और

---

१. पृष्ठ ८० (स्टीड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९१८)
२. लेग्गे : रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट किंगडम्स, पृष्ठ १०६ (ऑक्सफर्ड, १८८६)
३. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २०९
४. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १७२; २०७-२०८
५. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११३-११४; १२१-१२३

उसका शब्दार्थ होता है। सबसे अन्त में समोधान आता है, जिसमें अतीतवत्थु के पात्रों का बुद्ध के जीवन-काल के पात्रों के साथ सम्बन्ध मिलाया जाता है, यथा "उस समय अटारी पर से शिकार खेलने वाला शिकारी अब का देवदत्त था। और कुरुङ्ग मृग तो मैं था ही"[1] आदि, आदि।

प्रत्येक जातक के पांच अङ्गों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जातक गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएं हैं। गाथा (पद्य) भाग जातक का प्राचीनतम भाग माना जाता है। त्रिपिटक के अन्तर्भूत इस गाथा-भाग को ही मानना अधिक उपयुक्त होगा। शेष सब अट्ठकथा है। परन्तु जातक-कथाओं की प्रकृति ऐसी है कि मूल को व्याख्या से अलग कर देने पर कुछ भी समझ में नही आ सकता। केवल गाथाएँ कहानी का निर्माण नहीं करती। उनके उपर जब वर्तमान और अतीत की घटनाओं का ढाँचा चढ़ाया जाता है तभी कथावत्थु का निर्माण होता है। अतः पूरे जातक में उपर्युक्त पांच अवयवों का होना आवश्यक है, जिसमें गाथा-भाग को छोड़कर शेष सब उसकी व्याख्या है, बाद का जोड़ा हुआ है। फिर भी सुविधा के लिए, और ऐतिहासिक दृष्टि से गलत ढंग पर, हम उस सबको 'जातक' कह देते हैं। वास्तव में ५४७ जातक-कथाओं के संग्रह को, जो उपर्युक्त पांच अंगों से समन्वित है हमें, 'जातक' न कहकर 'जातकट्ठवण्णना' (जातक के अर्थ की व्याख्या) ही कहना चाहिए। फॉसबाल और कॉवल ने जिसका क्रमशः रोमन लिपि में और अँग्रेजी में सम्पादन और अनुवाद किया है, या हिन्दी में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'जातक' शीर्षक से ३ भागों में (चतुर्थ भाग निकलने वाला है) अनुवाद किया है, वह वास्तव में 'जातक' न हो कर जातक की व्याख्या है। जैसा अभी कहा गया, जातक तो मूल रूप में केवल गाथाएँ है, शेष भाग उसकी व्याख्या है।

तो फिर गाथा और जातक के शेष भाग का काल-क्रम आदि की दृष्टि से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, यह प्रश्न सामने आता है। अट्ठकथा में गाथा-भाग को 'अभिसम्बुद्ध गाथा' या भगवान् बुद्ध द्वारा भाषित गाथाएँ कहा गया है। वे बुद्ध-वचन हैं। अतः वे त्रिपिटक के अंगभूत थीं और उनको वहाँ से संकलित कर उनके ऊपर कथाओं का ढाँचा प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण 'जातक' ग्रन्थ की

---

१. कुरुंगमिग जातक (२१)

विषय-वस्तु का जिस आधार पर वर्गीकरण हुआ है, उससे भी यही स्पष्ट है कि गाथा-भाग, या जिसे विन्टरनित्ज़ आदि विद्वानों ने 'गाथा-जातक'[1] कहा है, वही उसका मूलाधार है। 'जातक' ग्रन्थ का वर्गीकरण विषय-वस्तु के आधार पर न होकर गाथाओं की संख्या के आधार पर हुआ है। थेर-थेरी गाथाओं के समान वह भी निपातों में विभक्त है। 'जातक' में २२ निपात हैं। पहले निपात में १५० ऐसी कथाएँ है जिनमें एक ही एक गाथा पाई जाती है। दूसरे निपात में भी १५० जातक-कथाएँ हैं, किन्तु यहाँ प्रत्येक कथा में दो-दो गाथाएँ पाई जाती हैं। इसी प्रकार तीसरे और चौथे निपात में पचास-पचास कथाएँ हैं और गाथाओं की संख्या क्रमशः तीन-तीन और चार-चार है। आगे भी तेरहवें निपात तक प्रायः यही क्रम चलता है। चौदहवें निपात का नाम 'पकिण्णक निपात' है। इस निपात में गाथाओं की संख्या नियमानुसार १४ न हो कर विविध है। इसीलिए इसका नाम 'पकिण्णक' (प्रकीर्णक) रख दिया गया है। इस निपात में कुछ कथाओं में १० गाथाएँ भी पाई जाती हैं और कुछ में ४७ तक भी। आगे के निपातों में गाथाओं की संख्या निरन्तर बढ़ती गई है। बाईसवें निपात में केवल दस जातक कथाएँ है, किन्तु प्रत्येक में गाथाओं की संख्या सौ से भी ऊपर है। अन्तिम जातक (वेस्सन्तर जातक) में तो गाथाओं की संख्या सात सौ से भी ऊपर है।[2] इस सब से यह निष्कर्ष आसानी से निकल सकता है कि जातक-कथाओं की आधार गाथाएँ ही हैं। स्वयं अनेक जातक-कथाओं के 'वेय्याकरण' भाग में 'पालि' और 'अट्ठकथा' के बीच भेद दिखाया गया है, जैसे कि पालि सुत्तों की अन्य अनेक अट्ठकथाओं तथा 'विसुद्धिमग्गो' आदि ग्रन्थों में भी।[3] जहाँ तक 'जातक' के वेय्याकरण भाग से सम्बन्ध है, वहाँ 'पालि' का अर्थ त्रिपिटक-गत गाथा ही हो सकता है। भाषा के साक्ष्य से भी गाथा-भाग अधिक प्राचीनता का द्योतक है अपेक्षाकृत गद्यभाग के। फिर भी, जैसा विन्टरनित्ज़ ने कहा है, जातक की सम्पूर्ण

---

१. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११८-११९

२. जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २० (वस्तुकथा); देखिये विन्टरनित्ज़: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११८-११९ भी।

३. देखिए पहले अध्याय में 'पालि-शब्दार्थ-निर्णय' सम्बन्धी विवेचन।

गाथाओं को त्रिपिटक का मूल अंश नहीं माना जा सकता। उनमें भी पूर्वापर भेद हैं। स्वयं 'जातक' के वर्गीकरण से ही यह स्पष्ट है। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, चौदहवें निपात में प्रत्येक जातक-कथा की गाथाओं की संख्या नियमानुसार १४ न होकर कहीं-कहीं बहुत अधिक है। इसी प्रकार सत्तरवें निपात में उसकी दो जातक-कथाओं की गाथाओं की संख्या सत्तर-सत्तर न हो कर क्रमशः ९२ और ९३ है। इस सब से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जातक की गाथाओं अथवा 'गाथा-जातक' की मूल संख्या निपात की संख्या के अनुकूल ही रही होगी, और बाद में उसका संवर्द्धन किया गया है।[1] अतः कुछ गाथाएँ अधिक प्राचीन हैं और कुछ अपेक्षाकृत कम प्राचीन। इसी प्रकार गद्य-भाग भी कुछ अत्यन्त प्राचीनता के लक्षण लिए हुए है और कुछ अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। किसी-किसी जातक में गद्य और गाथा-भाग में साम्य भी नहीं दिखाई पड़ता[2] और कहीं-कहीं शैली में भी बड़ी विभिन्नता है। इस सब से जातक के संकलनात्मक रूप और उसके भाषा-रूप की विविधता पर प्रकाश पड़ता है, जिसमें कई रचयिताओं या संकलन-कर्ताओं और कई शताब्दियों का योग रहा है।

जातक की गाथाओं की प्राचीनता तो निर्विवाद है ही, उसका अधिकांश गद्य-भाग भी अत्यन्त प्राचीन है। भरहुत और साँची के स्तूपों की पाषाण-वेष्टनियों पर जो चित्र अंकित हैं, वे 'जातक' के गद्य-भाग से ही सम्बन्धित हैं। अतः 'जातक' का अधिकांश गद्य-भाग जो प्राचीन है, तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में इतना लोक प्रिय तो होना ही चाहिए कि उसे शिल्प-कला का आधार बनाया जा सके। अतः सामान्यतः हम 'जातक' को बुद्धकालीन भारतीय समाज और संस्कृति का प्रतीक मान सकते हैं। हाँ, उसमें कुछ लक्षण और अवस्थाओं के चित्रण प्राग्बौद्ध-कालीन भारत के भी हैं। जहाँ तक गाथाओं की व्याख्या और उनके शब्दार्थ का सम्बन्ध है, वह सम्भवतः जातक का सब से अधिक अर्वाचीन अंश है। इस अंश के लेखक आचार्य बुद्धघोष माने जाते हैं। 'गन्धवंस' के अनुसार आचार्य बुद्धघोष ने

---

१. विन्टरनित्ज़ः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११९

२. देखिये विन्टरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११९, पद-संकेत २; पृष्ठ १२२, पद-संकेत २

ही 'जातकट्ठवण्णना' की रचना की।[१] किन्तु यह सन्दिग्ध है। रायस डेविड्स ने बुद्धघोष को 'जातकट्ठवण्णना' का रचयिता या संकलनकर्ता नहीं माना है।[२] स्वयं जातकट्ठकथा के उपोद्घात में लेखक ने अपना परिचय देते हुए कहा है ''......शान्तचित्त पंडित बुद्धमित्त और महिशासक वंश में उत्पन्न, शास्त्रज्ञ, शुद्धबुद्धि भिक्षु बुद्धदेव के कहने से......व्याख्या करूँगा।''[३] महिशासक सम्प्रदाय महाविहार की परम्परा से भिन्न एक बौद्ध सम्प्रदाय था। बुद्धघोष ने जितनी अट्ठकथाएँ लिखी हैं, शुद्ध महाविहार वासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधारित (महाविहारवासीनं देसनानयनिस्सितं—विसुद्धिमग्गो) हैं। अतः जातकट्ठकथा के लेखक को आचार्य बुद्धघोष से मिलाना ठीक नहीं। सम्भवतः यह कोई अन्य सिंहली भिक्षु थे, जिनका काल पाँचवीं शताब्दी ईस्वी माना जा सकता है। जातक-कथाएँ, जैसा पहले कहा जा चुका है, भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मों से सम्बन्धित हैं। बोधिसत्व की चर्याओं का उनमें वर्णन है। अतः वे सभी प्रायः उपदेशात्मक हैं। परन्तु उनका साहित्यिक रूप भी निखरा हुआ है। उपदेशात्मक होते हुए भी वे पूरे अर्थों में कलात्मक हैं। कुछ जातक-कथाओं का सारांश देकर यहाँ उनकी विषय-वस्तु के रूप को स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा। 'जातक' के आदि में निदान-कथा (उपोद्घात) है, जिसमें भगवान् बुद्ध के पहले के २७ बुद्धों के विवरण के साथ-साथ भगवान् गौतम बुद्ध की जीवनी भी जेतवन-विहार के दान की स्वीकृति तक दी गई है। अब कुछ जातकों की कथा-वस्तु का दिग्दर्शन करें। अपण्णक जातक (१) व्यापार के लिए जाते हुए दो बनजारों की कथा है। एक दैत्यों के हाथ मारा गया, दूसरा बुद्धिमान् होने के कारण अपने पाँच सौ साथियों सहित सकुशल घर लौट आया। कण्डिन जातक (१३)—कामुकता के कारण एक मृग शिकारी के हाथों मारा गया। मखादेव जातक (९)—सिर के सफेद बाल देख कर राजा सिंहासन छोड़ कर वन चला गया। सम्मोदमान जातक (३३)

---

१. पृष्ठ ५९ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)

२. बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़, पृष्ठ ६३ (भूमिका)

३. जातक, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १-२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद) देखिये, वहीं पृष्ठ २३ (वस्तुकथा) भी।

एकमत बटेरों का चिड़ीमार कुछ न बिगाड़ सका, परन्तु जब उनमें फूट पड़ गई तो सभी चिड़ीमार के जाल में फँस गये। तित्तिर जातक (३७)—बन्दर, हाथी और तित्तिर ने आपस में विचार कर निश्चय किया कि जो ज्येष्ठ हो उसका आदर करना चाहिए। बक जातक (३८)—बगुले ने मछलियों को धोखा दे दे कर एक एक को ले जाकर मार खाया। अन्त में वह एक केकड़े के हाथ से मारा गया। कण्ह जातक (२९)—एक बैल ने अपनी बुढ़िया माँ को जिसने उसे पाला था मजदूरी से कमा कर एक हजार कार्षाण्ण ला कर दिये। वेळुक जातक (४३) तपस्वी ने साँप के बच्चे को पाला, जिसने उसे डस कर मार डाला। रोहिणी जातक (४५) रोहिणी नामक दासी ने अपने माता के सिर की मक्खियाँ हटाने के लिये जाकर माता को मार डाला। वानरिन्द जातक (५७) मगरमच्छ अपनी स्त्री के कहने से बानर का हृदय चाहता था। बानर अपनी चतुरता से बच निकला। कुद्दाल जातक (७०) कुद्दाल पंडित कुद्दाल के मोह में पड़ छः बार गृहस्थ और प्रव्रजित हुआ। सीलवनागराज जातक (७२) वन में रास्ता भूले हुए एक आदमी की हाथी ने जान बचाई। खरस्सर जातक (७९) गाँव का मुखिया चोरों से मिल कर गाँव लुटवाता था। नामसिद्धि जातक (९७) 'पापक' नामक विद्यार्थी एक अच्छे नाम की तलाश में बहुत घूमा। अन्त में यह समझ कर कि नाम केवल बुलाने के लिए होता है, वह लौट आया। अकालरावी जातक (११९) असमय शोर मचाने वाला मुर्गा विद्यार्थियों द्वारा मार डाला गया। बिळारवत जातक (१२८) गीदड़ धर्म का ढोंग कर चूहों को खाता था। गोध-जातक (१४१) गोह की गिरगिट के साथ मित्रता उसके कुल-विनाश का कारण हुई। विरोचन जातक (१४३) गीदड़ ने शेर की नकल कर के पराक्रम दिखाना चाहा। हाथी ने उसे पाँव से रौंद कर उस पर लीद कर दी। गुण जातक (१५७) दलदल में फँसे सिंह को सियार ने बाहर निकाला। मक्कट जातक (१७३) बन्दर तपस्वी का वेश बना कर आया। आदिच्चुपट्ठान जातक (१७५) बन्दर ने सूर्य की पूजा करने का ढोंग बनाया। कच्छप जातक (१७८) जन्मभूमि के मोह के कारण कछुवे की जान गई। गिरिदत्त जातक (१८४) शिक्षक के लँगड़ा होने के कारण घोड़ा लँगड़ा कर चलने लगा। सीहचम्म जातक (१८९) सिंह की खाल पहन कर गधा खेत चरता रहा। किन्तु बोलने पर मारा गया। महापिंगल जातक (२४०)

राजा मर गया, फिर भी द्वारपाल को भय था कि अत्याचारी राजा यमराज के पास से कहीं लौट न आवे। आरामदूसक जातक (२६८) बन्दरों ने पौधों को उखाड़ कर उनकी जड़ें नाप-नाप कर पानी सींचा। कुटिदूसक जातक (३२१) बन्दर ने बये के सदुपदेश को सुन कर उसका घोंसला नोच डाला। बावेरु जातक (३३९) बावेरु राष्ट्र में कौआ सौ कार्षापण में और मोर एक हजार कार्षापण में बिका। वानर जातक (३४२) मगरमच्छनी ने बन्दर का हृदय-मांस खाना चाहा। सन्धिभेद जात (३४९) गीदड़ ने चुगली कर सिंह और बैल को परस्पर लड़ा दिया, आदि आदि।[1]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि जातक-कथाओं का रूप जन-साहित्य का है। उसमें पशु-पक्षियों आदि की कथाएँ भी है और मनुष्यों की भी। जातकों के कथानक विविध प्रकार के हैं। विन्टरनित्ज़ ने मुख्यत: सात भागों में उनका वर्गीकरण किया है[2] (१) व्यावहारिक नीति-सम्बन्धी कथाएँ (२) पशुओं की कथाएँ (३) हास्य और विनोद से पूर्ण कथाएँ (४) रोमांचकारी लम्बी कथाएँ या उपन्यास (५) नैतिक वर्णन (६) कथन और (७) धार्मिक कथाएँ। वर्णन की शैलियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। विन्टरनित्ज़ ने इनका वर्गीकरण पाँच भागों में इस प्रकार किया है[3] (१) गद्यात्मक वर्णन (२) आख्यान, जिसके दो रूप हैं (अ) संवादात्मक और (आ) वर्णन और सवादों का संमिश्रित रूप। (३) अपेक्षाकृत लम्बे विवरण, जिनका आदि गद्य से होता है किन्तु बाद में जिनमें गाथाएँ भी पाई जाती हैं (४) किसी विषय पर कथित वचनों का संग्रह और (५) महाकाव्य या खंड काव्य के रूप में वर्णन। वानरिन्द जातक, (५७) बिळारवत जातक, (१२८) सीहचम्म जातक (१८९) संसुमारजातक

---

१. इस दिग्दर्शन के लिए मैं भदन्त आनन्द कौसल्यायन के जातक-अनुवाद के तीनों खंडों की विषय-सूची के लिए कृतज्ञ हूँ। वहीं से यह सामग्री संकलित की गई है।

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२५

३. वहीं पृष्ठ १२४

(२०८) और सन्धिभेद जातक (३४९) आदि जातक-कथाएँ पशु-कथाएँ हैं। ये कथाएँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। विशेषत: इन्हीं कथाओं का गमन विदेशों में हुआ है। व्यङ्ग्य का पुट भी यहीं अपने काव्यात्मक रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्राय: पशुओं की तुलना में मनुष्यों को हीन दिखाया गया है। एक विशेष बात यह है कि व्यङ्ग्य किसी व्यक्ति पर न कर सम्पूर्ण जाति पर किया गया है। एक बन्दर कुछ दिनों के लिए मनुष्यों के बीच आकर रहा। बाद में अपने साथियों के पास जाता है। साथी पूछते हैं

"आप मनुष्यों के समाज में रहे हैं। उनका वर्ताव जानते हैं। हमें भी कहें। हम उसे सुनना चाहते हैं।"

"मनुष्यों की करनी मुझ से मत पूछो।"

"कहें, हम सुनना चाहते हैं।"

बन्दर ने कहना शुरू किया,

"हिरण्य मेरा ! सोना मेरा ! यही रात-दिन वे चिल्लाते हैं। घर में दो जने रहते हैं। एक को मूछ नहीं होती। उसके लम्बे केश होते हैं, वेणी होती है और कानों में छेद होते हैं। उसे बहुत धन से खरीदा जाता है। वह सब जनों को कष्ट देता है।"

बन्दर कह ही रहा था कि उसके साथियों ने कान बन्द कर लिए "मत कहें, मत कहें"।[1] इस प्रकार के मधुर और अनूठे व्यङ्ग्य के अनेकों चित्र 'जातक' में मिलेंगे। विशेषत: मनुष्य के अहंकार के मिथ्यापन के सम्बन्ध में मर्मस्पर्शी व्यङ्ग्य महापिंगल जातक (२४०) में, ब्राह्मणों की लोभ-वृत्ति के सम्बन्ध में सिगाल जातक (११३) में, एक अति बुद्धिमान् तपस्वी के सम्बन्ध में अवारिय जातक (३७६) में हैं। सब्बदाठ नामक शृगाल सम्बन्धी हास्य और विनोद भी बड़ा मधुर है (सब्बदाठ जातक २४१) और इसी प्रकार मक्खी हटाने के प्रयत्न में दासी का मूसल से अपनी माता को मार देना (रोहिणी जातक ३४५) और बन्दरों का पौधों को उखाड़कर पानी देना भी (आरामदूसक

---

१. गरहित-जातक (२१९) भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद, जातक (द्वितीय खंड), पृष्ठ ३६२-६३

जातक-४६) मधुर विनोद से भरे हुए हैं। इसी प्रकार रोमांच के रूप में महा-उम्मग जातक (५४६) आदि; नाटकीय आख्यान के रूप में छदन्त जातक (५१४) आदि, एक ही विषय पर कहे हुए कथनों के संकलन के रूप में कुणाल जातक (५३६) आदि, संक्षिप्त नाटक के रूप में उम्मदन्ती जातक (५२७) आदि, नीति-परक कथाओं के रूप में गुण जातक (१५७) आदि, पूरे महाकाव्य के रूप में वेस्सन्तर जातक (५४७) आदि एवं ऐतिहासिक संवादों के रूप में ५३० और ५४४ संख्याओं के जातक आदि, अनेक प्रकार के वर्णनात्मक आख्यान 'जातक' में भरे पड़े हैं, जिनकी साहित्यिक विशेषताओं का उल्लेख यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप से भी नही किया जा सकता।

बुद्धकालीन भारत के समाज, धर्म, राजनीति, भूगोल, लौकिक विश्वास, आर्थिक एवं व्यापारिक अवस्था एवं सर्वविध जीवन की पूरी सामग्री हमें 'जातक' में मिलती है। 'जातक' केवल कथाओं का संग्रह भर नही है। बौद्ध साहित्य में तो उसका स्थान सर्वमान्य है ही। स्थविरवाद के समान महायान में भी उसकी प्रभूत महत्ता है, यद्यपि उसके रूप के सम्बन्ध में कुछ थोड़ा-बहुत परिवर्तन है। बौद्ध साहित्य के समान समग्र भारतीय साहित्य में और इतना ही नहीं समग्र विश्व-साहित्य में 'जातक' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार भारतीय सभ्यता के एक युग का ही वह निदर्शक नहीं है, बल्कि उसके प्रसार की एक अद्भुत गाथा भी 'जातक' में समाई हुई है। विशेषतः भारतीय इतिहास में 'जातक' के स्थान को कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं ले सकता। बुद्धकालीन भारत के सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक जीवन को जानने के लिए 'जातक' एक उत्तम साधन है। चूंकि उसकी सूचना प्रासङ्गिक रूप से ही दी गई है, इसलिए वह और भी अधिक प्रामाणिक है और महत्त्वपूर्ण भी।[1] 'जातक' के आधार पर यहाँ बुद्धकालीन भारत का संक्षिप्ततम विवरण भी नहीं दिया जा सकता। जातक की निदान-कथा में हम तत्कालीन भारतीय भूगोल-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचना पाते हैं। वहाँ कहा गया है कि जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) दस हजार योजना बड़ा

---

१. देखिये डा० बिमलाचरण लाहा के ग्रन्थ "Geography of Early Buddhism" में डा० एफ० डब्ल्यू० थॉमस का प्राक्कथन।

है। मध्य-देश की सीमाओं का उल्लेख वहाँ इस प्रकार किया गया है "मध्य देश की पूर्व दिशा में कजंगला नामक कस्बा है, उसके बाद बड़े शाल (के वन) हैं और, फिर आगे सीमान्त (प्रत्यन्त) देश। पूर्व-दक्षिण में सललवती नामक नदी है उसके आगे सीमान्त देश। दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश। पश्चिम दिशा में थून नामक ब्राह्मण ग्राम है, उसके बाद सीमान्त देश। उत्तर दिशा में उशीरध्वज नामक पर्वत है, उसके बाद सीमान्त देश।"[१] यह वर्णन यहाँ विनय-पिटक से लिया गया है और बुद्ध-कालीन मध्य-देश की सीमाओं का प्रामाणिक परिचायक माना जाता है। जातक के इसी भाग में नेरंजरा, अनोमा आदि नदियों, पाण्डव पर्वत, वैभारगिरि, गयासीस आदि पर्वतों, उरुवेला, कपिलवस्तु, वाराणसी, राजगृह, लुम्बिनी, वैशाली, श्रावस्ती आदि नगरों और स्थानों, एवं उत्कल देश (उड़ीसा) का तथा यष्टिवन (लट्ठि वन) आदि वनों का उल्लेख मिलता है। सम्पूर्ण जातक में इस सम्बन्धी जितनी सामग्री भरी पड़ी है, उसका ठीक अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। सम्पूर्ण कोशल और मगध का तो उसके ग्रामों, नगरों, नदियों और पर्वतों के सहित वह पूरा वर्णन उपस्थित करता है। सोलह महाजनपदों (जिनका नामोल्लेख अंगुत्तर-निकाय में मिलता है) का विस्तृत विवरण हमें असम्पदान जातक में मिलता है। महासुतसोम जातक (५३७) में हमें कुरु-देश के विस्तार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। इसी प्रकार धूमाकारि जातक (४१३) में कहा गया है कि युधिष्ठिर गोत्र के राजा का उस समय वहाँ राज्य था। कुरु-देश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ का विस्तार ३०० योजन (त्रियोजनसते कुरुरट्ठे) महासुतसोम जातक (५३७) में दिया गया है। धनंजय, कोरव्य और सुतसोम आदि कुरु-राजाओं के नाम कुरुधम्म जातक (२७६), धूमकारि जातक (४१३), सम्भव जातक (५१५) और विधुर पंडित जातक (५४५) में आते हैं। उत्तर पंचाल के लिए कुरु और पंचाल वंशों में झगड़ा चलता रहा, इसकी सूचना हम चम्पेय्य जातक (५०६) तथा अन्य अनेक जातकों में पाते हैं। कभी वह कुरु-राष्ट्र में सम्मिलित हो जाता था (सोमनस्स-जातक, ५०५)[२] और कभी कम्पिल-

---

१. जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ ६४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

२. मिलाइये महाभारत १।१३८ भी।

राष्ट्र में भी, जिसका साक्ष्य ब्रह्मदत्त जातक (३२३), जयद्दिस जातक (५१३) और गण्डतिन्दु जातक (५२०) में विद्यमान है।[1] पंचाल-राज दुर्मुख निमि का समकालिक था, इसकी सूचना हमें ४०८ संख्या के जातक से मिलती है। अस्सक (अश्मक) राष्ट्र की राजधानी पोतन या पोतलि का उल्लेख हमें चुल्ल-कलिङ्ग जातक (३०१) में मिलता है। मिथिला के विस्तार का वर्णन सुरुचि जातक और गन्धार जातक (४०६) में है। महाजनक जातक (५३९) में मिथिला का बड़ा सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है, जिसकी तुलना महाभारत ३. २०६. ६-९ से की जा सकती है। सागल नगर का वर्णन कलिङ्गबोधिजातक (४७९) और कुश जातक (५३१) में है। काशी राज्य के विस्तार का वर्णन धजविदेह जातक (३९१) में है। उसकी राजधानी वाराणसी के केतुमती, सुरुन्धन, सुदस्सन, ब्रह्मवड्ढन, पुप्फवती, रम्मनगर और मोलिनी आदि नाम थे, ऐसा साक्ष्य अनेक जातकों में मिलता है।[2] तण्डुलनालि जातक (५) में वाराणसी के प्राकार का वर्णन है। तेलपत्त जातक (९६) और सुसीम जातक (१६३) में वाराणसी और तक्षशिला की दूरी १२० योजन बताई गई है। कुम्भकार जातक (४०८) में गन्धार के राजा नग्गजि या नग्नजित् का वर्णन है। कुरु जातक (५३१) में मल्लराष्ट्र और उसकी राजधानी कुसावती या कुसिनारा का वर्णन है। चम्पेय्य जातक (५०६) में अङ्ग और मगध के संघर्ष का वर्णन है। वत्स राज्य और उसके अधीन भग्ग-राज्य की सूचना धोनसाख जातक (३५३) में मिलती है। इन्द्रिय जातक में सुरट्ठ, अवन्ती, दक्षिणापथ, दंडकवन, कुम्भवति नगर आदि का वर्णन है। बिम्बिसार सम्बन्धी महत्वपूर्ण सूचना जातकों में भरी पड़ी है। महाकोशल की राजकुमारी कोसलादेवी के साथ उसके विवाह का वर्णन और काशी गाँव की प्राप्ति का उल्लेख हरितमातक जातक (२३९) और वड्ढकिसूकर जातक (२८३) आदि जातकों में है। मगध और कोसल के संघर्षों का और अन्त में उनकी एकता का उल्लेख वड्ढकिसूकर जातक, कुम्मासपिंड जातक, तच्छसूकर जातक और भद्दसाल

१. मिलाइये कुम्भकार जातक (४०८) भी

२. देखिये, डायलॉग्स ऑव दि बुद्ध, तृतीय भाग, पृष्ठ ७३; कारमाइकेल लेक्चर्स, (१९१८), पृष्ठ, ५०-५१

जातक आदि अनेक जातकों में है। इस प्रकार बुद्धकालीन राजाओं, राज्यों, प्रदेशों, जातियों, ग्रामों, नगरों आदि का पूरा विवरण हमें जातकों में मिलता है।[1] तिलमुट्ठि जातक (२५२) में हमें बुद्धकालीन शिक्षा, विशेषत: उच्च शिक्षा, का एक उत्तम चित्र मिलता है। संखपाल जातक (५२४) और दरीमुख जातक (३७८) में मगध के राजकुमारों की तक्षशिला में शिक्षा का वर्णन है। शिक्षा के विधान, पाठ्य-क्रम, •अध्ययन-विषय उनके व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष, निवास, भोजन, नियन्त्रण आदि के विषय में पूरी जानकारी हमें जातकों में मिलती है। बनारस, राजगृह, मिथिला, उज्जैनी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, तक्षशिला आदि प्रसिद्ध नगरों को मिलाने वाले मार्गो का तथा स्थानीय व्यापार का पूरा विवरण हमें जातकों में मिलता है। काशी से चेदि जाने वाली सड़क का उल्लेख वेदब्भ जातक (४८) में है। क्या क्या नाना पेशे उस समय लोगों में प्रचलित थे, कला और दस्तकारी की क्या अवस्था थी तथा व्यवसाय किस प्रकार होता था, इसके अनेक चित्र हमें जातकों में मिलते हैं। बावेरु जातक (३३९) और सुसन्धि जातक (३६०) से हमें पता लगता है कि भारतीय व्यापार विदेशों से भी होता था और भारतीय व्यापारी सुवर्ण-भूमि (बरमा से मलाया तक का प्रदेश) तक व्यापार के लिए जाते थे। भरुकच्छ उस समय एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। जल के मार्गों का भी जातकों में स्पष्ट उल्लेख है। लौकिक विश्वासों आदि के बारे में देवधम्म जातक (६) और नलपान जातक (२०) आदि में; समाज में स्त्रियों के स्थान के सम्बन्ध में अण्डभूत जातक (६२) आदि में; दासों आदि की अवस्था के सम्बन्ध में कटाहक जातक (१२५) आदि में; सुरापान आदि के सम्बन्ध में सुरापान जातक (८१) आदि में; यज्ञ में जीव-हिंसा के सम्बन्ध में दुम्मेध जातक (५०) आदि में; व्यापारिक संघों

---

१. डा० विमलाचरण लाहा का "Geography of Early Buddhism" बुद्धकालीन भूगोल पर एक उत्तम ग्रन्थ है, जिसमें जातक के अलावा त्रिपिटक के अन्य अंशों से भी सामग्री संकलित की गई है। डा० लाहा के 'Some Kshatriya Tribes of Ancient India', तथा 'Ancient Indian Tribes' आदि पालि त्रिपिटक पर आधारित ग्रन्थ बुद्धकालीन भारत के अनेक पक्षों का प्रामाणिक विवरण उपस्थित करते हैं।

और डाकुओं के भय आदि के सम्बन्ध में खुरप्प जातक (२६५) और तत्कालीन शिल्पकला आदि के विषय में महाउम्मग्ग जातक (५४६) आदि में प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है, जिसका यहाँ वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन है। सचमुच त्रिपिटक में यदि ऐतिहासिक, भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सूचनाओं के लिए यदि किसी ग्रन्थ का महत्व सब से अधिक है तो 'जातक' का। रायस डेविड्स ने 'बुद्धिस्ट इन्डिया' में बुद्धकालीन भारत का चित्र उपस्थित किया है। उसमें उन्होंने एक अध्याय (ग्यारहवाँ अध्याय) 'जातक' के विवेचन के लिए दिया है। बुद्धकालीन राजवंशों, विभिन्न जातियों, जन-तन्त्रों, भौगोलिक स्थानों, ग्रामों, नगरों, नदियों, पर्वतों, मनुष्यों के पेशों आदि के सम्बन्ध में जातकों से जो महत्त्व-पूर्ण उद्धरण वहाँ दिये गये हैं, यदि उनका संक्षिप्ततम विवरण भी दिया जाय तो प्रस्तुत परिच्छेदांश जातक का विवेचन न होकर बुद्धकालीन भारत का ही विव-रण हो जायगा। फिर यहीं अन्त नहीं है। बुद्धकालीन भारत के अनेक पक्षों को लेकर विद्वानों ने अलग-अलग महाग्रन्थ लिखे है और उनमें प्रायः जातक का ही आश्रय अधिकतर लिया गया है। रायस डेविड्स के उपर्युक्त ग्रन्थ के अलावा डा० विमलाचरण लाहा का बुद्धकालीन भूगोल सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।[१] डा० फिक का बुद्धकालीन सामाजिक अवस्था पर प्रसिद्ध ग्रन्थ है।[२] डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने 'इंडियन शिपिंग' में भारतीय व्यापार का विस्तृत विवेचन किया है और एक अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ में वैदिक और बौद्धयुगीन शिक्षा पद्धति का भी।[3] इसी प्रकार आर्थिक और व्यावसायिक परिस्थितियों पर भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ और प्रबन्ध है।[४] बीसों की संख्या इसी प्रकार गिनाई जा सकती

---

१. Geography of Early Buddhism, केगन पॉल, लन्दन १९३२; देखिये उनका India as Described in Early Texts of Jainism and Buddhism भी।

२. मूल ग्रन्थ जर्मन में है। अंग्रेजी में "The Social Organization in North-East India in Buddha's Time" शीर्षक से डा० मैत्र ने अनुवाद किया है। कलकत्ता, १९२०

३. Ancient Indian Education, Brahmanical and Buddhist, Macmillan.

४. उदाहरणार्थ श्रीमती रायस डेविड्स: Notes on Early Economic Conditions in Northern India, जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक

है। यदि पालि साहित्य के इतिहास का लेखक इन अनेक ग्रन्थों, महाग्रन्थों, में में उल्लिखित जातक-सामग्री का उल्लेख अपने जातक-परिचय में कराना चाहे तो यह उसकी धृष्टता ही होगी। यह अनेक महाग्रन्थों का विषय है। यदि वह इसके निदर्शन का प्रयत्न करेगा तो महासमुद्र में अपने को गिरा देगा। उसका मूर्धापात हो जायगा।

यही बात वास्तव में जातक के भारतीय साहित्य और विदेशी साहित्य पर प्रभाव की है। पहले बौद्ध साहित्य और कला में उसके स्थान और महत्त्व को लें। जैसा पहले कहा जा चुका है, बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदायों में 'जातक' का महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। महायान और हीनयान को वह एक प्रकार से जोड़ने वाली कड़ी है, क्योंकि महायान का बोधिसत्व-आदर्श यहाँ अपने बीज-रूप में विद्यमान है। हम पहले देख चुके है कि दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के सांची और भरहुत के स्तूपों में जातक के अनेक दृश्य अंकित है। 'मिलिन्दपञ्हो' में अनेक जातक-कथाओं को उद्धृत किया गया है। पाँचवी शताब्दी में लंका में उसके ५०० दृश्य अंकित किये जा चुके थे। अजन्ता की चित्रकारी मे भी महिस जातक (२७८) अंकित है ही। बोध-गया में भी उसके अनेक चित्र अंकित है। इतना ही नहीं जावा के बोरोबदूर स्तूप (९वीं शताब्दी ईसवी) मे, बरमा के पेगन स्थित पेगोडाओं में (१३वीं शताब्दी ईसवी) और सिआम के सुखोदय नामक प्राचीन नगर (१४वीं शताब्दी) में जातक के अनेक दृश्य चित्रित मिले हैं। अतः जातक का महत्त्व भारत में ही नहीं, बृहत्तर भारत में भी, स्थविर-वाद बौद्ध धर्म में ही नहीं, बौद्ध धर्म के अन्य अनेक के रूपों में भी, स्थापित है।

अब भारतीय साहित्य में जातकों के महत्त्व और स्थान को लें। यदि काल-क्रम की दृष्टि से देखें तो वैदिक साहित्य की शुनः शेप की कथा, यम-यमी संवाद, पुरुरवा-उर्वशी संवाद आदि कथानक ही बुद्ध-पूर्व काल के हो सकते हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदों की आख्यायिकाएँ भी बुद्ध-पूर्व काल की मानी जा सकती हैं, और इसी प्रकार ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण के कुछ

सोसायटी, १९०१; रतिलाल मेहता : Pre-Buddhist India; डा० रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, अध्याय ६ (Economic Conditions) पृष्ठ ८७-१०७

आख्यान भी। पर इनका भी जातकों से और सामान्यतः पालि साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम देख चुके हैं कि तेविज्ज-सुत्त (दीघ १।१३) में अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अङ्गिरा, भरद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप और भृगु इन दस मन्त्रकर्ता ऋषियों के नाम के साथ-साथ ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण और छन्दावा ब्राह्मण का भी उल्लेख हुआ है।[1] इसी प्रकार हम यह भी देख चुके हैं कि मज्झिम-निकाय के अस्सलायण-सुत्तन्त (२।५।३) के आश्वलायन ब्राह्मण को प्रश्न-उपनिषद् के आश्वालायन से मिलाया गया है। मज्झिम-निकाय के आश्वलायन श्रावस्ती-निवासी हैं और वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत (तिण्णं वेदानं पारगू सनिघण्डु-केटभानं) हैं, इसी प्रकार प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन भी वेद-वेदाङ्ग के महापंडित हैं और कौसल्य (कोशल-निवासी) हैं।[2] जातकों में भी वैदिक साहित्य के साथ निकट सम्पर्क के हम अनेक लक्षण पाते हैं। उद्दालक जातक (४८७) में उद्दालक के तक्षशिला जाने और वहाँ एक लोकविश्रुत आचार्य की सूचना पाने का उल्लेख है। इसी प्रकार सेतु-केतु जातक (३७७) में उद्दालक के पुत्र श्वेतुकेतु का कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला जाने का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण (११. ४. १-१) में उद्दालक को हम उत्तरापथ में भ्रमण करते हुए देखते हैं। अतः इससे यह निष्कर्ष निकालना असंगत नहीं है कि जातकों के उद्दालक और श्वेतुकेतु ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों के इन नामों के व्यक्तियों से भिन्न नहीं है।[3] जर्मन विद्वान् लूडर्स ने सेतकेतु जातक (३७७) में आने वाली गाथाओं को 'वैदिक आख्यान और महाकाव्य-युगीन काव्य को मिलाने वाली कड़ी' कहा है,[4] जो समुचित

---

१. देखिये पीछे दीघ-निकाय की विषय-वस्तु का विवेचन।

२. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ २१ (तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९३२)

३. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ४१ (तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९३२); विन्टरनित्ज़ः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२३

४. "connecting link between the vedic epic आख्यान and the epic poetry" विन्टरनित्ज़-कृत इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२३, पद-संकेत २ में उद्धृत।

ही है। रामायण और महाभारत के साथ जातक की तुलना करते समय हमें एक बात का बड़ा ध्यान रखना चाहिए। वह यह है कि इन दोनों ग्रन्थों के सभी अंश बुद्ध-पूर्व युग के नहीं हैं। रामायण के वर्तमान रूप में २४००० श्लोक पाये जाते हैं। जनश्रुति भी है और स्वयं रामायण में कहा भी गया है 'चतुर्विंश सहस्राणि श्लोकानाम् उक्तवान् ऋषिः' (१. ४. २)। किन्तु बौद्ध महाविभाषा-शास्त्र से सिद्ध है कि द्वितीय शताब्दी ईसवी में भी रामायण में केवल १२००० श्लोक थे।[1] रामायण २-१९०-९४ में 'बुद्ध तथागत' का उल्लेख आया है।[2] इसी प्रकार शक, यवन आदि के साथ संघर्ष (शकान् यवनमिश्रितान्-१-५४-२१) का वर्णन है। किष्किन्धा-काण्ड (४. ४३-११-१२) में सुग्रीव के द्वारा कुरु, मद्र और हिमालय के बीच में यवनों और शकों के देश और नगरों को स्थित बताया गया है। इससे सिद्ध है कि जिस समय ये अंश लिखे गये, ग्रीक और सिथियन लोग पंजाब के कुछ प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा चुके थे। अतः रामायण के काफी अंश महाराज बिंबिसार या बुद्ध के काल के बाद लिखे गये।[3] महाभारत में इसी प्रकार एडुकों (बौद्ध मन्दिरों) का स्पष्ट उल्लेख है।[4] बौद्ध विशेषण चातुर्महाराजिक भी वहाँ आया है (१२-३३९-४०)। रोमक (रोमन) लोगों का भी वर्णन (२-५१-१७) है। इसी प्रकार सिथियन और ग्रीक आदि लोगों का भी (३-१८८-३५)। आदि पर्व (१-६७-१३-१४) में महाराज अशोक को 'महासुर' कहा गया है और 'महावीर्योऽपराजितः' के रूप में उसकी प्रशंसा की गई है। शान्ति पर्व में विष्णगुप्त कौटिल्य (द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व) के शिष्य कामन्दक का भी अर्थविद्या के आचार्य के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध है कि महाभारत के वर्तमान रूप

---

१. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३ (तृतीय संस्करण, १९३२)

२. उद्धरण के लिये देखिये जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २४ (वस्तुकथा) पद-संकेत ३ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

३. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३ (तृतीय संस्करण १९३२)

४. देखिये वहीं, पृष्ठ ४-५

का काफी अंश बुद्ध, अशोक और कौटिल्य विष्णुगुप्त के बाद के युग का है।[1] जातक की अनेक गाथाओं और रामायण के श्लोकों में अद्भुत समानता है।[2] दसरथ जातक (४६१) और देवधम्म जातक (६) में हमें प्रायः राम-कथा की पूरी रूपरेखा मिलती है। जयद्दिस जातक (५१३) में राम का दण्डकारण्य जाना दिखाया गया है। इसी प्रकार साम जातक (५४०) की सदृशता रामायण २. ६३-२५ से है और विन्टरनित्ज़ के मत में जातक का वर्णन अधिक सरल और प्रारम्भिक है।[3] वेस्सन्तर जातक (५४७) के प्रकृति-वर्णन का साम्य इसी प्रकार वाल्मीकि के प्रकृति-वर्णन से है और इस जातक की कथा के साथ राम की कथा में भी काफी सदृशता है।[4] महाभारत के साथ जातक की तुलना अनेक विद्वानों ने की है। उनके निष्कर्षों को यहाँ संक्षिप्ततम रूप में भी रखना वास्तव में बड़ा कठिन है। सब से बड़ी बात यह है कि महाजनक जातक (५३९) के जनक उपनिषदों और महाभारत के ही ब्रह्मज्ञानी जनक हैं।[5] इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। मिथिला के प्रासादों को जलते देखकर जनक ने कहा था 'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन' (महाभारत १२-१७; १८-१९; २१९-५०)। ठीक उनका यही कथन हमें महाजनक जातक (५३९) में भी मिलता है तथा ४०८ और ५२९ संख्याओं के जातकों में भी। अतः दोनों व्यक्ति एक हैं, इसमें तनिक भी सन्देह का अवकाश नहीं। इसी प्रकार ऋष्य शृङ्ग (पालि इसिसिङ्ग) की पूरी कथा नलिनिका जातक (५२६) में है। युधिष्ठिर (युधिट्ठिल) और विदुर (विधूर) का संवाद जातक-संख्या ४९५ में है। कुणाल

---

१. अधिक प्रमाणों के लिए देखिये, वहीं, पृष्ठ ४-५

२. कुछ उद्धरणों के लिए देखिये जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २५ पद-संकेत १ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४७, पद-संकेत ४

४. विंटरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५२

५. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २६, विन्टरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४६; हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३६-३७ (तृतीय संस्करण, १९३२), आदि, आदि

जातक (५३६) में कृष्ण और द्रौपदी की कथा है। इसी प्रकार घट जातक (३५५) में कृष्ण द्वारा कंस-वध और द्वारका बसाने का पूरा वर्णन है। महा-कण्ह जातक (४६९) निमि जातक (५४१) और महानारदकस्सप जातक (५४४) में राजा उशीनर और उसके पुत्र शिवि का वर्णन है। सिविजातक (४९९) में भी राजा शिवि की दान-पारमिता का वर्णन है। अतः कहानी मूलतः बौद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। महाभारत में १०० ब्रह्मदत्तों का उल्लेख है (२.८.२३)[१] सम्भवतः ब्रह्मदत्त किसी एक राजा का नाम न होकर राजाओं का सामान्य विशेषण था, जिसे १०० राजाओं ने धारण किया। दुम्मेध जातक (५०) में भी राजा और उसके कुमार दोनों का नाम ब्रह्मदत्त बताया गया है। इसी प्रकार गंगमाल जातक (४२१) में कहा गया है कि ब्रह्मदत्त कुल का नाम है। सुसीम जातक (४११) कुम्मासपिंड जातक (४१५) अट्ठान जातक (४२५) लोमस्सकस्सप जातक (४३३) आदि जातकों की भी यही स्थिति है। अतः जातकों में आये हुए ब्रह्मदत्त केवल 'एक समय' के पर्याय नहीं हैं, ऐसा कहा जा सकता है। उनमें कुछ न कुछ ऐतिहासिकता भी अवश्य है। रामायण और महाभारत के अतिरिक्त पतंजलि के महाभाष्य में भी जातक-गाथाएँ उल्लिखित हैं,[२] प्राचीन जैन साहित्य में भी[३] और पंचतन्त्र, हितोपदेश, वैताल पंचविंशति, कथासरित्सागर तथा पैशाचीप्राकृत-निबद्ध 'बड्डकहा' (बृहत्कथा) में भी जातक का प्रभाव किस प्रकार स्पष्टतः उपलक्षित है, इसके निदर्शन के लिए तो कई महाग्रन्थों की आवश्यकता होगी।

'जातक' ने विदेशी साहित्य को भी किस प्रकार प्रभावित किया है और किस प्रकार उसके माध्यम से बुद्ध-वचनों का गमन दूरस्थ देशों में, यूरोप तक, हुआ है, इसकी कथा भी बड़ी अद्भुत है। जिस प्रकार जातक-कथाएँ समुद्र-मार्ग से लंका, बरमा, सिआम, जावा, सुमात्रा, हिन्द-चीन आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को गई और वहाँ स्थापत्य-कला आदि में चित्रित की गईं, उसी प्रकार स्थल-मार्ग से हिन्दुकुश और हिमालय को पार कर पच्छिमी देशों तक उनके

---

१. मिलाइये "शतं वै ब्रह्मदत्तानाम्" (मत्स्य पुराण)

२. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, पृष्ठ १७

३. विन्टरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४५, पद-संकेत २

पहुँचने की यात्रा भी बड़ी लम्बी और मनोहर है। पिछले पचास-साठ वर्षों की ऐतिहासिक गवेषणाओं से यह पर्याप्त रूप से सिद्ध हो चुका है कि बुद्ध-पूर्व काल में भी विदेशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्पर्क थे। बावेरु जातक (३३९) और सुसन्धि जातक (३६०) में हम इन सम्बन्धों की पर्याप्त झलक देख ही चुके हैं। द्वितीय-शताब्दी ईसवी पूर्व से ही अलसन्द (अलेक्ज़ेन्ड्रिया) जिसे अलक्षेन्द्र (अलेक्ज़ेन्डर) ने बसाया था, पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों का मिलन-केन्द्र हो गया था। वस्तुतः पश्चिम में भारतीय साहित्य और विशेषतः जातक-कहानियों की पहुँच अरब और फिर उनके बाद ग्रीक लोगों के माध्यम से हुई। पञ्चतन्त्र में अनेक जातक-कहानियाँ विद्यमान हैं, यह तथ्य सर्वविदित है। छठी शताब्दी ईसवी में पंचतन्त्र का अनुवाद पहलवी भाषा में किया गया। आठवीं शताब्दी में 'कलेला दमना' शीर्षक से उसका अनुवाद अरबी में किया गया। 'कलेला दमना' शब्द 'कर्कट' और 'दमनक' के अरबी रूपान्तर हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में पंचतंत्र के अरबी अनुवाद का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ, फिर धीरे-धीरे सभी यूरोपीय भाषाओं में उसका रूपान्तर हो गया। यह हमने पंचतन्त्र के माध्यम से जातक-कथाओं के प्रसार की बात कही है। वास्तव में सीधे रूप से भी जातक ने विदेशी साहित्य को प्रभावित किया है और उसकी कथा भी अत्यन्त प्राचीन है।

ग्रीक साहित्य में ईसप की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। फ्रेंच, जर्मन और अंग्रेज विद्वानों की खोज से सिद्ध है कि ईसप एक ग्रीक थे, यद्यपि उनके काल के विषय में अभी पूर्ण निश्चय नहीं हो पाया है। ईसप की कहानियों का यूरोपीय साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है और विद्वानों के द्वारा यह दिखा दिया गया है कि ईसप की प्रायः प्रत्येक कहानी का आधार जातक है।[1] यही बात अलिफलैला की कहानियों के सम्बन्ध में भी है। समुग्ग जातक (४३६) का तो सीधा सम्बन्ध अलिफलैला की एक कहानी से दिखाया ही गया है।[2] अन्य अनेक कहानियों की

---

१. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़, पृष्ठ ३२ (भूमिका)

२. देखिये डा० हेमचन्द्र राय चौधरी का "बुद्धिज्म इन वेस्टर्न एशिया" शीर्षक लेख डा० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित 'बुद्धिस्टिक स्टडीज" में, पृष्ठ ६३९-६४०

भी तुलना विद्वानों ने की है ।[1] आठवीं शताब्दी में अरबों ने यूरोप पर आक्रमण किया। स्पेन और इटली आदि को उन्होंने रोंद डाला। उन्हीं के साथ जातक-कहानियाँ भी इन देशों में गईं और उन्होंने धीरे धीरे सारे यूरोपीय साहित्य को प्रभावित किया। फ्रान्स के मध्यकालीन साहित्य में पशु-पक्षी सम्बन्धी कहानियों की अधिकता है। फ्रेंच विद्वानों ने उन पर 'जातक' के प्रभाव को स्वीकार किया है। बायबिल और विशेषतः सन्त जोन के सुसमाचार की अनेक कहानियों और उपमाओं की तुलना पालि त्रिपिटक और विशेषतः 'जातक' के इस सम्बन्धी विवरणों से विद्वानों ने की है। ईसाई धर्म पर बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यह अब प्रायः निर्विवाद माना जाने लगा है। इस प्रभाव में अन्य अनेक तत्त्वों के अतिरिक्त 'जातक' का भी काफी सहयोग रहा है। ईसाई सन्त प्लेसीडस की कथा की तुलना न्यग्रोधाराम जातक (१२) की कथा से की गई है, यद्यपि विन्टरनित्ज़ ने उसमें अधिक साम्य नहीं पाया है।[2] पर सब से अधिक साम्य तो मध्य-युग की रचना 'बरलाम एण्ड जोसफत' का जातक के 'बोधिसत्व' से है। इस रचना में, जो मूलतः छठी या सातवीं शताब्दी ईसवी में पहलवी में लिखी गई थी, भगवान् बुद्ध की जीवनी ईसाई परिधान में वर्णित की गई है। बाद में इस रचना के अनुवाद अरब, सीरिया इटली और यूरोप की अन्य भाषाओं में हुए। 'जोसफत' शब्द अरबी 'युदस्तफ' का रूपान्तर है, जो स्वयं संस्कृत 'बोधिसत्व' का अरबी अनुवाद है। ईसाई धर्म में सन्त 'जोसफत' को (जिनका न केवल नाम, बल्कि पूरा जीवन बोधिसत्व-बुद्ध का है) ईसाई सन्त के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] यह एक बड़ी अद्भुत किन्तु ऐतिहासिक रूप से सत्य बात है। श्रीमती रायस डेविड्स ने तो शेक्सपियर के मर्चेंट ऑव वेनिस में 'तीन डिब्बियों' तथा 'आध सेर मांस' के वर्णन में तथा 'ऐज़ यू लाइक इट' में 'बहुमूल्य रत्नों' के विवरण में जातक के प्रभाव को ढूंढ निकाला है, एवं स्लेवोनिक जाति के साहित्य

---

१. मिलाइये विन्टरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १३०, पद-संकेत २, आदि, आदि।

२. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५०, पद-संकेत २

३. देखिये जातक (प्रथमखंड) पृष्ठ३०, पद-संकेत १ (वस्तुकथा)

में तथा प्रायः सभी पूर्वी यूरोप के साहित्य में 'जातक' के प्रभाव की विद्यमानता दिखाई है।[1] भिक्षु शीलभद्र ने पर्याप्त उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि निमि जातक (५४१) ही चौदहवीं शताब्दी के इटालियन कवि दाँते की प्रसिद्ध रचना (Divina Comedia) का आधार है।[2] जर्मन विद्वान् बेन्फे ने 'जातक' को विश्व के कथा-साहित्य का उद्गम कहा है, जो तथ्यों के प्रकाश में अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार भारतीय साहित्य और संस्कृति के साथ विश्व के साहित्य और सभ्यता के इतिहास में 'जातक' के स्थान और महत्व के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन के बाद अब हम खुद्दक निकाय के अन्य ग्रन्थों पर आते हैं।

निद्देस

निद्देस के दो भाग हैं, महानिद्देस और चूल निद्देस। महानिद्देस सुत्त-निपात के अट्ठक वग्ग की व्याख्या है। इसी प्रकार चूल निद्देस एक प्रकार सुत्त-निपात के ही खग्ग विसाण सुत्त और पारायण की व्याख्या है। इस प्रकार पूरा निद्देस सुत्त-निपात के एक भाग की ही अट्ठकथा है। परम्परा से यह सारिपुत्र की रचना बताई जाती है। 'महानिद्देस' में हमें उन स्थानों, देशों और बन्दरगाहों की सूची मिलती है जिनके साथ भारत का व्यापार पाँचवीं-छठीं शताब्दी ईसवी पूर्व होता था। समुद्र, नदी और स्थल के कौन-कौन से मार्ग थे, इसका भी पूरा विवरण हमें यहाँ मिलता है।

---

1. "Thus for instance the Three Caskets and the Pound of Flesh in the Merchant of Venice and the Precious Jewels which in 'As You Like It' the venomous toad wears in his head, are derived from the Buddhist tales. In a similar way, it has been shown that tales current among the Hungarians and the numerous peoples of the Slavonic race have been derived from the Buddhist sources, through translations made for the Huns, who penetrated in the time of Genghis Khan into the East of Europe." **बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़, पृष्ठ १२ (भूमिका)**
२. **देखिये उनका** Influence of the Buddhist Jatakas on European Literature" **शीर्षक लेख, महाबोधि, जनवरी १९५०, पृष्ठ १०-१६; मिलाइये दि बुद्धिस्ट, जनवरी, १९४८, पृष्ठ ११८-१२० (कोलम्बो, सिंहल)।**

पटिसम्भिदामग्ग

इस ग्रन्थ का विषय अर्हत् के प्रतिसंवित् सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में तीन मुख्य भाग हैं, जिनमें से प्रत्येक में १० परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ का सम्बन्ध शैली और विषय दोनों की दृष्टि से अभिधम्म पिटक से अधिक है। इसका कुछ विवरण हम आगे अभिधम्म पिटक का विवेचन करते समय करेंगे।

अपदान

अपदान (सं० अवदान) खुद्दक-निकाय के उत्तरकालीन ग्रन्थों में से है। इसमें बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के पूर्व जन्मों के महान् कृत्यों का वर्णन है। जातक के समान इसकी भी कहानी के दो भाग होते हैं, एक अतीत जन्म-सम्बन्धी और दूसरा वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) जीवन-सम्बन्धी। अपदान दो भागों में विभक्त है, थेर-अपदान और थेरी-अपदान। थेर-अपदान में ५५ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में १० अपदान हैं। थेरी-अपदान में ४ वर्ग हैं, जिनमें भी प्रत्येक में १० अपदान हैं। साहित्य या इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कोई विशेष महत्व नहीं है। हाँ, इसी ग्रन्थ पर संस्कृत बौद्ध साहित्य का अवदान-साहित्य अधिकांशतः आधारित है, यह इसका एक महत्त्व अवश्य कहा जा सकता है। 'अपदान' में चीनी लोगों के व्यापारार्थ उत्तरी पंजाब में आने का उल्लेख है।

बुद्धवंस[1]

बुद्धवंस २८ परिच्छेदों का एक पद्यात्मक ग्रन्थ है, जिसमें गौतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ अन्य बुद्धों की जीवनियों का विवरण है। गौतम बुद्ध के जीवनी सम्बन्धी अंश को छोड़ कर शेष तो प्रायः पौराणिक ढंग का ही है, अतः उसका महत्त्व भी केवल उसी दिशा में समझना चाहिए।

चरियापिटक[2]

चरियापिटक में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की चर्याओं का वर्णन है, जिसमें

---

१. २. इनके देवनागरी संस्करण भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं, जिन्हें महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप ने सम्पादित किया है। 'चरियापिटक' का देवनागरी लिपि में सम्पादन डा० विमलाचरण लाहा ने भी किया है, जिसे मोतीलाल बनारसीदास, लाहोर, ने प्रकाशित किया था।

यह दिखाया गया है कि किस प्रकार भगवान् ने नाना पारमिताओं को पूरा किया था। दस पारमिताओं में से यहाँ केवल सात का उल्लेख है, यथा दान, शील, नैष्कर्म्य, अधिष्ठान, सत्य, मैत्री और उपेक्षा। प्रज्ञा, वीर्य और क्षान्ति का वर्णन नहीं है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ६ परिच्छेदों में है जिनमें कुल मिला कर २५ जीवन-चर्याओं का वर्णन है। प्रत्येक जीवन-चर्या का वर्णन एक जातक-कथा सा लगता है जिसे गाथात्मक रूप दे दिया गया है। नाम-साम्य भी दोनों में पूरा है। उदाहरण के लिए 'अकित्ति-चरियं' 'अकित्ति-जातक' का रूपान्तर मात्र है। इसी प्रकार 'संख-चरियं' 'संखपालजातक के, 'कुरुधम्म चरियं' 'कुरुधम्म जातक' के तथा इसी प्रकार शेष चर्याएँ प्रायः उसी नाम के जातक के पद्यात्मक रूपान्तर मात्र हैं। जातक से अत्यन्त सम्बन्धित होते हुए भी चरियापिटक का कलात्मक रूप उस कोटि तक नहीं पहुँच पाया है। वैसे कई मनोहर गाथाएँ भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ती हैं।

'चरियापिटक' की प्रत्येक 'चर्या' की तुलना किस जातक से है, यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होगा।

१—दान पारमिता

१. अकित्ति चरियं—अकित्ति जातक (४८०)
२. संख चरियं—संखपाल जातक (५२४)
३. कुरुधम्म चरियं—कुरुधम्म जातक (२७६)
४. महासुदस्सन चरियं—महासुदस्सन जातक (९५)
५. महागोविन्द चरियं—महागोविन्द सुत्तन्त (दीघ निकाय)
६. निमिराज चरियं—निमि जातक (५४१)
७. चन्दकुमार चरियं—खंडहाल जातक (५४२)
८. सिविराज चरियं—सिवि जातक (४९९)
९. वेस्सन्तर चरियं—वेस्सन्तर जातक (५४७)
१०. ससपंडित चरियं—सस जातक (३१६)

२—सील पारमिता

३—नेक्खम्म पारमिता

४—अधिट्ठान पारमिता

५—सच्च पारमिता

६—मैत्री पारमिता

३३. सुवण्णसाम चरियं—सस जातक (५४०)
३४. एकराज चरियं—एकराज जातक (३०३)

७—उपेक्खा पारमिता

३५. महालोमहंस चरियं—लोमहंस जातक (९४)

चौथा अध्याय

विनय-पिटक

त्रिपिटक में विनय-पिटक[1] का स्थान

विनय-पिटक बौद्ध संघ का संविधान है। अतः धार्मिक दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है। बुद्ध-धर्म का प्रथम तीन शताब्दियों का इतिहास विनय-पिटक संबंधी विवादों और मतभेदों का ही इतिहास है। शास्ता के महापरिनिर्वाण के बाद ही 'क्षुद्रानुक्षुद्र' विनय-सम्बन्धी नियमों को लेकर भिक्षु-संघ में विवाद उठ खड़ा हुआ था, जिसका प्रथम संघ-भेदक परिणाम वैशाली की संगीति में दृष्टिगोचर हुआ और बाद में तृतीय संगीति तक आते आते वह अष्टादश निकायों के रूप में पूर्णतः प्रस्फुटित हो गया। यह बात नहीं है कि इसके अन्य कारण न रहे हों, किन्तु विनय-विपरीत आचरण एक प्रमुख कारण था। यही कारण है कि स्थविरवाद बौद्ध धर्म की परम्परा ने 'विनय-पिटक' को अपनी धर्म-साधना में सदा एक अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया है। बुद्ध के जीवन-काल में ही उनके विद्रोही शिष्य देवदत्त ने विनय-सम्बन्धी नियमों में कुछ अधिक कड़ाई की माँग की थी। उसने उस स्वतंत्रता के विरुद्ध ही, जो तथागत ने अपने शिष्यों को दी थी, विद्रोह किया था। इसी प्रकार कौशाम्बिक भिक्षुओं के दुर्व्यवहार के कारण भगवान् को खिन्न हो कर एक बार भिक्षु-संघ को कुछ काल के लिए छोड़ कर एकान्त-वास के लिए जाना पड़ा था। इन सब बातों से स्पष्ट था कि भगवान् ने जिस धम्म का उपदेश दिया था उसका साक्षात्कार बिना जीवन की पवित्रता के असम्भव था। उस पवित्रता के सम्पादन के लिए जिस साधन-मार्ग की आवश्यकता थी उसका वास्त-

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित, महाबोधि सभा, सारनाथ १९३५; ए० ब० बवेकर ने विनय-पिटक के 'पातिमोक्ख' अंश का नागरी लिपि में सम्पादन किया है।

विक उपदेश तो उनके 'धम्म' में ही दे दिया गया था, किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघों की स्थापना के बाद, उनमें कुछ असंयमी और अ-वैराग्यवान् व्यक्तियों के भी स्वाभाविक रूप से प्रविष्ट हो जाने के कारण, उनकी व्यवस्था को कुछ बाह्य नियमों में भी बाँधने की आवश्यकता थी। यही कारण है कि हम विनय-पिटक में नाना प्रकार के नियमों का प्रज्ञापन बुद्ध-मुख से हुआ देखते हैं, जिनके प्रज्ञापन करने की उनके अपने उस प्राथमिक उपदेश-काल में, जब तपस्सु और भल्लिक जैसे उपासक केवल बुद्ध और धम्म की शरण जाते थे (संघ की स्थापना ही उस समय नहीं हुई थी, अतः स्वभावतः पारिभाषिक अर्थों में विनय-सम्बन्धी नियमों की भी नहीं) कोई आवश्यकता ही नहीं थी।[1] बुद्ध-धर्म की साधना का यह वह युग था जब बुद्ध कह सकते थे—

"यं मया सावकानं सिक्खापदं पञ्ञत्तं तं मम सावका जीवितहेतु पि नातिक्कमन्ति (अंगुत्तर-निकाय) अर्थात् "जिन शिक्षापदों (सदाचार-नियमों) का मैंने उपदेश किया है, उनको मेरे शिष्य अपने प्राणों के लिये भी कभी नहीं तोड़ते।"

उस समय शिक्षा-पद थे, किन्तु वे धर्म में ही अन्तर्हित थे। बोधिपक्षीय धर्मों की भावना और तदनुकूल आचरण स्वयं अपने आप में चित्त और काया की विशुद्धि के लिए एक अद्वितीय मार्ग था। चार आर्य-सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि सभी उस साधना के अंग थे। चार स्मृति-प्रस्थानों के विषय में तो स्वयं भगवान् ने कहा है "भिक्षुओ! प्राणियों की विशुद्धि के लिए. . . .निर्वाण के साक्षात्कार के लिए, यही अकेला सर्वोत्तम मार्ग है।" कहने का तात्पर्य यही है कि जब भगवान् बुद्ध ने प्रारम्भ से ही सभी पाप-कर्मों को न करने, सभी कुशल कर्मों को करने और चित्त को संयमित कर उसे शुद्ध रखने का आदेश देते हुए अपने धम्म को प्रकाशित किया, तो 'विनय' उसमें स्वयं अपने आप सम्मिलित था। लौकिक सफलता और महत्व-प्राप्ति के लिए भी जब संयम, या जिसे आज अनु-शासन कहा जाता है, इतना आवश्यक है, तो ब्रह्मचर्य के उस महत् उद्देश्य के

---

१. यद्यपि विनय-पिटक के वर्णनानुसार यह काल बहुत कम दिन रहा, किन्तु इसकी तो पवित्रता तो बहुत दिन रही।

लिए, जिसकी महत्ता सभी लौकिक और पारलौकिक उद्देश्यों को अतिक्रमण करती है, कितना आवश्यक था, इसका सर्वोत्तम दर्शन हमें बुद्ध-उपदेशों में ही होता है। स्वभावतः शास्ता के धम्म और विनय दोनों एक चीज हैं, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। उनके सामासिक स्वरूप 'धम्म-विनय' का भी यही रहस्य है।

जब कि बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार धम्म और विनय का एक सा ही महत्त्व है, 'विनय-पिटक' के नियम शास्ता के शासन के बाहरी रूप मात्र हैं। उनका मानसिक आधार निश्चित होते हुए भी स्वयं उनका प्रज्ञापन उस अवस्था का सूचक है जब संघ में प्रविष्ट कुछ अ-संयमी भिक्षु तथागत-प्रवेदित धर्म के विरुद्ध आचरण करने लगे थे। जब तक यह बात नहीं हुई तथागत को नियम विधान करने की आवश्यकता नहीं हुई। धर्मसेनापति के साथ भगवान् के इस संलाप से यह बात स्पष्ट होगी। धर्मसेनापति सारिपुत्र भगवान् से प्रार्थना करते हैं "भन्ते! भगवान् शिष्यों के लिए शिक्षा-पद का विधान करें, प्रातिमोक्ष का उपदेश करें, जिससे कि यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी हो।" भगवान् कहते हैं, "सारिपुत्र! ठहरो, तथागत काल जानेंगे। सारिपुत्र! शास्ता तब तक श्रावकों (शिष्यों) के लिए शिक्षा-पद का विधान नहीं करते, प्रातिमोक्ष का उपदेश नहीं करते, जब तक कि संघ में कोई चित्त-मल वाले धर्म (पदार्थ) उत्पन्न नहीं होते। सारिपुत्र! जब यहाँ संघ में कोई चित्त-मल को प्रकट करने वाले धर्म पैदा हो जाते हैं, तो उन्हीं का निवारण करने के लिए, उन्हीं के प्रतिघात के लिए, शास्ता श्रावकों को शिक्षा-पद का विधान करते हैं, प्रातिमोक्ष का उपदेश करते हैं........ (अभी तो) सारिपुत्र! संघ मल-रहित, दुष्परिणाम-रहित, कालिमा-रहित, शुद्ध, सार में स्थित है। इन पाँच सौ भिक्षुओं में जो सब से पिछड़ा भिक्षु है, वह भी स्रोत-आपत्ति फल को प्राप्त, दुर्गति से रहित और स्थिर संबोधि-परायण है।"[1] अतः निश्चित है कि विनय-सम्बन्धी नियमों का उपदेश जैसे कि वे विनय-पिटक में निहित हैं, भगवान् के द्वारा 'धर्म्म' के बाद दिया गया जब कि अधिक मल-ग्रस्त व्यक्ति उसके आधार पर अपना सुधार नहीं कर सके।

---

१. विनय-पिटक, पाराजिका १

एक बार शिक्षापदों और प्रातिमोक्ष-सम्बन्धी नियमों का प्रज्ञापन करने के बाद संघ की स्थिति के लिए वह अत्यन्त आवश्यक हो गया। किन्तु शास्ता यह जानते थे कि एक बार आन्तरिक संयम से च्युत हो जाने के बाद उसे बाहरी नियमों के बन्धन में बाँध कर नहीं रक्खा जा सकता था। भिक्षुणी-संघ की स्थापना के समय भिक्षुणियों के लिए जीवन-पर्यन्त पालनीय आठ गुरु धर्मों (बड़ी शर्तों) का विधान करते समय ही शास्ता को यह प्रतिभान हो गया था कि यह बाहरी रोक-थाम अधिक दिन तक चल नहीं सकती। "आनन्द ! जैसे आदमी पानी को रोकने के लिए, बड़े तालाब की रोक-थाम के लिए, मेंड़ बाँधे, उसी प्रकार आनन्द ! मैंने रोक थाम के लिए, भिक्षुणियों को जीवन भर अनुल्लंघनीय आठ गुरु धर्मों को स्थापित किया।" फलतः "आनन्द ! अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।" विचार-स्वातन्त्र्य की महत्त्वानुभूति पर आश्रित बुद्ध-मन्तव्य कभी मनुष्य को बाहरी नियमों के बन्धन में बाँधने वाला नहीं हो सकता था। जो कुछ भी नियम उन्होंने आवश्यकतावश प्रज्ञप्त किये थे, उनमें से अनेक ऐसे भी हो सकते थे जो उसी युग और परिस्थिति के लिए अनुकूल हों और जिनका सार्वकालिक या सार्वजनीन महत्त्व प्रतिष्ठापित करना उसी बुद्धिहीनता, संकुचित वृत्ति और सच्चे उद्देश्य को छोड़ कर बाहरी रूप की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति का सूचक हो, जो धर्म-साधनाओं के इतिहास में अक्सर देखा जाता है, इसकी भी पूरी अनुभूति भगवान् बुद्ध को थी, यह हम परिनिर्वृत्त होने से पहले उनके इस आदेश में देखते हैं "इच्छा होने पर संघ मेरे बाद क्षुद्रानुक्षुद्र (छोटे-मोटे) शिक्षा पदों को छोड़ दे।" संघ बाहरी बन्धन अनुभव न करे, इसीलिए उन्होंने अपने बाद किसी व्यक्ति को जान बूझ कर उसका नेता तक नहीं चुना।[१] एकमात्र 'धम्म-विनय' रूपी नेता की शरण में ही उन्होंने भिक्षु-संघ को छोड़ा। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया "भिक्षुओ ! मैंने बेड़े की भाँति निस्तरण के लिए तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नहीं। धर्म को बेड़े के समान उपदिष्ट जान कर तुम धर्म को भी छोड़ दो, अधर्म की तो बात ही क्या ?"[२] यही बात विधि-निषेध-परक

---

१. देखिये विशेषतः महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ, २।३); गोपक-मोग्गल्लान-सुत्त (मज्झिम ३।१।८)

२. अलगद्दूपम-सुत्त (मज्झिम १।३।२)

विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में भी कही जा सकती है। चेतना (चित्त) को ही कम्म (कर्म) कहने वाले[1] शास्ता का यह बाहरी नियम-विधान अन्तिम मन्तव्य नहीं हो सकता था, यह ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। किन्तु निर्बल, मल-ग्रस्त मानवता के लिए और क्या किया जाय ? बाहरी नियम-विधानों से काम नहीं चलता, वे अपूर्ण ठहरते हैं, किन्तु उनके प्रज्ञापन किये बिना काम भी नहीं चलता ! जब सम्यक् सम्बुद्ध ने मनुष्यों का शास्ता बनना स्वीकार कर लिया, उनके बीच रहना-सहना, घूमना-फिरना स्वीकार कर लिया, संघ को धारण करना स्वीकार कर लिया,[2] मनुष्यों को विशुद्धि रूपी निर्वाण के मार्ग पर लगाना स्वीकार कर लिया, तो उनकी चित्त-स्थिति के लिए अनुकूल नियम-विधान भी वे क्यों नहीं करते? उनके शिष्यों में जो प्रधान थे, वे स्वतः ही भगवान् के 'धम्म' के अनुसार आचरण करते थे। अतः उन्हें अलग से विनय-सम्बन्धी नियमों का उपदेश करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु 'बहुजनों' में अधिकांश तो मल-ग्रस्त प्राणी ही थे। उन्हीं के पतन को देख कर भगवान् ने बाहरी नियमों का विधान किया, जिन्हें हम आज विनय-पिटक में देखते हैं। इनमें से बहुत कुछ बाहरी होते हुए भी अधिकांश मानसिक भित्ति पर ही आश्रित हैं, जो बुद्ध-मन्तव्य की सब से बड़ी विशेषता है। संयुत्त-निकाय के भिक्खु-संयुत्त में किस प्रकार भगवान् बुद्ध ने नन्द और तिस्स तथा अन्य भिक्षुओं को विनय-सम्बन्धी नियमों को कड़ाई के साथ पालन करने का आदेश दिया है, यह हम पहले देख चुके हैं।

---

१. **चेतनाहं भिक्खवे कम्मं वदामि। चेतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा। अंगुत्तर-निकाय।**

२. **केवल व्यावहारिक अर्थ में। वास्तव में तो संघ की पूरी व्यवस्था करते हुए भी भगवान् सदा निर्लिप्त ही रहे। जब आनन्द उनसे अन्तिम समय पर भिक्षु-संघ के लिए कुछ कहने के लिए प्रार्थना करते हैं, तो भगवान् कहते हैं, "आनन्द ! जिसको ऐसा हो कि मैं भिक्षु-संघ को धारण करता हूँ...... वह जरूर आनन्द ! भिक्षु-संघ के लिए कुछ कहे। आनन्द ! तथागत को ऐसा नहीं है।" एक और स्थान पर भगवान् अपनी निर्लेपता का साक्ष्य देते हैं "मागन्दिय! धर्मों का अन्वेषण कर के मुझे 'मैं यह कहता हूँ' यह धारणा नहीं हुई।"**

अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध ने विनय सम्बन्धी नियमों को पूरी तरह पालन करने का भिक्षुओं को उपदेश दिया है। जब तक भगवान् जीवित रहे, तब तक उनके व्यक्तित्व और साक्षात् सम्पर्क मे मनुष्यों को प्रेरणा मिलती थी। किन्तु उनके परिनिर्वाण के बाद तो विनय-सम्बन्धी नियम ही संघ की एकता और मौलिक पवित्रता के एक मात्र मापदंड रह गए। उसके बाद बौद्ध संघ में विनय-पिटक का जो महान् आदर और गौरव प्रतिष्ठापित हुआ वह उसकी संकीर्णता या साम्प्रदायिकता का द्योतक नहीं था। वह भिक्षुओं की उस व्यग्रता का द्योतक था जिसके साथ वे 'छिले शंख की तरह निर्मल' (शंख-लिखित) शाक्य-मुनि के शासन को उसकी मौलिक पवित्रता में रखना और देखना चाहते थे। उनका वह प्रयत्न बेकार नहीं गया है, यह हम आज भी देख सकते हैं। वैशाली की संगीति के अवसर पर ही धर्म-वादी भिक्षुओं ने किस प्रकार भगवान् के मौलिक उद्देश्यों की रक्षा की, यह हम उसके विवरण मे (द्वितीय अध्याय में) देख चुके हैं। लंका, बरमा और स्याम के भिक्षु-संघों के इतिहास में किस प्रकार विहार-सीमा और पारुपण (चीवर को दोनों कन्धे ढँक कर पहनना), एकंसिक (चीवर को इस प्रकार पहनना, जिससे एक कन्धा, दाहिना कन्धा खुला रहे) आदि अल्प महत्त्व के विनय-सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर भी उत्तरकालीन युगों में जो वाद-विवाद होते रहे हैं वे न केवल उन देशो में बुद्ध-धर्म के जीवित स्वरूप में विद्यमान होने के प्रमाण हैं, बल्कि उसे उसी मौलिक, अक्षुण्ण पवित्रता के साथ रखने की व्यग्रता के भी अविवाद लक्षण हैं। अतः स्थविरवादी बौद्ध धर्म के क्षेत्र में विनय-पिटक की जो प्रतिष्ठा प्रारम्भिक युग से अब तक रही है, वह एक जीवित ऐतिहासिक तथ्य है और ऊपर के तथ्यों को देखते हुए वह सार्थक भी है।

बौद्ध संघ में विनय-पिटक का सदा से कितना आदर रहा है और उसके उत्तरकालीन इतिहास के निर्माण में उसका कितना बड़ा हाथ रहा है, यह ऊपर के विवरण से स्पष्ट है। वास्तव में भिक्षु-संघ ने अत्यन्त प्राचीन काल से उसे सुत्त-पिटक से भी अधिक ऊँचा स्थान दिया है, क्योंकि उसे ही उन्होंने बुद्ध-शासन की आयु माना है। उनका विश्वास रहा है कि जब तक विनय-पिटक अपने मौलिक, विशुद्ध रूप में रहेगा तभी तक बुद्ध-शासन भी जीवित रहेगा और विनय-सम्बन्धी

नियमों के अभ्यास के लुप्त हो जाने पर बुद्ध-शासन भी लुप्त हो जायगा। विशेषतः सिंहल और स्याम के भिक्षु-संघ में अभी तक यह विश्वास दृढ़ है और वे विनय, सुत्त, अभिधम्म यह क्रम महत्त्व की दृष्टि से त्रिपिटक का करते हैं। विनय-सम्बन्धी मामलों में बरमी भिक्षु-संघ पर सिहली प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी से ही रहा है।[1] दोनों देशों में बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल (चौथी-पाँचवी शताब्दी के प्रसिद्ध पालि अट्ठकथाकार) के काल से लेकर ठीक आधुनिक काल तक विनय-पिटक पर विपुल व्याख्यापरक साहित्य की रचना हुई है, जो इन देशों में उसकी जीवित परम्परा का सूचक है। न केवल स्थविरवाद बौद्ध धर्म की परम्परा में ही बल्कि अन्य बौद्ध सम्प्रदायों में भी विनय की महिमा सुरक्षित है, फिर चाहे उनके विनय-पिटक का स्वरूप स्थविरवादी बौद्धों के विनय-पिटक से भले ही कुछ थोड़ा विभिन्न हो। चीन और जापान में 'रिश्शू' नामक बौद्ध सम्प्रदाय है, जिसका शाब्दिक अर्थ ही है 'विनय-सम्प्रदाय'। यह सम्प्रदाय 'धम्मगुत्तिक' विनय को ही अपना मुख्य आधार मानता है। इस प्रकार विनय की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण बौद्ध सम्प्रदायों में समान रूप से पाई जाती है।

ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से भी विनय-पिटक का बड़ा महत्त्व है। पिटक-साहित्य के कालानुक्रम के विवेचन में हम देख चुके हैं कि विनय-पिटक के अनेक अंश त्रिपिटक के प्राचीनतम अंशों में से हैं। न केवल बुद्ध की जीवनी, बल्कि उनके द्वारा संघ की स्थापना, उनके जीवन-काल में संघ का विकास, उसके नियम, उसका शासन, एवं बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद १०० साल तक का उसका प्रामाणिकतम इतिहास, यह सब हमें विनय-पिटक से ही मिलता है। प्रथम दो बौद्ध संगीतियों के विषय में किस प्रकार विनय-पिटक का विवरण प्राचीनतम और प्रामाणिकतम है, यह हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं। इसके अलावा बुद्ध के शिष्यों का परिचय, छठी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के भारत का सामाजिक विवरण, विशेषतः बुद्धकालीन संघ और तत्सम्बन्धी विवरण, इस सबके लिये विनय-पिटक के

---

१. सिंहली विनय-पिटक सम्बन्धी ग्रन्थों के आधार पर ही बरमा में इस सम्बन्धी साहित्य की रचना हुई। देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५

समान अन्य कोई प्रामाणिक साधन हमारे पास नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से यद्यपि विनय-पिटक का महत्त्व उतना नहीं दिखाया जा सकता क्योंकि उसका अधिकांश भाग नियमों का प्रज्ञापक है जो अत्यन्त नीरस ही हो सकता है। फिर भी 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' आदि गम्भीर बुद्ध-प्रवचन भी यहाँ रक्खे हुए हैं, जो उसके ऐतिहासिक अंश के समान ही उसे महत्ता प्रदान करते हैं।

विनय-पिटक का विषय और उसका संकलन-काल

भिक्षु और भिक्षुणी संघ ही विनय-पिटक के एक मात्र विषय हैं, ऐसा कहा जा सकता है। वह बौद्ध संघ का संविधान और एक मात्र आधार है। बौद्ध संघ की व्यवस्था, भिक्षु और भिक्षुणियों के नित्य-नैमित्तिक कृत्य, उपसम्पदा-नियम, देसना-नियम, वर्षावास के नियम, भोजन, वस्त्र, पथ्य-औषधादि सम्बन्धी नियम, संघ के संचालन सम्बन्धी नियम, संघ-भेद होने पर संघ-सामग्री (संघ की एकता) सम्पादित करने के नियम, आदि नियम-समूह विनय-पिटक में विवृत किये गये हैं। इन सभी नियमों का प्रज्ञापन भगवान् बुद्ध के द्वारा ही हुआ है, ऐसी बौद्ध संघ की सामान्यतः मान्यता है। विनय-पिटक का संकलन, जैसा हम ने प्रथम संगीति के विवरण में देखा है, धम्म या सुत्त-पिटक के साथ-साथ प्रथम संगीति के अवसर पर ही हुआ। उसके प्रारम्भ में ही हम आर्य महाकाश्यप को कहते देखते हैं 'धम्मं च विनयं च सङ्गायेय्याम" अर्थात् "हम धम्म और विनय का संगायन करें"। अतः सुत्त और विनय के संकलन-काल में कुछ ऐसा पूर्वापर स्थापित नहीं किया जा सकता, जैसा अक्सर पच्छिमी विद्वानों ने किया है। कुछ पच्छिमी विद्वानों (कर्न, पूसाँ आदि) ने विनय-पिटक को सुत्त-पिटक मे पूर्व का संकलन माना है, कुछ (फ्रैंक आदि) ने उसके बाद का भी। किन्तु ये दोनों ही मत निराधार हैं। सुत्त और विनय में अनेक उपदेश समान हैं, विनय-सम्बन्धी अनेक उपदेश सुत्त-पिटक में भी मिलते हैं, और सुत्त-पिटक के अनेक बुद्ध--धर्म और बुद्ध-जीवन सम्बन्धी प्रकरण विनय-पिटक में मिलते हैं। दोनों की शैली प्राचीनता की सूचक है। अतः उन दोनों को समकालीन मानना ही अधिक युक्तिसंगत है। वैशाली की संगीति के अवसर पर विनय-सम्बन्धी कुछ विवादों का निर्णय हुआ था, अतः उसके आधार पर सम्भव है इस पिटक के रूप में कुछ

अन्तर कर दिया गया हो। चूंकि इस संगीति का इस पिटक में विवरण भी है, अतः उसी समय इसके रूप का अन्तिम स्थिरीकरण हो गया था, यही इसके संकलन-काल के विषय में हमें जानना चाहिये।

बौद्ध परम्परा विनय-सम्बन्धी सब नियमों का प्रज्ञापन बुद्ध-मुख से ही हुआ मानती है। आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवी शताब्दी ईसवी) ने समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के प्रारम्भ में भिक्षुओं की उस अप्रतिहत परम्परा का उल्लेख किया है जिसने बुद्ध-काल से लेकर उनके समय तक विनय-पिटक का उपदेश दिया। बुद्ध-काल में विनय-धरों में उपालि स्थविर प्रधान थे, यह हम अंगुत्तर-निकाय के एतदग्गवग्ग से जानते हैं। प्रथम संगीति के अवसर पर उन्होंने ही विनय का संगायन किया, यह विनय-पिटक की सूचना है। अतः विनय-धरों की परम्परा स्थविर उपालि से ही प्रारम्भ होती है। बुद्ध-शिष्य उपालि से लेकर अशोक के समकालिक मोग्गलिपुत्त तिस्स तक विनयधरों की इस परम्परा का उल्लेख आचार्य बुद्धघोष ने इस प्रकार किया है (१) बुद्ध (२) उपालि (३) दासक (४) सोणक (५) सिग्गव और (६) मोग्गलिपुत्त तिस्स। "श्री जम्बुद्वीप में तृतीय संगीति तक इस अटूट परम्परा से विनय आया।......तृतीय संगीति से आगे इसे इस (लंका) द्वीप में महेन्द्र आदि लाये। महेन्द्र से सीख कर कुछ काल तक अरिष्ट स्थविर आदि द्वारा चला। उनमें ही उनके शिष्यों की परम्परा वाली आचार्य-परम्परा में आज तक विनय आया, जैसा कि पुराने आचार्यों ने कहा है, (७) महिन्द, इट्ठिय, उत्तिय, संवल और भद्दसाल ये महाप्राज्ञ भारत (जम्पुद्वीप) से यहाँ आये। उन्होंने तम्बपण्णि (ताम्रपर्णी-लंका) द्वीप में विनय-पिटक पढ़ाया......तब (८) आर्य तिष्यदत्त (९) काल सुमन (१०) दीर्घ स्थविर (११) दीर्घ सुमन (१२) काल सुमन (१३) नाग स्थविर (१४) बुद्धरक्षित (१५) तिष्य स्थविर (१६) देव स्थविर (१७) सुमन (१८) चूलनाग (१९) धर्मपालित (२०) रोहण (२१) क्षेम (२२) उपतिष्य (२३) पुष्यदेव (२४) सुमन (२५) पुष्य (२६) महाशिव (महासीव) (२७) उपालि (२८) महानाग (२९) अभय (३०) तिष्य (३१) पुष्य (३२) चूल अभय (३३) तिष्य स्थविर (३४) चूलदेव (३५) शिव स्थविर... ...इन महाप्राज्ञ, विनयज्ञ मार्ग-कोविदों ने ताम्रपर्णी (लंका) द्वीप में विनय-पिटक को प्रकाशित

किया"[1] जिस प्रकार किसी कालेज की दीवाल में लगे हुए प्रस्तरपट पर उसके प्रिंसिपलों के खुदे हुए नामों की सूची में कोई सन्देह नहीं करता, उसी प्रकार हमें विनय-धरों की इस सूची को भी प्रामाणिक मानना चाहिये।

विनय-पिटक के भेद

पालि संस्करण के अतिरिक्त विनय-पिटक के छह और संस्करण चीनी अनुवादों में मिलते हैं। इनके नाम हैं (१) जूजु-रित्सु, सर्वास्तिवादियों का विनय (२) शिबुन्-रित्सु, धम्मगुत्तिक या धर्मगुप्तिक सम्प्रदाय का विनय (३) मयसोगि-रित्सु, महासंघिक सम्प्रदाय का विनय (४) कोन्-पोन-सेत्सु-इस्से-उबु, नवीन या उत्तरकालीन सर्वास्तिवादियों का विनय (५) गोबुन-रित्सु या महिंसासक विनय (६) विनय। विनय-पिटक के इन छह चीनी संस्करणों में आपस में बहुत कम भेद है। मौलिक रूप से वे सब समान हैं। जिन सम्प्रदायों से वे सम्बन्धित हैं, उनका उद्भावन अशोक के काल से पहले ही हो चुका था। वे सब स्थविरवाद बौद्ध धर्म की ही शाखा थे और विनय-सम्बन्धी कुछ छोटे-मोटे मत-भेदों के कारण ही उनसे अलग हो गये थे। 'कथावत्थु' में इन सब का वर्णन आया है। पाँचवें अध्याय में हम इन सब के सिद्धान्तों का विवरण देंगे। यहाँ अलग से परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अलावा अन्य १७ बौद्ध सम्प्रदायों के, जो तृतीय संगीति तक उत्पन्न हो चुके थे, साहित्य के विषय में हमें अभी कोई महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। केवल सर्वास्तिवादियों का कुछ साहित्य मिला है, जिसका कुछ विवरण हम ने सुत्त-पिटक के विवेचन के आरम्भ में दिया है और उनके अभिधर्म-साहित्य का स्थविरवादियों के साथ तुलनात्मक विवेचन हम पाँचवें अध्याय में करेंगे। यह प्रसन्नता की बात है कि विनय के क्षेत्र में न केवल सर्वास्तिवादियों का ही बल्कि उनसे अतिरिक्त अन्य पाँच प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों का भी साहित्य मिलता है जो सब उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के विकास की दृष्टि से हीनयानी ही थे। न केवल विनय-पिटक ही बल्कि उसकी पाँच व्याख्याएँ भी चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं। उनके नाम हैं (१)

---

१. बुद्धचर्या पृष्ठ ५७६ में अनुवादित। मोग्गलिपुत्त तिस्स तक की परम्परा के लिए देखिये आगे नवें अध्याय में 'महावंस' सम्बन्धी विवरण भी।

विनि-मो-रोन् या विनय-माता-वण्णना (२) भतो-रोग-रोन् या मातिका अथवा मात्रिका-वण्णना (३) जैन्-कैन्-रोन् (पासादिका-वण्णना) (४) सब्बत-रोन् (सब्बत्थि-वण्णना) (५) म्यो-र्यो-रोन् या पाकटवण्णना। चीनी भाषा में 'रोन्' 'विभाषा' या 'वण्णना' (वर्णन, व्याख्या) को कहते हैं। 'जैन्-कैन्- रोन्' बुद्धघोषकृत 'समन्तपासादिका' (विनय-पिटक की अट्ठकथा) का चीनी अनुवाद है। पहले यह 'धम्मगुत्तिक' सम्प्रदाय के विनय 'शिबुन्-रित्सु' की व्याख्या समझी जाती थी। किन्तु जापानी विद्वान् नगई ने इस भ्रम का निवारण कर दिया है।[1] चीनी और जापानी बौद्ध धर्म की दृष्टि से 'धम्मगुत्तिक' (धर्मगुप्तिक) सम्प्रदाय का विनय-पिटक शिबुन-रित्सु ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। वहाँ के रिश्शू सम्प्रदाय (विनय-सम्प्रदाय) का यही आधार-भूत ग्रन्थ है। पालि विनय पिटक के साथ चीनी विनय-पिटक की तुलना के प्रसंग में इसी संस्करण को लिया जा सकता है और बाकी छोटे-मोटे विभेदों को, जो बहुत अल्प हैं, अलग से दिखाया जा सकता है। यहाँ हमें तुलना केवल 'शिक्षापदों' या विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में करनी है, जो ही विनय-पिटक के आधार-भूत विषय हैं, चाहे वह किसी सम्प्रदाय या संस्करण का हो।

पालि विनय-पिटक के शिक्षापदों की संख्या २२७ है, जिनकी गणना इस प्रकार है—

१. पाराजिका	४
२. संघादिसेसा	१३
३. अनियता धम्मा	२
४. निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा	३०
५. पाचित्तिया धम्मा	९२
६. पटिदेसनिया धम्मा	४
७. सेखिया धम्मा	७५
८. अधिकरणसमथा धम्मा	७
	२२७

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ३६८ में नगई के 'बुद्धिस्ट विनय डिसिप्लिन' शीर्षक लेख का अंश।

चीनी विनय-पिटक के प्रायः सभी संस्करणों में शिक्षापदों की यह संख्या २५० है। 'शिबुन्-रित्सु' के अनुसार यह गणना इस प्रकार है—[१]

१.	पाराजिका	४
२.	संघावशेष (संघादिसेसा)	१३
३.	अनियत	२
४.	निःसर्गिक पातयन्तिक (निस्सग्गिया पाचित्तिया)	३०
५.	पातयन्तिक (पाचित्तिय)	९०
६.	प्रतिदेशनीय (पटिदेसनिया)	४
७.	शैक्ष्य (सेखिया)	१००
८.	अधिकरण-शमथ	७
		२५०

विनय-पिटक के चीनी-संस्करणों के अलावा एक तिब्बती संस्करण भी मिलता है।[२] यह मूल सर्वास्तिवादियों के प्रातिमोक्ष का तिब्बती अनुवाद है। इसके अनुसार शिक्षापदों की संख्या इस प्रकार है—

१.	पाराजिका	४
२	संघावशेष	१३
३.	अनियत	२
४.	निःसर्गिक पातयन्तिक	३०
५.	पातयन्तिक	९२
६.	प्रतिदेशनीय	४
७.	शैक्ष्य	१०६
८.	अधिकरण-शमथ	७
		२५८

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ३६९ (नगई का विनय-पिटक सम्बन्धी लेख)

२. इसके अलावा महापंडित राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से विनय-सूत्र, विनय-सूत्र-टीका, प्रातिमोक्ष-सूत्र, प्रातिमोक्षसूत्र-टीका, भिक्षु-प्रकीर्णक तथा उपसम्पदा-

उपर्युक्त सूचियों से स्पष्ट है कि पालि-विनय-पिटक में शिक्षापदों की संख्या २२७ और चीनी और तिब्बती संस्करणों में वह क्रमशः २५० और २५८ है। जहाँ तक पालि और तिब्बती संस्करणों की तुलना का सवाल है, उनके प्रत्येक नियम की संख्या में समानता है। केवल शैक्ष्य-सम्बन्धी नियमों में असमानता है। पालि संस्करण में वे ७५ हैं जब कि तिब्बती संस्करण में १०६। इसी कारण तिब्बती संस्करण के नियमों की कुल संख्या भी ३१ बढ़ गई है। पालि और चीनी संस्करणों में केवल 'पाचित्तिया धम्मा' (पातयन्तिक) और 'सेखिया धम्मा' (शैक्ष्य) इन दो नियमों की गणना में अन्तर है। पालि संस्करण में इनकी संख्या क्रमशः ९२ और ७५ है जब कि चीनी 'शिबुन्-रित्सु' में वह इसी क्रम से ९० और १०० है। 'पाचित्तिय' धर्मों सम्बन्धी मत-भेद कुछ महत्त्वपूर्ण भी हो सकता है, किन्तु 'सेखिय' धर्मो सम्बन्धी मत-भेद बिलकुल महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'सेखिय धम्म' बाह्य शिष्टाचार सम्बन्धी छोटे-मोटे नियम हैं, जो बुद्धोक्त 'क्षुद्रानुक्षुद्र' की कोटि में आसानी से आ जाते हैं। अतः उनके विषय में मतभेद होना भिक्षु-संघ के इतिहास में प्रथम संगीति के समय से ही देखा जाता है। स्वयं विभिन्न चीनी सम्प्रदायों के विनय-पिटकों में भी इसके विषय में समानता नहीं है। पालि विनय-पिटक के ७५'सेखिय' धर्मो के स्थान पर 'शिबुन् रित्सु' में तो उनकी संख्या १०० है ही, नवीन सर्वास्तिवादी विनय के अनुसार उनकी संख्या १०३ है। तिब्बती मूल सर्वास्तिवादियों के अनुसार तो वह १०६ है ही, जैसा हम देख चुके हैं। इस प्रकार कुछ छोटे-मोटे विभेद हैं। 'महाव्युत्पत्ति' (महायानी ग्रन्थ) ने इन शैक्ष्य धर्मो को 'असंख्य' (संबहुलाः शैक्ष्यधर्माः) बताकर इस सम्बन्धी भेद का बड़ा ही अच्छा समाधान कर दिया है। पालि और चीनी विनय-पिटकों के शिक्षापदों की तुलना के आधार पर यहाँ एक सुझाव रख देना आवश्यक जान पड़ता है। पालि विनय-पिटक में, जैसा हमने अभी देखा है, शिक्षापदों की संख्या २२७ है। किन्तु अंगुत्तर निकाय में कम से कम दो जगह उनकी संख्या १५०

ज्ञप्ति आदि अनेक विनय-सम्बन्धी ग्रन्थों के फोटो लाये हैं, जिनके सम्पादन के बाद इस विषय सम्बन्धी अध्ययन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। अभी ये प्रतिलिपियाँ बिहार और उड़ीसा के ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना में सुरक्षित हैं।

कही गई है ।[१] ('मिलिन्दपञ्ह' में भी १५० शिक्षापदों का वर्णन है[२] । यदि पालि सूची की कुल संख्या (२२७) में से हम उसके ७५ 'सेखिय' धर्मों को, जो अल्प महत्त्व के है, निकालते है तो बाकी संख्या १५२ बच जाती है । किन्तु 'शिबुन्-रित्सु' की कुल संख्या २५० में से उसके १०० 'शैक्ष्य' धर्मों को निकाल देने पर ठीक संख्या १५० बच जाती है । क्या पालि विनय-पिटक की अपेक्षा 'शबुन्-रित्सु' उस परम्परा का अधिक वाहक है जिसके आधार पर अंगुत्तर-निकाय या मिलिन्द-पञ्ह में शिक्षापदों की संख्या १५० बताई गई है ?

विनय पिटक के नियम

पालि विनय-पिटक के अनुसार अब हम उसके ऊपर निर्दिष्ट २२७ शिक्षा-पदों या विनय-सम्बन्धी नियमों का वर्णन करेंगे ।

चार पाराजिका धम्मा

'पाराजिक धम्म' का अर्थ है वे वस्तुएँ जो भिक्षु को पराजय दिलाती हैं, अर्थात् जिस उद्देश्य के लिये उसने घर से बेघर होकर प्रव्रज्या ली है उसमें उसे सफल नहीं होने देतीं । इस प्रकार की वस्तुएँ चार हैं, (१) स्त्री-मैथुन (२) चोरी या न दी हुई वस्तु को लेना (३) मृत्यु या आत्म-हत्या की प्रशंसा करना, ताकि कोई दूसरा आदमी आत्म-हत्या करने के लिये उद्यत हो जाय (४) लाभ या सत्कार की इच्छा से अपने अन्दर ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति दिखाना जब कि वास्तव में ऐसी प्राप्ति नहीं हुई है । ये चार वस्तुएं भिक्षु को उसके श्रामण्य के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होने देती । वे उसे पराजित कर डालती हैं । इसीलिये वे 'पाराजिक धम्म' कहलाती है । इनमें से किसी एक का भी अपराधी होने पर भिक्षु बुद्ध का शिष्य नही रहता । वह अपने उद्देश्य से पतित हो जाता है । वह

---

१. देखिये विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २३, पद-संकेत ५; अंगुत्तर-निकाय में वास्तव में शब्द है 'साधिकं दियड्ढ-सिक्खापदसतं' (१५० या उससे कुछ अधिक) जिसका अर्थ आचार्य बुद्धघोषने ठीक १५० किया है । 'मिलिन्दपञ्ह में भी बिलकुल यही शब्द हैं ।

२. देखिये, पृष्ठ २६७ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उसके लिये किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। जैसे पीली पड़ी हुई पत्ती पेड़ से झड़कर गिर पड़ती है, उसी प्रकार यह भिक्षु श्रामण्य के सर्वथा अयोग्य समझा जाता है और नियमानुसार संघ से उसका निष्कासन कर दिया जाता है।

तेरह संघादिसेसा धम्मा

चार पाराजिक धम्मों का दण्ड तो जैसा हम ऊपर देख चुके हैं संघ से निष्कासन है। 'संघादिसेस' धम्म इन पाराजिक धम्मों से कुछ कम गम्भीर अपराध माने जाते हैं। इनका नाम 'संघादिसेस' इसलिये है कि इनके दंड-स्वरूप अपराधी भिक्षु को छह दिन के लिये अस्थायी रूप से संघ को छोड़ देना पड़ता है और प्रायश्चित्त-स्वरूप वह अकेला रह कर तपस्या (मानत्त) करता है। वाद में शुद्ध होकर वह संघ में प्रवेश करता है। 'संघादिसेस' कोटि में आने वाले तेरह अपराध हैं, जो इस प्रकार हैं (१) जान बूझकर वीर्य-नाश करना। अज्ञात रूप से स्वप्न-दोष में वीर्य-स्खलन हो जाना इसके अन्तर्गत अपराध नहीं माना जाता (२) काम-वासना से स्त्री-स्पर्श (३) काम-वासना से स्त्री से वार्तालाप (४) अपनी प्रशंसा द्वारा किसी स्त्री को अपनी ओर बुरे उद्देश्य से आकर्षित करना (५) विवाह सम्बन्ध निश्चित करवाना या प्रेमियों का संगम करवाना (६) विना संघ की अनुमति लिये अपने लिये विहार बनवाने लग जाना (७) विना संघ की अनुमति के निश्चित मात्रा से बड़े नाप के विहार बनवाने लग जाना जिनके चारों ओर खुली जगह भी न हो (८) क्रोध के कारण निराधार ही किसी भिक्षु को 'पाराजिक धम्म' का अपराधी ठहराना (९) पाराजिक अपराध से मिलते-जुलते किसी अन्य अपराध को पाराजिक अपराध बतलाकर किसी साथी भिक्षु को उसका अपराधी ठहराना (१०) बारबार चेतावनी दिये जाने पर भी संघ में फूट डालने का प्रयत्न करना (११) फूट डालने वालों की सहायता करना। (१२) विना किसी गृहस्थ की अनुमति के उसके घर के भीतर घुस जाना (१३) बारबार चेतावनी दिये जाने पर भी संघ या साथी भिक्षुओं के आदेश को न सुनना।

दो अनियता धम्मा

'अनियत' का अर्थ है अनिश्चित। जिन अपराधों का स्वरूप अनिश्चित हो और साक्ष्य प्राप्त होने पर ही जिन्हें एक विशेष श्रेणी के अपराधों में रक्खा जा

सके, तत्सम्बन्धी नियमों को 'अनियता धम्मा' कहते हैं। इनका सम्बन्ध दो प्रकार के अपराधों से है (१) यदि कोई भिक्षु किसी एकान्त स्थान पर बैठा हुआ स्त्री से बातें कर रहा है और कोई श्रद्धावती उपासिका आकर उसे 'पाराजिक' 'संघादिसेस' या 'पाचित्तिय' (प्रायश्चित्तिक—जिसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़े) अपराध का दोषी ठहराती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है तो वह उसी अपराध के अनुसार दंड का भागी है (२) यदि वह एकान्त स्थान में न बैठ कर किसी खुली हुई जगह में बैठ कर ही स्त्री से सम्भाषण कर रहा है। किन्तु उसके शब्दों में कुछ अनौचित्य है और कोई श्रद्धावती उपासिका उसी प्रकार आकर उसे 'पाराजिक' 'संघादिसेस' या 'पाचित्तिय' अपराध का दोषी ठहराती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है, तो वह उसी अपराध के अनुसार दंड का भागी है।

तीस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा

'निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा' वे अपराध हैं जिनके लिये स्वीकरण के साथ साथ प्रायश्चित करना पड़ता है और जिस वस्तु के सम्बन्ध में अपराध किया जाता वह वस्तु भी भिक्षु से छीन ली जाती है। इस श्रेणी के अपराधों में प्रायः सभी वस्त्र-संबंधी और केवल दो भिक्षा-पात्र सम्बन्धी हैं। वस्त्र सम्बन्धी तृष्णा भिक्षु को किन किन रूपों में आ सकती है, इसी को देखकर इन नियमों का विधान किया गया है। उदाहरणतः यदि कोई भिक्षु अपने पास अतिरिक्त वस्त्र रखता है, या किसी गृहस्थ से बेठीक समय पर वस्त्र माँगता है, या अपनी इच्छानुसार किसी अच्छे वस्त्र को प्राप्त करने के लिये अपने किसी उपासक गृहस्थ को इशारा देता है, या रेशम या मुलायम ऊन के गद्दों आदि को काम में लेता है, तो वह इस अपराधी के अन्तर्गत अपराधी होता है। इसी प्रकार अतिरिक्त भिक्षा-पात्र रखने पर या बिना आवश्यक कारण उसे किसी दूसरे से बदल लेने पर वह इस अपराध के अन्तर्गत अपराधी होता है। इन वस्त्र और भिक्षा-पात्र सम्बन्धी नियमों का उद्देश्य, जिनके सब के ब्योरेवार विवरण देने की हमें आवश्यकता नहीं, केवल यही है कि भिक्षु इन वस्तुओं के प्रयोग में संयत और सावधान रहें, वे अल्पेच्छ हों और यथा-प्राप्त सामग्री से ही अपना गुजारा कर लें। व्यक्ति के ऊपर संघ की प्रतिष्ठा भी इन नियमों के द्वारा की गई है। जो वस्तु संघ को दान दी गई है उसे कोई एक भिक्षु व्यक्तिगत रूप से अपनी बनाकर नहीं रख

सकता। ऐसा करने पर वह अपराधी ठहरता है, उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है और वह वस्तु संघ को लौटा देनी पड़ती है।

९२ पाचित्तिया धम्मा

९२ अपराधों की एक सूची ऐसी है जिन्हें करने पर प्रायश्चित्त करने के बाद अपराधमुक्त कर दिया जाता है। चीनी विनय-पिटक शिबुन्-रित्सु (धम्मगुत्तिक सम्प्रदाय का विनय-पिटक) में इस श्रेणी के केवल ९० अपराधों का उल्लेख है। इन सब अपराधों का विवरण यहाँ अनावश्यक होगा। संघ-शासन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी पालि साहित्य के इतिहास में तो इनका संक्षिप्त निर्देश ही हो सकता है। अधिकतर नियम ऐसे हैं जो उस समय के देश-काल आदि से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु ऐसे भी कम नहीं है जिनका उपयोग सब काल और सब देश के लिये है। भिक्षु के लिये एक बार भोजन करना, भिक्षुणी को उपदेश देते समय सावधान और जागरूक रहना, भिक्षु-पद के गौरव की रक्षा करना, आदि बातें ऐसी हैं जिनका उल्लंघन करने पर भिक्षुओं को प्रायश्चित्त कर आगे के लिये संयम-रक्षा का संकल्प लेना पड़ता था। झूठ बोलना, गाली देना, चुगली करना, नशीली चीजों का प्रयोग करना, आदि अपराधों के करने पर भी प्रायश्चित करने के बाद आगे के लिये वैसा न करने के लिये कृत-संकल्प होना पडता था।

चार पटिदेसनिया धम्मा

'पटिदेसनिया धम्मा' का अर्थ है वे वस्तुएँ जिनके लिये प्रतिदेशना (क्षमा-याचना) आवश्यक हो। किसी अज्ञात भिक्षुणी द्वारा भोजन-प्राप्ति, भोजन के समय किसी भिक्षुणी को भिक्षुओं के प्रति आदेश देती हुई देखकर भी उसे न रोकना, बिना पूर्व निमन्त्रण के अपने स्थान पर किसी गृहस्थ के हाथ से भोजन ग्रहण करना तथा उपद्रव-ग्रस्त वन में किसी गृहस्थ को वहीं बुलवा कर उसके हाथ से भोजन की प्राप्ति, इन चार अपराधों के लिये क्षमा-याचना करनी पड़ती है।

७५ सेखिया धम्मा

'सेखिया धम्मा' या शैक्ष्य धर्म वे हैं जिनका सम्बन्ध बाहरी शिष्टाचार, वस्त्र पहनने के ढंग और भोजन आदि करने के नियमों से है। भिक्षु को किस प्रकार ठीक वस्त्र पहनकर भिक्षा-चर्या के लिये जाना चाहिये, किस प्रकार शरीर औ

वस्त्रों के उचित समेटन और फैलाव के साथ उसे बरतना चाहिये, किस प्रकार उसे शान्त रहना चाहिये, जोर से हँसना आदि नहीं चाहिये, इन्ही सब बातों का विस्तृत विवरण किया गया है और इनके तोड़ने पर फिर शिक्षा का विधान किया गया है। इन नियमों में से अधिकतर तत्कालीन शिष्टाचार से सम्बन्ध रखते हैं जो बौद्ध देशों में आज तक भी कुछ हद तक जीवित अवस्था में है।

सात अधिकरणसमथा धम्मा

संघ में विवाद होने पर उसकी शान्ति के उपाय के रूप में सात नियमों का विधान किया गया है। वे सात नियम हैं (१) संमुख-विनय (२) स्मृति-विनय (३) अ-मूढ विनय (४) प्रतिज्ञात करण (५) यद्भूयसिक (६) तत्पापीयसिक (७) तिणवत्थारक। चूकि संघ-शासन तथा तत्कालीन गणतन्त्रीय शासन-व्यवस्था की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, अतः इनका संक्षिप्त विवरण अपेक्षित होगा। भगवान् के मुख से ही सुनिये—"आनन्द ! संमुख विनय कैसे होता है ? आनन्द ! भिक्षु विवाद करते हैं' यह धर्म है या अधर्म; विनय या अविनय' ? आनन्द ! उन सभी भिक्षुओं को एक जगह एकत्रित होना चाहिये। एकत्रित होकर धर्म रूपी रस्सी का ज्ञान से परीक्षण करना चाहिये। जैसे वह शान्त हो उसी प्रकार उस झगड़े (अधिकरण) को शान्त करना चाहिये। इस प्रकार आनन्द ! संमुख विनय होता है। इस प्रकार संमुख विनय से भी किन्हीं किन्हीं झगड़ों (अधिकरणों) का शमन होता है।

"आनन्द ! यद्भूयसिक कैसे होता है ? आनन्द ! यदि भिक्षु अपने झगडे को उसी आवास (निवास-स्थान) में शान्त न कर सकें तो आनन्द! उन सभी भिक्षुओं को, जिस आवास में अधिक भिक्षु हैं, वहाँ जाना चाहिये। वहाँ सबको एक जगह एकत्रित होना चाहिये, एकत्रित होकर धर्म रूपी रस्सी का समनुमार्जन (परीक्षण) करना चाहिये। इस प्रकार भी कुछ झगड़ों का शमन हो जाता है।

"आनन्द ! स्मृति-विनय कैसे होता है ? यहाँ आनन्द ! भिक्षु भिक्षु पर पाराजिक या-पाराजिक समान दोष का आरोप लगाता है, स्मरण करो आवुस ! तुम पाराजिक या पाराजिक-समान बड़े दोष के अपराधी हुए, किंतु वह दूसरा भिक्षु उत्तर में कहता है, 'आवुस! मुझे याद नहीं कि मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हूँ, दोष से दोषी हूँ'। उस भिक्षु को आनन्द ! स्मृति-विनय देना चाहिये। इस स्मृति विनय से भी किन्हीं किन्हीं झगड़ों का निबटारा होता है।

"आनन्द ! अमूढ़ विनय कैसे होता है ? ...."आवुस ! मैं पागल हो गया था, मुझे मति-भ्रम हो गया था, उन्मत्त हो मैंने बहुत सा श्रमण-विरुद्ध आचरण किया, भाषण किया, मुझे वह स्मरण नहीं होता। मूढ़ हो, मैंने वह किया। उस भिक्षुको आनन्द ! अ-मूढ़-विनय देना चाहिये ।

"आनन्द ! प्रतिज्ञात करण कैसे होता है ? आनन्द !......भिक्षु दूसरों के द्वारा आरोप करने या न करने पर भी अपने दोष को स्मरण करता है, खोलता है, स्पष्ट करता है। उस भिक्षु को अपने से वृद्धतर भिक्षु के पास जाकर चीवर को एक (बायें) कन्धे पर करके, पाद-वन्दना कर हाथ जोड़कर ऐसा कहना चाहिये, 'भन्ते ! मैं इस नाम की आपत्ति (दोष) से आपन्न हूँ, उसकी मैं प्रति-देशना (निवेदन) करता हूँ' । तब वह दूसरा भिक्षु ऐसा कहे "देखते हो उस दोष को ?" "देखता हूँ" "आगे से इन्द्रिय-रक्षा करना", "रक्षा करूँगा" । आनन्द ! इस प्रकार प्रतिज्ञात-करण होता है ।

"आनन्द ! तत्पापीयसिका कैसे होती है ? यहाँ आनन्द ! किसी भिक्षु पर कोई दूसरा भिक्षु पाराजिक या पाराजिक-समान भारी अपराध का दोष लगाता है । वह उसे सुनकर कहता है, 'आवुस ! मुझे स्मरण नहीं कि मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुआ हूँ' फिर दोष लगाने वाला भिक्षु कहता है 'आयु-ष्मन् ! अच्छी तरह बूझो । क्या तुम्हें स्मरण है कि तुम ऐसी भारी आपत्ति मे आपन्न हुए थे !' 'आवुस ! मैं स्मरण नही करता कि मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुआ । स्मरण करता हूँ आवुस ! मै इस प्रकार की छोटी आपत्ति से आपन्न हुआ' । 'आयुष्मन् ! अच्छी तरह बूझो ।' 'आवुस ! मैं इस प्रकार की छोटी आपत्ति से आपन्न हुआ, यह मैं बिना पूछे ही स्वीकार करता हूँ, तो क्या मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हो पूछने पर भी स्वीकार न करूँगा' । अधिक जोर देने पर वह स्वीकार करले 'आवुस ! स्मरण करता हूँ मैं ऐसी भारी आपत्ति (दोष से आपन्न हुआ । सहसा प्रमाद से मैंने यह कह दिया कि मै स्मरण नहीं करता' । इस प्रकार आनन्द! तत्पापीयसिका (उससे भी और कड़ी आपत्ति) होती है ।

"आनन्द! तिण्ण वित्थारक कैसे होता है ? आनन्द ! आपस में कलह करते हुए भिक्षु बहुत से श्रमण-विरुद्ध आचरण करते और भाषण करते हैं। उन सभी भिक्षुओं को एकत्रित होना चाहिए। एकत्रित हो कर एक पक्ष वालों में से किसी चतुर भिक्षु को आसन से उठ कर चीवर को एक कन्धे पर कर हाथ जोड़ संघ को विज्ञापित करना चाहिए "भन्ते ! संघ सुने। कलह करते हुए हमने बहुत से

श्रमण-विरुद्ध आचरण किए है। यदि संघ उचित समझे तो जो इन आयुष्मानों का दोष है और जो मेरा दोष है, इन आयुष्मानों के लिए भी और अपने लिए भी मैं तिणवित्थारक (घाँस से ढाँकना जैसा) बयान करूँ, लेकिन बड़े दोष गृहस्थ-सम्बन्धी को छोड़ कर। तब दूसरे पक्ष वालों में से चतुर भिक्षु को आसन से उठ कर ऐसा ही करना चाहिए। इस प्रकार आनन्द! तिणवित्थारक (तृण से ढाँकने जैसा) होता है"।[1]

भिक्षुओं के समान भिक्षुणिओं के लिए भी अनेक आचरण-सम्बन्धी नियमों का विधान था। आठ गुरु-धर्म तो भगवान् ने प्रथम बार ही भिक्षुणी-संघ के लिए स्थापित कर दिये गए थे, जो इस प्रकार हैं—

(१) सौ वर्ष की उपसम्पदा पाई हुई भिक्षुणी को भी उसी दिन के सम्पन्न भिक्षु के लिए अभिवादन, प्रत्युत्थान, अंजलि जोड़ना, सामीची कर्म करना चाहिए।
(२) जहाँ भिक्षु न हों, ऐसे स्थान में वर्षावास नहीं करना चाहिए।
(३) प्रति आधे मास भिक्षुणी को भिक्षु-संघ से पर्येषण करना चाहिए।
(४) वर्षा-वास कर चुकने पर भिक्षुणी को दोनों संघों में देखे, सुने, जाने तीनों स्थानों से प्रवारणा करनी चाहिए।
(५) जिस भिक्षुणी ने गुरु-धर्मों को स्वीकार कर लिया है उसे दोनों संघों को मानना चाहिए।
(६) किसी प्रकार की भिक्षुणी भिक्षु को गाली आदि न दे।
(७) भिक्षुणिओं का भिक्षुओं को कुछ भी कहने का रास्ता बन्द है। भिक्षुणी को भिक्षु से बात नहीं करनी चाहिए।
(८) भिक्षुओं का भिक्षुणिओं को कहने का रास्ता खुला है। अर्थात् भिक्षुओं को उन्हें उपदेश करने का अधिकार है।

उपर्युक्त प्रधान नियमों के अलावा भिक्षुणियों के दैनिक जीवन के लिए अनेक साधारण नियम भी थे। उनमें कुछ भिक्षुओं के समान भी थे, जैसे झूठ, चुगली आदि से विरति। कुछ विशिष्ट रूप से उनके लिए ही थे, जैसे एकान्त या अँधेर स्थान में किसी से सम्भाषण न करना, रात्रि में अकेली कहीं न जाना, सड़क पर भी किसी से अलग बात नही करना, किसी भी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र स न

---

१. सामगाम-सुत्त (मज्झिम. ३।१।४; महापंडित राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)

मिलना-जुलना, जीविका के लिए कोई शिल्प न सीखना न सिखाना, अंग-लेप आदि न लगाना, आदि । भिक्षुणियों पर भी पाराजिका आदि दोष उसी प्रकार लागू थे जैसे भिक्षुओं पर। हाँ, प्रव्रज्या प्राप्त करने से पहले के दोषों के लिए वे दंड की भागिनी नहीं होती थीं। एक बार एक व्यभिचारिणी स्त्री संघ में प्रवेश पा गयी थी। संघ-प्रवेश के बाद वह उसके लिए दंडित नहीं की गई ।

ऊपर भिक्षु-भिक्षुणियों सम्बन्धी नियमों और उनके उल्लंघन करने पर प्राप्त दण्ड-विधान का कुछ दिग्दर्शन किया गया है। वास्तव में विनय-पिटक नियमों और उनके उल्लंघन से उत्पन्न दोषों की इतनी लम्बी सूची है कि उसका संक्षेप नहीं दिया जा सकता। किन्तु विनय-पिटक में नियमों के अलावा और भी बहुत कुछ है। उसकी विषय-वस्तु के क्रम में ये नियम और अन्य बातें कहाँ कहाँ आती हैं, यह तत्सम्बन्धी विश्लेषण से स्पष्ट होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है, विनय-पिटक निम्नलिखित भागों में विभक्त है—

१. सुत्त-विभंग
   (अ) पाराजिक
   (आ) पाचित्तिय
२. खन्धक
   (अ) महावग्ग
   (आ) चुल्लवग्ग
३. परिवार

सुत्त-विभंग

सुत्त-विभंग के दो भागों 'पाराजिक' और 'पाचित्तिय' में क्रमशः उन अपराधों का उल्लेख है, जिनका दंड क्रमानुसार संघ से निष्कासन या किसी प्रकार का प्रायश्चित्त है। ये अपराध संख्या में २२७ हैं और जैसा हम अभी दिखा चुके हैं, इन सम्बन्धी नियम आठ वर्गीकरणों में विभक्त है, यथा (१) चार पाराजिक, (२) १३ संघादिसेस, (३) दो अनियता धम्म, (४) तीस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्म, (५) ९२ पाचित्तिय धम्म, (६) चार पटिदेसनिय धम्म, (७) ७५ सेखिय धम्म, तथा (८) सात अधिकरणसमथ धम्म । इनका विश्लेषण हम पहले कर चुके हैं। सुत्त-विभंग में इन्ही नियमों का विश्लेषण है। साथ में इन नियमों का

विधान किस प्रकार किया गया इसका पूरा इतिहास भी दिया गया है। अपराधों के विचार से वर्गीकरण करने पर 'सुत्त-विभंग' के दो विभाग हैं ही (१) पाराजिक और (२) पाचित्तिय, किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघों को उद्देश्य कर उनका वर्गीकरण करने से उसके दो भाग होते हैं (१) महाविभंग या भिक्षु-विभंग और (२) भिक्षुणी-विभंग (भिक्खुनी विभंग)। भिक्खु-विभंग में भिक्षुओं सम्बन्धी नियमों का विवरण है और भिक्खुनी-विभंग में भिक्षुणी-सम्बन्धी नियमों का। इन नियमों का इतिहास छोड़ कर केवल नियमों मात्र का संग्रह ही 'पातिमोक्ख' के नाम से प्रसिद्ध है। भिक्षु और भिक्षुणी संघ के अनुसार पातिमोक्ख के भी दो भेद है, यथा (१) भिक्खु पातिमोक्ख और (२) भिक्खुनी पातिमोक्ख, जो क्रमशः महाविभंग (भिक्खु विभंग) और भिक्खुनी-विभंग के ही संक्षिप्त रूप है। यदि हम चाहें तो सुत्त-विभंग को 'पातिमोक्ख' का विस्तृत रूप या व्याख्या कह सकते हैं, या 'पातिमोक्ख' को 'सुत्त-विभंग' का उपयोग के योग्य संक्षिप्तीकरण। भिक्षु-संघ में उपोसथ (उपवसथ-उपवास-व्रत) नाम का एक संस्कार होता था। प्रत्येक मास की अमावस्या और पूर्णिमा को जितने भिक्षु एक गाँव या खेत के पास विहरते थे, सब एक जगह एकत्रित हो जाते थे और उन सब की उपस्थिति में 'पातिमोक्ख' (प्रातिमोक्ष) का पाठ होता था। 'पातिमोक्ख' मे, जैसा हम अभी कह चुके है, पाराजिक, पाचित्तिय आदि के वर्गीकरणमें विभक्त २२७ अपराधों एवं तत्सम्बन्धी नियमों का विवरण है। 'पातिमोक्ख' का पाठ करते समय जैसे जैसे अपराधो के प्रत्येक वर्गीकरण का पाठ किया जाता था, उस सभा में सम्मिलित प्रत्येक भिक्षु से यह आशा की जाती थी कि वह उठ कर यदि उसने वह अपराध किया है तो उसका स्वीकरण कर ले, ताकि भविष्य के लिए संयम हो सके। उपवासादि रखने और पाप-प्रायश्चित्त करने की यह प्रथा प्राग्बुद्धकालीन भारत में अन्य सम्प्रदायों में भी प्रचलित थी। किन्तु बुद्धने उसे एक विशेष नैतिक अर्थ से अनुप्राणित कर दिया था। पाप को उघाड़ देने से वह छूट जाता है। चित्त-शुद्धि के लिए अपने पापों को खोल देना चाहिए। गुप्त रखने से वे और भी लिपटते हैं। पाप-स्वीकरण, क्षमा-याचना और आगे के लिए कृतसंकल्पता, यही प्रातिमोक्ष-विधान के प्रधान लक्ष्य थे। चूंकि ऐसा करने के बाद प्रत्येक अपराधी भिक्षु एक प्रकार अपने-अपने अपराध के बोझ को उठा फेंकता था, उससे विमुक्ति पा जाता था, इसलिए 'पातिमोक्ख' का अर्थ प्रत्येक का पाप-भार को फेंक देना, पाप से मुक्त हो जाना, पाप से

मोक्ष पा जाना, हो सकता है। चूंकि प्रत्येक भिक्षु अलग अलग अपने मुख से अपने पाप का स्वीकरण कर पाप-विमुक्त होता था, अतः 'प्रातिमोक्ष' के 'प्राति' शब्द में यह 'प्रति' का भाव लेकर हम कह सकते हैं कि 'प्रातिमोक्ष' का अर्थ है प्रत्येक की अलग अलग मुक्ति। चूंकि पालि 'पातिमोक्ख' का संस्कृत प्रतिरूप 'प्रातिमोक्ष' ही सर्वास्तिवादी आदि प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों ने किया है, अतः पालि 'पातिमोक्ख' का भी अर्थ प्रत्येक का अलग अलग पाप-मुक्त हो जाना अशुद्ध नहीं हो सकता। आधुनिक विद्वान् अधिकतर इसी अर्थ को लेते हैं। किन्तु आचार्य बुद्धघोष ने 'प्रति मुख' अर्थात् प्रत्येक भिक्षु के द्वारा अपने अपने मुख से पाप-स्वीकरण, इस अर्थ पर जोर दिया है। यह 'पातिमोक्ख' में होता ही है। बुद्धघोष की 'पातिमोक्ख' की निरुक्ति और सर्वास्तिवादी आदि सम्प्रदायों में 'प्रातिमोक्ष' के रूप में उसका अर्थ ग्रहण, इन दोनों में कोई असंगति नहीं है। बल्कि वे दोनों ही उसके क्रिया और फल के क्रमशः सूचक हैं, अतः वे एक दूसरे के पूरक भी हैं। भगवान् ने प्रातिमोक्ष-सम्बन्धी उपदेश सुत्तों में भी अनेक बार दिया है" भिक्षु शीलवान् होता है, प्रातिमोक्ष के संवर (संयम) से संवृत होता है, आचार-गोचर से सम्पन्न होता है, शिक्षापदों को ग्रहण कर अभ्यास करता है"[1] आदि, ।

खन्धक

विनय-पिटक का दूसरा भाग खन्धक भी दो भागों में विभक्त है, महावग्ग और चुल्लवग्ग। सुत्त-विभंग जब कि अधिकांशतः निषेधात्मक है, महावग्ग उसी का विधानात्मक स्वरूप है। संघ के अन्दर जिस प्रकार का जीवन बिताना चाहिए उसका यहाँ निर्देश किया गया है। महावग्ग में प्रथम दस खन्धक हैं। सम्बोधि-प्राप्ति से लेकर प्रथम संघ की स्थापना तक का यहाँ पूरा इतिहास भी दिया गया है। यह भाग 'महावग्ग' का बड़ा महत्वपूर्ण है। पहले खन्धक (विभाग, अध्याय) में भगवान् बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति एवं वाराणसी में धर्म चक्र-प्रवर्तन का वर्णन है।

---

१. **गोपक-मोग्गल्लान सुत्त (मज्झिम. ३।१।८); मिलाइये "भिक्षुओ! शील-सम्पन्न होकर विहरो, प्रातिमोक्ष-संवर से संवृत (रक्षित) होकर विहरो, शिक्षापदों को ग्रहण कर उनका अभ्यास करो।" आकंखेय्य-सुत्त (मज्झिम. १।१।६)**

इसके बीच उरुवेला से लेकर वाराणसी तक की उनकी यात्रा का विस्तृत विवरण है। इसी प्रसंग में मार्ग के बीच में ही तपस्सु और भल्लिक नामक वणिकों को भगवान् उपासक बनाते हैं और वे बुद्ध और धम्म की शरण में जाते हैं। उपक नामक आजीवक भी भगवान् को मार्ग में मिलता है, उसके साथ हुए उनके संलाप का विवरण है। वाराणसी में धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने के बाद भगवान् आज्ञा कौण्डिन्य, भद्दिय, वप्प, अस्सजि और महानाम इन पंचवर्गीय भिक्षुओं को जो उनके साथ पहले उरुवेला में रहे थे, बुद्ध-मत में प्रव्रजित करते हैं। इसके बाद यश के संन्यास का वर्णन है। उसके बाद काश्यप-बन्धुओं (जटिल काश्यप, उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप) की प्रव्रज्या का वर्णन है। महाराज बिंबिसार के उपासकत्व का भी वर्णन है। "भन्ते! मेरी पाँच अभिलाषाएँ थीं---मैं राज्य-अभिषिक्त होता---मेरे राज्य में सम्यक् सम्बुद्ध आते---मैं उनकी सेवा करता---वे भगवान् मुझे धर्म-उपदेश करते---उन भगवान् को मैं जानता। भन्ते! ये मेरी पाँचों इच्छाएँ आज पूरी हो गईं। इसलिए भन्ते! मैं भगवान् की शरण लेता हूँ, धर्म की और भिक्षु-संघ की भी।" इसी समय उसने भिक्षु संघ को वेणु-वन दान भीकिया। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के संन्यास का वर्णन, महाकाश्यप के संन्यास का वर्णन, नन्द और राहुल का संन्यास, अनिरुद्ध, आनन्द, उपालि आदि के संन्यास के वर्णन, सभी क्रमानुसार दिए गए हैं जो भिक्षु-संघ के बुद्धकालीन विकास को जानने के लिए तथा इन प्रथम शिष्यों की जीवन-साधना से परिचित होने के लिए बड़े आवश्यक हैं। बुद्ध-स्वभाव पर प्रकाश डालने वाले भी अनेक प्रकरण बीच-बीच में मिलते ही चलते हैं। उदाहरणतः इसी वर्ग में हम भगवान् बुद्ध को एक रोगी भिक्षु की सेवा-शुश्रूषा करते देखते हैं। साथ में आनन्द भी भगवान् की सहायता करते हैं। यह प्रसंग वास्तविक श्रमण-धर्म को जानने के लिए अति आवश्यक है। वास्तव में अनिरुद्ध, उपालि और आनन्द के संन्यास के वर्णन चुल्लवग्ग में हैं, जो महावग्ग का ही आगे का भाग है। इसी वर्ग में आगे अनाथपिंडिक की दीक्षा और जेतवन-दान का वर्णन और महाप्रजापती गोतमी की प्रव्रज्या का वर्णन है। यहीं से भिक्षुणी-संघ का भी आरम्भ होता है। चुल्लवग्ग के अन्त में प्रथम दो बौद्ध संगीतियों के विवरण हैं। वास्तव में न केवल भिक्षु-संघ के इतिहास की दृष्टि से ही बल्कि छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय समाज की अवस्था को जानने के लिए भी महावग्ग और चुल्लवग्ग में पर्याप्त सामग्री भरी हुई। जीवक कौमारभृत्य का विवरण जो महावग्ग में आता है, तत्कालीन आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान और उसके

अभ्यास का अच्छा परिचय देता है। बिम्बिसार आदि के विवरण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और वैशाली आदि के विवरण उस समय की सामान्य सभ्यता और मनुष्यों के रहन-सहन के ढंग का अच्छा परिचय देते हैं। निश्चय ही इस दृष्टि से विनय-पिटक का और विशेषत: महावग्ग और चुल्लवग्ग का बड़ा महत्त्व है। यहीं पर सुत्त-विभंग की विषय-वस्तु के पूरक-स्वरूप भिक्षु और भिक्षुणी संघोंके आन्तरिक जीवन एवंकार्य-संचालन का भी अच्छा चित्र दिया गया है। भिक्षु-संघ में प्रवेश के नियम, उपोसथ के नियम, वर्षावास के नियम, उसके अन्त पर 'पवारणा' सम्बन्धी नियम, संघ में फूट पडने पर उसमें एकता लाने के उपाय, भिक्षुओं के जीवन की छोटी से छोटी बातों पर भी सूक्ष्मतापूर्वक विचार, उनके कपड़े और जूते पहनने तक के ढंग, सवारी में बैठने सम्बन्धी नियम, निवास- स्थान और उसकी सफाई, मरम्मत आदि सम्बन्धी नियम, किसी भी विषय को यहाँ छोड़ा नहीं गया है। चुल्लवग्ग के दसवें खन्धक में केवल भिक्षुणी-जीवन सम्बन्धी नियमों और ज्ञातव्य बातों का ही विवरण है। 'खन्धक' से ही संलग्न 'कम्म वाचा' के भी विवरण हैं जो संघ सम्बन्धी विभिन्न कृत्यों और सस्कारोंके समय कार्य-प्रणाली के सूचक हैं। 'खन्धक' में आये हुए नियमों के समान यहाँ विभिन्न कर्मों (कम्म) के लिए प्रयुक्त शब्दों (वाचा) का विधान किया गया है।

'परिवार' या 'परिवार-पाठ' विनय-पिटक का अन्तिम भाग है। जैसा विंटरनित्ज़ ने कहा है, 'परिवार' का विनय-पिटक से वही सम्बन्ध है, जो वेद की अनुक्रमणी और परिशिष्टों का वेद के साथ।[1] 'परिवार' सम्भवत: बाद का भी संकलन है। वह प्रश्नोत्तर के रूप में है। विनय-पिटक की विषय-वस्तु की इसे एक प्रकार से 'मातिका' या विषय-सूची ही समझना चाहिए। 'परिवार' में १९ परिच्छेद हैं, जिनमें अभिधम्म की शैली पर विनय-पिटक के विषय की ही पुनरावृत्ति की गई है। 'परिवार' कोअन्तिम गाथाओंमें कहा गयाहै "पुब्बाचरियमग्गं च पुच्छित्वा च तहिं तहिं दीप नाम महापञ्ञो सुतधरो विचक्खणो इमं वित्थार-संखेपं सज्झामग्गेन मज्झिमे चिन्तयित्वा लिखापेसि सिस्सकानं सुखावहं।" इससे निश्चित है कि विनय-सम्बन्धी शिक्षा के इस ग्रन्थ को 'दीप' नामक महामति भिक्षु ने सिंहल में लेखबद्ध करवाया। 'लेखबद्ध करवाने' (लेखापेसि) का अर्थ

---

१. हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३३

प्रणयन या संकलन करना या करवाना नहीं है, जैसा कुछ विद्वानों ने भ्रमवश समझ लिया है। पूर्व परम्परा से मौखिक रूप में प्राप्त इस ग्रन्थ को 'दीप' नामक महामति भिक्षु ने (पुस्तकाकार) लेखबद्ध करवाया, इन गाथाओं का केवल यही अर्थ है। सम्पूर्ण त्रिपिटक के वट्टगामणि के समय से लेखबद्ध किए जाने के प्रसंग (महावंस३३।२४७९.८०) में भी ऐसा ही कहा गया है। अतः उसे प्रणयन या संकलन का सूचक नहीं मानना चाहिए। यद्यपि 'परिवार' के संकलन-काल की तिथि निश्चित रूप से स्थापित नहीं की जा सकती, फिर भी शैली के साक्ष्य पर उसे अभिधम्म-पिटक के समकालिक माना जा सकता है, अर्थात् कम से कम तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व।

इस प्रकार हमने संघ की अनुस्मृति की। जिस प्रकार धम्म की अनुस्मृति में हमने सुत्तों का सहारा लिया, उसी प्रकार भिक्षु-संघ की स्मृति करने में विनय-पिटक ने हमारी सहायता की। बुद्ध की अनुस्मृति तो दोनों जगह समान ही रही। साथ-साथ हमने तत्कालीन लोक-समाज को भी देखा, बुद्ध के देश और काल को भी देखा। इतिहास-लेखक तो इसी पर सर्वाधिक जोर देते हैं, किन्तु हमने तो प्रासंगिक वश ही सही, पर बुद्ध, धम्म और संघ की अनुस्मृति भी अवश्य की। निश्चय ही महापुरुष (बुद्ध) का जितना बड़ा दान विश्व को 'धम्म' का था, उससे कम बड़ा दान संघ का भी नहीं था। बुद्धकालीन भिक्षु-संघ साक्षात् साधना का निवास-स्थान था। उसकी वह पवित्रता की द्युति ही थी जो उसकी महिमा के इतने विशाल भूखंड पर विस्तार का कारण हुई। भिक्षु-संघ के विषय में जो यह कहा गया है कि वह आहुनेय्य (निमंत्रण करने योग्य) था, पाहुणेय्य (पाहुना बनाने योग्य) था, दान देने योग्य था, अञ्जलि जोड़ने योग्य था, एवं लोक के लिए पुण्य बोने का अद्वितीय क्षेत्र था, वह उसकी पवित्रता और संयम-प्रियता को देखते हुए बिलकुल ठीक ही था। भगवान् का श्रावक-संघ 'आमिस-दायाद' नही था और न वह किसी लौकिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यवस्थित किया गया था, यह इसी से प्रकट होता है कि आनन्द और महाकाश्यप जैसे ज्ञानी और साधक भिक्षुओं के रहते हुए भी शास्ता ने किसी को अपने बाद संघ का संचालक नहीं बनाया। धर्म और विनय के संचालन में ही उन्होंने उसे छोड़ा। भगवान् का कोई पीटर या अली नहीं बना। कारण, यहाँ वैसा कुछ था ही नहीं जिसका किसी व्यक्ति को उत्तराधिकार सौंपा जा सके। इतनी निर्वैयक्तिकता विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं देखी गई।

विनय-पिटक के नियमों में आधारभूत विश्वजनीन तत्व कितना है अथवा कितना वह देश और काल की विशिष्ट परिस्थितियों से उद्भूत है, यह एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है। नगई ने अपने संक्षिप्त विनय-सम्बन्धी निबन्ध[1] में इस प्रश्न को उठाया है और सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तित स्वरूपों का विवेचन करते करते वे उस हद तक पहुँच गए हैं, जहाँ तक स्थविरवादी बौद्ध परम्परा तो उनके साथ जा ही नहीं सकती, धर्म और साधना का कोई भी भारतीय विद्यार्थी भी जहाँ तक जाना पसन्द नहीं करेगा। उदाहरणत: स्त्री-संलाप आदि अनेक बातों के साथ साथ भिक्षु के एकाशनिक (एकाहारी) होने सम्बन्धी व्रत के अभ्यास को भी नगई ने इस आधुनिक युग में असम्भव और कदाचित् अनावश्यक मान लिया है। निश्चय ही यह सीमा को अतिक्रमण कर जाना है। समाज और जीवन के बाहरी रूपों में परिवर्तन होने के साथ-साथ आज के मनुष्य के लिए उनके मूल्यों के अंकन में भी परिवर्तन हो चुका है। वह भीतर से मूल्य अंकन करने के बजाय आज बाहर से करने लगा है। यदि इस दृष्टि से विनय-नियमों को आज देखा जाय तब तो उनमें से अधिकाश नियमों का अभ्यास ही व्यर्थ है। मज्जिम-निकाय के कीटागिरि सुत्त (२।२।१०) में हम पढ़ते है कि बुद्ध के कुछ शिष्य भिक्षु अश्वजित् और पुनर्वसु नामक विनयहीन भिक्षुओं से जा कर कहते हैं, "आवुसो! भगवान् रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करते है। भिक्षु-संघ भी रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करता है। ऐसा करने से वे आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार अनुभव करते है। आओ आवुसो! तुम भी रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करो। तुम भी आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार को अनुभव करोगे।" अश्वजित् और पुनर्वसु नामक विनय-भ्रष्ट भिक्षुओं ने उत्तर दिया, "आवुसो! हम तो शाम को भी खाते है, प्रात: भी खाते है, दोपहर भी खाते है और दोपहर बाद भी। सायं, प्रात:, मध्यान्ह, विकाल (दोपहर बाद) सब समय खाते भी हम आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार करते घूमते है। हम सायं भी खायेंगे, प्रात: भी, दिन मे भी, विकाल में भी।" जैसा तर्क अश्वजित् और पुनर्वसु ने दिया वैसा आज कोई भी दे सकता है। और आज की परिस्थिति में वह कुतर्क भी नही लगेगा। आज मनुष्य के मूल्यांकन का सारा विधान ही बदल गया है।

---

१. **'बुद्धिस्ट विनय डिसिप्लिन और बुद्धिस्ट कमांडमेन्ट्स,' शीर्षक, बुद्धिस्टिक स्टडीज, (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ३६५-३८३.**

अत: यदि आज के भौतिकवादी जीवनके पूरे स्वीकरण के साथ तथागत-प्रवेदित धम्म-विनय को निभाना है तो वह अशक्य है। काम-वासना को लक्ष्य मानने वाले जन-समाज के लिए तथागत ने उपदेश नहीं दिया। कम से कम उसके लिए उसे समझना तो अशक्य ही है। अत: विनय-नियमों को निभाने का काम तो ऐसे महान् साधकों का ही हो सकता है जो समाज की मान्यताओंसे ऊपर उठने की पूरी शक्ति रखते हों। कम से कम सामाजिक परिस्थितियों के नाम पर आदर्श को गिराना तो हमें नहीं चाहिए। स्थविरवादी परम्परा ने विनय-नियमों पर उनके पूरे शब्दों और अर्थो के साथ जोर दिया है, इसका यही कारण है। साधन की निष्ठा अत्यन्त आवश्यक है। निष्ठावान् के लिए कभी कुछ असम्भव नही है। वह समाज और परिस्थितियों को अपने अनुकूल कर सकता है, यदि उसे दृढ़ विश्वास है कि जो कुछ अभ्यास वह करता है उसके पीछे बुद्धों का सारा अनुभव और ज्ञान छिपा हुआ है और उसकी सच्चाई सामाजिक परम्पराओं या परिस्थितियों की अनुमति की अपेक्षा नहीं रखती। हाँ छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में शास्ता ने स्वयं ही आश्वासन दे दिया है कि उन्हें आवश्यकतानुसार छोड़ा जा सकता है। ये छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियम क्या हैं, इसके विषय में हम जानते हैं कि पूर्वकालीन धर्मसंगीतिकार भिक्षुओं में ही बडा विवाद उठ खड़ा हुआ और केवल अनेक सम्प्रदायों में बँट जाने के अतिरिक्त वे इसका कोई हल नही निकाल सके। वास्तव में इसका हल बाहर से हो ही नही सकता। कोई भी बाहरी विधान साधक को यह नहीं बतला सकता कि यह नियम छोड़ने योग्य है या नही। इसके लिए तो आन्तरिक साधना से प्राप्त निर्मल विवेक-बुद्धि ही मनुष्य के पास सर्वोत्तम साधन है। केवल उसी के द्वारा यह निर्णय किया जा सकता है कि क्या अ-महत्त्व पूर्ण है और छोड़ देने योग्य है और क्या महत्वपूर्ण है और जीवन भर अनुल्लंघनीय है। इस प्रकार चाहे जो कुछ भी त्याज्य या पालनीय ठहरे, किन्तु यह निश्चित है कि जो त्याज्य होगा वह देश और काल से उद्भूत तत्त्व होगा और जो पालनीय होगा वह सार्वभौम, सार्वकालिक, तत्त्व होगा, जिससे ही तथागत-प्रवेदित धम्म-विनय अधिकतर भरा हुआ है। 'क्षुद्रानुक्षुद्र' को छोड़ देने का विधान कर तथागत ने इसी देश-काल-उद्भूत तत्त्व से विमुक्त हो जाने का भिक्षु-संघ को अन्तिम उपदेश दिया था, ऐसा हमारा मन्तव्य है। इस प्रकार विनय-सम्बन्धी नियमो में न बाहरी कर्मकांड की गन्ध तक है और न वे साधकों के उस स्वबुद्धि-निर्णय के

अधिकार को, जिसे शास्ता ने उन्हें दिया, छीनने का ही उद्योग करते हैं। यह उनकी एक भारी विशेषता है।

विनय की मूल आत्म-संयम है। संयम अर्थात् काया का संयम, वाणी का संयम, मन का संयम। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का समाधान, सम्यक् आधान, ही 'शील' कहलाता है। शील की समापत्ति के लिए ही विनय-नियमों का विधान किया गया है, यद्यपि यह ठीक है कि वहाँ उसके बाहरी रूप को लक्ष्य कर के ही अधिकतर नियम बनाये गए हैं। फिर भी शास्ता के द्वारा मानसिक संयम पर जो जोर दिया गया है, वह भी उनके मूल में सुरक्षित है, ऐसा कहा जा सकता है। केवल किसी कर्म के करने या न करने से ही शील-विशुद्धि नहीं हो जाती। भगवान् ने स्वयं कहा भी है "मागन्दिय! न दृष्टि से, न अनुभव से, न ज्ञान से, न शील से, न व्रत से शुद्धि कहता हूँ। अदृष्टि, अ-श्रुति, अ-ज्ञान, अ-शील, अ-व्रत से भी नहीं।" निश्चय ही किसी कर्म के करने या न करने पर सदाचार उतना निर्भर नहीं है जितना उस कर्म-व्यापार के अन्दर रहने वाली मानसिक प्रवृत्ति पर। इसीलिए चेतना पर भगवान् ने सर्वाधिक जोर दिया है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन के संयम का अर्थ यह नहीं है कि इन भौतिक या मानसिक इन्द्रियों में अपने आप में संयम जैसी कोई वस्तु होती है, बल्कि केवल यही है कि जिन जिन वस्तुओं की अनुभूति इनके द्वारा होती है उनके प्रति मानवीय व्यवहार में संयम पैदा होना चाहिए। 'चक्षु-इन्द्रिय में संयम को प्राप्त होता है' (चक्खुन्द्रिये संवरं आपज्जति) इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक भौतिक चक्षु को संयमित करता है,या चक्षु और रूप के संयोग को ही निरुद्ध करता है। यदि ऐसा होता तो आँख मींचने वाला सर्वोत्तम संयमी होता। अतः चक्षुरिन्द्रिय में संयम प्राप्त करने का अर्थ है चक्षु इन्द्रिय मात्र को ही संयमित नहीं करना (यद्यपि है तो वह भी आवश्यक) बल्कि चक्षु के द्वारा देखे हुए रूप के प्रति अपने व्यवहार को संयमित रखना। यही बात श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, जिह्वा और रस, काय और स्पर्श तथा मन और धर्म (मानसिक पदार्थ) के विषय में भी जाननी चाहिए। अभिधम्म की भाषा का प्रयोग करते हुए इस तथ्य का बड़ा विशद निरूपण आचार्य बुद्धघोष ने 'विसुद्धि-मग्ग' के प्रथम परिच्छेद में किया है। वास्तव में शास्ता का मन्तव्य चित्त को संयमित करने का ही है और उसी उद्देश्य के अनुसार हमें विनय के नियमों की भी व्याख्या करनी चाहिए। जो बातें राग, संग्रह, असन्तोष, अनुद्योगिता और इच्छाओं को बढ़ाने वाली हैं

वे सभी अकरणीय हैं और उनके विपरीत करणीय। विनय-पिटक इन्हीं का कुछ अनुमापन हमें देता है, जो यद्यपि सब काल और सब देशों के लिए परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता, फिर भी वह सदाचार के उस सार्वभौम आदर्श पर आधारित है जिसे लोक-गुरु (बुद्ध) ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व मध्य-मंडल में सिखाया था। विनय के उपदेश करने में, जैसा भगवान् ने स्वयं कहा है, दस उद्देश्य उनकी दृष्टि में थे। "भिक्षुओ! दस बातों का विचार कर मैं भिक्षुओं के उपकार के लिए विनय-नियमों (शिक्षापदों) का उपदेश करता हूँ (१) संघ की अच्छाई के लिए, (२) संघ की आसानी के लिए, (३) उच्छृंखल पुरुषों के निग्रह के लिए, (४) अच्छे भिक्षुओं के सुख-विहार के लिए, (५) इस जन्म के चित्त-मलों के निवारण के लिए, (६) जन्मान्तर के चित्त-मलों के नाश के लिए, (७) अप्रसन्नों को प्रसन्न करने के लिए, (८) प्रसन्नों की प्रसन्नता को बढ़ाने के लिए, (९) सद्धर्म की चिरस्थिति के लिए और (१०) विनय (संयम) की सहायता (अनुग्रह) के लिए[1]।" इन उद्देश्यों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से विनय-पिटक के नियमों के रूप और उनके उपयोग की सीमा काफी समझ में आ सकती है। उपासकों और भिक्षुओं के लिए निर्दिष्ट क्रमशः पंच (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य-पान से विरति) और दस (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य-पान से विरति एवं नृत्य-गीत, माला-गन्ध-विलेपन, ऊँचे पलंग, विकाल-भोजन एवं रुपये-पैसे के ग्रहण से भी विरति) शीलों के समान आज तक क्रमशः गृहस्थों और प्रव्रजितों के लिए सार्वभौम सदाचार का कोई दूसरा आदर्श नहीं रक्खा गया है? विनय-पिटक के २५२ नियम इन्हीं में अन्तर्भावित हैं।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व की मध्य-मंडल की सामाजिक परिस्थिति में तथागत ने भिक्षु-भिक्षुणी और उपासक-उपासिकाओं के लिए सदाचार-सम्बन्धी जिन नियमों का विधान किया, उन्होंने बाद में चल कर कितने देशों और कितने विशाल भूखंड में, भारत-भूमि से कोसों दूर, सन्यासी और गृहस्थ सब के लिए सम्मान्य सदाचार की कसौटी का काम किया, इसे देख कर आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। लंका, बरमा और स्याम की बात जाने दें, तो भी चीन, तिब्बत और जापान आदि में जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म गया वहाँ-वहाँ विनय-पिटक सम्बन्धी नियमों का कितना सूक्ष्म अनुशीलन किया गया, यह तत्सम्बन्धी साहित्य से

---

१. विनय-पिटक, पाराजिका १

प्रकट होता है । 'सो-सोर्-थर्-पा' (विनय-पिटक का तिब्बती संस्करण)' 'जुजु-रित्सु', 'शिबुन् रित्सु', 'मक्-सोगि-रित्सु', 'कोन्-पोन्-सेत्सु-इस्से-उब्रु' और 'गोबुन रित्सु' (विनय-पिटक के विभिन्न चीनी संस्करण) आदि किस तथ्य को प्रकट करते हैं? किस गाथा को वे दुहराते हैं? स्याम, बरमा और लंका में आज भी जो काषाय-वस्त्रों की जीती-जागती ज्योति चमकती है, वहाँ के भिक्षु-संघ के जीवन का जो संचालन शास्ता के द्वारा मध्य-मंडल में आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उपदिष्ट नियमों के अनुसार होता है, वह सब किस कहानी को कहता है? चाहे चीन, जापान और तिब्बत की ओर देखें, चाहे लंका, स्याम और बरमा की ओर देखें, चाहे आर्य जातियों की ओर देखें, चाहे आर्येतर मंगोलियन और तूरानी जातियों की ओर, जब उन सब से पूछा जाय 'जिस गुरु से तुमने सदाचार को सीखा है, उसका नाम क्या है?', तो चारों ओर से यही ध्वनि आती है "अयं सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो लोकविदू अनुत्तरो पुरिस-दम्म सारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवाति ।" निश्चय ही पूर्ण पुरुष, तथागत, भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध विश्व के एक बड़े भूभाग के सदाचार के उपदेष्टा हैं, इसका सर्वोत्तम साक्ष्य धम्म के अलावा विनय-पिटक के उन विभिन्न संस्करणों से प्राप्त होता है, जो नाना देशों में पाये गये हैं और जो इस बात के सूचक हैं कि किस गम्भीर मनन और चिन्तन के साथ वहाँ विनय-नियमों की समीक्षा की गई है और उनका जीवन में अनुसरण किया गया है। इस देश में उत्पन्न अग्रजन्माओं से संसार के सब देशों के मनुष्य अपने-अपने सदाचार को सीखें, यह तो मनु ने भी कहा था। किन्तु किस भारतीय मनीषी या ऋषि ने यह काम किया? उनमें से अनेक तो चातुर्वर्णी शुद्धि भी नहीं सिखा सके, फिर विश्व का शास्ता बनना तो दूर की बात थी? जिस गौरव की ओर मनु ने स्मरण दिलाया था उसे भारतीय भूमि और संस्कृति को प्रदान करने वालों में भगवान् बुद्ध ही अग्र है, श्रेष्ठ हैं। वे सर्वोत्तम अर्थों में लोक-शास्ता हैं, लोक-गुरु हैं, यह विनय-पिटक के नाना देशों में विकास ने भली भाँति प्रकट कर दिया है। न केवल बौद्ध देशों या बौद्ध मतावलम्बियों तक ही यह प्रभाव सीमित है, बल्कि ईसाई धर्म की उत्पत्ति, उसके बप्तिस्मा-नियम तथा चर्च-सम्बन्धी विधान में उन बौद्ध धर्म-प्रचारकों का, जिन्हें अशोक ने पश्चिमी एशिया और यूरोप के देशों में भेजा था, कितना प्रभाव उपलक्षित है, इसमें इतिहासवेत्ताओं के आज दो मत

नही हैं।[1] अतः विनय-पिटक केवल संघ-सम्बन्धी नियमों का संग्रह न हो कर आज हमारे लिए एक विशेष ऐतिहासिक गौरव का स्मारक है। जिस प्रकार शास्ता का धर्म विश्व-धर्म है, उसी प्रकार उनका विनय भी विश्व का विनय है, इसका अपने नाना रूपों में वह साक्ष्य देता है। विनय-पिटक का यह महत्त्व भी आज भारतीय विद्या और संस्कृति के उपासकों के लिए कुछ कम नही है।

---

१. देखिये एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ४०१, वहीं जिल्द बारहवीं, पृष्ठ ३१८-३१९; बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६३१-६३२.

पाँचवाँ अध्याय

अभिधम्म-पिटक

अभिधम्म-पिटक

अभिधम्म-पिटक पालि तिपिटक (त्रिपिटक) का तीसरा मुख्य भाग है। 'अभिधम्म' शब्द का प्रयोग 'अभि-विनय' शब्द के साथ-साथ क्रमशः धम्म और विनय सम्बन्धी गंभीर उपदेश के अर्थ में, सुत्त-पिटक में भी हुआ है।[1] संभवतः इसी के आधार पर आचार्य बुद्धघोष ने अभिधम्म का अर्थ किया है—'उच्चतर' धम्म या 'विशेष' धम्म। 'अभिधम्म' में 'अभि' शब्द को उन्होंने 'अतिरेक' या 'विशेष' का वाचक माना है।[2] वास्तव में यह 'अतिशयता' या 'विशेषता' धम्म

---

१. देखिये संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ-३।१०); दसुत्तर-सुत्त (दीघ. ३।११); गुलिस्सानि-सुत्तन्त (मज्झिम. २।२।९); किन्ति-सुत्तन्त (मज्झिम-३।१।३)। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने यहाँ इन शब्दों का अर्थ केवल धर्म-सम्बन्धी (अभिधम्म) और विनय-सम्बन्धी (अभि-विनय) किया है, जो पूरे अर्थ को व्यक्त नहीं करता।

२. अतिरेक-विसेस-त्थदीपको हि एत्थ अभि-सद्दो। अट्ठसालिनी, पृष्ठ २ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण); मिलाइये सुमंगल विलासिनी, पृष्ठ १८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण); प्रसिद्ध महायानी आचार्य आर्य असंग ने 'अभिधर्म' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए (१) निर्वाण के अभिमुख उपदेश करने के कारण (अभिमुखतः) (२) धर्म का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करने के कारण (आभीक्ष्ण्यात्) (३) विरोधी सम्प्रदायों का खंडन करने के कारण (अभिभवात्) एवं (४) सुत्त-पिटक के सिद्धान्तों का ही अनुगमन करने के कारण (अभिगतितः) 'अभिधर्म' शब्द की सार्थकता दिखलाई है। अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मः। महायानसूत्रालंकार ११।३; आचार्य वसुबन्धु ने उपकारक स्कन्धादि से युक्त, विमल प्रज्ञा को ही अभिधर्म कहा है। प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्मः। अभिधर्मकोश १।२

की नहीं है। धम्म तो सर्वत्र एक रस है। किन्तु तीनों पिटकों में, उनके नाना वर्गीकरणों में, वह नाना रूप हो गया है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' जो धम्म सुत्त-पिटक में उपदेश-रूप है, विनय में जो संयम-रूप है, वही अभिधम्म में तत्त्व-रूप है। इसका कारण अधिकारियों का तारतम्य ही है। प्रस्थान-भेद से धर्म के स्वरूप में भी भेद हो गया है। किन्तु यह भेद सिर्फ शैली का है, आदेशना-विधि का है। सुत्त सबके लिए सुगम है, क्योंकि वहाँ बुद्ध-वचन अपने यथार्थ स्वरूप मे रक्खे हुए है। अभिधम्म पिटक में बुद्ध-मन्तव्यों का वर्गीकरण और विश्लेषण किया गया है, तात्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से उन्हे गणनाबद्ध किया गया है। अतः जब कि सुत्त-पिटक का निरूपण जन-साधारण के लिए उपयोगी है, अभिधम्म पिटक की सूचियों और परिभाषाओं में वही चुने हुए व्यक्ति रुचि ले सकते है जिन्होंने बौद्ध तत्त्व-दर्शन को अपने अध्ययन का विशेष विषय बनाया है। इसी अर्थ में अभिधर्म्म पिटक को 'उच्चतर' धम्म या 'विशेष' धम्म कहा गया है।

अभिधम्म-पिटक धम्म की अधिक गहराई में उतरता है और अधिक साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही उसका प्रणयन हुआ है, ऐसा बौद्ध परम्परा आरम्भ से ही मानती आई है। कहा गया है कि देव और मनुष्यों के शास्ता ने 'अभिधम्म' का उपदेश सर्व प्रथम त्रायस्त्रिंश लोक में अपनी माता देवी महामाया और अन्य देवताओं को दिया था। बाद में उसी की पुनरावृत्ति उन्होंने अपने महाप्राज्ञ शिष्य धर्मसेनापति सारिपुत्र के प्रति की थी। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने ही उसे अन्य ५०० भिक्षुओं को सिखाया। इस प्रकार बुद्ध के जीवन-काल में ही सारि-पुत्र के सहित ५०१ भिक्षु अभिधम्म के ज्ञाता थे।[१] इस प्रकार प्राप्त 'अभिधम्म' का ही संगायन, इस परम्परा के अनुसार, प्रथम दो संगीतियों में हुआ।[२] तीसरी संगीति मे भी इसी की पुनरावृत्ति की गई, किन्तु इसके सभापति स्थविर मोग्ग-लिपुत्त तिस्स (मौद्गलिपुत्र तिष्य) ने 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ को भी जिसकी मोटी रूपरेखा भगवान् बुद्ध भविष्य में उत्पन्न होने वाले मिथ्या मत-वादो का ज्ञान प्राप्त कर उनके निराकरणार्थ पूर्व ही निश्चित कर गये थे, पूर्णता देकर 'अभिधम्म'

---

१. अट्ठसालिनी की निदान-कथा; मिलाइये धम्मपदट्ठकथा ४।२, बुद्धचर्या पृष्ठ ८३-९० में अनुवादित।

२. देखिये दूसरे अध्याय में प्रथम दो संगीतियों का विवरण।

में सम्मिलित कर दिया। इस प्रकार यह स्थविरवादी बौद्ध परम्परा अभिधम्म पिटक को भी सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के समान ही बुद्ध-वचन मानने की पक्षपातिनी है।

रचना-काल

उपर्युक्त अनुश्रुति अभिधम्म-पिटक की प्रशंसा में अर्थवाद मात्र है। वास्तव में उसी हद तक वह ठीक भी है। वैसे तो उसने भी यह स्वीकार कर ही लिया है कि अभिधम्म-पिटक का कम से कम एक ग्रन्थ 'कथावत्थु' अशोक-कालीन रचना है और उसका वर्तमान रूप स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स का दिया हुआ है। बुद्ध के प्रारंभिक उपदेशों में धम्म और विनय की ही प्रधानता है। ऐसा लगता है कि उन्हीं के आधार पर संग्रथित अभिधम्म को भी उन्हीं के समान प्रमाणवत्ता देने के लिए स्थविरों ने उपर्युक्त अर्थवाद की सृष्टि की है। आधुनिक विद्यार्थी के लिए सबसे अधिक कठिन समस्या तो यह है कि आज जिस रूप में अभिधम्म-पिटक हमें मिलता है, वह कहां तक सीधा बुद्ध-वचन है अथवा उसका प्रणयन-किन-किन काल-श्रेणियों में बुद्ध-वचनों के आधार पर हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर आज जिस रूप में अभिधम्म-पिटक हमें मिलता है, उसकी प्रमाण-वत्ता सुत्त और विनय की अपेक्षा निश्चयतः कम रह जाती है और उसका प्रणयन-काल भी उतनी ही निश्चिततापूर्वक उसके बाद का ठहरता है।

'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों के साथ दो प्रश्न आचार्य बुद्धघोष ने बड़े महत्त्व के किये हैं। पहला प्रश्न है—'अभिधम्म पिटक किसका वचन है'? दूसरा प्रश्न है—'किसने इसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया है?' पहले प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा है 'पूर्ण पुरुष, तथागत भगवान् सम्यक्सम्बुद्ध का और दूसरे के उत्तर में कहा है 'उपदेशकों की न टूटने वाली परम्परा ने'। इसी परम्परा का उल्लेख करते हुए वहाँ कहा गया है "तृतीय संगीति तक सारिपुत्र, भद्दजि, सोभित, पियजालि, पियपाल, पियदस्सि, कसियपुत्त, सिग्गव, सन्देह, मोग्गलिपुत्त, विसुदत्त, धम्मिय, दासक, सोनक, रेवत, आदि स्थविरों की परम्परा ने अभिधम्म-पिटक का उपदेश दिया। उसके बाद उनकी शिष्य-परम्परा ने इस काम को अपने हाथ में लिया। इस प्रकार भारतवर्ष (जम्बुद्वीप) में उपदेशकों की अविच्छिन्न परम्परा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अभिधम्म को पहुँचाती रही। इसके अनन्तर सिंहल द्वीप में भिक्षु महिन्द, इद्धिय, उत्तिय, भद्दनाम और सम्बल आये। यही महामनीषी भिक्षु अभिधम्म-पिटक को भी

भारत से लंका द्वीप में अपने साथ लाये। तब से आज तक गुरु-शिष्य परम्परा से यह अभिधम्म पिटक उसी रूप में चलता आ रहा है"। आचार्य बुद्धघोष का यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। महिन्द के लंका में अभिधम्म पिटक के ले जाने के बाद से उसके स्वरूप में कुछ भी परिवर्तन हुआ हो, इसका कोई साक्ष्य नहीं मिलता। उसके बाद अभिधम्म-पिटक का स्वरूप निश्चित और स्थिर हो गया, ऐसा हम मान सकते हैं, यद्यपि लेखबद्ध होने का कार्य तो अभिधम्म-पिटक का भी संपूर्ण त्रिपिटक के साथ ही लगभग २५ ई० पूर्व वट्टगामणि अभय के समय में सम्पादित किया गया। आन्तरिक या बाह्य साक्ष्य के आधार पर ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर अभिधम्म-पिटक के स्वरूप में तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व से प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक किए गए किसी परिवर्तन या परिवर्द्धन का अनुमान किया जा सके। निश्चय ही यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने सुदीर्घ काल तक लंका में मौखिक परम्परा में चलते रहने पर भी अभिधम्म-पिटक में कहीं भी ऐसे एक शब्द तक का भी निर्देश नहीं दिखाया जा सकता जिससे सिंहली प्रभाव की कल्पना की जा सके[1]। कुछ विद्वानों ने 'कथावत्थु' की अट्ठकथा के आधार पर यह अवश्य दिखाने का प्रयत्न किया है कि 'कथावत्थु' में कुछ ऐसे सम्प्रदायों के सिद्धांतों का भी निराकरण है जो अशोक के काल के बाद प्रादुर्भूत हुए थे। चूँकि 'कथावत्थु' में केवल सिद्धांतों का खंडन है, सम्प्रदायों का नामोल्लेख वहाँ नहीं है। अतः बहुत संभव है कि विशिष्ट संप्रदायों के साथ कालान्तर में इन सिद्धांतों का संबंध हो जाने के कारण 'अट्ठकथा' (पाँचवीं शताब्दी ईसवी) में उनका उल्लेख कर दिया गया हो, किन्तु अशोक के काल में केवल स्फुट रूप से ही इन सिद्धांतों की विद्यमानता पाई जाती हो। अतः 'कथावत्थु' में निराकृत उन सिद्धांतों को भी, जिनकी मान्यता बाद के उत्पन्न कुछ विशिष्ट संप्रदायों में चल पड़ी, जिसका साक्ष्य उसकी 'अट्ठकथा' ने दिया है, अनिवार्यतः अशोक के उत्तरकालीन मानना ठीक नहीं है। इस विषय का अधिक विशद विवेचन हम 'कथावत्थु' के विवेचन पर आते समय करेंगे। स्थविरवादी भिक्षुओं की परम्परा ने आरम्भ से ही बुद्ध-वचनों को उनके मौलिक

---

१. फिर भी आश्चर्य है कि सर चार्ल्स-इलियट जैसे विद्वान् ने भी अभिधम्म-पिटक के लंका में रचित होने की सम्भावना को प्रश्रय दिया। देखिये उनका 'हिन्दुइज्म एंड बुद्धिज्म' जिल्द पहली, पृष्ठ २७६, पदसंकेत १ तथा पृष्ठ २९१। यह भरपूर अज्ञान है!

रूप में सुरक्षित रखने का जो आग्रह दिखलाया है उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि लंका में महिन्द आदि भिक्षुओं के द्वारा ले जाये जाने के बाद से अभिधम्म वहाँ उसी विशुद्धतम स्वरूप में सुरक्षित बना रहा जिसमें वे उसे वहाँ ले गये थे। अब प्रश्न यही रह जाता है कि क्या महिन्द आदि भिक्षु जिस अभिधम्म को तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व लंका में ले गये थे क्या वह वही बुद्ध-वचन था जिसका उपदेश स्वयं शास्ता ने मध्य-मंडल में दिया था ? कम से कम स्थविरवादी बौद्ध परम्परा तो उसे इसी रूप में उस समय से मानती आई है और भिक्षु-संघ ने भी उसे बड़े प्रयत्न से उसके मौलिक रूप में सुरक्षित रखना अपना कर्तव्य माना है। किन्तु दूसरे संप्रदायवालों (विशेषतः सर्वास्तिवादियों) ने उसके इस दावे को वैशाली की संगीति के समय से ही नहीं माना था, यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। उपर्युक्त कथन से कम से कम एक बात निश्चित रूप से हमें मिल जाती है, और वह है अभिधम्म-पिटक के उस रूप के पणयन की, जिसमें वह अंतिम रूप से निश्चित और स्थिर हो गया था, निचली काल-सीमा। पाटलिपुत्र की संगीति २५३ ई० पू० में हुई। उसके समाप्त होने पर ही महिन्द आदि भिक्षु लंका को भेजे गये। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि लगभग २५० ई० पू० तक अभिधम्म-पिटक अपने उस रूप में, जिसमें वह आज उपलब्ध है, पूर्णतः स्थिर हो चुका था। बाद में मिलिन्दपञ्ह (१०० ई० पू०) में तो अभिधम्म पिटक के सातों ग्रन्थों का, उनकी पूरी वर्गीकरण-शैली के संक्षिप्त निर्देश के साथ, उल्लेख हुआ है।[1] जिस आदर के साथ अभिधम्म-पिटक का उल्लेख यहाँ किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि बुद्ध-वचनों के रूप में उसकी ख्याति बौद्ध परम्परा में उस समय तक दृढ़ प्रतिष्ठा पा चुकी थी। यदि कम से कम सौ-डेढ सौ वर्ष का काल भी इस परम्परा के निर्माण में लगा हो तो भी हम आसानी से अशोक-संगीति के समय तक पहुँच जाते हैं जब कि तेपिटक बुद्ध-वचनों का अंतिम रूप से संस्करण हुआ था। अतः अशोक-संगीति या तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व का मध्यांश अभिधम्म-पिटक के रचना-काल की निचली काल-सीमा है जिसे बहुत खींचतान कर प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक अर्थात् उसके सिंहल में लेखबद्ध होने अथवा मिलिन्दपञ्ह में उसके उद्धृत होने तक के समय तक भी घटाकर लाया जा सकता है। अब हमें उसके रचना-काल की उपरली काल-सीमा का निर्णय करना है। विनय-पिटक—चुल्लवग्ग के

---

१. मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ १३-१४ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

प्रथम संगीति के वर्णन में हमने देखा है कि वहाँ धम्म और विनय के ही संगायन की बात कही गई है। अभिधम्म के संगायन की कोई सूचना वहाँ नहीं मिलती। किन्तु अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी एवं समन्तपासादिका) के वर्णन में, जैसा हम पहले देख चुके हैं अभिधम्म-पिटक के सातों ग्रन्थों के भी संगायन किये जाने का उल्लेख है। चूँकि त्रिपिटक के साक्ष्य के सामने उसकी अट्ठकथा के साक्ष्य का कोई प्रामाण्य नहीं माना जा सकता, अतः 'समन्तपासादिका' का साक्ष्य यहाँ अपने आप प्रमाण की सीमा के बाहर हो जाता है। जैसा भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने कहा है "विनय और धर्म के साथ अभिधम्म का भी पारायण इसी (प्रथम) संगीति में हुआ, यह जो समन्तपासादिका का कहना है, यह तो स्पष्ट-रूप से गलत है।"[१] किन्तु 'समन्तपासादिका' के साक्ष्य को स्पष्ट रूप से गलत मानते हुए भी उससे इतना निष्कर्ष तो हम निकाल ही सकते हैं कि अधिक से अधिक प्रथम संगीति के समय ही अभिधम्म-पिटक का विकास होना आरम्भ हो गया था। तभी हम वैशाली की संगीति के अवसर पर इस विषय संबंधी सर्वास्तिवादियों और स्थविरवादियों के विरोध और विवाद को समझ सकते हैं। यदि आज प्राप्त पालि विनय-पिटक का संकलन वैशाली की संगीति के अवसर पर ही हुआ हो तो उसमें जिस प्रकार अलौकिक ढंग से अभिधम्म को साक्षात् बुद्ध-वचन सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, उसका ऐतिहासिक रहस्य भी आसानी से समझा जा सकता है। दूसरे संप्रदायवालों द्वारा अभिधम्म की प्रामाणिकता का निषेध कर देने पर ही उन्हें इस प्रकार के विधान की आवश्यकता पड़ी। प्रथम संगीति के पहले हम पारिभाषिक अर्थों में अभिधम्म-पिटक के वर्तमान होने की स्थापना किसी आधार पर नहीं कर सकते। उससे पहले सिर्फ 'मातिकाओं' (मात्रिकाओं) का वर्णन मिलता है। सर्वास्तिवादियों के मतानुसार भी 'मात्रिकाओं' (अभिधर्म) का संगायन प्रथम संगीति के अवसर पर आर्य महाकाश्यप ने किया था। कुछ भी हो, इन 'मातिकाओं' के आधार पर ही अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। अभिधम्म-पिटक के सर्वप्रथम ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' का प्रारंभ एक 'मातिका' से ही होता है। श्रीमती रायस डेविड्स ने इसी को अभिधम्म-पिटक का मूल स्रोत माना है।[२]

---

१. महावंश, पृष्ठ ११ (परिचय)

२. ए बुद्धिस्ट मेन्युअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अंग्रेजी अनुवाद) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९, १०५-११३ (भूमिका)

उसमें निर्दिष्ट २२ त्रिकों और १०० द्विकों के वर्गीकरण पर ही अभिधम्म का संपूर्ण धम्म-विवेचन आधारित है। पुग्गलपञ्ञत्ति और धातुकथा का भी आरंभ इसी प्रकार मातिकाओं से होता है। वास्तव में संपूर्ण अभिधम्म ग्रन्थों की शैली ही पहले मातिका या उद्देस देकर बाद में उनके निद्देस (व्याख्या) देने की है। पहले दिखाया जा चुका है कि पिटक-साहित्य में जहाँ मातिकाओं का उल्लेख हुआ है (धम्मधरो विनयधरो मातिकाधरो पंडितो—विनय-पिटक—चुल्लवग्ग) वहाँ उनसे किन्हीं विशिष्ट ग्रन्थों का बोध न होकर केवल सिद्धान्तात्मक सूचियों का ही होता है, जिनका उपयोग भिक्षु लोग स्मरण करने की सुगमता के लिए करते थे। इसी प्रकार दीघ-निकाय के संगीति-परियायसुत्त और दसुत्तर-सुत्त, मज्झिम निकाय के सळायतनविभंग-सुत्त और धातुविभंगसुत्त, एवं अंगुत्तर-निकाय के अनेक संख्याबद्ध सुत्त, अभिधम्म-पिटक के वर्गीकरणों के मूल स्रोत माने जा सकते हैं।[1] इन्हीं के आधार पर अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। यह इससे भी प्रमाणित होता है कि महायानी परम्परा के संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में 'अभिधर्म' के लिए 'मात्रिका' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।[2] अतः समन्तपासादिका के वर्णन को अक्षरशः सत्य न मानकर हम उससे इतना निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि मातिकाओं और ऊपर निर्दिष्ट सुत्त-पिटक के अंशों से अभिधम्म-पिटक के निर्माण का कार्य प्रथम संगीति के समय ही आरम्भ हो गया था और दूसरी संगीति के समय तक आते आते उसने ऐसा निश्चित (अन्तिम नहीं) रूप प्राप्त कर लिया था, जिसके आधार पर दूसरे संप्रदायवालों के लिये उसे बुद्ध-वचन मानने या न मानने का महत्वपूर्ण प्रश्न उठ सकता था। अतः पाँचवी शताब्दी ईसवी पूर्व अभिधम्म-पिटक के प्रणयन की उपरली काल-सीमा और २५० ई० पू० (जिसे अधिक सन्देहवादी विवेचक घटा कर प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक भी ला सकते

---

१. अभिधम्म-पिटक के अंगुत्तर-निकाय सम्बन्धी आधार के लिये मिलाइये ई० हार्डी : अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ९ (प्रस्तावना) (पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित संस्करण)

२. देखिये श्रीमती रायस डेविड्स : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अनुवाद) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९, १०५-११३; ओल्डनबर्ग और रायस डेविड्स : सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द १३, पृष्ठ २७३; कर्न : मेनुअल ऑव बुद्धिज्म, पृष्ठ ३, १०४।

हैं) निचली काल-सीमा ठहरती है। इन्हीं के बीच अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। विशेषत: द्वितीय और तृतीय संगीतियों के बीच का समय अभिधम्म पिटक के संग्रह और रचना का काल माना जा सकता है।

उपर्युक्त काल-सीमाएँ निर्धारित करने से अधिक अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के प्रणयन के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। उनकी निश्चित तिथियाँ स्थापित नहीं की जा सकतीं। कब कौन सा ग्रन्थ निश्चित रूप प्राप्त कर प्रकाश में आया, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। हाँ, कुछ सिद्धांतों के आधार पर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के काल-क्रम में तारतम्य अवश्य स्थापित किया जा सकता है। परम्परा से अभिधम्म-पिटक के सात ग्रन्थों का उल्लेख जिस क्रम में हमें मिलता है, वह यह है (१) धम्मसंगणि, (२) विभंग (३) कथावत्थु, (४) पुग्गलपञ्ञत्ति ,(५) धातुकथा, (६) यमक और (७) पट्ठान। मिलिन्दपञ्ह (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) में इसी क्रम में इन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।[१] 'सुमंगलविलासिनी' की निदान-कथा में अवश्य बुद्धघोष ने कुछ परिवर्तन के साथ एक दूसरे क्रम का अनुसरण किया है,[२] किन्तु वह छन्द की आवश्यकता के लिए भी हो सकता है, अत: महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। विंटरनित्ज़, गायगर, ज्ञानातिलोक, भिक्षु जगदीश काश्यप एवं लाहा आदि विद्वानों ने अभिधम्म-पिटक के अपने विवेचनों में उपर्युक्त क्रम का ही अनुसरण किया है। विषय की दृष्टि से इससे अधिक स्वाभाविक क्रम हो भी नहीं सकता। किन्तु काल-क्रम की दृष्टि से इस क्रम को ठीक मानना हमारे लिए अशक्य हो जाता है। केसियस ए० पिरीरा का मत है कि आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर धम्मसंगणि, विभंग और पट्ठान प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और उनका संगायन, अपने वर्तमान रूप में, संभवत: द्वितीय संगीति के अवसर पर ही हुआ था। इस प्रकार इन तीन ग्रन्थों ने अपना निश्चित और अंतिम स्वरूप चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व के प्रथम चतुर्थांश या उसके पूर्व ही प्राप्त कर लिया था, ऐसा उनका मत है। धातुकथा, यमक और पट्ठान को भी उन्होंने पूर्व-अशोक-कालीन रचनाएँ माना है और कहा है कि उनका भी संगायन अपने अंतिम रूप में तृतीय संगीति के अवसर पर हुआ था। 'कथावत्थु' की रचना की निश्चित तिथि तृतीय संगीति है ही[३]। 'कथावत्थु' काल-क्रम की दृष्टि से अभिधम्म-पिटक की

१. पृष्ठ १३-१४ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)
२. दूसरे अध्याय में प्रथम संगीति के वर्णन के प्रसंग में उद्धृत।
. महास्थविर ज्ञानातिलोक की 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक' के प्राक्कथन में।

अन्तिम रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। किन्तु अन्य ग्रन्थों के तारतम्य के विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं। डा० लाहा ने 'पुग्गलपञ्ञत्ति' को काल-क्रम की दृष्टि से अभिधम्म पिटक का प्राचीनतम ग्रन्थ माना है। उनका कहना है कि चूंकि अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक पर आधारित है, अतः जिस हद तक अभिधम्म पिटक का कोई ग्रन्थ स्पष्ट रूप से सुत्त-पिटक पर कम या अधिक अवलंबित है, उसी हद तक उसकी आपेक्षिक प्राचीनता भी कम या अधिक है।[1] इसी सिद्धांत को आधार मानकर विवेचन करते हुए उन्होंने दिखाया है कि अन्य सब ग्रन्थों की अपेक्षा 'पुग्गलपञ्ञत्ति' ही सुत्त-पिटक पर अधिक अवलंबित है। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' की पृष्ठभूमि में दीघ, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों के पुग्गलों के प्रकार और विश्लेषण पूरी तरह निहित हैं। उदाहरणतः 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के तयो पुग्गला, चत्तारो पुग्गला, पञ्च पुग्गला आदि भाग अंगुत्तर निकाय के क्रमशः तिक-निपात चतुक्क-निपात और पंच-निपात आदि के समान ही हैं। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के कुछ अंशों और दीघ निकाय के संगीतिपरियाय-सुत्त में भी अनेक समानताएँ हैं। "पुग्गलपञ्ञत्ति' के पालि टैक्सट् सोसायटी के संस्करण के संपादक डा० मॉरिस ने पुग्गलपञ्ञत्ति और सुत्त-पिटक के ग्रन्थों की इन सब समानताओं को सोद्धरण दिखाया है।[2] इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि पुग्गलपञ्ञत्ति की समानता, शैली और विषय दोनों की दृष्टि से, अभिधम्म-पिटक की अपेक्षा सुत्त पिटक से अधिक है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने तो यहाँ तक कहा है कि 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के विवेचन को निकाल देने पर भी अभिधम्म-दर्शन की पूर्णता में कोई कमी नही आती।[3] 'पुग्गलपञ्ञत्ति' की प्रथम मातिका में अवश्य अभिधम्म-शैली का अनुसरण किया गया है, अन्यथा वह सुत्त-पिटक का ही ग्रन्थ जान पड़ता है। अतः पुग्गलपञ्ञत्ति की निश्चित तिथि चाहे जो कुछ हो, वह अभिधम्म पिटक के ग्रन्थों में काल-क्रम की दृष्टि से सबसे प्राचीन है, ऐसा डा० लाहा ने माना है।[4] पुग्गलपञ्ञत्ति' के समान ही डा० लाहा ने 'विभंग' की भी अभिधम्म-पृष्ठभूमि का विवेचन किया है। 'विभंग' के सच्च-विभंग, सतिपट्ठान-विभंग और धातु-विभंग, मज्झिम-निकाय

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २२

२. पुग्गलपञ्ञत्ति, पृष्ठ १०-११ (भूमिका)

३. अभिधम्म फिलासफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५

४. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २३

के क्रमशः सच्चविभंग सुत्त, सतिपट्ठान सुत्त और धातुविभंग सुत्त पर आधारित हैं। इसी प्रकार 'विभंग' के अनेक अंश खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ 'पटिसम्भिदामग्ग' पर भी अवलंबित हैं। इसलिए कालक्रम की दृष्टि से 'विभंग' को डा० लाहा नें 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के बाद दूसरा ग्रन्थ माना है। 'विभंग' को उन्होंने अभिधम्म-साहित्य के विकास की उस स्थिति का सूचक माना है जब कि अभिधम्म की शैली पूर्णतः निश्चित नहीं हुई थी और वह सुत्तन्त की शैली से मिश्रित थी। चूँकि 'धम्मसंगणि' में अभिधम्म-शैली का विकसित रूप मिलता है, इसलिए परम्परागत अनुश्रुति के विपरीत उन्होंने 'धम्मसंगणि' को विभंग के बाद का ग्रन्थ माना है। 'धम्मसंगणि' का ही पूरक ग्रन्थ 'धातुकथा' है। अतः 'विभंग' के बाद 'धम्मसंगणि' और उसके बाद 'धातुकथा', यह क्रम डा० लाहा ने स्वीकार किया है। 'विभंग' ही 'यमक' की भी पृष्ठभूमि है। 'विभंग' के एक भाग 'पच्चयाकार विभंग' का ही विस्तृत निरूपण बाद में 'पट्ठान' में मिलता है। अतः धम्मसंगणि, धातुकथा यमक और पट्टान ये चारों ग्रंथ विभंग पर ही आधारित हैं और काल-क्रम में उससे बाद के हैं, ऐसा डा० लाहा का मत है। इन सबसे बाद की रचना 'कथावत्थु' है। इस प्रकार 'पुग्गलपञ्ञत्ति' सबसे पूर्व की रचना, 'कथावत्थु' सबसे अन्तिम रचना, इन दोनों के बीच में 'विभंग' जिस पर ही आधारित 'धम्मसंगणि', 'धातुकथा', 'यमक' और 'पट्ठान' यही अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों के काल-क्रम के विषय में डा० लाहा का निष्कर्ष है। इसे डा० लाहा ने इस प्रकार दिखाया है।[1]

१ पुग्गलपञ्ञत्ति

२ विभंग— (अ) धम्मसंगणि—धातुकथा
(आ) यमक
(इ) पट्ठान

३ कथावत्थु

डा० लाहा का काल-क्रम-निश्चय अंशतः ठीक जान पड़ता है। किसी भी पालि साहित्य के विद्यार्थी को इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि 'कथावत्थु' अभिधम्म पिटक की अन्तिम रचना है। अतः अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों का परम्परागत परि-

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २६

गणन जिसमें 'कथावत्थु' को सातवें स्थान के बजाय पाँचवाँ स्थान प्राप्त है, कालक्रम की दृष्टि से ठीक नहीं हो सकता, ऐसा तो अन्ततः मानना ही पड़ेगा। अतः 'कथावत्थु' को अभिधम्म-पिटक का अन्तिम ग्रंथ मानना ठीक ही जान पड़ता है। इसी प्रकार विषय और शैली दोनों की ही दृष्टि से 'पुग्गलपञ्ञत्ति' को भी कालक्रमानुसार प्रथम ग्रंथ माना जा सकता है। यहाँ तक डा० लाहा के निष्कर्ष ठीक जान पड़ते हैं। किन्तु 'विभंग' को 'धम्मसंगणि' से पूर्व की रचना मानना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। यहाँ डा० लाहा ने विषय-वस्तु की अपेक्षा शैली को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर यह निष्कर्ष निकाल डाला है। विशेषतः 'विभंग' को 'धम्मसंगणि' से पूर्व की रचना मानने के लिये उन्होंने दो कारण दिये हैं (१) विभंग के प्रत्येक भाग में सुत्तन्तभाजनिय (सुत्तन्त-भाग) और अभिधम्मभाजनिय (अभिधम्म-भाग) दो स्पष्ट भाग हैं, जिनमें सुत्तन्तभाजनिय पर ही आधारित अभिधम्मभाजनिय है। इससे डा० लाहा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'विभंग' अभिधम्म-पिटक के विकास की उस अवस्था का सूचक है, जिसमें सुत्तन्त और अभिधम्म का भेद सुनिश्चित नहीं हुआ था। इसके विपरीत 'धम्मसंगणि' में अभिधम्म-शैली का पूरा अनुसरण मिलता है। अतः 'धम्मसंगणि' 'विभंग' से बाद की रचना ही हो सकती है। (२) उद्देस (साधारण कथन) के बाद निद्देस (शब्दों के अर्थों का विस्तृत विवेचन) देने की अभिधम्म की प्रणाली है। विभंग के 'रूपक्खन्धविभंग' में 'रूप' का मात्र 'उद्देस' ही मिलता है। उसका निद्देस सिर्फ धम्मसंगणि में ही मिलता है। अतः 'धम्मसंगणि' 'विभंग' के बाद की ही रचना होनी चाहिये।[1] डा० लाहा ने यहाँ समष्टि रूप से दोनों ग्रंथों की विषय-वस्तु पर विचार नहीं किया है। केवल शैली की दृष्टि से विचार किया है और वह भी अपूर्ण है। जहाँ तक अध्यायों के 'सुत्त-विभाग' और 'अभिधम्म-विभाग' इन दो विभागों का सम्बन्ध है, वे तो विभंग के समान धम्मसंगणि में भी मिलते है।[2] अतः इस दृष्टि से दोनों में भेद करना अनुचित है। विषय के स्वरूप की दृष्टि से शैली में भी अन्तर हो सकता है। धम्मसंगणि का धम्म-विश्लेषण विभंग में प्राप्त उसके वर्गीकृत स्वरूप का पूर्वगामी ही हो सकता है। फिर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो विषय का पूर्वापर संबंध

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २४-२५

२. देखिये स्वयं विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३०६

है, जिसके आधार पर हम अधिक निश्चित रूप से दो ग्रंथों का या एक ही ग्रंथ के दो अंशों के पूर्वापर भाव का अधिक निश्चय के साथ निर्णय कर सकते हैं। यह एक सर्व-विदित तथ्य है कि विभंग के प्रथम खंड में ही लेखक की धम्मसंगणि में विवेचित धम्मों की गणना से अभिज्ञता प्रकट हो जाती है, जिसमें उसने कुछ नये धम्मों का और समावेश कर दिया है।[1] विभंग ने धम्मसंगणि की 'मातिका' में निर्दिष्ट २२ त्रिकों और १०० द्विकों की विवरण-प्रणाली को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। विभंग के प्रथम तीन खण्ड स्कन्ध, आयतन और धातुओं का विवेचन करते हैं, अतः अंशतः धम्मसंगणि के प्रति उनका भी पूरकत्व सुनिश्चित है।[2] 'धम्मसंगणि' की शैली विश्लेषणात्मक अधिक है, जब कि विभंग की संश्लेषणात्मक अधिक है।[3] इस तथ्य से भी विभंग धम्मसंगणि के बाद की ही रचना जान पड़ती है। धम्म-संगणि से विभंग की ओर विकास-क्रम सामान्य से विशेष की ओर विकास क्रम है। अतः धम्मसंगणि को ही विभंग से पूर्व की रचना मानना अधिक युक्तिसंगत है। श्रीमती रायस डेविड्स ने भी माना है कि विभंग अपने पूर्व धम्मसंगणि की अपेक्षा रखती है।[4] गायगर[5] और विंटरनित्ज़[6] ने भी उसे धम्मसंगणि का पूरक रूप ही माना है। अभिधम्म-साहित्य के प्रसिद्ध भारतीय बौद्ध विद्वान् भिक्षु जगदीश काश्यप भी विभंग की विषय वस्तु को धम्मसंगणि की पूरक स्वरूप ही मानते हैं।[7] अतः 'धम्मसंगणि' को ही 'विभंग' की अपेक्षा पूर्वकालीन रचना मानने की ओर विद्वानों की प्रवणता अधिक है। 'विभंग' के 'रूपक्खन्ध विभंग' का अधिक विस्तृत विवेचन 'धम्मसंगणि' में पाया जाना 'धम्मसंगणि' के बाद की रचना होने का ही सूचक नहीं माना जा सकता। बल्कि यह तथ्य केवल यही दिखाता है कि धम्मसंगणि में इसका सांगोपांग विवेचन हो जाने के बाद विभंग में उसके इतने विस्तार में जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इतनी अधिक दृष्टियों से

---

१. विन्टरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६७
२. ज्ञानातिलोक: गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १७
३. उपर्युक्त के समान ही।
४. विभंग, भूमिका, पृष्ठ १३ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)
५. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १७
६. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६७
७. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०४

अभिधम्म-पिटक में धम्मों के विश्लेषण और विवेचन किये गये हैं और इतनी अधिक अवस्थाओं पर उसके संक्षिप्त और विस्तृत विवेचन निर्भर करते हैं कि एक दो उदाहरणों से हम किन्हीं दो ग्रन्थों की पूर्वापरता का कोई निश्चित निर्णय नहीं कर सकते। धम्मसंगणि वास्तव में संपूर्ण अभिधम्म-पिटक का आधारभूत ग्रन्थ है और विषय-वस्तु की दृष्टि से उसी पर आधारित 'विभंग' है। 'विभंग' 'धम्मसंगणि' का पूरक है और स्वयं 'धातुकथा' के लिए आधारस्वरूप है।[१] इस प्रकार 'धम्मसंगणि और धातुकथा के बीच वह मध्यस्थता करता है। 'यमक' और पट्ठान के विषय में जो कुछ पहले कहा जा चुका है, वह ठीक है। अतः हमारे प्रस्तुत अध्ययन के अनुसार अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों का अधिक ठीक काल-क्रम यह होना चाहिए—पुग्गलपञ्ञत्ति, धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, यमक, पट्ठान, और कथावत्थु। इसे यों भी दिखाया जा सकता है—

१. पुग्गलपञ्ञत्ति

२. धम्मसंगणि

३. विभंग { अ. धातुकथा
आ. यमक
इ. पट्ठान }

४. कथावत्थु

अभिधम्म पिटक का विषय

ऊपर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के काल-क्रम के विषय में जो विवेचन किया गया है, उससे उसकी विषय-वस्तु पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। अभिधम्म-पिटक के विषय में सुत्त-पिटक की अपेक्षा कुछ नवीनता नहीं है। जैसा डा० रायस डेविड्स ने कहा है, अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक का ही परिशिष्ट है।[२] आचार्य बुद्धघोष ने उसे 'धम्म' का अतिरेक या अतिरिक्त रूप कहा है।[३] उसका भी यही अर्थ है। सुत्त-पिटक में निहित बुद्ध-मन्तव्यों को ही अभिधम्म-पिटक में अधिक सूक्ष्म विस्तार के साथ समझाया गया है। पारिभाषिक शब्दावली कहीं कुछ नई

---

१. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १७

२. अमेरिकन लैक्चर्स ऑन बुद्धिज्म : इट्स हिस्ट्री एंड लिटरेचर, पृष्ठ ६२

३. देखिये पृष्ठ ३३४, पद संकेत २

अवश्य है, किन्तु सिद्धांतों का मूल आधार सुत्तन्त ही है। अभिधम्म के सिद्धांतों, वर्गीकरणों और विभागों के मूल स्रोतों को सुत्तन्त में खोज निकालना अध्ययन का एक अच्छा विषय हो सकता है। उससे दोनों का तुलनात्मक अध्ययन होने के अतिरिक्त स्वयं अभिधम्म-पिटक के दुरूह सिद्धांतों का समझना भी सुगम हो जाता है। प्रथम बार भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत किया है।[1] उनके मतानुसार विभज्यवाद जिस प्रकार सुत्तन्त का दर्शन है उसी प्रकार वह अभिधम्म का भी दर्शन है। 'विभज्यवाद' का अर्थ है मानसिक और भौतिक जगत् की संपूर्ण अवस्थाओं का विश्लेषण कर चुकने पर भी उनमें कहीं 'अत्ता' (आत्मा) का नहीं मिलना। पहिये, धुरा, जुआ आदि सभी भागों से व्यतिरिक्त 'रथ' की सत्ता नहीं है। इसी प्रकार व्यक्ति भी रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूपी पाँच स्कंधों की समष्टि के अलावा और कुछ नहीं है। ये सभी स्कन्ध अनित्य,अनात्म और दुःख हैं। इनमें अपनापन खोजना दुःख का ही कारण हो सकता है। यही बुद्ध का दर्शन है, जो सुत्त-पिटक में अनेक बार प्रस्फुटित हुआ है। उदाहरणतः संयुत्त-निकाय के इस बुद्ध-वचन को लीजिये, "हे गृहपति ! यहाँ अश्रुतवान्, आर्यों के दर्शन से अनभिज्ञ, अज्ञानी मनुष्य, रूप को आत्मा के रूप में देखता है, अथवा आत्मा को रूपवान् समझता है, या आत्मा में रूप को देखता है या रूप में आत्मा को देखता है। वह समझता है—मैं रूप हूँ और रूप मेरा है। इस प्रकार 'मैं रूप हूँ और रूप मेरा है' समझते हुए उसके रूप में परिवर्तन होता है, विपरिणाम होता है, कुछ का कुछ हो जाता है। गृहपति ! इसी से उत्पन्न होते हैं शोक, परिदेव (रोना-धोना) दुःख, दौर्मनस्य और मानसिक कष्ट"।[2] वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को लेकर भी इसी प्रकार दुःख-समुदय का क्रम दिखाया गया है। व्यक्ति के उपर्युक्त पाँच

---

१. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९-३१

२. इध गहपति, अस्सुतवा पुथुज्जनो अरियानं अदस्सावी रूपं अत्ततो समनुपस्सति, रूपवन्तं वा अत्तानं, अत्तनि या रूपं, रूपस्मिं वा अत्तानं। अहं रूपं, मम रूपं ति परियुट्ठट्ठायी होति। तस्स अहं रूपं मम रूपं ति परियुट्ठट्ठतो तं रूपं परिणमति अञ्ञथा होति, तस्स रूपविपरिणामञ्ञथाभावा उप्पज्जन्ति सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्सूपायासा। अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २० में उद्धृत।

स्कन्धों में विश्लेषण के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विश्लेषण भी सुत्तन्त में किये गये हैं। उनमें दो मुख्य है। पहले व्यक्ति के साथ बाह्य संसार के संबंध की व्याख्या करने के लिए १२ आयतनों का विवेचन किया गया है,[1] जो इस प्रकार है:—

१. चक्षु (चक्खु)	४. जिह्वा	७. रूप	१०. रस
२. श्रोत्र (सोत)	५. काय	८. शब्द (सद्द)	११. स्पृष्टव्य (फोटठब्ब)
३. घ्राण (घाण)	६. मन	९. गन्ध	१२. धम्म

इनमें व्यक्ति (द्रष्टा) का विश्लेषण प्रथम छः आयतनों के रूप में किया गया है, जो आध्यात्मिक आयतन (अज्भतिक आयतन) कहलाते हैं। बाह्य संसार (दृश्य) का विश्लेषण बाद के छः आयतनों के रूप में किया गया है, जो बाह्य-आयतन (बाहिर आयतन) कहलाते हैं। द्रष्टा और दृश्य के संबंध और उनके उपादान से उत्पन्न होने वाली चेतना को ध्यान में रखकर आन्तरिक और बाह्य संसार का १८ धातुओं में भी विश्लेषण किया गया है,[2] जो इस प्रकार है:—

१. चक्षु (चक्खु)	७. रूप	१३. चक्षु-विज्ञान (चक्खु-विञ्ञाण)
२. श्रोत्र (सोत)	८. शब्द (सद्द)	१४. श्रोत्र-विज्ञान (सोत-विञ्ञाण)
३. घ्राण (घाण)	९. गन्ध	१५. घ्राण-विज्ञान (घाण-विञ्ञाण)
४. जिह्वा	१०. रस	१६. जिह्वा-विज्ञान (जिह्वा-विञ्ञाण)
५. काय	११. स्पृष्टव्य (फोट्ठब्ब)	१७. काय-विज्ञान (काय-विञ्ञाण)
६. मन	१२. धर्म (धम्म)	१८. मनो-विज्ञान (मनो-विञ्ञाण)

उपर्युक्त तीनों प्रकार के विश्लेषण सुत्त-पिटक मे सामान्यतया मिलते है। संयुत्त-निकाय में पूरे संयुत्तों के नाम इनके विवेचन के आधार पर ही रक्खे गये हैं, जैसे खन्ध-संयुत्त, आयतन-संयुत्त, धातु-संयुत्त। स्कन्ध आयतन और धातुओं का उपदेश भगवान् बुद्ध का मूल उपदेश था, इसका सर्वोत्तम

---

१. देखिये विशेषतः आयतन-संयुत्त (संयुत्त-निकाय)

२. देखिये विशेषतः धातु-संयुत्त (संयुत्त-निकाय)

साक्ष्य हम बुद्धकालीन भिक्षुणियों के इस लगातार उद्गारों में पाते हैं, जिनमें वे अपनी उपदेश करने वाली बहिनों से इस संबंधी उपदेश को पाकर कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करती हैं "सा मे धम्ममदेसेसि खन्धायतनधातुयो"[१] (उसने मुझे स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश दिया)। इस प्रकार सुत्तन्त में स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश मिलता है, किन्तु वहाँ इसका उद्देश्य केवल अनात्मवाद का उपदेश देना है, अलग-अलग सबका विश्लेषण करना नहीं। यह काम अभिधम्म में किया गया है। अभिधम्म में, जैसा हम उसकी विषय-वस्तु का विश्लेषण करते समय अभी देखेंगे, रूप-स्कन्ध का २८ अंगों में विश्लेषण किया गया है, इसी प्रकार वेदना-स्कन्ध का पाँच, संस्कार-स्कन्ध का ५० और विज्ञान स्कन्ध का ८९ अंगों में विश्लेषण किया गया है। इन सबका आधार जैसा हम पहले कह चुके है, सुत्त-पिटक ही है। उदाहरणतः, रूप का विश्लेषण सुत्तन्त में केवल दो भागों में किया गया है, "भिक्षुओ! क्या है रूप? चार महाभूत और चार महाभूतों के उपादान से उत्पन्न हुआ रूप, भिक्षुओ! यही कहलाता है रूप।"[२] रूप के इस द्विविध विभाग पर ही अभिधम्म का सारा रूप-विश्लेषण निर्भर है। इसी प्रकार वेदना-स्कन्ध का ५ भागों में विश्लेषण भी सुत्तन्त से ही लिया गया है, जहाँ सुख-वेदना, दुःख-वेदना सौमनस्य, दौर्मनस्य, और उपेक्षा का स्पष्टतः उल्लेख है।[३] इसी प्रकार अभिधम्म के विज्ञान-स्कन्ध के १२१ विभागों में से अनेक सुत्तन्त में मिलते हैं और उनके आधार पर ही दूसरे अधिक सूक्ष्म विश्लेषण कर लिये गये है।[४] सारांश यह कि अभिधम्म के विश्लेषण सुत्तन्त पर ही आधारित हैं।

शैली

अभिधम्म का आधार सुत्तन्त होने पर भी उसकी शैली में विभिन्नता है। सुत्तन्त में उदाहरण दे देकर, अनेक पर्यायों से और अनेक उपमाओं से, धम्म को

---

१. थेरीगाथा, गाथाएँ ४३ एवं ६९ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)
२. "कतमं च भिक्खवे रूपं? चत्तारो च महाभूता चतुन्नं च महाभूतानं उपादाय रूपं, इदं वुच्चति भिक्खवे रूपं" संयुत्त-निकाय, अभिधम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २३ में उद्धृत
३. देखिये अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २५
४. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २७-३१

समझाया गया है। किन्तु अभिधम्म 'निप्परियाय देसना' है, अर्थात् वहाँ बिना उपमाएँ और उदाहरण दिये हुए धम्म को समझाया गया है। इसका कारण यह है कि अभिधम्म का प्रणयन साधारण जनता के लिए नहीं हुआ है। वह देव-मनुष्यों के लिए उपदेश किया हुआ बुद्ध-वचन है। त्रायस्त्रिंश-लोक में अभिधम्म के उपदेश करने संबंधी गाथा का यही मानवीय रहस्य है। अभि-धम्म-पिटक में साधारण जन-समाज की भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है। वह अज्ञान पर आश्रित है। 'वृक्ष' 'मनुष्य' 'पशु' की वास्तविक सत्ता कहाँ है? फिर भी हम व्यवहार में इस प्रकार के प्रयोग करते हैं। इसी को पालि-बौद्ध धर्म में सम्मुति सच्च (संवृति सत्य) कहा गया है। सुत्त-पिटक इसी भाषा में लिखा गया है। यहां यह कहना अप्रासंगिक नही होगा कि बौद्धों ने जिसे 'सम्मुति सच्च' कहा है, वही शंकर का व्यवहार-सत्य है, जिसे उन्होंने 'अविद्यावद्विषय' कहा है। इसके विपरीत 'परमार्थ-सत्य' (पालि परमत्थ-सच्च) है, जहाँ माता माता नही है, पिता पिता नही है, मनुष्य मनुष्य नही है। इसी भाषा में अभिधम्म लिखा हुआ है। अतः उसमें वह प्राण-प्रतिष्ठा नही है, जो सुत्तन्त में है। एक में जीवन चारों ओर हिलोरें ले रहा है, दूसरे में वह सर्वथा अनुपस्थित है। अभिधम्म-पिटक की शैली की एक बड़ी विशेषता उसकी परि-प्रश्नात्मक (पञ्हपरिपुच्छक) प्रणाली है प्रश्न और उत्तर के रूप में विषय को समझाया गया है। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'—इसका बडा अच्छा निर्वाह सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक दोनों में ही दिखाया गया है। 'परि-प्रश्न' की बात तो अभिधम्म ने अपने आप पूरी कर दी है, वह हमसे 'प्रणिपात', और 'सेवा' की भी पूरी अपक्षा रखता है। 'अट्ठसालिनी' की 'निदान-कथा' मे आचार्य बुद्धघोष ने एक मार्मिक प्रश्न किया है, "अभिधम्म का उदय किस स्रोत से हुआ है"? उत्तर दिया है, "श्रद्धा से!" श्रद्धा के साथ हम अभिधम्म की लम्बी सेवा करें (जैसी वर्तमान समय में आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने की)[१] तो उससे हम बहुत कुछ पा सकते हैं। उसके बिना तो हम कुछ यूरोपीय विद्वानों की तरह सिर्फ उकता ही जायेंगे और कहेंगे कि यहाँ गम्भीर दर्शन कुछ नहीं

१. देखिये 'अभिधम्मत्थ संगह' पर उनकी स्वरचित 'नवनीत टीका' का प्राक्कथन (महाबोधि सभा १९४१); देखिये धर्मदूत, सितम्बर ४८ में डा० बापट का "आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी शीर्षक लेख भी (पृष्ठ ८९-९५)

है।[1] श्रीमती रायस डेविड्स[2], ज्ञानातिलोक[3], धम्मानन्द कोसम्बी[4] और भिक्षु जगदीश काश्यप[5] की प्रणाली पर यदि अभिधम्म के अध्ययन को विकसित किया जाय तो उससे बौद्ध नैतिक मनोविज्ञान का मार्ग हमारे लिए अधिक प्रशस्त हो सकता है और हम अभिधम्म को उसकी वास्तविक विभूति में देख सकते हैं। अभिधम्म-पिटक की उद्देस (संक्षिप्त कथन) के बाद निद्देस (विस्तृत विवेचन) की वर्णन-प्रणाली, पर्यायवाची शब्दों और परिभाषाओं की अधिकता आदि प्रवृत्तियों के विषय में हम पहले कह ही चुके हैं।

महत्त्व

अभिधम्म-पिटक के महत्व पर हमें दो दृष्टियों से विचार करना है, (१) स्थविरवाद परम्परा की दृष्टि से (२) अन्य बौद्ध संप्रदायों की दृष्टि से। जहाँ तक स्थविरवाद परम्परा का संबंध है, अभिधम्म-पिटक को आरंभ से ही सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के समान बुद्ध-वचन माना जाता है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। बरमा में अभिधम्म-पिटक का कितना अधिक आदर है, यह तत्संबंधी उस विस्तृत अध्ययन से ही स्पष्ट होता है जो उस देश में किया गया है। आठवें अध्याय में हम इस अध्ययन का विवेचन करेंगे। सिंहल भी अभिधम्म की पूजा में बरमा से पीछे नहीं रहा है। 'महावंश' में हम बार-बार पढ़ते हैं कि किस प्रकार विद्वान् सिंहली राजाओं ने अभिधम्म का आदरपूर्वक श्रवण किया और कुछ ने स्वयं उसका उपदेश भी किया। काश्यप प्रथम (९२९ ईसवी) ने तो संपूर्ण अभिधम्म को सोने के पत्रों पर खुदवाया और विशेषतः 'धम्मसंगणि' को बहुमूल्य रत्नों से मंडित किया। इसी प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी में लंका का राजा विजयबाहु

---

१. जैसा विंटरनित्ज़ ने कह डाला है, देखिये उनकी हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५-६६।

२. ए बुद्धिस्ट मेनुअल आँव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अनुवाद) की मननशील लेखिका।

३. गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक के लेखक और प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और साधक।

४. विदेश में जाकर अनेक कठिनाइयों के उपरान्त अभिधम्म का अध्ययन करने वाले प्रथम भारतीय विद्वान्।

५. अभिधम्म-फिलॉसफी (जिल्द १,२) के लेखक, मनस्वी बौद्ध दार्शनिक और साधक।

अभिधम्म का बड़ा मननशील अध्येता था और उसने 'धम्मसंगणि' का सिंहली भाषा में अनुवाद भी किया। अतः स्थविरवाद परम्परा में अभिधम्म-पिटक का सदा से बहुत सम्मान रहा है। स्थविरवाद-परम्परा से भिन्न बौद्ध संप्रदायों में अभिधम्म-पिटक को उतना प्रामाणिक बुद्ध-वचन नहीं माना गया है। हम जानते हैं कि स्वयं उत्तरकालीन हीनयानी संप्रदाय में सौत्रान्तिक नाम का एक वर्ग था जो अभिधम्म पिटक को प्रामाणिक नहीं मानता था। उसके लिए केवल सुत्त-पिटक ही प्रामाणिक बुद्धवचन था। इतना ही नहीं, अत्यंत पूर्वकाल में ही हम स्थविरवादियों के अन्दर ही भिक्षुओं के एक ऐसे वर्ग की सूचना पाते हैं जो अभिधम्म-पिटक की प्रामाणिकता को नहीं मानता था और केवल सुत्त-पिटक में ही अधिक विश्वास करता था। 'अट्ठसालिनी' में दो भिक्षुओं का संलाप दिया हुआ है, जिससे यह बात स्पष्ट होती है—

"भन्ते! आप ऐसी लम्बी पंक्ति को उद्धृत कर रहे हैं, जैसे कि मानों आप सुमेरु को ही परिवेष्टित करना चाहते हों। भन्ते! यह किसकी पंक्ति है?"

"आवुस! यह अभिधम्म की पंक्ति है।"

"भन्ते! आप अभिधम्म की पंक्ति का क्यों उद्धरण देते हैं? क्या आपको यह उचित नहीं कि आप बुद्ध द्वारा उपदिष्ट किन्हीं दूसरी पंक्तियों का उद्धरण दें।"

"आवुस! अभिधम्म का उपदेश किसका है?"

"निश्चय ही बुद्ध का नहीं है।"

"पर आवुस! क्या तुमने विनय-पिटक को पढ़ा है?"

"नहीं भन्ते। मैंने उसे नहीं पढ़ा है।" आदि, आदि

पुनः 'दीपवंस' के वर्णन में ही हम देखते हैं कि वैशाली की संगीति के अवसर पर ही 'महासंगीतिक' भिक्षुओं ने अन्य ग्रन्थों के साथ अभिधम्म-पिटक की भी प्रमाणवत्ता स्वीकार नहीं की थी।[1] इससे हमारा संदेह अभिधम्म-पिटक की प्रमाणवत्ता के विषय में अवश्य बढ़ जाता है। काल-क्रम और महत्ता में अवश्य अभिधम्म-पिटक को सुत्त और विनय पिटक के बाद मानना पड़ेगा, इसे प्रायः सभी निष्पक्ष बौद्ध विद्वान् आज भी स्वीकार करते हैं। किन्तु चूँकि अभिधम्म-पिटक का अर्वाचीनतम ग्रन्थ (कथावत्थु) भी ईसवी पूर्व तृतीय शताब्दी की रचना है और उसके अलावा अन्य किसी ग्रन्थ के साथ किसी रचयिता का नाम जोड़ा नहीं गया है,

१. दीपवंस ५।३५-३७ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)

अतः अर्थवाद की दृष्टि से उसे बुद्धवचन भी कहा जा सकता है, इतना अवकाश हमें स्थविरवाद-परम्परा को भी अवश्य देना ही होगा। अन्ततः अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक पर ही तो अवलंबित है।

पालि अभिधम्म-पिटक की सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अभिधर्म-पिटक से तुलना

स्थविरवादियों और सर्वास्तिवादियों के दो पिटकों-सुत्त और विनय—की तुलना हम पहले कर चुके हैं। सर्वास्तिवादी संप्रदाय के अभिधर्म पिटक के ग्रन्थ चीनी भाषा में सुरक्षित हैं। उनके मूल संस्कृत में थे, किन्तु आज वे प्राप्य नहीं। स्थविरवादियों के समान सर्वास्तिवादियों का भी यह दावा है कि उनका अभिधर्म पिटक बुद्ध-वचनों (सूत्र-पिटक) पर आधारित है। किन्तु जब कि स्थविरवादी (कथा-वत्थु को छोड़कर) अभिधम्म के ग्रन्थों को मनुष्यों की रचनाएँ नहीं मानते, सर्वास्तिवादियों की परम्परा में उनका अभिधर्म-पिटक विशिष्ट विचारों की रचना माना जाता है। चीनी भाषा में सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक का नाम 'शास्त्र-संग्रह' है। स्थविरवादी अभिधम्म पिटक के समान सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक में भी सात ग्रन्थ हैं, जिनके नाम उनके रचयिताओं के साथ, इस प्रकार हैं—

सर्वास्तिवादी संप्रदाय के अभिधर्म पिटक के ग्रन्थों के नाम	उनके रचयिता
१. ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र	आर्य कात्यायन
२. प्रकरण-पाद	स्थविर वसुमित्र
३. विज्ञान-काय-पाद	स्थविर देवशर्मा
४. धर्म-स्कन्ध-पाद	आर्य शारिपुत्र
५. प्रज्ञप्ति शास्त्र-पाद	आर्य मौद्गल्यायन
६. धातुकाय-पाद	पूर्ण (या वसुमित्र)
७. संगीति-पर्याय-पाद	महाकौष्ठिल (या शारिपुत्र)

पालि अभिधम्म पिटक के साथ इनकी तुलना करने पर ज्ञात होगा कि इनके नामों में पर्याप्त साम्य है, यथा—

पालि अभिधम्म-पिटक	सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक
१. धम्मसंगणि	(४) धर्मस्कन्धपाद
२. विभंग	(३) विज्ञानकायपाद
३. पुग्गलपञ्ञत्ति	(५) प्रज्ञप्तिपाद
४. धातुकथा	(६) धातुकायपाद
५. पट्ठान	(१) ज्ञान-प्रस्थान
६. यमक	(७) संगीतिपर्यायपाद
७. कथावत्थुप्पकरण	(२) प्रकरणपाद

नामों की इतनी समानता होते हुए भी विषय की समानता नहीं है।[१] फिर भी जिन विषयों का निरूपण एक पिटक में किसी ग्रन्थ में पाया जाता है दूसरे पिटक में उन्हीं का या उनके कुछ अंशों का निरूपण किसी दूसरे ग्रन्थ में पाया जाता है। चूँकि दोनों के ही अभिधर्म-पिटक अपने अपने सूत्रों पर अवलंबित हैं जिनमें, जैसा हम पहले देख चुके हैं, अधिक अन्तर नहीं है, अतः दोनों में कुछ न कुछ समानताओं का पाया जाना नितांत स्वाभाविक है। हां, उनके क्रम में अन्तर अवश्य है। सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थों की विषय-वस्तु के संक्षिप्त परिचय और पालि अभिधम्म के साथ उसकी तुलना से यह स्पष्ट होगा। पहले ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र को ही लें। यह सर्वास्तिवादी अभिधम्म-पिटक का सबसे प्रधान ग्रंथ है। शेष छः ग्रंथ इसी के पाद या उपग्रंथ कहलाते हैं। उनके साथ इसका वही संबन्ध है जो वेद का उसके छः अंगों के साथ।[२] ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की रचना सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य आर्य कात्यायनी-पुत्र ने की। आर्य कात्यायनीपुत्र काश्मीर के रहने वाले थे। इनका समय बुद्ध-परिनिर्वाण के ३०० वर्ष बाद है। ज्ञान-प्रस्थानशास्त्र का प्रथम चीनी अनुवाद-काश्मीरी भिक्षु गौतम संघदेव ने ३८३ ईसवी में किया। उसके बाद एक दूसरा अनुवाद सन् ६५७-६० ई० में यूआन्-चूआङ के द्वारा किया गया। इसी महाग्रंथ

---

१. देखिये डा० तकाकुसु का 'दि अभिधर्म लिटरेचर' शीर्षक निबन्ध, जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०५, पृष्ठ १६१

२. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १९०४-०५, पृष्ठ ७४ में डा० तकाकुसु का अभिधर्म-साहित्य सम्बन्धी निबन्ध

पर कनिष्क के काल में आचार्य वसुबन्धु और अश्वघोष की अध्यक्ष में 'विभाषा' नामक एक महाभाष्य लिखा गया, जिसका अनुसरण करने के कारण 'वैभाषिक' नामक बौद्ध सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। ज्ञान-प्रस्थान शास्त्र एक बृहत् ग्रंथ है। इसमें आठ परिच्छेद हैं, जिनमें कुल मिलाकर श्लोकों की संख्या १५०७२ है।[१] जैसा पहले कहा जा चुका है, मूल संस्कृत तो मिलता ही नहीं, इस सम्पूर्ण ग्रंथ का अभी अंग्रेजी अवाद भी नु प्रकाशित नहीं हुआ है। अतः चीनी-भाषा से अनभिज्ञोंके लिये अभी तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग पराश्रित ही हो सकता है। प्रो० तकाकुसु द्वारा प्रदत्त सूचना के अनुसार ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र के ८ परिच्छेदों के नाम और विषय इस प्रकार हैं—

१. **प्रकीर्णक**—लोकोत्तर धर्म, ज्ञान पुद्गल, अरूप, अनात्म आदि स्फुट विषय
२. **संयोजन**—अकुशलमूल, सकृदागामी, मनुष्य, दस-द्वार आदि
३. **ज्ञान**—आठ क्षैक्ष्य-अक्षैक्ष्य भूमियाँ, पाँच दृष्टियाँ, पर-चित्त-ज्ञान, आर्य-प्रज्ञा आदि
४. **कर्म**—अकुशल कर्म, असम्यक् वाणी, विहिंसा, व्याकृत, अव्याकृत आदि
५. **चार महाभूत**—इन्द्रिय, संस्कृत, दृष्ट, सत्य, अध्यात्म आदि
६. **इन्द्रियाँ**—२२ इन्द्रियाँ, भव, स्पर्श आदि
७. **समाधि**—अतीतावस्था, प्रत्यय, विमुक्ति आदि
८. **स्मृत्युपस्थान**—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, धर्मानुपश्यना, तृष्णा, संज्ञा, ज्ञान-समय आदि

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की विषय-वस्तु इतनी विस्तृत है कि उसमें पालि अभिधम्म-पिटक के कई ग्रन्थों के अंशतः विवरण उपस्थित दिखाये जा सकते हैं। विशेषतः खुद्दक-निकाय के 'पटिसम्भिदामग्ग' से इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु की अधिक समानता है, ऐसा मत स्वर्गीय डा० बेणीमाधव बाड़आ ने प्रकाशित किया है, जो ठीक कहा जा सकता है। (२) प्रकरण-पाद स्थविर वसुमित्र की रचना कही जाती है। यह वसुमित्र कनिष्क-कालीन प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य आर्य वसुमित्र से भिन्न और उनसे पूर्वकालीन हैं। इनका काल बुद्ध-

---

१. जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी, १९०४-०५ पृष्ठ १२४ (डा० तकाकुसु का 'दि सर्वास्तिवादिन् अभिधर्म बुक्स' शीर्षक निबन्ध)

परिनिर्वाण से ३०० वर्ष बाद माना जाता है। अतः ये आर्य कात्यायनीपुत्र के समकालीन थे, ऐसा कहा जाता है। प्रकरण-पाद में आठ वर्ग हैं, जिनमें धर्म, ज्ञान, आयतन आदि का विवेचन है। यद्यपि 'प्रकरण-पाद' के नाम का साम्य 'कथा-वत्थुप्पकरण' से है, किन्तु दोनों की विषय वस्तु या शैली में कोई समानता नहीं है। विषय-वस्तु की दृष्टि से डा० लाहा ने इस ग्रन्थ की तुलना 'विभंग' से की है।[1] किन्तु 'विभंग' की समानता धर्मस्कन्ध से अधिक है. यह हम अभी देखेंगे। 'प्रकरण-पाद' का पहला चीनी अनुवाद गुणभद्र तथा बुद्धयश ने ४३५-४३ ई० में किया। उसके बाद एक दूसरा अनुवाद ६५९ ई० में युआन्-चुआङ के द्वारा किया गया। (३) विज्ञान-काय-पाद स्थविर देवशर्मा की रचना कही जाती है। एक परम्परा के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना बुद्ध-परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद और एक दूसरी परम्परा के अनुसार ३०० वर्ष बाद हुई। दूसरी परम्परा ही अधिक ठीक हो सकती है। इस ग्रन्थ में ६ स्कन्ध हैं, जिनमें पुद्गल, हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय आदि विषयो के विवेचन है। विषय-वस्तु अभिधम्म पिटक के 'पुग्गलपञ्ञत्ति' और 'पट्ठान' मे जहाँ-तहाँ बहुत कुछ मिलती-जुलती है, फिर भी किसी एक विशिष्ट ग्रन्थ से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद युआन्-चुआङ ने ६४९ ई० में किया। (४) धर्मस्कन्धपाद सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक का ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र के बाद सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके कुछ अंशों को संगीति-पर्याय-पाद में भी प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया गया है। चीनी परम्परा के अनुसार धर्मस्कन्ध-पाद आर्य महामौद्गल्यायन की रचना है। किन्तु यशोमित्र के मतानुसार यह आर्य शारिपुत्र की रचना है। यह निश्चित है कि ये आर्य शारिपुत्र और महामौद्गल्यायन बुद्ध के इस नाम के प्रधान शिष्य नहीं हो सकते। इस ग्रन्थ में २१ अध्याय हैं जिनमें चार आर्य-सत्य, समाधि, बोध्यंग, इन्द्रिय, आयतन, स्कन्ध, प्रतीत्य समुत्पाद आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ६५९ ई० में युआन्-चुआङ् ने किया। इस ग्रन्थ की समता विषय-वस्तु की दृष्टि से 'विभंग' से सर्वाधिक है, यह निष्कर्ष महास्थविर ज्ञानातिलोक ने दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद निकाला है।[2] विभंग में १८ अध्याय हैं, धर्मस्कन्ध में २१ हैं। इनमें १४ एक दूसरे के बिलकुल समान हैं। यह समानता इस प्रकार है—

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४०

२. गाइड टु दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ २ (भूमिका)

विभंग— १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८
धर्मस्कन्ध—१९, १८, २०, १०, १७, २१, ९, ७, ८, १५, – ११, १२, १ – – १६ –
खाली छोड़ी हुई जगहों का तात्पर्य यह है कि विभंग के ११, १५, १६, और १८ वें अध्याय (विभंग) धर्मस्कन्ध में नहीं मिलते।[१] (५) प्रज्ञप्ति-पाद या प्रज्ञप्ति-शास्त्र आर्य मौद्गल्यायन की रचना कही जाती है, जो निश्चयतः इस नाम के बुद्ध के शिष्य नहीं हो सकते। प्रज्ञप्ति-पाद का चीनी अनुवाद धर्म-रक्ष ने ग्यारहवीं शताब्दी में किया। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ् ने नहीं किया, इसलिये इसकी प्राचीनता में सन्देह किया जाता है। इस ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद भी उपलब्ध है। इसमें १४ वर्ग हैं। 'प्रज्ञप्ति-पाद' का पालि 'पुग्गलपञ्ञत्ति' से केवल नाम का ही साम्य है। विषय में कोई समानता नहीं है। इस ग्रन्थ की कुछ समानता दीघ-निकाय के लक्खण-सुत्त से दिखाई गई है। (६) धातुकाय-पाद चीनी परम्परा के अनुसार कनिष्क के समकालीन प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य वसुमित्र की रचना बतलाई जाती है। किन्तु यशो-मित्र (अभिधर्मकोश के व्याख्याकार) ने इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम पूर्ण लिखा है। यशोमित्र का मत ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रन्थ का भी चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ् ने ६६३ ई० में किया। इस ग्रन्थ की पालि 'धातुकथा' से कोई समानता नहीं है। हाँ, संयुत्तनिकाय के धातु-संयुत्त में इसकी विषय-वस्तु बहुत कुछ मिलती-जुलती है। (७) संगीति-पर्याय-पाद के रचयिता चीनी परम्परा के अनुसार आर्य शारिपुत्र और यशोमित्र के वर्णनानुसार प्रसिद्ध सर्वा-स्तिवादी आचार्य महाकौष्ठिल थे। यूआन्-चूआङ ने इस ग्रन्थ का चीनी अनु-वाद सातवीं शताब्दी के मध्य भाग में किया था। प्रोफेसर तकाकुसु ने इस ग्रन्थ के विषय और शैली की समानता सब से अधिक दीघ-निकाय के संगीति-परियाय-सुत्त से दिखाई है।[२] इस ग्रन्थ में १२ वर्ग हैं। इसका भी अनुवाद यूआन्-चूआङ के द्वारा किया गया। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अभिधर्म-पिटक के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि उसमें प्राचीन परम्पराएँ निहित हैं और पालि अभिधम्म-पिटक के कई अंशों से उसकी आश्चर्यजनक समानताएँ भी हैं, फिर भी सुत्त और विनय की अपेक्षा यहाँ समानताएँ कम हैं। इसका एक प्रधान कारण लम्बी परम्पराओं का एक देश से दूसरे देश में जाना और भाषा-माध्यमों की

१. गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ २ (भूमिका)
२. जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ ९९

अनिवार्य कठिनताएँ हैं। जब तक मूल संस्कृत उपलब्ध न हो तब तक बिना उसके स्वरूप पर विचार किए पालि अभिधम्म के साथ उसके आपेक्षिक महत्त्व और प्रामाण्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में पालि अभिधम्म के सामने उसकी प्रमाणवत्ता अल्प अवश्य रह जाती है। वह स्पष्टतः आचार्यों की रचना है, जब कि केवल 'कथा-वत्थुप्पकरण' को छोड़कर शेष पालि अभिधम्म-पिटक बुद्ध-वचन के रूप में ही स्थविरवाद-परम्परा में प्रतिष्ठित है। हाँ, सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक की तुलना से यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि सुत्त और विनय की अपेक्षा पालि अभिधम्म की प्रमाणवत्ता निश्चयतः कम और संकलन-काल भी उतनी ही निश्चिततापूर्वक कुछ बाद का है, जिसका विवेचन हम पहले कर आये हैं।

अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विश्लेषण— धम्म संगणि[1]

पालि अभिधम्म-पिटक का सब से प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' है। वास्तव में यह सम्पूर्ण अभिधम्म-साहित्य की प्रतिष्ठा ही है। 'धम्मसंगणि' में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओं का संकलन किया गया है, गणनात्मक और परिप्रश्नात्मक शैली के आधार पर।[2] धम्मों (पदार्थों) की कामावचर, रूपावचर आदि के रूप में संगणना और संक्षिप्त व्याख्या करने के कारण ही इस ग्रन्थ का यह नाम है।[3] 'धम्मसंगणि' के संकलन और विश्ले-

---

१. नागरी लिपि में प्रोफेसर बापट ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है (भांडारकर ओरियन्टल सीरीज, पूना ४); रोमन लिपि में पालि टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित (लन्दन, १८८५), एडवर्ड मुलर द्वारा सम्पादित, संस्करण प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण भी उपलब्ध हैं। अंग्रेजी में श्रीमती रायस डेविड्स ने 'ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स' (लन्दन, १९००) शीर्षक से इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का कोई अनुवाद नहीं निकला है।

२. 'संगणि' शब्द में ही यह भाव निहित है, देखिये प्रो. बापट द्वारा सम्पादित 'धम्म-संगणि' का देवनागरी-संस्करण, पृष्ठ १२ (भूमिका)

३ कामावचररूपावचरादिधम्मे संगय्ह संखिपित्वा वा गणयति संख्याति

षण की सब से बड़ी विशेषता है भीतर और बाहर के सारे जगत् की नैतिक व्याख्या। नैतिक व्याख्या से तात्पर्य है कर्म के शुभ (कुशल) अशुभ (अकुशल) और इन दोनों से व्यतिरिक्त एवं अ-व्याख्येय (अव्याकृत) विपाकों के रूप में व्याख्या। ग्रन्थ के मुख्य भाग में चित्त और उससे संयुक्त अवस्थाओं (चेतसिक) का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण किया गया है। अतः इसे बौद्ध मनोविज्ञान की नैतिक व्याख्या ही कहा जा सकता है, या दूसरे शब्दों में बौद्ध नीतिवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी। ग्रन्थकार (या संकलनकार) ने दोनों के लिये ही पर्याप्त अवकाश दे दिया है। धम्मसंगणि के आरम्भ में 'मातिका' या विषय-सूची दी हुई है। उसमें नैतिकवाद की दृष्टि से वर्गीकरण है, किन्तु ग्रन्थ में जो विवेचन किया गया है, उसका काण्ड-विभाग चित्त और रूप की दृष्टि से है और फिर उसे 'कुसलत्तिक', (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) के रूप में विभाजित किया गया है। वास्तव में 'धम्मसंगणि' ने मन की अवस्थाओं की कर्म के शुभ, अशुभ आदि स्वरूपों के साथ व्याख्या करनी चाही है, जो एक दूसरे से घनिष्ठ और अनिरुक्त रूप से सम्बन्धित है। इसीलिये 'धम्मसंगणि' के विवेचनों में इतनी दुरूहता आ गई है।

फिर भी धम्मसंगणि की 'मातिका' उसकी सारी दुरूह विषय-वस्तु को समझने के लिये एक अच्छी कुंजी है। भौतिक और मानसिक जगत् की व्याख्या धम्मसंगणि में जिस ढंग से की गई है, उसका वह हमें पूरा दिग्दर्शन करा देती है। वह एक प्रकार की विषय-सूची है, जो उन शीर्षकों का उल्लेख कर देती है जिनमें भौतिक और मानसिक जगत् के नाना, पदार्थों (धम्मों) का विश्लेषण सम्पूर्ण ग्रन्थ के अन्दर किया गया है। 'मातिका' में कुल मिलाकर १२२ वर्गीकरण हैं, जिनमें २२ ऐसे वर्गीकरण हैं जो तीन-तीन शीर्षकों में विभक्त हैं। ये 'तिक' कहलाते हैं। शेष १०० ऐसे वर्गीकरण हैं जो दो-दो शीर्षकों में विभक्त हैं। ये 'दुक' कहलाते हैं। २२ 'तिकों' और १०० 'दुकों' में ही सारे धम्मों का विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है अभिधम्म-पिटक के अन्य ग्रन्थों में भी इस वर्गीकरण-प्रणाली का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। यहाँ 'मातिका' के अनुसार इन 'तिकों' और 'दुकों' का विवरण देना अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा। इनकी गणना इस प्रकार है—

एरयाति धम्मसंगणि। अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्ठकथा); मिलाइये चाइल्डर्स : पालि डिक्शनरी, पृष्ठ ४४७

२२ तिक

१. अ. जो धम्म कुशल हैं (कुसला)
आ. जो धम्म कुशल नहीं है (अकुसला)
इ. जो धम्म अव्याकृत हैं (अब्याकता)

२. अ. जो धम्म सुख की वेदना से युक्त हैं (सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म दुःख की वेदना से युक्त हैं (दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता)
इ. जो धम्म न सुख न दुःख की वेदना से युक्त हैं (अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता)

३. अ. जो धम्म चित्त की कुशल या अकुशल अवस्थाओं के स्वयं परिणाम हैं (विपाका)
आ. जो धम्म स्वयं चित्त की कुशल या अकुशल अवस्थाओं के परिणामों को पैदा करने वाले है (विपाकधम्मधम्मा)
इ. जो धम्म न किसी के स्वयं परिणाम हैं और न परिणाम पैदा करने वाले हैं (नेव-विपाक-न-विपाक-धम्मधम्मा)

४. अ. जो धम्म पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप प्राप्त किये गये है और जो स्वयं भविष्य में ऐसे ही धम्मों को पैदा करने वाले हैं (उपादिन्नुपादानिया)
आ. जो धम्म पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप तो प्राप्त नहीं किये गये हैं किन्तु जो भविष्य में धम्मों को पैदा करने वाले है (अनुपादिन्नुपादानिया)
इ. जो धम्म न तो पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप प्राप्त ही किये गये है और न जो भविष्य में धम्मों को पैदा करने वाले हैं (अनुपादिन्नानुपादानिया)

५. अ. जो धम्म स्वयं अपवित्र हैं और अपवित्रता के आलम्बन भी बनते हैं (संकिलिट्ठ-संकिलेसिका)
आ. जो धम्म स्वयं अपवित्र नहीं हैं किंतु अपवित्रता के आलम्बन बनते हैं (असंकिलिट्ठ-संकिलेसिका)
इ. जो धम्म न स्वयं अपवित्र है और न अपवित्रता के आलम्बन ही बनते हैं (असंकिलिट्ठ-असंकिलेसिका)

६. अ. जो धम्म वितर्क और विचार से युक्त हैं (सवितक्क-सविचारा)

आ. जो धम्म वितर्क से तो नहीं किन्तु
विचार से युक्त है (अवितक्क-विचारमत्ता)

इ. जो धम्म न वितर्क और न विचार से ही युक्त हैं (अवितक्क-अविचारा)

७. अ. जो धम्म प्रीति की भावना से युक्त हैं (पीतिसहगता)

आ. जो धम्म सुख की भावना से युक्त हैं (सुखसहगता)

इ. जो धम्म उपेक्षा की भावना से युक्त हैं (उपेक्खासहगता)

८. अ. दर्शन के द्वारा जिनका नाश किया जा सकता है (दस्सनेन पहातब्बा)

आ. अभ्यास के द्वारा जिनका नाश किया जा सकता है (भावनाय पहातब्बा)

इ. जो न दर्शन और न अभ्यास से ही नष्ट किये
जा सकते है (नेव दस्सनन न भावनाय पहातब्बा)

९. अ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश दर्शन से
किया जा सकता है (दस्सनेन पहातब्बहेतुका)

आ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश अभ्यास
से किया जा सकता है (भावनाय पहातब्बहेतुका)

इ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश न दर्शन से
और न अभ्यास से ही किया जा सकता है
(नेव दस्सनेन न भावनाय पहातब्बहेतुका)

१०. अ. वे धम्म जो कर्म-संचय के कारण बनते हैं (आचयगामिनो)

आ. वे धम्म जो कर्म-संचय के विनाश के
कारण बनते हैं (अपचयगामिनो)

इ. वे धम्म जो न कर्म-संचय और न उसके विनाश के
कारण बनते हैं (नेव आचयगामिनो न अपचयगामिनो)

११. अ. वे धम्म जो शैक्ष्य सम्बन्धी है (सेक्खा)
(लोकोत्तर मार्ग की सात अवस्थाएँ)

आ. वे धम्म जो शैक्ष्य सम्बन्धी नहीं हैं, अर्थात् जिन्होंने
अर्हत्त्व की पूर्णता प्राप्त करली है (अर्हत्व-फल) (असेक्खा)

इ. वे धम्म जो उपर्युक्त दोनों प्रकारों से विभिन्न हैं
(अर्थात् उपर्युक्त आठ को छोड़कर बाकी सब) (नेव सेक्खा न असेक्खा)

१२. अ. वे धम्म जो अल्प आकार वाले है (परित्ता)

आ. वे धम्म जो महान् आकार वाले हैं (महग्गता)

इ. वे धम्म जो अपरिमेय आकार वाले हैं (अप्पमाणा)

१३. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन अल्प आकार वाला है (परित्तारम्मणा)

आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन महान् आकार वाला है (महग्गतारम्मणा)

इ वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन अपरिमेय आकारवाला है (अप्पमाणारम्मणा)

१४. अ. हीन धम्म (मन की अवस्थाएँ) (हीना)

आ. मध्यम धम्म (मन की अवस्थाएँ) (मज्झिमा)

इ. उत्तम धम्म (मन की अवस्थाएँ) (पणीता)

१५. अ. जो निश्चयपूर्वक बुरे हैं (मिच्छत्तनियता)

आ. जो निश्चयपूर्वक अच्छे हैं (सम्मत्तनियता)

इ. जिनका स्वरूप अनिश्चित है (अनियता)

१६. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन मार्ग है (मग्गारम्मणा)

आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका हेतु मार्ग है (मग्गहेतुका)

इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका मुख्य उद्देश्य ही मार्ग है (मग्गाधिपतिनो)

१७. अ. वे मन की अवस्थाएँ जो उत्पन्न हो चुकी हैं (उप्पन्ना)

आ. वे मन की अवस्थाएँ जो अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं (अनुप्पन्ना)

इ. वे मन की अवस्थाएँ जो भविष्य में पैदा होनेवाली हैं (उप्पादिनो)

१८. अ. वे मन की अवस्थाएँ जो बीत गई (अतीता)

आ. वे मन की अवस्थाएँ जो भविष्य में पैदा होंगी (अनागता)

इ. वे मन की अवस्थाएँ जो अभी हाल पैदा हुई हैं और अभी वर्तमान हैं (पच्चुप्पन्ना)

१९. अ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई अतीत की वस्तु है (अतीतारम्मणा)

आ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई भविष्य की वस्तु है (अनागतारम्मणा)

इ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई वर्तमान की वस्तु है (पच्चुपन्नारम्मणा)

२०. अ. जो धम्म किसी व्यक्ति के अन्दर अवस्थित हैं (अज्झत्ता)

आ. जो धम्म किसी व्यक्ति के बाहर अवस्थित हैं (बहिद्धा)

इ. जो धम्म किसी व्यक्ति के अन्दर और बाहर दोनों जगह अवस्थित हैं (अज्झत्त-बहिद्धा)

२१. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन कोई आन्तरिक वस्तु है (अज्झत्तारम्मणा)

आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन कोई बाहरी वस्तु है (बहिद्धारम्मणा)

इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन दोनोंआन्तरिकऔर बाहरी वस्तुएँहैं (अज्झत्त-बहिद्धारम्मणा)

२२. अ. वे धम्म जो दृश्य है और इन्द्रिय और उसके विषय के संनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं (सनिद्दस्सन-सप्पटिघा)

आ. वे धम्म जो दृश्य तो नहीं किन्तु इन्द्रिय और उसके संनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं (अनिद्दसन-अप्पटिघा)

इ. वे धम्म जो न तो दृश्य हैं औ न इन्द्रिय और उसके विषय के संनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं (अनिद्दसन-अप्पटिघा)

१०० दुक

(हेतु-वर्ग)

१. अ. जो दूसरों के हेतु हैं—(हेतू)

आ. जो दूसरों के हेतु नहीं हैं—(न हेतू)

२. अ. जो हेतुओं से युक्त हैं—(सहेतुका)
आ. जो हेतुओं से युक्त नहीं हैं—(अहेतुका)

३. अ. जिनसे हेतु संलग्न हैं—(हेतुसम्पयुत्ता)
आ. जिनसे हेतु संलग्न नहीं हैं—(हेतुविप्पयुत्ता)

४. अ. जो स्वयं हेतु हैं और हेतुओं से युक्त भी है—(हेतू चेव सहेतुका च)
आ. जो स्वयं हेतु नहीं हैं किंतु हेतुओं से युक्त है—(सहेतुका चेव न च हेतू)

५. अ. जो स्वयं हेतु हैं और जिनसे हेतु संलग्न भी हैं—(हेतू चेव हेतुसम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वयं हेतु नहीं हैं, किन्तु जिनसे हेतु संलग्न हैं—(हेतुसम्पयुत्ता चेव न च हेतू)

६. अ. जो स्वयं हेतु नहीं हैं किन्तु जो हेतुओं से युक्त हैं—(न-हेतू सहेतुका)
आ. जो न स्वयं हेतु हैं और न हेतुओं से युक्त हैं—(न-हेतू अहेतुका)

(संक्षिप्त मध्यवर्गीय दुक)

७. अ. जिनके प्रत्यय हैं—(सप्पच्चया)
आ. जिनके प्रत्यय नही हैं—(अप्पच्चया)

८. अ. संस्कृत—(संखता)
आ. असंस्कृत—(असंखता)

९. अ. दृश्य—(सनिद्दस्सना)
आ. अदृश्य—(अनिद्दस्सना)

१०.अ. इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से युक्त—(सप्पटिघा)
आ. इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से वियुक्त—(अप्पतिघा)

११.अ. जो रूप-युक्त हैं—(रूपिनो)
आ. जो रूप-युक्त नहीं हैं—(अरूपिनो)

१२.अ. लौकिक—(लोकिया)
आ. अलौकिक—(लोकुत्तरा)

१३.अ. जो कुछ के द्वारा विज्ञेय हैं—(केनचि विञ्ञेय्या)
आ. जो कुछ न के द्वारा विज्ञेय नही हैं—(केनचि न विञ्ञेय्या)

(३. आस्रव-वर्ग)

१४. अ. जो चित्त-मल हैं—(आसवा)
आ. जो चित्त-मल नहीं हैं —(नो आसवा)

१५. अ. जो चित्त-मल से युक्त हैं—(सासवा)
आ. जो चित्त-मल से युक्त नहीं है—(अनासवा)

१६. अ. जिनसे चित्त-मल संलग्न हैं—(आसवसम्पयुत्ता)
आ. जिनसे चित्त-मल संलग्न नहीं है—(आसवविप्पयुत्ता)

१७. अ. जो स्वयं चित्त-मल है और चित्त-मलों से युक्त भी है—(आसवा चेव सासवा चा)
आ. जो स्वयं चित्त-मल नहीं हैं किन्तु चित्त-मलों से युक्त हैं—(सासवा चेव नो च आसवा)

१८. अ. जो स्वयं चित्त-मल है और जिनसे चित्त-मल संलग्न भी हैं—(आसवा चेव आसवसम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वयं चित्त-मल नही है किन्तु जिनसे चित्त-मल संलग्न हैं—(आसवसम्पयुत्ता चेव नो च आसवा)

१९. अ. जो चित्त-मलों से संलग्न न रहने पर भी उनके आधार हैं—(आसव-विप्पयुत्ता सासवा)
अ. जो चित्तामलों से संलग्न भी नहीं है और उनके आधार भी नही हैं—(आसवविप्पयुत्ता अनासवा)

(४—संयोजन-वर्ग)

२०. अ. जो चित्त के बन्धन हैं—(संयोजना)
आ. जो चित्त के बन्धन नहीं है—(नो संयोजना)

२१. अ. जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं —(संयोजनिया)
आ. जो चित्त-बन्धनों की ओर नहीं ले जाने वाले हैं—(असंयोजनिया)

२२. अ. जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न हैं—(संयोजन-सम्पयुत्ता)
आ. जिनसे चित्त-बंधन असंलग्न हैं—(संयोजन-विप्पयुत्ता)

२३. अ. जो स्वयं चित्त-बन्धन है और चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले भी हैं—(संयोजना चेव संयोजनिया च)
आ. जो स्वयं चित्त-बन्धन नहीं हैं किन्तु जो चित्तबन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं—(संयोजनिया चेव नो च संयोजना)

२४. अ. जो स्वयं चित्त-बन्धन हैं और जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न भी हैं—(संयोजना चेव संयोजनसंपयुत्ता च)

आ. जो स्वयं चित्त-बन्धन नहीं है, किन्तु जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न हैं—— (संयोजनसम्पयुत्ता चेव नो च संयोजना)

२५. अ. जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न तो नहीं हैं किन्तु जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं——(संयोजनविप्पयुत्ता संयोजनिया)

आ. जिनसे न तो चित्त-बन्धन संलग्न ही हैं और न जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं——(संयोजनविप्पयुत्ता असंयोजनिया)

(५——ग्रन्थ-वर्ग)

२६. अ. जो चित्त की गाँठें हैं——(गन्था)

आ. जो चित्त की गाँठें नहीं हैं——(नो गन्था)

२७. अ. जो चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाली हैं——(गन्थनिया)

आ. जो चित्त की गाँठों की ओर नहीं ले जाने वाली हैं——(अगन्थनिया)

२८. अ. जो चित्त की गाँठों की सहचर हैं——(गन्थ-सम्पयुत्ता)

आ. जो चित्त की गाँठों की सहचर नहीं हैं——(गन्थ-विप्पयुत्ता)

२९. अ. जो स्वयं चित्त की गाँठें हैं और चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाली भी हैं——(गन्था चेव गन्थनिया च)

आ. जो स्वयं चित्त की गाँठें नही हैं और न चित्त को गाँठों की ओर ले जाने वाली हैं (गन्थनिया चेव नो च गन्था)

३०. अ. जो स्वयं चित्त की गांठें हैं और चित्त की गाँठों की सहचर भी हैं—— (गन्था चेव गन्थसंपयुत्ता च)

आ. जो स्वयं चित्त की गाँठें नहीं हैं किन्तु चित्त की गाँठों की सहचर हैं—— (ग्रन्थसम्पयुत्ता चेव नो च गन्था)

३१. अ. जो चित्त की गाँठों की सहचर नहीं हैं, किन्तु उनको भविष्य में पैदा करने वाली हैं——(गन्थविप्पयुत्ता गन्थनिया)

आ. जो चित्त की गाँठों की सहचर भी नहीं हैं और न उन्हें भविष्य में पैदा करने वाली ही हैं——(गन्थविप्पयुत्ता अगन्थनिया)

(६——ओघ वर्ग)

३२-३७——ऊपर के समान ही। केवल 'चित्त की गाँठ' की जगह 'ओघ' (बाढ) का प्रयोग है। (ओघ चार हैं, काम-ओघ, भव-ओघ, (आत्म-) दृष्टि-ओघ और अविद्या-ओघ।

(७—योग-वर्ग)

३८-४३—ऊपर के समान ही। केवल 'चित्त की गाँठ' की जगह 'योग' (आसक्ति) का प्रयोग है। (योग भी चार माने गये हैं, यथा काम-योग, भव-योग, (आत्म-) दृष्टि-योग, एवं अविद्या-योग)

(८—नीवरण-वर्ग)

४४. अ. जो ध्यान के विघ्न हैं —(नीवरणा)
आ. जो ध्यान के विघ्न नहीं हैं —(नो नीवरणा)

४५. अ. जो भविष्य में ध्यान के विघ्नों को पैदा करने वाले हैं —(नीवरणिया)
आ. जो भविष्य में ध्यान के विघ्नों को पैदा करने वाले नहीं हैं —(अनीवरणिया)

४६. अ. जो ध्यान के विघ्नों के सहचर है —(नीवरणसम्पयुत्ता)
आ. जो ध्यान के विघ्नों के सहचर नहीं हैं—(नीवरणविप्पयुत्ता)

४७. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न हैं और ध्यान के विघ्नों को पैदा करने वाले भी है—(नीवरणा चेव नीवराणया च)
आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न नहीं है किन्तु जो ध्यान के विघ्नों को पैदा करने वाले है— (नीवरणिया चेव नो च नीवरणा)

४८. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न हैं और ध्यान के विघ्नों के सहचर भी हैं—(नीवरणा चेव नीवरण-सम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न नहीं है किन्तु ध्यान के विघ्नों के सहचर है—(नीवरणसम्पयुत्ता चेव नो च नीवरणा)

४९. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्नों के सहकर नही हैं किन्तु उन्हें पैदा करने वाले हैं—(नीवरणविप्पयुत्ता नीवरणिया)
आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्नों के सहचर भी नहीं है और न उन्हें पैदा करने वाले ही हैं—(नीवरणविप्पयुत्ता अनीवरणिया)

(९—परामर्श-वर्ग)

५०. अ. जो मिथ्या धारणायें हैं—(परामासा)
आ. जो मिथ्या धारणाएँ नहीं हैं —(नो परामासा)

५१. अ. जो (चित्त की अवस्थाएँ) मिथ्या धारणाओं को
पैदा करने वाली हैं—(परामट्ठा)

आ. जो मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली नहीं हैं—(अपरामट्ठा)

५२. अ. जो मिथ्या धारणाओं की सहचर हैं—(परामाससम्पयुत्ता)

आ. जो मिथ्या धारणाओं की सहचर नहीं हैं—(परामासविप्पयुत्ता)

५३. अ. जो स्वयं मिथ्या धारणायें हैं और मिथ्या धारणाओं—
को पैदा करने वाली भी हैं—(परामासा चेव परामट्ठा च)

आ. जो स्वयं मिथ्या धारणाएँ नहीं है किन्तु
मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली
है— (परामट्ठा चेव नो च परामासा)

५४. अ. जो स्वयं मिथ्या धारणाओं से विमुक्त है
किन्तु उन्हें पैदा करने वाली है—(परामासविप्पयुत्ता परामट्ठा)

आ. जो स्वयं मिथ्या धारणाओं से विमुक्त है और
उन्हें पैदा करने वाली भी नही है—(परामासविप्पयुत्ता अपरामट्ठा)

(१०—विस्तृत मध्यम दुक)

५५. अ. जो धम्म किसी आलम्बन का सहारा लेकर पैदा होते हैं—(सारम्मणा)

आ. जो धम्म किसी आलम्बनका सहारा लेकरनहीं पैदा होते—(अनारम्मणा)

५६. अ. जो चेतना-स्वरूप है—(चित्ता)

आ. जो चेतना-स्वरूप नही है—(नो चित्ता)

५७. अ. जो चित्त की सहगत अवस्थाएँ है—(चेतसिका)

आ. जो चित्त की सहगत अवस्थाएँ नहीं है—(अचेतसिका)

५८. अ. जो चेतना से युक्त है—(चित्तसम्पयुत्ता)

आ. जो चेतना से युक्त नही हैं—(चित्तविप्पयुत्ता)

५९. अ. जो चेतना से संसृष्ट है—(चित्तसंसट्ठा)

आ. जो चेतना से संसृष्ट नही है—(चित्तविसंसट्ठा)

६०. अ. जो चेतना के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं—(चित्तसमुट्ठाना)

आ. जो चेतना के द्वारा उत्पन्न नहीं किये जाते—(नो चित्तसमुट्ठाना)

६१. अ. जो चेतना की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले हैं—(चित्त सहभुनो)

आ. जो चेतना की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले नहीं हैं—(नो चित्त सहभुनो)

६२. अ. जो चेतना के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाते हैं—(चित्तानुपरिवत्तनो)

आ. जो चेतना के परिवर्तन के साथ परिवर्तित नही होते—(नो चित्तानुपरिवत्तिनो)

६३. आ. जो चेतना से संयुक्त है और उसी के द्वारा पैदा भी होने वाले है—चित्तसंसट्ठसमुट्ठाना)

आ. जो चेतना से संयुक्त नही हैं किन्तु उसके द्वारा पैदा होने वाले है—(नो-चित्तसंसट्ठसमुट्ठाना)

६४. अ. जो चेतना से युक्त है, उसके द्वारा पैदा होने वाले हैं और उसके साथ रहने वाले है—(चित्त-संसट्ठ-समुट्ठान-सहभुनो)

आ. जो न चेतना से युक्त है न उसके द्वारा पैदा होने वाले हैं और न उसके साथ रहने वाले हैं—
(नो चित्त-संसट्ठ-समुट्ठान-सहभुनो)

६५. अ. जो चेतना से युक्त है, उसके द्वारा पैदा किये जाते है और उसके परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाते हैं—
(चित्त-संसट्ठ-समुट्ठानानुपरिवत्तिनो)

आ. जो न चेतना से युक्त हैं, न उसके द्वारा पैदा किये किये जाते हैं और न उसके परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते हैं—(नो-चित्त-संसट्ठ-समुट्ठानानुपरिवत्तिनो)

६६. अ. जो किसी व्यक्ति के अन्दर स्थित हैं—(अज्झत्तिका)

आ. जो उसके बाहर स्थित है—(बाहिरा)

६७. अ. जो पूर्व-कर्मों के परिणाम-स्वरूप अर्जित है—(उपादा)

आ. जो पूर्व-कर्मों के परिणाम-स्वरूप अर्जित नहीं हैं—(नो उपादा)

६८. अ. पूर्ववत्— (उपादिन्ना)

आ. " (अनुपादिन्ना)

(११—उपादान-वर्ग)

६९. अ. जो धम्म उपादान (इन्द्रिय द्वारा ग्रहण-स्वरूप) हैं—(उपादाना)
आ. जो धम्म उपादान नहीं हैं—(नो-उपादाना)

७०. अ. जो धम्म उपादान को पैदा करने वाले हैं—(उपादानिया)
आ. जो धम्म उपादान को नहीं पैदा करने वाले हैं—अनुपादानिया)

७१. अ. जो धम्म उपादान से संलग्न हैं—(उपादानसम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म उपादान से अलग हैं—(उपादानविप्पयुत्ता)

७२. अ. जो धम्म स्वयं उपादान हैं और उपादान को पैदा करने वाले भी हैं—(उपादाना चेव उपादानिया च)
आ. जो धम्म स्वयं उपादान नहीं हैं किन्तु उपादान को पैदा करने वाले हैं—(उपादानिया चेव नो च उपादाना)

७३. अ. जो धम्म स्वयं उपादान हैं और अन्य उपादानों से संलग्न भी हैं—(उपादाना चेव उपादानसम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म स्वयं उपादान नहीं हैं किन्तु अन्य उपादानों से संलग्न हैं— (उपादानसम्पयुत्ता चेव नो च उपादाना)

७४. अ. जो धम्म स्वयं उपादानों से अलग है किन्तु उन्हें पैदा करने वाले हैं—(उपादानविप्पयुत्ता उपादानिया)
आ. जो धम्म उपादानों से अलग हैं और उन्हें पैदा करने वाले भी नहीं हैं—(उपादानविप्पयुत्ता अनुपादानिया)

(१२—क्लेश-वर्ग)

७५. अ. जो धम्म क्लेश (चित्त-मल—राग, द्वेष, मोहादि)-स्वरूप हैं—(किलेसा)
आ. जो धम्म क्लेश-स्वरूप नहीं हैं—(नो किलेसा)

७६. अ. जो धम्म क्लेश को पैदा करने वाले हैं—(संकिलेसिका)
आ. जो धम्म क्लेश को पैदा करने वाले नहीं हैं—(असंकिलेसिका)

७७. अ. जो धम्म क्लेशों से युक्त हैं—(संकिलिट्ठा)
आ. जो धम्म क्लेशों से युक्त नहीं हैं—(असंकिलिट्ठा)

७८. अ, जो धम्म क्लेशों से संलग्न हैं—(किलेससम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म क्लेशों से संलग्न नहीं हैं—(किलेसविप्पयुत्ता)

७९. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप हैं और क्लेशों को पैदा
करने वाले भी हैं—(किलेसा चेव संकिलेसिका)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं है किन्तु क्लेशों को
पैदा करने वाले हैं—(संकिलेसिका चेव नो च किलेसा)
८०. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप है और अन्य क्लेशों
से युक्त भी हैं—(किलेसा चेव संकिलिट्ठा च)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं हैं किन्तु
अन्य क्लेशों से युक्त हैं—(संकिलिट्ठा चेव नो च किलेसा)
८१. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप हैं और अन्य क्लेशों से
संलग्न भी है—(किलेसा चेव किलेससम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं हैं किन्तु अन्य
क्लेशों से संलग्न हैं—किलेससम्पयुत्ता चेव नो च किलेसा)
८२. अ. जो स्वयं क्लेश से अलग है किन्तु क्लेशों
को पैदा करने वाले हैं—(किलेसविप्पयुत्ता संकिलेसिका)
आ. जो स्वयं क्लेश से अलग हैं और क्लेशों को
पैदा करने वाले भी नहीं हैं—(किलेसविप्पयुत्ता असंकिलेसिका)
८३. आ. जो धम्म 'दर्शन' के द्वारा हटाये या नष्ट किये
जा सकते हैं—(दस्सने न पहातब्बा)
आ. जो धम्म 'दर्शन' के द्वारा नहीं हटाये या नष्ट
किये जा सकते—(न दस्सनेन पहातब्बा)
८४. अ. जो धम्म 'भावना' के द्वारा हटाये या नष्ट किये जा सकते हैं—
(भावनाय पहातब्बा)
अ. जो धम्म 'भावना' के द्वारा हटाये
या नष्ट नहीं किये जा सकते—(न भावनाय पहातब्बा)
८५. अ. जिन धम्मों के हेतु 'दर्शन' के द्वारा नष्ट
किये जा सकते हैं—(दस्सनेन पहातब्ब-हेतुका)
आ. जिन धम्मों के हेतु 'दर्शन' के द्वारा नष्ट नहीं
किये जा सकते—(न दस्सनेन पहातब्ब-हेतुका)
८६. अ. जिन धम्मों के हेतु 'भावना' के द्वारा
नष्ट किये जा सकते हैं—(भावनाय पहातब्बहेतुका)

आ. जिन धम्मों के हेतु 'भावना' के द्वारा नष्ट
नहीं किये जा सकते।—(न भावनाय पहातब्ब हेतुका)

८७. अ. जिन धम्मों के साथ 'वितर्क' संलग्न है—(सवितक्का)
आ. जिन धम्मों के साथ 'वितर्क' संलग्न नहीं है—(अवितक्का)

८८. अ. जिन धम्मों के साथ 'विचार' संलग्न है (सविचारा)
आ. जिन धम्मों के साथ 'विचार' संलग्न नहीं है—(अविचारा)

८९. आ. जिन धम्मों के साथ 'प्रीति' संलग्न है—(सप्पीतिका)
आ. जिन धम्मों के साथ 'प्रीति' संलग्न नहीं है—(अप्पीतिका)

९०. अ. जो धम्म 'प्रीति' के सहचर हैं—(पीतिसहगता)
आ. जो धम्म 'प्रीति' के सहचर नहीं हैं—(न-पीतिसहगता)

९१. अ. जो धम्म 'सुख' के सहचर है—(सुखसहगता)
आ. जो धम्म 'सुख' के सहचर नहीं हैं—(न सुखसहगता)

९२. अ. जो धम्म 'उपेक्षा' के सहचर हैं—(उपेक्खासहचरा)
आ. जो धम्म 'उपेक्षा' के सहचर नहीं है—(न उपेक्खासहचरा)

९३. अ. जिन धम्मों का सम्बन्ध कामनाओं के लोक (कामावचर) से है—
(कामावचरा)
आ. जिन धम्मों का सम्बन्ध कामनाओं के
लोक (कामावचर) से नहीं है —(न-कामावचरा)

९४. अ. जिन धम्मों का सम्बन्ध रूप-लोक
(रूपावचर) से है—(रूपावचरा)
आ. जिन धम्मों का सम्बन्ध रूप-लोक (रूपावचर) से नहीं है—(न-रूपावचरा)

९५. अ. जिन धम्मों का सम्बन्ध अरूप-लोक से है—(अरूपावचरा)
आ. जिन धम्मों का सम्बन्ध अरूप-लोक से नहीं है—(न-अरूपावचरा)

९६. अ. जो धम्म आवागमन के चक्र में निहित हैं—(परियापन्ना)
आ. जो धम्म आवागमन के चक्र में निहित नहीं हैं—(अपरियापन्ना)

९७. अ. जो धम्म निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले हैं—(निय्यानिका)
आ. जो धम्म निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले नहीं हैं—(अनिय्यानिका)

९८. अ. जिन धम्मों के परिणाम सुनिश्चित हैं—(नियता)
आ. जिन धम्मों के परिणाम सुनिश्चित नहीं हैं—(अनियता)

९९. अ. जिनके आगे बढ़कर भी कुछ धम्म हैं—(स-उत्तरा)
आ. जिनसे आगे बढ़कर और कोई धम्म नहीं हैं—(अनुत्तरा)
१००. अ. जो धम्म दुःखदायी पाप-कर्मों से युक्त हैं—(सरणा)
आ. जो धम्म दुःखदायी पाप-कर्मों से युक्त नहीं है—(अरणा)

उपर्युक्त १२२ वर्गीकरणों में धम्मों का विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है। वास्तव में इन वर्गीकरणों में भी प्रथम वर्गीकरण (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) ही नैतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। अतः धम्म-संगणि में मानसिक और भौतिक जगत् के सारे तत्वों को प्रधानतः इन्हीं तीन शीर्षकों में पहले विभक्त किया गया है। वहाँ पहले उपर्युक्त तत्वों का विश्लेषण कर यही जिज्ञासा की गई है कि इनमें से कौन से धम्म कुशल हैं, अकुशल हैं, या अव्याकृत हैं। शेष १२१ वर्गों में धम्मों के विश्लेषण को तो अन्त में प्रश्न और उत्तर के रूप में ही संक्षेप में समझा दिया गया है। अतः धम्मसंगणि का मुख्य विषय है धम्मों का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण। धम्मसंगणि की विषय वस्तु चार कांडों में विभाजित की गई है, (१) चित्तुप्पाद-कंड (२) रूपकंड (३) निक्खेपकंड और (४) अत्थुद्धार कंड। पहले दो कांडों में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओं का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण है। पहले कांड में कुशल, अकुशल और अंशतः अव्याकृत का विवेचन है और दूसरे कांड में अव्याकृत के अधूरे विवेचन को पूरा किया गया है। तीसरे और चौथे कांडों में इनका संक्षेप है और शेष १२१ वर्गों के स्वरूप को प्रश्नोत्तर के रूप में समझाया गया है। चूंकि धम्मों की गणना कुशल, अकुशल आदि वर्गों में करने के अतिरिक्त स्वयं उनके स्वरूप का भी विश्लेषण धम्मसंगणि में किया गया है, अतः इस दृष्टि से उनके चार कांडों को चित्त, चेतसिक और रूप (जिन तीन वर्गों में उसने धम्मों को उनके स्वरूप भेद की दृष्टि से विभक्त किया है) इन तीन शीर्षकों में भी विभक्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रथम कांड चित्त, चेतसिक और उनके नाना उपविभागों का एवं दूसरे कांड में रूप (भौतिक जगत् का समष्टि-गत रूप) का वर्णन है। तीसरे और चौथे कांडों में यहाँ भी संक्षेप ही हैं। धम्मसंगणि के इस द्विविध विभाग के कारण ही उसके विवेचन में इतनी दुरूहता आ गई है। पहले हम

चित्त और उसकी सहगत अवस्थाओं (चेतसिक) के विश्लेषण और कुशल ,अकुशल आदि के रूप में उसके विभाजन को ,जो पहले कांड में किया गया है, लेते हैं। चित्त का अर्थ है चेतना। चेतना को बौद्ध दर्शन में बड़े व्यापक अर्थ में लिया गया है। भगवान् ने स्वयं कहा है "चेतानाहं भिक्खवे कम्मं वदामि" अर्थात् "भिक्षुओ! चेतना को ही मैं कर्म कहता हूं।" इस बुद्ध-वचन से ही समझा जा सकता है कि अभिधम्म में चेतना का इतना सूक्ष्म विश्लेषण क्यों किया गया है। कर्म के शुभ, अशुभ स्वरूपों का चेतना से घनिष्ठ संबंध है, अतः उसका विश्लेषण प्रत्येक पूर्ण आचरण-दर्शन के लिए आवश्यक है। धम्मसंगणि के निर्देशानुसार चित्त की चार भूमियाँ हैं, जिन पर अग्रसर होता हुआ वह इस बहिर्जगत् की चंचलताओं से ऊपर उठकर निर्वाण की ओर अभिमुख होता है। इन चार भूमियों के नाम हैं, कामावचर-भूमि, रूपावचर-भूमि, अरूपावचर-भूमि और लोकोत्तर-भूमि। जिस जीवन और जगत् में हमारा सामान्य-जीवन-प्रवाह चलता है वह कामनाओं का लोक है। यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक हम कामनाओं की पूर्ति में ही लगे रहते हैं। एक कामना दूसरी कामना को जन्म देती है और अन्त में अतृप्त कामनाओं के सम्बल को लेकर ही हम दूसरे जन्म में प्रवेश कर जाते हैं। चित्त की समता यहाँ नहीं मिलती। यही चित्त की कामावचर (कामनाओं में विचरण करने वाली) भूमि है। चित्त की दूसरी भूमि रूपावचर है। रूपावचर-भूमि से तात्पर्य है ध्यान-भूमि पर स्थित चित्त। रूपावचर शब्द ध्यान के अर्थ में पालि-साहित्य में रूढ़ हो गया है। चित्त की इस अवस्था में ध्यान का विषय या 'कर्मस्थान' रूपवान् पदार्थ या बाह्य जगत् का कोई दृश्य पदार्थ ही होता है, अतः इसे रूप-संबंधी चित्त का ध्यान ही कहना चाहिए। चित्त की तीसरी अवस्था में बाह्य दृश्य -पदार्थ के चिन्तन से हटकर चित्त आन्तरिक और किसी रूप-रहित आलम्बन (कर्मस्थान) का चिन्तन करने लगता है, जैसे आकाश की अनन्तता, ज्ञान की अनन्तता, अकिंचनता की अनन्तता या अन्त में ऐसी सूक्ष्म अवस्था जिसमें चेतना के भी होने या न होने का निर्धारण न किया जा सके। यही चित्त की अरूपावचर भूमि है, अर्थात् अरूप-संबंधी चित्त का ध्यान। यहां रूप का सर्वथा अस्तंगमन हो जाता

है । चित्त की चौथी अवस्था का नाम है लोकोत्तर-भूमि । यहाँ आते-आते योगी अनित्य, दुःख और अनात्म का चिन्तन करते-करते निर्वाण रूपी आलम्बन पर ध्यान करने लगता है, जिससे उसकी सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं । एक-एक करके वह अपने सारे बन्धनों को नष्ट कर डालता है और उसका चित्त उस सर्वोत्तम भूमि में पहुँच जाता है, जो लोकोत्तर है । इस भूमि का संबंध चार आर्य-मार्गों और उनके फलों (स्रोत आपत्ति आदि) से है । यहाँ पहुँचकर फिर तृष्णा या अविद्या के फन्दे में पड़ना नहीं होता । चित्त फिर लोभ, द्वेष और मोह की ओर नहीं लौट सकता । इसीलिए यह भूमि लोकोत्तर है । चित्त की इन चार भूमियों को समझ लेने के बाद हमें चित्त के कुशल, अकुशल और अव्याकृत स्वरूप को कुछ और अधिक समझ लेना चाहिए । फिर चित्त के भेदों को समझना हमारे लिए आसान हो जायगा । कुशल चित्त वह है जो लोभ, द्वेष ,मोह आदि से रहित हो । अकुशल चित्त इनसे युक्त होता है । अव्याकृत चित्त वह है जो इच्छा से रहित होता है । या तो यह अत्यंत स्वाभाविक रूप से पूर्व-जन्म के कर्मों के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होता है जिसमें इच्छा करने या न करने का कोई सवाल ही नहीं होता और इस जन्म के कर्मों से संबद्ध न होने कारण जिसका स्वरूप भी अस्पष्ट और अव्याख्येय (अव्याकृत) होता है, या यह विगत-तृष्ण उस पूर्ण पुरुष (अर्हत्) की चित्तावस्था का सूचकहोता है जिसके इस जन्म के कुशल कर्म भी वास्तव में हेतु या इच्छा से रहित होते हैं और जो आगे के लिए विपाक भी पैदा नही करते । इसलिए वे भी अव्याकृत या अव्याख्येय होते हैं । इस दृष्टि से अव्याकृत चित्त के दो भाग किये गये हैं (१) विपाक-चित्त, जो पूर्वजन्म के कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के चित्तों के परिणाम-स्वरूप हो सकते हैं और (२) क्रिया-चित्त, जो अर्हत् की चित्त-अवस्था के सूचक हैं और जिनमें अर्हत् के चित्त की क्रिया-मात्र ही रहती है, पर वास्तव में जो 'निष्क्रिय' होते हैं । पूर्णता-प्राप्त ज्ञानी पुरुष (अर्हत्) का चित्त सक्रिय चेतनात्मक होते हुए भी वह कर्म-विपाक की दृष्टि से निष्क्रिय होता है । चूंकि अर्हत् के सभी कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध कर दिये गये होते हैं, अतः उसका चित्त 'क्रिया' भर करता है, उसका आगे के लिए कोई विपाक या परिणाम नहीं बनता । चित्त की उपर्युक्त

चार भूमियों और उसके तीन स्वरूपो में उसकी उन ८९ अवस्थाओं का वर्गीकरण जो धम्मसंगणि में किया गया है बड़ी अच्छी प्रकार समझ में आ सकता है। चित्त की अवस्थाएँ कुल मिलाकर ८९ हैं, जिनमें भूमियों की दृष्टि से ५४ कामावचर-भूमि मेसंबंधित है, १५ रूपावचरभूमि से संबंधित हैं, १२ अरूपावचर भूमि सेसंबंधित है और ८लोकोत्तर भूमि से संबंधित है। कुशल-चित्त की दृष्टि से इन ८९ चित्त की अवस्थाओं मे से २१ अवस्थाएँ कुशल-चित्त से संबंधित है, १२ अवस्थाएँ अकुशल-चित्त से संबंधित है और ५६ अवस्थाएँ (३६ विपाक-चित्त+२० क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त मे संबंधित हैं। इनका भी अधिक विश्लेषण करें तो ५४ कामावचर-भूमि की चित्त-अवस्थाओं में से ८ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं, १२ अकुशल-चित्त की अवस्थाएँ है और ३४ (२३ विपाक चित्त+११ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त की अवस्थाएँ है। १५ रूपावचर-चित्त की अवस्थाओं में से ५ कुशल-चित्त संबंधी अवस्थाएँ है और १० (५ विपाक चित्त+५ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त सबंधी अवस्थाएँ है। रूपावचर-चित्त-भूमि मे अकुशल-चित्त की अवस्थाएँ सम्भव नहीं होतीं। १२ अरूपावचर-भूमि की अवस्थाओं में ४ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं और ८ (४ विपाक-चित्त+४ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त की अवस्थाएँ है। ८ लोकोत्तर-भूमि की अवस्थाओं में से ४ कुशल-चित्त की अवस्थाएं हे और ४ अव्याकृत चित्त (केवल विपाक-चित्त) की अवस्थाएँ है। अरूपावचर और लोकोत्तर भूमियों में भी अकुशल-चित्त का होना संभव नहीं। कुशल-त्रिक की दृष्टि से भी इसी प्रकार का विस्तृत विश्लेषण करें तो २१ कुशल-चित्तों में से ८ कामावचर-भूमि के हैं, ५ रूपावचर भूमि के हैं, ४ अरूपावचर भूमि के है और ४ ही लोकोत्तर भूमि के है। १२ अकुशल-चित्तों में कुल कामावचर भूमि के ही हैं, क्योंकि अन्य उच्च भूमियों पर अकुशल -चित्त का होना संभव ही नहीं। ५६ अव्याकृत-चित्त की अवस्थाओं में से ३४ (२३ विपाक-चित्त+११ क्रिया-चित्त) कामावचर-भूमि की है, १० (५+विपाक-चित्त+५ क्रिया-चित्त) रूपावचर-भूमि की है, ८ (४ विपाक-चित्त+४ क्रिया-चित्त) अरूपावचर-भूमि की हैं और ४ लोकोत्तर-भूमि (केवल विपाक-चित्त) की है। अभी यह गणना सुबोध नहीं जान पड़ेगी, किन्तु आगे के विवरण से साफ हो जायगी। धम्म-

संगणि में चूंकि चित्त के उपर्युक्त ८९ प्रकारों का विश्लेषण उसके कुशल अकुशल और अव्याकृत रूपों का मूलाधार लेकर ही किया गया है, अतः उसकी पद्धति का ही अनुसरण करते हुए हम इस विषय को स्पष्ट करेंगे। धम्मसंगणि में सर्वप्रथम जिज्ञासा की गई है 'कतमे धम्मा कुसला ?' अर्थात् कौन से धर्म कुशल हैं ?' इसका जो उत्तर दिया गया है, उसका निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. कुसला धम्मा

(क) कामावचर-भूमि के ८ कुसल-चित्त।

कामनाओं के लोक में विचरण करता हुआ मनुष्य भी अपने चित्त को कुशल बना सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह धीरे धीरे अपने चित्त को लोभ, द्वेष और मोह से विमुक्त करे। इसके बिना उसका चित्त कुशल या सात्विक नहीं हो सकता। जब कोई साधक शुभ कर्म करता है जिससे उसका चित्त सात्विक बनता है तो कभी तो वह ऐसा अपने मन में ठानकर ज्ञान-पूर्वक करता है, अर्थात् वह ऐसा विचार-पूर्वक, सोचकर करता है कि ऐसा ऐसा करने से भविष्य के जीवन में मेरे कर्मों का विपाक कुशल बनेगा। इस प्रकार की उसकी चित्त-अवस्था ज्ञान-संप्रयुक्त या ज्ञानयुक्त कहलाती है। उदाहरणतः, एक मनुष्य बुद्ध-वन्दना करता है और सोचता है कि ऐसा करने से उसका शुभ कर्म-विपाक बनेगा तो उसका चित्त उस समय ज्ञान-संप्रयुक्त है। किन्तु यदि एक बालक इसी काम को दूसरे के अनुकरण पर करता है तो उसके इस काम में इस ज्ञान की भावना नहीं है कि यह कर्म उसके लिए शुभ कर्म-विपाक का प्रसवकारी बनेगा। अतः उसका चित्त 'ज्ञान-विप्रयुक्त' या ज्ञान से रहित है। इसी प्रकार यदि कोई कर्म दूसरे की प्रेरणा पर और झिझकपूर्वक किया जाता है तो वह 'ससांस्कारिक' (ससंखारिक) है और यदि वह अपनी ही आन्तरिक प्रेरणा और बिना हिचकिचाहट के किया जाता है तो वह 'असांस्कारिक' (असंखारिक) है। इसी प्रकार कोई कर्म सौमनस्य की भावना से युक्त (सोमनस्स-सहगत) हो सकता है और कोई उपेक्षा

की भावना से युक्त (उपेक्खा-सहगत)। इतना समझ लेने पर अब धम्म-संगणि में निर्दिष्ट निम्नलिखित आठ कामावचर-कुशल-चित्तों को देखिए—) यथा—

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

(ख) रूपावचर-भूमि के ५ कुशल-चित्त—कामावचर-भूमि से आगे बढकर योगी पृथ्वी, जल, तेज आदि २६ रूपवान् पदार्थों को आलम्बन (कर्मस्थान) मानकर ध्यान करता है। इस ध्यान की पाँच क्रमिक अवस्थाएँ होती हैं, जिनका मनोवैज्ञानिक स्वरूप इस प्रकार है—

१.	वितर्क,	विचार,	प्रीति,	सुख	एकाग्रता वाला	प्रथम ध्यान
२.		,	,,	,	,,	द्वितीय ध्यान
३.			,,	,,	,,	तृतीय ध्यान
४.				,,	,,	चतुर्थ ध्यान
५.				उपेक्षा (समचित्तत्व)	,,	पंचम ध्यान

(ग) अ-रूपावचर-भूमि के ४ कुशल-चित्त (रूपावचर-ध्यान से आगे बढ़कर योगी रूपवान् कर्मस्थानों को छोड़ देता है और रूप-रहित वस्तुओं का ध्यान करने लगता है, जिनकी चार क्रमिक अवस्थाएँ इस प्रकार है (१) अनन्त आकाश का ध्यान (२) अनन्त विज्ञान का ध्यान (३) अनन्त आकिंचन्य (शून्यता) का ध्यान और (४) नैव-संज्ञा-नासंज्ञा (चित्त की वह सूक्ष्म अवस्था जिसमें न यह कहा जा सके कि संज्ञा है और न यह

कहा जा सके कि संज्ञा नहीं है) का ध्यान। ध्यान की यही चार अवस्थाएँ अरूपावचर कहलाती हैं। अतः इन संबंधी चार कुशल-चित्तों के नाम हैं—)

१. आकाशानन्त्यायतन कुशल-चित्त
२. विज्ञानानन्त्यायतन कुशल-चित्त
३. आकिञ्चन्यायतन कुशल-चित्त
४. नैव-संज्ञा-नासंज्ञायतन कुशल-चित्त

(घ) लोकोत्तर-भूमि के चार कुशल-चित्त (अरूप-समाधि से उठकर योगी फिर अविद्या के प्रभाव में आ सकता है। इससे बचने के लिए उसे आगे ध्यान-साधना करनी होती है। वह धीरे-धीरे चित्त के बन्धनों को हटाता है और अनित्य, दुःख और अनात्म की भावना करता है। ऐसा करते-करते वह चित्त की लोकोत्तर अवस्था में प्रवेश कर जाता है, जिसकी निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हैं—

१. स्रोत आपत्ति-मार्ग-चित्त (जो निर्वाण-गामी स्रोत में पड़ गया है)
२. सकृदागामि-मार्ग-चित्त (जिसे एक बार और जन्म लेना है)
३. अनागामि-मार्ग-चित्त (जिसे अब लौटना नहीं है—अर्थात् जो इसी जन्म में निर्वाणका साक्षात्कार कर लेगा)
४. अर्हत्-मार्ग-चित्त (जिसने निर्वाण का पूर्ण साक्षात्कार कर लिया है)

२—अकुसला धम्मा

धम्मसंगणि की दूसरी मुख्य जिज्ञासा है, 'कतमे धम्मा अकुसला ?' अर्थात् कौन से धम्म अकुशल है ?' इसका जो उत्तर दिया गया है, उसका निष्कर्ष यह है—

(क) लोभ-मूलक आठ अकुशल-चित्त (लोभ के कारण मनुष्य अशुभ कर्म करता है। कभी ऐसा करने में उसे चित्त की प्रसन्नता भी होती है और कभी मात्र उपेक्षा की भावना सी भी रहती है। ये दोनों क्रियाएँ, क्रमशः सौमनस्य से युक्त (सोमनस्ससहगत) और उपेक्षा-युक्त (उपेक्खासहगत) कहलाती है, जैसा हम कुशल चित्त के विषय में भी देख चुके हैं। इसी प्रकार लोभ-मूलक कोई बुरा काम किसी मिथ्या-धारणा

का सहारा लेकर किया जा सकता है, जैसे यह तो मेरा कर्तव्य ही है आदि (यद्यपि भावना तो उसमें लोभ की ही रहती है) तो उस दशा में यह दृष्टिगत-युक्त (दिट्ठिगत-सम्पयुत्त) कहलायेगा । यदि इस प्रकार की मिथ्या-धारणा का सहारा नहीं लिया गया है तो वह दृष्टिगत-विप्रयुक्त या मिथ्या-धारणा से मुक्त (दिट्ठिगत-विप्पयुत्त) कहलायगा । इसी प्रकार दूसरे की प्रेरणा से, झिझक पूर्वक किये हुए लोभमूलक दुष्कृत्य को 'ससांस्कारिक' (ससंखारिक) कहेंगे और बिना किसी दूसरे की प्रेरणा के और बिना झिझक के साथ किये हुए कर्म को 'असांस्कारिक (असंखारिक) कहेंगे, जैसा हम कुशल-चित्त के विवेचन में भी पहले देख चुके हैं । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोभ-मूलक अकुशल-चित्त कामनाओं के लोक (कामावचर-भूमि) में ही हो सकते हैं । इससे आगे उनकी पहुंच नहीं । आठ प्रकार के लोभ-मूलक अकुशल-चित्तों के स्वरूप का परिचय देखिए—

१. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, असांस्कारिक
४. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, असांस्कारिक
८. उपेक्षा के साथ, मिथ्या-धारणा से रहित, ससांस्कारिक

(ख) द्वेष-मूलक दो अकुशल-चित्त

१. दौर्मनस्य के साथ, द्वेष-युक्त, असांस्कारिक
२. दौर्मनस्य के साथ, द्वेष-युक्त, ससांस्कारिक

{ चित्तकी द्वेषमयी अवस्था में सौमनस्य या उपेक्षा नहीं रह सकती । द्वेष की चंचलतापूर्ण अवस्था में धारणाओं का भी कोई विचरण नहीं होता ।

(ग) मोह-मूलक दो अकुशल-चित्त

१. (अज्ञानमय) उपेक्षा के साथ, सन्देह-युक्त २. उपेक्षा के साथ ,उद्धतता से युक्त	मनकी मोह-युक्त अवस्था में असांस्कारिक या ससांस्कारिक होने का सवाल ही नहीं उठता ।

३. अव्याकता धम्मा

धम्मसंगणि की तीसरी मुख्य जिज्ञासा है "कतमे धम्मा अब्याकता" अर्थात् कौन से धर्म्म अव्याकृत हैं ? इसके उत्तर का निष्कर्ष प्रकार है—

अ—विपाक-चित्त

(क) आठ कुशल विपाक-चित्त—अव्याकृत चित्त के दो भेद हैं, विपाक-चित्त और क्रिया-चित्त, यह हम पहले देख चुके हैं । विपाक-चित्त पूर्व जन्म के कर्मों के परिणाम-स्वरूप होते हैं । पूर्व-जन्म के शुभ या अशुभ-कर्मों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनके कुशल-विपाक-चित्त और अकुशल-विपाक-चित्त ये दो स्वरूप होते हैं । आठ कुशल विपाक-चित्त, जो अनुकूल पदार्थों के साथ इन्द्रियों के संनिकर्ष होने के कारण उत्पन्न होते हैं, ये हैं—

१. चक्षु-विज्ञान	उपेक्षा (न-सुख-न-दुःख) से युक्त
२. श्रोत्र-विज्ञान	,,
३. घ्राण-विज्ञान	,,
४. जिह्वा-विज्ञान	,,
५. काय-विज्ञान	सुख या सौमनस्य से युक्त
६. मनोधातु	उपेक्षा से युक्त
७. मनो विज्ञान-धातु	उपेक्षा से युक्त
८. मनो-विज्ञान-धातु	सुख या सौमनस्य से युक्त

संख्या ६, ७, ८ के कुशल विपाक चित्तों को क्रमशः 'सम्पटिच्छन्न' और 'सन्तीरण' (७, ८) 'अभिधम्मत्थ' संगह में कहा गया है । सम्पटिच्छन्न (सम्प्रतिच्छन्न) का अर्थ है ग्रहणात्मक विज्ञान और 'सन्तीरण' (सन्तीर्ण) का अर्थ है अनुसन्धानात्मक विज्ञान । चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ उनके विषयों

का संनिकर्ष होने पर चक्षु-विज्ञान आदि उत्पन्न हो जाते हैं। उसके बाद चित्त को किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता की अनुभूति होती है और वह उसे ग्रहण करने के लिए उत्सुक होता है। यही चित्त की अवस्था 'सम्पटिच्छन्न' कहलाती है। जब उसे ग्रहण करने के लिए वह अनुसन्धान करने लगता है तो यही अवस्था 'सन्तीरण' कहलाती है। इन सब व्यापारों में द्रष्टा को अपने आप की चेतना नहीं होती। ये सब व्यापार सुषुप्त चेतना या अर्द्धचेतना की अवस्था में होते हैं। अतः इन विज्ञानो का कोई हेतु नहीं होता। वे पूर्व जन्मों के शुभ या अशुभ कर्मों के परिणाम-स्वरूप ही उद्भूत होते हैं। इस आरम्भिक अवस्था में उनमें सुख या दुःख की वेदना का भी सवाल नहीं उठता। वे उपेक्षा (न-सुख-न-दुःख) की वेदना से युक्त होते हैं। काय-विज्ञान अवश्य सुख या दुःख की वेदना से युक्त होता है।

(ख) आठ कामावचर विपाक-चित्त (पूर्वजन्म के कुशल-चित्तों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाले विपाक-चित्त भी उनके समान ही संख्या में आठ हैं, यथा--

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-सम्प्रयुक्त असांस्कारिक
२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युकुत, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

(ग) सात अकुशल विपाक-चित्त (पूर्व जन्म के अशुभ-कर्मो के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न)

१. चक्षु-विज्ञान	उपेक्षा (न-दुःख-न-सुख) से युक्त
२. श्रोत्र-विज्ञान	,,
३. घ्राण-विज्ञान	,,

४. जिह्वा-विज्ञान	,,
५. काय-विज्ञान—	दुःख या दौर्मनस्य से युक्त
६. मनोधातु (सम्पटिच्छन्न)	उपेक्षा से युक्त
७. मनोविज्ञान-धातु (सन्तीरण)	,,

(घ) पाँच रुपावचर विपाक चित्त—रूपावचर-भूमि के पाँच कुशल-चित्तों के परिणाम-(विपाक) स्वरूप ही दूसरे जन्म में पाँच विपाक-चित्त उत्पन्न होते हैं। अतः उनका स्वरूप भी पूर्वोक्त कुशल-चित्तों के अनुरूप ही है यथा—

१.	वितर्क,	विचार,	प्रीति	सुख और	एकाग्रता से युक्त	प्रथम विपाक-चित्त
२.	,,	,,	,,	,,		द्वितीय विपाक-चित्त
३.		,,	,,	,,		तृतीय विपाक-चित्त
४.			,,	,,		चतुर्थ विपाक-चित्त
५.			उपेक्षा	,,		पञ्चम विपाक-चित्त

(ङ) चार अरूपावचर विपाक-चित्त—अरूपावचर-भूमि के चार कुशल-चित्तों के विपाक-स्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनके समान ही है यथा—

१. आकाशानन्त्यायतन विपाक-चित्त
२. विज्ञानानन्त्यायतन विपाक-चित्त
३. आकिञ्चन्यायतन विपाक-चित्त
४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन विपाक-चित्त

(च) चार लोकोत्तर विपाक-चित्त—लोकोत्तर-भूमि के चार मार्ग-चित्तों के परिणामस्वरूप दूसरे जन्म में चार फल-चित्त उत्पन्न होते है, जो इस प्रकार है—

१. स्रोत आपत्ति-फल-चित्त (स्रोत आपत्ति के फल को प्राप्त करने की चेतना)
२. सकृदागामि-फल-चित्त (सकृदागामि-फल को प्राप्त करने की चेतना)
३. अनागामि-फल-चित्त (इसी जन्म में निर्वाण के साक्षात्कार रूपी फल को प्राप्त करने की चेतना)
४. अर्हत्व-फल-चित्त (अर्हत्व-फल प्राप्ति की चेतना)

आ—क्रिया-चित्त

(क) तीन अहेतुक क्रिया-चित्त

क्रिया-चित्त उसे कहते हैं जो न स्वयं पूर्व जन्मों के कर्मों का विपाक होता है और न भविष्य के कर्मों का विपाक बनता है। उसमें केवल 'क्रिया-मात्र' (करण-मत्त) रहती है। वास्तव में तो वह 'निष्क्रिय' ही होता है, क्योंकि उसका कोई विपाक नहीं बनता। वह इतना स्वाभाविक होता है कि उसका कोई हेतु भी नहीं दिखाया जा सकता। उदाहरणतः पूर्णता-प्राप्त मनुष्य (अर्हत्) की हँसी। इसी लिए उसे अहेतुक भी कहते है। इसके तीन प्रकार हैं जैसे—

१. मनोधातु—उपेक्षा से युक्त।

२. मनोविज्ञान धातु—उपेक्षा से युक्त (सभी प्राणियों मे पाया जाता है)

३. मनो विज्ञान धातु—सुख या सौमनस्य से युक्त (केवल अर्हत् में पाया जाता है)

'अभिधम्मत्थसंह' में इन तीन क्रिया-चित्रों को क्रमशः पंचद्वारावज्जन चित्त (इन्द्रिय रूपी पाँच द्वारों की ओर प्रवण होने वाला, बाहरी पदार्थ से उनका संनिकर्ष होने पर), मनोद्वारावज्जन चित्त (मन के द्वार की ओर प्रवण होने वाला) और हसितुप्पाद-चित्त (अर्हत् के हँसने की क्रियावाला चित्त) कहा है। अर्हत् का हँसना नितान्त स्वाभाविक अर्थात् अहेतुक होता है। न वह स्वयं किसी का विपाक होता है और न उसका आगे कोई विपाक बनता है।

(ख) कामावचर-भूमि के ८ क्रिया-चित्त

कामावचर-भूमि के ८ कुशलचित्तों का उल्लेख पहले हो चुका है। साधारण अवस्था में उनका विपाक भी दूसरे जन्म में होता है। किन्तु अर्हत् की जीवन-क्रियाएँ तो किसी विपाक को पैदा करती नहीं। उनमें वासना या तृष्णा का सर्वथा अभाव रहता है। अतः ये क्रियाएँ जैसे दग्ध हो जाती हैं। अतः पूर्वोक्त ८ कुशल-चित्त ही अर्हत् की जीवन-दशा से सम्बन्धित होकर आठ क्रिया-चित्त बन जाते है, अर्थात् वे अपने विपाक बनने के स्वभाव को छोड़ देते हैं। उनका बाहरी स्वरूप तो यहां भी पहले जैसा ही है, यथा—

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक

२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक

३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

ग. रूपावचर-भूमि के पाँच क्रिया-चित्त—ये चित्त भी पूर्वोक्त रूपावचर-भूमि के ५ कुशल-चित्तों और विपाक-चित्तों के समान हैं, अन्तर केवल इतना है कि क्रिया-चित्त होने की अवस्था में ये अर्हत् के चित्त की अवस्था के सूचक हैं, अतः भविष्य में विपाक पैदा नहीं करते। अर्हत् भी इन पाँच ध्यान की अवस्थाओं को प्राप्त करता है किन्तु ये उसके लिये विपाक पैदा नहीं करतीं। इनका उल्लेख पहले दो बार हो चुका है, अतः यहाँ अनावश्यक है।

घ. अरूपावचर-भूमि के चार क्रिया-चित्त—ये चित्त भी पूर्वोक्त अरूपावचर-भूमि के ४ कुशल-चित्तों और विपाक-चित्तों के समान हैं। अन्तर भी यही है कि क्रिया-चित्त होने की अवस्था में ये अर्हत् के चित्त की अवस्था के सूचक हैं, अतः भविष्य में विपाक पैदा नहीं करते। अर्हत् अरूप-लोक की इन चार अवस्थाओं को प्राप्त करता है किन्तु ये उसके लिये विपाक पैदा नहीं करती। इनका भी उल्लेख पहले दो बार हो चुका है, अतः यहाँ पुनरावृत्ति करना निरर्थक है।

उपर्युक्त प्रकार चित्त के ८९ प्रकारों का कुशल, अकुशल और अव्याकृत चित्तों के रूप में उनकी उपर्युक्त ४ भूमियों पर विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है। अधिक सुगम बनाने के लिये इनका इस तालिका के द्वारा अध्ययन किया जा सकता है—

चित्त के भेद

भूमि	(कुशल)	(अकुशल)	(अव्याकृत) विपाक-चित्त	(अव्याकृत) क्रिया-चित्त
५४ कामावचर-भूमि	१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक २. ,, ,ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक ३. ,, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक ४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक ५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक ६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक ७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक ८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक	(क—लोभमूलक) २२. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, असांस्कारिक २३. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, ससांस्कारिक २४. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, असांस्कारिक २५. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, ससांस्कारिक २६. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, असांस्कारिक २७. उपेक्षा के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, ससांस्कारिक २८. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, असांस्कारिक २९. उपेक्षा के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, ससांस्कारिक (ख—द्वेषमूलक) ३०. दौर्मनस्य के साथ, द्वेषयुक्त, असांस्कारिक ३१. दौर्मनस्य के साथ, द्वेषयुक्त, ससांस्कारिक (ग—मोहमूलक) ३२. उपेक्षा के साथ, सन्देह-युक्त, ३३. उपेक्षा के साथ, उद्धतता-युक्त	(क—कुशल-विपाक) ३४–३८. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय के विज्ञान ३९. मनोधातु ४०. मनोविज्ञान-धातु ४१. मनोविज्ञान-धातु ४२–४९. =१–८ (ख—अकुशल-विपाक) ५०–५४. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय के विज्ञान ५५. मनोधातु ५६. मनोविज्ञान-धातु	७०. मनोधातु-उपेक्षा के साथ ७१. मनोविज्ञानधातु - उपेक्षा के साथ ७२. मनोविज्ञानधातु - सुख या सौमनस्य के साथ ७३–८० = (१–८)
१५ रूपावचर-भूमि	९. वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता १०. विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता ११. प्रीति, सुख, एकाग्रता १२. सुख, एकाग्रता १३. उपेक्षा, एकाग्रता	X	५७. ५८. =(९–१३) ५९. ६०. ६१.	८१. ८२. ८३. =(९–१३) ८४. ८५.
१२ अरूपावचर भूमि	१४. आकाशानन्त्यायतन १५. विज्ञानानन्त्यायतन १६. आकिंचन्यायतन १७. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन	X	६२. ६३. =(१४–१७) ६४. ६५.	८६. ८७. (१४–१७) ८८. ८९.
८ लोकोत्तर भूमि	१८. स्रोत आपत्ति-मार्ग-चित्त १९. सकृदागामि-मार्ग-चित्त २०. अनागामि-मार्ग-चित्त २१. अर्हत्व-मार्ग-चित्त	X	६६. स्रोत आपत्ति-फल-चित्त ६७. सकृदागामि-फल-चित्त ६८. अनागामि-फल-चित्त ६९. अर्हत्व-फल-चित्त	X
	२१	१२	३६	२०

केवल अर्हतों के क्रिया-चित्त

(अव्याकृत)

त	क्रिया-चित्त
पाक) ा और काय के विज्ञान	७०. मनोधातु-उपेक्षा के साथ ७१. मनोविज्ञानधातु - उपेक्षाके साथ ७२. मनोविज्ञानधातु - सुख या सौमनस्य के साथ
पाक) ा, और काय के विज्ञान	७३–८० = (१–८)
	८१. ८२. ८३. = (९–१३) ८४. ८५.
	८६. ८७. (१४–१७) ८८. ८९.
त	×

केवल अर्हत् की चित्त-दशा

१०. अधिमोक्ष (निश्चय) (अधिमोक्खो)
११. वीर्य (वीरियं)
१२. प्रीति (पीति)
१३. छन्द (इच्छा) (छन्दो)

२. २५ शोभन चेतसिक, जो सामान्यतः कुशल-चित्त और उनके अनुरूप अव्याकृत-चित्तों में पाये जाते हैं—

अ. १९ 'शोभन-चित्त-साधारण' अर्थात् सभी कुशल-चित्तों में पाई जाने वाली चित्त की अवस्थाएँ

१४. श्रद्धा (सद्धा)
१५. स्मृति (सति)
१६. ह्री (हिरी—नैतिक लज्जा, पाप-संकोच)
१७. अवत्रपा (ओतप्पो—पाप-भय)
१८. अलोभ (अलोभो)
१९. अद्वेष (अदोसो)
२०. तत्रमध्यस्थता (तत्र मज्झत्तता-समचित्तत्व)
२१. काय-प्रश्रब्धि (कायप्पस्सद्धि—काया की शान्ति)
२२. चित्त-प्रश्रब्धि (चित्तप्पस्सद्धि—चित्त की शान्ति)
२३. कायलघुता (कायलहुता—शरीर का हल्कापन)
२४. चित्त-लघुता (चित्तलहुता—चित्त का हल्कापन)
२५. कायमृदुता (कायमुदुता)
२६. चित्तमृदुता (चित्तमुदुता)
२७. कायकर्मज्ञता (कायमम्मञ्ञता)
२८. चित्तकर्मज्ञता (चित्तकम्मञ्ञता)
२९. कायप्रागुण्यता (कायुपागुञ्ञता)
३०. चित्त प्रागुण्यता (चित्तपागुञ्ञता)
३१. काय-ऋजुता (कायुजुकता—काया की सरलता)
३२. चित्त-ऋजुता (चित्तुजुकता—चित्त की सरलता)

आ. ६ शोभन-चेतसिक जो किन्हीं कुशल-चित्तों में पाये जाने हैं किन्हीं में नहीं, यथा

३३. सम्यक् वाणी (सम्मावाचा-वाचिक दुश्चरितों से विरति)
३४. सम्यक् कर्मान्त (सम्माकम्मन्तो-कायिकदुश्चरितोंसेविरति)
३५. सम्यक् आजीव (सम्मा आजीवो-जीविका सबंधी दुश्चरितों से विरति)
— इन तीनों को विरति कहते हैं

३६. करुणा
३७ मुदिता
— इन दोनों को अ-परिमाण (परिमाण-रहित) कहते हैं क्योंकि इन्हें किसी हद तक बढ़ाया जा सकता है।

३८. प्रज्ञा-इन्द्रिय (पञ्ञिन्द्रियं—अमोह)

३. १४ अकुशल चेतसिक जो सामान्यत: अकुशल-चित्तों में पाये जाते हैं, जिनमें

अ. ४ मूल-भूत अकुशल चेतसिक जो सभी अकुशल-चित्तों मे अनिवार्यत: पाये जाते हैं। यथा

३९. मोह (मोहो)
४०. अ-ह्री (अहिरीकं-दुश्चरितों से लज्जा न करना)
४१. अन्-अवत्रपा (अनोत्तप्पं—कुकर्मो से त्रास न मानना)
४२. उद्धतता (उद्धच्च-चंचलता)

आ. १० अकुशल-चेतसिक जो किन्हीं अकुशल-चित्तों में पाये जाते हैं, किन्हीं में नहीं, यथा

४३. द्वेष (दोसो)
४४. ईर्ष्या (इस्सा)
४५. मात्सर्य (मच्छरियं-कृपणता)
४६. कौकृत्य (कुक्कुच्चं-दुश्चरित के बाद सन्ताप)
४७. लोभ (लोभो)
४८. मिथ्याधारणा (दिट्ठि-दृष्टि)
४९. मान (मानो-गर्व)
५०. कायिक-आलस्य (थीनं-स्त्यान)
५१. मानसिक आलस्य (मिद्धं, मृद्ध)
५२. विचिकित्सा (विचिकिच्छा-सन्देह)

चित्त के ८९ विभेदों में से प्रत्येक में कौन कौन से चेतसिक उपस्थित रहते हैं, इसका विस्तृत विवेचन, अनेक पुनरुक्तियों के साथ, 'धम्मसंगणि' में किया गया

है। उसकी शैली को समझने के लिये चेतसिकों की इस विस्तृत सूची को देखिये, जिसे 'धम्मसंगणि' ने कामावचर-भूमि के कुशल-चित्त के प्रथम भेद (देखिये ऊपर चित्त-विभेद की तालिका) से ही सम्बन्धित किया है। प्रथम प्रकार के चित्त को लक्ष्य कर 'धम्मसंगणि' कहती है "जिस समय कामावचर-लोक से सम्बन्धित कुशल चित्त उत्पन्न होता है, ज्ञान और सौमनस्य से सम्प्रयुक्त, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श या धम्म के आलम्बन (विषय) को लेकर, तो उस समय[1]

१. (१) फस्सो होति, (२) वेदना होति (३) सञ्ञा होति (४) चेतना होति (५) चित्तं होति।

२. (६) वितक्को होति (७) विचारो होति (८) पीति होति (९) सुखं होति (१०) चित्तस्सेकाग्गता (चित्त की एकाग्रता) होति।

३. (११) सद्धिन्द्रियं (श्रद्धा-इन्द्रिय) होति (१२) विरियिन्द्रियं (वीर्य-इन्द्रिय) होति (१३) सतिन्द्रियं (स्मृति-इन्द्रिय) होति (१४) समाधिन्द्रियं होति (१५) पञ्ञिन्द्रियं (प्रज्ञा-इन्द्रिय) होति (१६) मनिन्द्रियं (मन-इन्द्रिय) होति (१७) सोमनस्सिन्द्रियं (सौमनस्य-इन्द्रिय) होति (१८) जीवितिन्द्रियं होति।

४. (१९) सम्मादिट्ठि (सम्यक् दृष्टि) होति (२०) सम्मासंकप्पो (सम्यक संकल्प) होति (२१) सम्मा वायायो (सम्यक् व्यायाम) होति (२२) सम्मा-सति (सम्यक् स्मृति) होति (२३) सम्मा समाधि (सम्यक् समाधि) होति।

५. (२४) सद्धा-बलं (श्रद्धा रूपी बल) होति (२५) विरिय-बलं (वीर्य रूपी बल) होति, (२६) सति-बलं (स्मृति रूपी बल) होति (२७) समाधि-बलं होति (२८) पञ्ञा-बलं (प्रज्ञा रूपी बल) होति (२९) हिरिबलं (नैतिक लज्जा रूपी बल) होति (३०) ओतप्पबलं (पाप-भय रूपी बल) होति

६. (३१) अलोभो होति (३२) अदोसो होति (३३) अमोहो होति (३४)

---

१. यस्मिं समये कामावचरं कुसलं चित्तं उप्पन्नं होति सोमनस्स सहगतं ञाण-सम्पयुत्तं रूपारम्मणं वा सद्दारम्मणं वा गन्धारम्मणं वा रसारम्मणं वा फोट्ठब्बारम्मणं वा धम्मारम्मणं वा तस्मिं समये..... ...

अनभिज्जा (अद्रोह) होति (३५) अब्यापादो (अ-वैर) होति (३६) सम्मादिट्ठि होति ।

७. (३७) हिरि (ह्री-नैतिक लज्जा) होति (३८) ओतप्पं (पाप-भय) होति

८. (३९) काय-पस्सद्धि (काय-प्रश्रब्धि-काया की शान्ति) होति ।

(४०) चित्त-पस्सद्धि होति (४१) काय-लहुता (काया का हल्कापन) होति (४२) चित्त-लहुता होति (४३) काय-मुदिता (काया की प्रफुल्लता) होति (४४) चित्त-मुदिता होति (४५) काय-कम्मञ्ञता (काया के कर्मो का ज्ञान) होति । (४६) चित्त-कम्मञ्ञता होति (४७) कायज्जुकता (काया की सरलता) होति (५०) चित्तुज्जुकता होति ।

९. (५१) सति होति (५२) सम्पञ्ञाणं (सम्प्रज्ञान) होति ।

१०. (५३) समथो (शमथ, शान्ति) होति (५४) विपस्सना (विपश्यना-विदर्शना-अन्तर्ज्ञान) होति ।

११. (५५) पग्गहो (निश्चय) होति (५६) अविक्खेपो (चित्त-शान्ति का भंग न होना) होति ।

उपर्युक्त ५६ चित्त-अवस्थाओं में बहुत पुनरुक्ति की गई है । २, ९ और १७; ५ और १६; ६ और २०; १०. १४, २३ २७, ५३ और ५६; ११ और १४; १२. २१, २५ और ५५; १३, २२, २६ और ५१; १५, १९, २८, ३३, ३६, ५२ और ५४; २९ और ३७; ३१ और ३४ तथा ३२ और ३५ संख्याओं की अवस्थाएँ समान ही हैं । अतः समान अवस्थाओं को निकाल देने पर शेष ३१ रह जाती हैं। 'धम्मसंगणि' में इस प्रकार के विस्तार बहुत अधिक हैं और उनकी संगति केवल विभिन्न दृष्टियों से किये गये वर्गीकरणों के आधार पर ही लगाई जा सकती है । कुशल-चित्त के प्रथम भेद के अलावा उसके शेष २० भेदों की सहगत-अवस्थाओं की भी गणना उसी के आधार पर की गई है । यही पद्धति बाद में कामावचर-भूमि के अकुशल-चित्त के १२ भेदों के विषय में तथा उसके बाद विपाक-चित्त की चारों भूमियों के ३६ भेदो के विषय में और अन्त में क्रिया-चित्त की तीन भूमियों (कामावचर, रूपावचर, और अरूपावचर) के २० भेदों के विषय में प्रयुक्त की गई है । इन सबका विस्तृत विवरण अभिधम्म के पूरे दर्शन को समझने के लिये आवश्यक है, किन्तु पालि साहित्य के इतिहास

में तो इनका अपेक्षाकृत गौण स्थान ही हो सकता है। अतः यहाँ केवल मोटी रूप-रेखा उपस्थित कर 'धम्मसंगणि' में जिस शैली में उनका निरूपण किया गया है, उसका दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है।[1] संक्षेप में चित्त और चेतसिकों के सम्बन्ध का स्वरूप इस नीचे दी हुई तालिका से समझ में आ सकता है—

अ—कुशल-चित्त

चित्तों की क्रम संख्या (पहले दी हुई तालिका के अनुसार)	**चेतसिकों की संख्या जो उनके अन्दर पाये जाते हैं**	
१ एवं २	१३ अन्य समान + २५ शोभन	= ३८
३ एवं ४	उपर्युक्त ३८ में से ज्ञान को घटाकर	= ३७
५ एवं ६	उपर्युक्त ३८ में से प्रीति को घटाकर	= ३७
७ एवं ८	उपर्युक्त ३८ में से ज्ञान और प्रीति दोनों को घटाकर	= ३६
९	उपर्युक्त ३८ में से ३ विरतियों (समक् वाणी, सम्यक् कर्म , सम्यक् आजीव) को घटाकर	= ३५
१०	उपर्युक्त ३५ में से वितर्क को घटाकर	= ३४
११	उपर्युक्त ३४ में से विचार को घटाकर	= ३३
१२	उपर्युक्त ३३ में से प्रीति को घटाकर	= ३२
१३	उपर्युक्त ३२ में से करुणा और मुदिता (दो अ-प्रमाण) को घटाकर	= ३०
१४-१७	उपर्युक्त के समान ही	= ३०

---

१. चित्त और चेतसिकों के सम्बन्ध के विस्तृत और क्रमबद्ध निरूपण के लिए देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द, पहली, पृष्ठ ६८-११०; जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६८-८७; महास्थविर ज्ञानातिलोक (गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ६-१३) ने विशेषतः निरूपण-शैली की दृष्टि से ही विवरण दिया है, अतः वह पूर्ण और क्रम-बद्ध नहीं है, किन्तु उनकी दी हुई सूचियां और तालिकाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

१८-२१	प्रथम ३८ में से करुणा और मुदिता को घटाकर	= ३६

आ—अकुशल—चित्त

लोभ-मूलक	२२	१३ अन्य-समान + ४ मूलभूत अकुशल + लोभ + मिथ्या दृष्टि	= १९
	२३	उपर्युक्त १९ + स्त्यान और मृद्ध (कायिक और मानसिक आलस्य)	= २१
	२४	उपर्युक्त १९ + मान—मिथ्या-दृष्टि	= १९
	२५	उपर्युक्त २१ + मान—मिथ्या-दृष्टि	= २१
	२६	उपर्युक्त संख्या २२ के १९—प्रीति	= १८
	२७	उपर्युक्त १९—प्रीति—मिथ्यादृष्टि + मान	= १८
	२८	उपर्युक्त १९—प्रीति-मिथ्या-दृष्टि + मान	= १८
	२९	उपर्युक्त १९—प्रीति—स्त्यान + मृद्ध	= २०
द्वेष-मूलक	३०	उपर्युक्त १९—प्रीति—लोभ—मिथ्या-दृष्टि + द्वेष + ईर्ष्या + मात्सर्य + कौकृत्य (चिन्ता)	= २०
	३१	उपर्युक्त २० + स्त्यान + मृद्ध	= २२
मोह-मूलक	३२	१० अन्य-समान (प्रीति, अधिमोक्ष, छन्द ये तीन कुल संख्या में से छोड़ दी गई हैं) + मोह + अहीरिक + अनोत्तप्प + उद्धच्च + विचिकिच्छा	= १५
	३३	उपर्युक्त १५—विचिकिच्छा + अधिमोक्खो	= १५

इ-अव्याकृत-चित्त

(क) कर्म-विपाक

३४-३८ एवं ५०-५४ भी	७ सर्वचित्त-साधारण	= ७
३९ एवं ५५ एवं ४१ और ५६ भी	उपर्युक्त ७ + वितर्क + विचार + अधिमोक्ष	= १०
४०	१३ अन्य समान में से छन्द और प्रीति को घटाकर	= ११

४२-४९ = १-८, किन्तु—करुणा—मुदिता—सम्यक्वाणी—सम्यक् कर्म—सम्यक् कर्म—सम्यक् आजीव

५७-६९ = ९-२१

(ख) क्रिया-चित्त

७० = ३९

७१–७२ १३ में से छन्द और प्रीति को घटाकर = ११

७३–८० = १–८, किन्तु सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म एवं सम्यक् आजीव को घटाकर

८१–८९ = ९–१७[1]

'धम्मसंगणि' के प्रथम अध्याय या कांड (चित्तुप्पादकंड) की विषय-वस्तु और शैली का परिचय ऊपर दिया गया है। वास्तव में 'धम्मसंगणि' का यही भाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। दूसरा अध्याय 'रूप-कंड' एक प्रकार इसी का पूरक है। प्रथम कांड में कुशल, अकुशल और अव्याकृत का वर्णन है। रूप भी अव्याकृत के अन्दर ही आता है। इसका वर्णन इस दूसरे कांड में किया गया है। रूप का अर्थ है चार महाभूत और उनसे निर्मित सारा वस्तुजगत्। 'धम्मसंगणि' में कहा गया है 'चत्तारो च महाभूता चतुन्नच महाभूतानं उपादाय रूपं, इदं वुच्चति सब्बं रूपं' अर्थात् चार महाभूत और चार महाभूतों के उपादानसे उत्पन्न सारा दृश्य रूपात्मक जगत्, यही कहलाता है रूप। इस प्रकार निर्दिष्ट रूप का वर्गीकरण ही इस कांड का प्रधान विषय है। १०४ प्रकार के दुक, १०३ प्रकार के त्रिक, २२ प्रकार के चतुष्क और इसी प्रकार ग्यारह तक अन्य अनेक प्रकार के वर्गीकरणों में दृश्य जगत् को यहाँ बाँटा गया है।[2] इन वर्गीकरणों में कुछ ऐसी प्रभावशीलता या मौलिकता नहीं है, जिसके लिए यहाँ इनका उद्धरण आवश्यक हो। शैली प्रायः वैसी ही है जैसी प्रथम कांड में।

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'धम्मसंगणि' के तीसरे और चौथे कांडों में पूर्व विवेचित वस्तु के ही संक्षेप हैं और अधिकतर प्रश्नोत्तर के रूप

---

१. देखिये ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १२ के सामने दी हुई तालिका

२. देखिये अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९०-९४

में धम्मों के स्वरूप को उन वर्गीकरणों में भी, जिनको पहले नहीं लिया जा सका है, समझा दिया गया है। तीसरे कांड (निक्खेप कंड) और चौथे कांड (अत्थुद्धारकंड) में शेष २१ त्रिकों और १०० द्विकों में धम्मो का क्या स्वरूप होगा, इसी को प्रश्नोत्तर के द्वारा समझाया गया है। 'निक्खेप-कंड' के कुछ प्रश्नोत्तरों को लीजिये——

(१) कतमे धम्मा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ?

यस्मिं समये कामावचरं कुसलं चित्तं उप्पन्नं होति सोमनस्ससहगतं ञाणसम्पयुत्तं रूपारम्मणं वा सद्दारम्मणं वा गंधारम्मणं वा रसारम्मणं वा फोट्ठब्बारम्मणं वा धम्मारम्मणं वा ये वा पन तस्मिं समये अञ्ञेपि पटिच्चसमुप्पन्ना अरूपिनो धम्मा ठपेत्वा वेदनाक्खन्धं, इमे धम्मा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता।[1]

(२) कतमे धम्मा कुसला ?

तीणि कुसलमूलानि—अलोभो, अदोसो, अमोहो, तंसम्पयुत्तो वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, तंसमुट्ठानं कायकम्मं, वचीकम्मं, मनोकम्मं, इमे धम्मा कुसला।[2]

(३) कतमे धम्मा सप्पच्चया ?

पंचक्खन्धा, रूपक्खन्धो, वेदनाखन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, इमे धम्मा सप्पच्चया।[3]

---

१. कौन से धर्म (पदार्थ) सुख की संवेदना से युक्त हैं ? जिस समय कामावचर-भूमि में कुशल-चित्त उत्पन्न होता है, सौमनस्य और ज्ञान से युक्त, एवं रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म का आलम्बन ले कर, तो उस समय वह और अन्य भी प्रतीत्यसमुत्पन्न अरूपवान् पदार्थ, वेदना-स्कन्ध को छोड़ कर, जो उस समय पैदा होते हैं, वे सभी सुख की संवेदना से युक्त धर्म (पदार्थ) हैं। पालि-पाठ, अभिधम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९५ में उद्धृत।

२. कौन से धर्म कुशल हैं ? तीन कुशल-मूल, यथा अलोभ, अद्वेष, अमोह, इनसे युक्त तीन स्कन्ध, यथा वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, इनसे उत्पन्न तीन प्रकार के कर्म यथा कायिक कर्म, वाचिक कर्म, मानसिक कर्म, यही सब धर्म कुशल हैं।

३. कौन से धर्म प्रत्ययों वाले हैं ? पाँच स्कन्ध, जैसे कि रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, विज्ञान-स्कन्ध, यही धर्म प्रत्ययों वाले हैं।

(४) कतम धम्मा अप्पच्चया ?

असंखता धातु । इमे धम्मा अप्पच्चया[१] ।

'अत्थुद्धार-कंड' के भी कुछ उदाहरण देखिये—

(१) कतमे धम्मा हेतू चेव सहेतुका च ?

य त्थद्वे तयो हेतू एकतो उप्पज्जन्ति, इमे धम्मा हेतू चेव सहेतुकाच[२] ।

निःसन्देह 'धम्मसंगणि' की गणनात्मक शैली इतनी विचित्र है कि साहित्य का सामान्य विद्यार्थी उसमें रुचि नहीं ले सकता । उसमें तो 'कर्म' और 'अकर्म' के स्वरूप का गवेषी और उसके तत्वों को गूढ़ चेतना की तह और उसकी सारी भूमियों में ढूँढ़ने को उद्यत कोई साहित्यिक भिक्षु ही प्रवेश कर सकता है । क्या कुशल है और क्या अकुशल है, इनमें से किसी को भी स्वीकार कर लेने पर चित्त की क्या प्रगतियाँ अथवा अधोमतियाँ होती हैं, उनके क्या मानसिक निदान और लक्षण होते हैं, क्या प्रतिकार होते हैं, उनमें से क्या हेय हैं या क्या ग्राह्य हैं, इन सब की निष्पक्ष और मनोवैज्ञानिक गवेषणा मनुष्य को किसी भावी नैतिक चेतना-प्रधानयुग में जब अभिप्रेत होगी तो 'धम्मसंगणि' की पंक्तियों के आलवालों में फिर मणियों और मौतियों के थाले बनेंगे । अभी तो हमने जहाँ कहीं से चुने हुए कुछ पुष्पों से उसकी अर्चना की है, जो भी इस किं-कुशल-गवेषणा-विहीन युग में कहीं अधिक है ।

विभंग[3]

विभंग अभिधम्म-पिटक का दूसरा ग्रन्थ है । 'विभंग' का अर्थ है विस्तृत रूप से विभाजन या विवरण । इसी अर्थ में यह शब्द भद्देकरत्त-सुत्तन्त (मज्झिम

---

१. कौन से धर्म प्रत्ययों वाले नहीं हैं ? असंस्कृत धातु । यही धर्म प्रत्ययों वाले नहीं हैं ।

२. कौन से धर्म स्वयं हेतु भी हैं और अन्य हेतुओं से युक्त भी हैं ? जहाँ दो-तीन हेतु एक जगह उत्पन्न होते हैं, तो यही धर्म स्वयं हेतु भी हैं और अन्य हेतुओं से युक्त भी हैं ।

उपर्युक्त तथा अन्य पालि उद्धरणों के लिए देखिये भिक्षु जगदीशकाश्यप: अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९५-१०३

३. श्रीमती रायस डेविड्स ने इस ग्रन्थ का सम्पादन रोमन लिपि में पालि टैक्स्ट्

३।४।१) में प्रयुक्त किया गया है । "भिक्षुओ ! तुम्हें भद्देकरत्त (भद्दैकरक्त) के उद्देश (नाम-कथन) और विभंग (विभाग) का उपदेश करता हूँ, उसे सुनो, अच्छी तरह मन में करो ।" विभंग में धम्मसंगणि के ही बृहद् विश्लेषण को वर्ग-बद्ध किया गया है, अतः यह उसका पूरक ग्रन्थ ही माना जा सकता है । धम्मसंगणि में, जैसा हम अभी देख चुके हैं, धम्मों का अनेक द्विकों और त्रिकों में विश्लेषण किया गया है और यही उसका प्रधान विषय है । किन्तु धम्मों के स्वरूप को स्पष्टरूप से समझाने के लिए वहाँ इस प्रकार के भी प्रश्न किये गये हैं, जैसे किन-किन धम्मों में कौन कौन से स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय आदि संनिविष्ट हैं । इस प्रकार के प्रश्नों का उद्देश्य वहाँ स्कन्ध आयतन और धातु आदि के संबंध के साथ धम्मों के स्वरूप को समझाना ही है, न कि स्वयं स्कन्ध, आयतन और धातु आदि के स्वरूप का विनिश्चय करना । यह दूसरा काम विभंग में किया गया है । धम्मसंगणि का प्रधान विषय धम्मों का विश्लेषण मात्र कर देना है, उनका स्कन्ध, आयतन, और धातु आदि के रूप में संश्लिष्ट वर्गीकरण करना विभंग का विषय है । यद्यपि धम्मसंगणि ने धम्मों का विश्लेषण करने के बाद अपूर्ण ढंग से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनमें कौन कौन से स्कन्ध, आयतन और धातु आदि संनिविष्ट हैं, किन्तु विभंग ने यहीं से उसके सूत्र को पकड़कर उसके सारे गन्तव्य मार्ग को ही जैसे उल्टा मोड़ दिया है । विभंग में इन स्कन्ध, आयतन और धातु आदि को ही प्रस्थान बिन्दु मानकर यह दिखाया गया है कि स्वयं इनमें कौन कौन से धम्म संनिविष्ट हैं । अतः वस्तु पूरक होते हुए भी वस्तु का विन्यास यहाँ धम्मसंगणि के ठीक विपरीत है । यहाँ यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि धम्मसंगणि की १०० द्विकों और २२ त्रिकों वाली वर्गीकरण की प्रणाली को भी, जिसका निर्देश उसकी 'मातिका' और निर्वाह सारे ग्रन्थ में हुआ है, विभंग ने आवश्यकतानुसार ज्यों का त्यों ले लिया है । अतः

सोसायटी, लंदन के लिए किया है, जिसे उक्त सोसायटी ने सन् १९०४ ई० में प्रकाशित किया है । इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं । सिंहली लिपि में हेवावितरणे-संस्करण अधिक ध्यान देने योग्य है । हिन्दी में कोई संस्करण या अनुवाद उपलब्ध नहीं ।

इस दृष्टि से भी वह उस पर अवलंबित है। इन्हीं सब कारणों से विभंग का अध्ययन-क्रम बौद्ध परम्परा में सदा धम्मसंगणि के बाद ही माना जाता है।

विभंग की विषय-वस्तु १८ विभागों या विभंगों में विभक्त की गई हैं, जिनमें से प्रत्येक अपने आप में पूर्ण है। विभंग के १८ विभागों या विभंगों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) खन्ध-विभंग—(स्कन्ध-विभंग)
(२) आयतन-विभंग—(आयतन-विभंग)
(३) धातु-विभंग—(धातु विभंग)
(४) सच्च-विभंग—(सत्य-विभंग)
(५) इन्द्रिय-विभंग—(इन्द्रिय-विभंग)
(६) पच्चयाकार-विभंग—(प्रत्ययाकार-विभंग)
(७) सतिपट्ठान-विभंग—(स्मृतिप्रस्थान-विभंग)
(८) सम्मप्पधान-विभंग—(सम्यक्-प्रधान-विभंग)
(९) इद्धिपाद-विभंग—(ऋद्धिपाद-विभंग)
(१०) बोज्झंग-विभंग—(बोध्यंग-विभंग)
(११) मग्ग-विभंग—(मार्ग-विभंग)
(१२) झान-विभंग—(ध्यान-विभंग)
(१३) अप्पमञ्ञा-विभंग—(अ-परिमाण-विभंग)
(१४) सिक्खापद-विभंग—(शिक्षापद-विभंग)
(१५) पटिसम्भिदा-विभंग—(प्रतिसम्विद्-विभंग)
(१६) ञाण-विभंग—(ज्ञान-विभंग)
(१७) खुद्दक-वत्थु-विभंग—(क्षुद्रक-वस्तु-विभंग)
(१८) धम्म-हृदय-विभंग—(धर्म-हृदय-विभंग)

प्रत्येक विभंग का नाम उसकी विषय-वस्तु के स्वरूप का सूचक है। प्रायः प्रत्येक ही विभंग तीन अंगों में विभक्त है, (१) सुत्तन्तभाजनिय, (२) अभि-धम्म-भाजनिय, (३) पञ्ह-पुच्छकं। सुत्तन्त-भाजनिय में विभक्त की जाने वाली

विषय-वस्तु का सुत्तन्त आधार दिखलाया गया है, अर्थात् जिस विषय का वर्णन करना है वह किस सीमा तक या किस स्वरूप में सुत्त-पिटक में पाया जाता है, इसका निर्देश किया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में उसकी अभिधम्म या उसके आधार-स्वरूप 'मातिका' के अनुसार व्याख्या है। 'पञ्ह-पुच्छकं' में 'द्विक' 'त्रिक' आदि शीर्षकों के रूप में प्रश्नोत्तर हैं, जिनमें संपूर्ण निरूपित विषय का सिंहावलोकन एवं संक्षेप है। अब हम प्रत्येक विभंग की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण देंगे।

१—खन्ध-विभंग

(पाँच स्कन्धों का विवरण)

जिसे हम व्यक्तिगत सत्ता (जीवात्मा, पुद्गल) कहते हैं, वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान की समष्टि के सिवा और कुछ नहीं है, ऐसी बौद्ध दर्शन की मान्यता है। रूप स्वयं संपूर्ण भौतिक विकारों और अवस्थाओं की समष्टि है। वेदना संपूर्ण संवेदनों की समष्टि है। संज्ञा संपूर्ण संजानन या जानने की क्रिया की, वस्तु और इन्द्रिय के सयोग से उत्पन्न चित्त की उस अवस्था की, जिसमें उसे वस्तु की सत्ता की सूचना मिलती है, दूसरे शब्दों में समग्र प्रत्यक्षों की, समष्टि है। इसी प्रकार संस्कार बाह्य और आन्तरिक स्पर्शों (इन्द्रिय-विषय-संनिकर्षो) के कारण से उत्पन्न समग्र मानसिक सस्क-रणों की और विज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों के, तत्सबंधी रूपादि विषयों या आलम्बनों-आयतनों के साथ संयुक्त होने पर उत्पन्न, चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों पर आधारित समग्र चित्त-भेदों की समष्टि है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का ही सामूहिक नाम 'पंच-स्कन्ध' है। इन पाँचो स्कन्धों में ही संपूर्ण नाम-रूप-मय जगत् के मूल तत्व निहित हैं, ऐसा बौद्ध दर्शन मानता है। 'पञ्च-स्कन्ध' के विषय को उपन्यस्त करते हुए विभंग के आरंभ में ही कहा गया है—पञ्चक्खन्धा : रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञा-क्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो। इन पञ्चस्कन्धों का सुत्तन्त आधार दिखाते हुए सुत्तन्त-भाजनिय में उस बुद्ध-वचन को उद्धृत किया गया है, जिसमें इन पाँच स्कन्धों में से प्रत्येक के विषय में यह साधारण कथन किया गया

है कि वह भूत, वर्तमान या भविष्य का भी हो सकता है, व्यक्ति के बाहर या भीतर का भी हो सकता है, स्थूल या सूक्ष्म भी हो सकता है, शुभ या अशुभ भी हो सकता है, दूर का या समीप का भी हो सकता है। रूप-विषयक उद्धरण यह है, "जो कुछ भी रूप है, भूत (अतीत) का, या वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) का, या भविष्यत् (अनागत) का, व्यक्ति के बाहर का (बहिद्धा) या भीतर (अज्झत्तं) का, स्थूल (ओळारिक), या सूक्ष्म (सुखुम), शुभ (कुशल), या अशुभ (अकुशल), दूर का (दूरे), या समीप का (सन्तिके), उस सब की समष्टि ही रूप-स्कन्ध है।" वेदनादि स्कन्धों के विषय में भी कुछ थोड़े-बहुत अन्तर से इसी क्रम का अनुसरण किया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में पञ्च-स्कन्ध की व्याख्या है। रूप के विवेचन में २२ त्रिकों और १०० द्विकों को लेकर अक्षरशः वही प्रणाली बरती गई है जो धम्मसंगणि में। अतः उसमें कुछ नवीनता नहीं है। शेष चार स्कन्धों के विवरणों में भी यद्यपि विषय और शैली की दृष्टि से कुछ नवीनता नहीं है, किन्तु इनके अलग अलग विवरण धम्मसंगणि की विषय-वस्तु को अधिक स्पष्ट कर देते है। वेदना के विषय में बताया गया है कि वह सदा स्पर्श (फस्सो-इन्द्रिय-विषय संनिकर्ष) पर आधारित है। वह लौकिक भी हो सकती है और अलौकिक भी, वितर्कादि से युक्त भी और उनसे रहित भी, सुख से युक्त भी, दुःख से युक्त भी, न-सुख न-दुःख से युक्त भी। कामावचर-भूमि या अरू-पावचर-भूमि की भी हो सकती है, चक्षु-संस्पर्श से भी युक्त हो सकती है, श्रोत्र-संस्पर्श से भी, आदि, आदि। एक संख्या से लेकर दस संख्या तक के वर्गीकरणों में वेदना-स्कन्ध का विस्तृत विवरण इस प्रकार किया गया है--

१--वेदना-स्कन्ध

२. (१) सहेतुक (२) अहेतुक

३. (१) कुशल (२) अकुशल (३) अव्याकृत

४. (१) कामावचर (२) रूपावचर (३) अरूपावचर (४) अपरिया-पन्न (व्यक्तिगत जीवन-सत्ता से असम्बन्धित)

५. (१) सुखेन्द्रिय (२) दुःखेन्द्रिय (३) सौमनस्येन्द्रिय (४) दौर्मनस्येन्द्रिय (५) उपेक्षेन्द्रिय

६. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनो-संस्पर्शजा

७. (१) चक्षु-संस्पर्शजा, (२) श्रोत्र-सस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा, (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनोधातु-संस्पर्शजा (७) मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा

८. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) सुखाकाय-ससंस्पर्शजा (६) दुःखकाय-संस्पर्शजा (७) मनोधातु-संस्पर्शजा (८) मनोविज्ञानधातु-संस्पशजा

९. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२)श्रोत्र-संर्स्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वासंस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनोधातु--संस्पर्शजा (७) कुशला मनोविज्ञानधातुसंस्पर्शजा (८) अकुशला मनोविज्ञानधातुसंस्पर्शजा (९) अव्याकृता मनोविज्ञानधातुसंस्पर्शजा

१०. (१)चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा(४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) सुखा मनोधातु संस्पर्शजा (७) दुःखा मनोधातु संस्पर्शजा (८) कुशला मनोविज्ञानधातु संस्पर्शजा (९) अकुशला मनोविज्ञानधातु संस्पर्शजा (१०) अव्याकृता मनोविज्ञानधातु संस्पर्शजा ।

उपर्युक्त सूची में कई संख्याएँ अनेक बार संगृहीत हैं । अभिधम्म के परिगणनों में यह बात नई नहीं है । गणनाओं के पीछे पड़ जाने की प्रवृत्ति का ही यह परिणाम है । संज्ञा, संस्कार, और विज्ञान स्कन्धों का विवरण भी जहाँ-तहाँ अल्प परिवर्तनों के साथ वेदना-स्कन्ध के समान ही दिया गया है । पञ्ह-पुच्छकं विभाग में प्रश्न है, जैसे पञ्चानं खन्धानं कति कुसला ? कति अकुसला ? कति अब्याकता ? अर्थात् पाँच स्कन्धों में से कितने कुशल हैं ? कितने अकुशल ? कितने अव्याकृत ? इसी प्रकार कति सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? कति दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? कति अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? अर्थात् कितने सुख की

वेदना से युक्त हैं, कितने दुःख की वेदना से युक्त हैं, और कितने न-दुःख-न-सुख की वेदना से युक्त हैं ? इनके फिर उत्तर दिये गये हैं। उदाहरणतः ऊपर उद्धृत प्रथम त्रिक-प्रश्नावली का उत्तर दिया गया है—रूपक्खन्धो अब्याकतो। चत्तारो खन्धा सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अकुसला, सिया अब्याकता, अर्थात् रूप-स्कन्ध अव्याकृत है। शेष चार स्कन्ध (वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) कुशल भी हो सकते हैं, अकुशल भी और अव्याकृत भी। ऊपर उद्धृत द्वितीय त्रिक-प्रश्नावली का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—द्वे खन्धा न वत्तब्बा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ति पि. दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता ति पि। तयो खन्धा सिया सुखाय, दुक्खाय अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता। इसका अर्थ यह है—दो स्कन्धों (रूप और वेदना) के विषय में तो न तो ऐसा ही कहा जा सकता है कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं और न यह कि वे दुःख की वेदना से युक्त हैं। शेष तीन स्कन्ध (संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) सुख की वेदना से भी युक्त हो सकते हैं, दुःख की वेदना से भी और-न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। ये उदाहरण सिर्फ शैली का दिग्दर्शन मात्र कराने के लिए दिये गये हैं। अन्यथा इस प्रश्नोत्तरी में एक-एक करके वे सभी २२ त्रिक और १०० द्विक के वर्गीकरण संनिहित हैं, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। उत्तरों की यह विशेषता है कि वे संक्षिप्त होने के साथ-साथ स्कन्धों का नाम ले ले कर निर्देश नहीं करते, बल्कि उनकी केवल संख्या गिना देते हैं।

२—आयतन-विभंग

(१२ आयतनों या आधारों का विवरण)

सुत्तन्त-भाजनिय में १२ आयतनों का उल्लेख है, जैसे कि

१. चक्षु-आयतन	७. जिह्वा-आयतन
२. रूप-आयतन	८. रस-आयतन
३. श्रोत्र-आयतन	९. काय-आयतन
४. शब्द-आयतन	१०. स्पृष्टव्य-आयतन
५. घ्राण-आयतन	११. मन-आयतन
६. गन्ध-आयतन	१२. धर्म-आयतन

ये सब आयतन अनित्य, दुःख और अनात्म हैं, इतना ही कहकर सुत्तन्त-भाजनिय समाप्त हो जाता है। अभिधम्म भाजनिय में उपर्युक्त १२ आयतनों के स्वरूप की व्याख्या की गई है। "क्या है चक्षु-आयतन? यह चक्षु, जो चार महाभूतों से उत्पन्न, व्यक्तिगत सत्ता से अभिन्न रूप से संबंधित, अनुभूति (पसाद) रूपी स्वभाववाली, प्रत्यक्ष का अविषय (अनिदस्सं––क्योंकि प्रत्यक्ष तो केवल रंग, प्रकाश आदि के अनुभवों का होता है) किन्तु साथ ही इन्द्रिय अनुभवों पर प्रतिक्रिया करनेवाली (सप्पटिघ) है––यही अदृश्य चक्षु, जिसकी इन्द्रिय अनुभवों पर प्रतिक्रिया के कारण व्यक्ति अनुभव करता है कि उसने किसी दृश्य पदार्थ को देखा है, देखता है, या देखेगा, यही कहलाता है चक्षु-आयतन।" इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण जिह्वा और काय-संबंधी आयतनों की भी व्याख्या की गई है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय संबंधी विज्ञानों, मनोधातु और मनोविज्ञानधातु के समष्टिगत स्वरूप को ही 'मन-आयतन' कहा गया है। चार महाभूतों से उत्पन्न संपूर्ण भौतिक व्यापार, जो रंग आदि के रूप मे दिखाई पड़ता है, 'रूपायतन' कहा गया है। बारह आयतनो में से पाँच इन्द्रिय आयतनो (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) और पाँच विषय-आयतनों (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य), इन दस आयतनों को भौतिक कहा गया है और मन-आयतन को मानसिक। धर्म-आयतन भौतिक भी हो सकता है और मानसिक भी, अतीत का भी, वर्तमान का भी, और भविष्यत् का भी, वास्तविक भी, और काल्पनिक भी। 'पञ्ह पुच्छकं' में स्कन्ध-विभंग के नमूने पर ही प्रश्न है, यथा (१) दादसायतनानं कति कुसला? कति अकुसला? कति अब्याकता? अर्थात् १२ आयतनों मे से कितने कुशल हैं, कितने अकुशल, कितने अव्याकृत? (२) कति सुखाय वेदनाय सम्प-युत्ता? कति दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता? कति अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता? अर्थात् कितने सुख की वेदना से युक्त हैं? कितने दुःख की वेदना से युक्त हैं? कितने न-दुःख-न-सुख की वेदना से युक्त हैं? आदि, आदि। इनके उत्तर भी क्रमशः देखिए, (१) दस आयतन (चक्षु, रूप, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय, स्पृष्टव्य) अव्याकृत हैं। दो आयतन (मन और धर्म) कुशल भी हो सकते हैं, अकुशल भी और अव्याकृत भी––"सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अब्याकता।" (२) दस आयतनों के विषय में न तो निश्चयपूर्वक

यही कहा जा सकता है कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं, न यह कि वे दुःख की वेदना से युक्त हैं और न यही कि वे न सुख-दुःख की वेदना से युक्त हैं। मन-आयतन सुख की वेदना से युक्त भी हो सकता है, दुःख की वेदना से युक्त भी और न-सुख-न-दुख की वेदना से युक्त भी। इसी प्रकार धर्म आयतन सुख की वेदना से भी युक्त हो सकता है, दुःख की वेदना से भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुख की वेदना से ही युक्त है, या दुःख की वेदना से ही, आदि।

३—धातु-विभंग

(१८ धातुओं का विवरण)

सुत्तन्त-भाजनिय में छह-छह के तीन वर्गीकरणों में १८ धातुओं का विवरण इस प्रकार किया गया है—

(अ) पृथ्वी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु, आकाश-धातु, विज्ञान-धातु

(आ) सुख-धातु, दुःख-धातु, सौमनस्य-धातु, दौर्मनस्य-धातु, उपेक्षा-धातु, अविद्या-धातु

(इ) काम-धातु, व्यापाद-धातु, विहिंसा-धातु, निष्कामता-धातु, अव्यापाद-धातु, अ-विहिंसा धातु।

अभिधम्म-भाजनिय में १८ धातुओं की गणना दूसरे प्रकार से की गई है, जो इस प्रकार है—

१. चक्षु	७. घ्राण	१३. काय
२. रूप	८. गन्ध	१४. स्पृष्टव्य
३. चक्षु-विज्ञान	९. घ्राण-विज्ञान	१५. काय-विज्ञान
४. श्रोत्र	१०. जिह्वा	१६. मन
५. शब्द	११. रस	१७. धर्म
६. श्रोत्र-विज्ञान	१२. जिह्वा-विज्ञान	१८. मनोविज्ञान

इन अठारह धातुओं में चक्षु, रूप, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय और स्पृष्टव्य, ये दस धातुएँ भौतिक हैं। अतः वे रूपस्कन्ध में सम्मिलित हैं। चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान, मन, और मनो विज्ञान, ये सात धातुएँ मानसिक हैं। धर्म-धातु अंशतः मानसिक और अंशतः भौतिक है। चक्षु और रूप के संयोग से उत्पन्न चित्त की अवस्था का नाम चक्षु-विज्ञान है। इसी प्रकार श्रोत्र-विज्ञान आदि के विषय में भी नियम है। मनो-धातु, चक्षु-विज्ञान आदि विज्ञानों के बाद, द्रष्टा और दृश्य के संयोग के ठीक अनन्तर, उत्पन्न हुई चित्त की अवस्था का नाम है। मनोविज्ञान-धातु मन और धर्मों के सयोग सेउत्पन्न चित्त की उस अवस्था का नाम है, जो मनो-धातु के बाद उत्पन्न होती है। 'पञ्हपुच्छकं' में फिर उसी क्रम से प्रश्न हैं, जैसे प्रथम दो विभंगों में, यथा (१) १८ धातुओं में से कितनी कुशल है, कितनी अकुशल और कितनी अव्याकृत ? (२) कितनी सुख की वेदना से युक्त है ? कितनी दुःख की वेदना से युक्त है ? कितनी न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त ? आदि, आदि। इनके उत्तर भी ध्यान देने योग्य हैं (१) १६ धातुएँ (धर्म और मनोविज्ञान को छोड़ कर शेष सब) अव्याकृत हैं। दो धातुएँ (धर्म और मनोविज्ञान) कुशल भी हो सकती है, अकुशल भी, और अकुशल भी 'सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अव्याकता' । (२) दस धातुओ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य) के विषय में निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं, या दुःख की वेदना से युक्त हैं या न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त हैं। पाँच धातुएँ (चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, काय-विज्ञान, मन) न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त हैं। काय-विज्ञान-धातु सुख की वेदना से भी युक्त हो सकती है और दुःख की वेदना से भी। मनोविज्ञान-धातु सुख, दुःख और न-सुख-न-दुःख, इन तीनों वेदनाओं से किसी से भी युक्त हो सकती है। इसी प्रकार धर्म-धातु भी इन तीनों वेदनाओं में से किसी से युक्त हो सकती और उसके विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि या तो वह सुख की वेदना से ही युक्त है, या दुःख की वेदना से या न-सुख-न-दुःख की वेदना से, आदि, आदि।

४—सच्च-विभंग

(चार आर्य-सत्यों का विवरण)

पहले, सुत्तन्त-भाजनिय में सुत्तों (विशेषतः दीघ-निकाय के महासतिपट्ठान-सुत्त एवं इस प्रकार के अन्य बुद्ध-वचनों) की भाषा में चार आर्य-सत्यों की प्रस्तावना करते हुए कहा गया है—'चत्तारि अरिय-सच्चानि : दुक्खं अरिय-सच्चं, दुक्खसमुदयं अरियसच्चं, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं' अर्थात् ये चार आर्य-सत्य हैं—दुःख आर्य-सत्य, दुःख-समुदय आर्य-सत्य, दुःख-निरोध आर्य-सत्य, दुःख-निरोध-गामी मार्ग आर्य-सत्य। अभिधम्म-भाजनिय में इनकी अभिधम्म के अनुसार व्याख्या है। तृष्णा और चित्त-मलों को दुःख-समुदय का प्रधान कारण माना गया है और इनके निरोध को दुःख-निरोध का भी प्रधान कारण। दुःख-निरोधी-गामी मार्ग की व्याख्या निर्वाण-सम्बन्धी ध्यान के रूप में की गयी है, जिसकी भूमियों का निरूपण 'धम्मसंगणि' में हो चुका है। 'पञ्हपुच्छकं' में चार आर्य सत्यों के विषय में उसी प्रकार के प्रश्न किये गये है, जैसे पूर्व के विभंगों में, यथा (१) चार आर्य सत्यों में कितने कुशल हैं? कितने अकुशल? कितने अव्याकृत? (२) कितने सुख की वेदना से युक्त हैं, कितने दुःख की वेदना से युक्त, कितने न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त? इनके उत्तर इस प्रकार है (१) समुदय-सत्य अकुशल है। मार्ग-सत्य कुशल है। निरोध-सत्य अव्याकृत है। दुःख-सत्य, कुशल भी हो सकता है, अकुशल भी और अव्याकृत भी। (२) दो सत्य सुख की वेदना से भी युक्त हो सकते हैं और न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त भी। निरोध-सत्य के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह तीनों प्रकार की वेदनाओं में से किसमे युक्त है। दुःख-सत्य सुख की वेदना से भी युक्त हो सकता है, दुःख की वेदना से भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुख की वेदना से युक्त है, या दुःख की वेदना से या न-सुख-न-दुःख की वेदना से। दुःख-सत्य को सुख की वेदना से भी युक्त मानकर 'विभंग' ने उसको वह विस्तृत अर्थ दिया है जिसकी स्मृति भगवान् बुद्ध के साथ-साथ महर्षि पतञ्जलि ने भी दिलाई है "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (२।१५)

५—इन्द्रिय-विभंग

(२२ इन्द्रियों का विवरण)

इस विभंग में २२ इन्द्रियों का सुत्तन्त के आधार पर विवरण है जिनकी संख्या इस प्रकार है—

१. चक्षु २. श्रोत्र ३. घ्राण ४. जिह्वा ५. काय ६. मन	छह इन्द्रिय
७. स्त्रीत्व	
८. पुरुषत्व	
९. जीवित-इन्द्रिय	
१०. सुख (शारीरिक) ११. दुःख (मानसिक) १२. चित्त की प्रसन्नता (सौमनस्य) १३. चित्त की खिन्नता (दौर्मनस्य) १४. उपेक्षा,	पाँच प्रकार की वेदनाएं
१५. श्रद्धा १६. वीर्य १७. स्मृति १८. समाधि १९. प्रज्ञा	पाँच नैतिक इन्द्रियाँ
२०. "मैं अज्ञात को जानूंगा" यह संकल्प (अनञ्ञात ञस्सामीतिन्द्रिय) २१. परिपूर्ण ज्ञान (अञ्ञा) २२. "जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया" तत्सम्बन्धी इन्द्रिय (अञ्ञाताविन्द्रिय)	तीन लोकोत्तर इन्द्रिय

उपर्युक्त २२ इन्द्रियों की व्याख्या और अन्त में (पञ्हपुच्छकं) प्रश्नोत्तरों के रूप में उनका कुशल, अकुशल और अव्याकृत आदि के रूप में विभाजन, इतना ही इस विभंग का विषय है।

६—पच्चयाकार-विभंग

(प्रतीत्य समुत्पाद का विवरण)

इस विभंग में प्रतीत्य समुत्पाद का वर्णन है। सुत्तन्त-भाजनिय में पहले सुत्तन्त का यह उद्धरण है "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार-चेतना की उत्पत्ति, संस्कार-चेतना के प्रत्यय से विज्ञान की उत्पत्ति, विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप की उत्पत्ति, नाम और रूप के प्रत्यय से छः आयतनों की उत्पत्ति, छः आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श की उत्पत्ति, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना की उत्पत्ति,वेदना के प्रत्यय से तृष्णा के उत्पत्ति, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान की उत्पत्ति, उपादान के प्रत्यय से भव की उत्पत्ति, भव के प्रत्यय से जन्म की उत्पत्ति, जन्म के प्रत्यय से जरा-मरण, दुःख, शोक आदि की उत्पत्ति" प्रतीत्य समुत्पाद में प्रयुक्त १२ निदानों की व्याख्या यहाँ निदान-संयुत्त के समान ही की गई है। अभिधम्म-भाजनिय में में उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख है, जिनके आधार पर भौतिक और मानसिक जगत् में उत्पत्ति और निरोध का व्यापार चलता है। इन प्रत्ययों का विस्तृत विवेचन आगे चल कर पूरे ग्रन्थ 'पट्ठान-प्रकरण' में किया गया है। इस विभंग के अन्त में प्रश्नोत्तर रूप में प्रतीत्य समुत्पाद के विभिन्न अंगों में कौन कुशल, अकुशल आदि है, इसका विवेचन पूर्ववत् ही किया गया है।

७—सतिपट्ठान-विभंग

(चार स्मृति-प्रस्थानों का विवरण)

काया में कायानुपश्यी होना, वेदना में वेदनानुपश्यी होना, चित्त में चित्तानुपश्यी होना और धर्मों में धर्मानुपश्यी होना, यही चार स्मृति-प्रस्थान है, जिनका विस्तृत उपदेश सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०) जैसे सुत्तन्त के अंशों में दिया गया है। इस विभंग के सुत्तन्त-भाजनिय में इसी का संक्षेप कर दिया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में यह दिखाया गया है कि इनकी भावना लोकोत्तर ध्यान में किस प्रकार होती है। 'पञ्ह पुच्छकं' में इनका विभाजन कुशल, अकुशल आदि के रूप में किया गया है। इनमें अकुशल कोई नहीं है। चारों स्मृति-प्रस्थान या तो कुशल होते हैं या अव्याकृत। अर्हत् की चित्त-अवस्था में आगे के

लिये कर्म-विपाक नहीं बनते। अतः उस हालत में वे बौद्ध पारिभाषिक शब्दों में 'किरिया' (क्रिया-मात्र) होते हैं।

८—सम्मप्पधान-विभंग

(चार सम्यक् प्रधानों का विवरण)

(१) अकुशल अवस्थाओं से बचना (२) उन पर विजय प्राप्त करना (३) कुशल अवस्थाओं का विकास करना (४) विकसित कुशल अवस्थाओं को बनाये रखना, यही चार सम्यक् प्रधान हैं। सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम-१।१।१०) के आधार पर इनका वर्णन किया गया है और अभिधम्म-भाजनिय में केवल यह अधिक दिखला दिया गया है कि लोकोत्तर-ध्यान की अवस्था में ये किस प्रकार विद्यमान रहते हैं।

९—इद्धिपाद-विभंग

(४ ऋद्धियों का विवरण)

चार ऋद्धियाँ हैं, दृढ़ संकल्प की एकाग्रता (छन्द-समाधि), वीर्य की एकाग्रता (विरिय-समाधि), चित्त की एकाग्रता (चित्त-समाधि) और गवेषणा की एकाग्रता (वीमंसा-समाधि)। यहाँ यह भी दिखाया गया है कि चार ऋद्धियों का चार सम्यक्-प्रधानों से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है।

१०—बोज्झङ्ग-विभंग

(बोधि के सात अंगों का विवरण)

बोधि के सात अंग हैं, स्मृति (सति), धर्म की गवेषणा (धम्म-विचय), वीर्य (विरिय), प्रीति (पीति), चित्त-शान्ति या प्रश्रब्धि (पस्सद्धि), समाधि और उपेक्षा (उपेक्खा)। मज्झिम-निकाय के आनापान-सति-सुत्त के समान ही इनका यहाँ निर्देश है। अभिधम्म-भाजनिय में अवश्य इन विभिन्न अंगों की अभिधम्म की शब्दावली में व्याख्या की गई है और बाद में कुशल आदि के रूप म उनका विभाजन किया गया है।

११—मग्ग-विभंग

(आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का विवरण)

आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का विवरण यहाँ सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०) के अनुसार ही है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि का निर्देश करने के बाद प्रत्येक की व्याख्या की गई है और फिर अन्त में प्रश्नोत्तर के रूप में उन्हें कुशलादि के वर्गीकरणों में बाँटा गया है।

१२—झान-विभंग

(चार ध्यानों का विवरण)

सर्व-प्रथम सुत्तन्त-भाजनिय में चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम. १।३।७) के उस बुद्ध-वचन को उद्धृत किया गया है जिसमें चार ध्यानों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण हम उसे यहाँ उद्धृत करेंगे। 'भिक्षुओ ! भिक्षु इस आर्य-सदाचार से युक्त हो, इस आर्य इन्द्रिय-संयम से युक्त हो, स्मृति और ज्ञान से युक्त हो, किसी एकान्त-स्थान में रहता है जैसे अरण्य, वृक्ष की छाया, पर्वत, कन्दरा, गुफा, श्मशान, जंगल, खुले आकाश के नीचे या पुआल के ढेर पर। वह पिंडपात से लौट भोजन कर चुकने के बाद आसनी मार शरीर को सीधा रख स्मृति को सामने कर बैठता है......वह चित्त के उपक्लेश, प्रज्ञा को दुर्बल करने वाले, पाँच बन्धनों को छोड़, काम-वितर्क से रहित हो, बुरे विचारों से रहित होकर, प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विचरता है। इस ध्यान में वितर्क और विचार रहते हैं। एकान्त-वास से यह ध्यान उत्पन्न होता है। इसमें प्रीति और सुख भी रहते हैं......फिर भिक्षुओ ! भिक्षु वितर्क और विचारों के उपशमन से अन्दर की प्रसन्नता और एकाग्रता रूपी द्वितीय -ध्यान को प्राप्त करता है। इसमें न वितर्क होते हैं, न विचार। यह समाधि से उत्पन्न होता है। इसमें प्रीति और सुख रहते हैं।......फिर भिक्षुओ ! भिक्षु प्रीति से भी विरक्त हो, उपेक्षावान् बन कर विचरता है। वह स्मृतिमान्, ज्ञानवान् होता है और शरीर से सुख का अनुभव करता है। वह तृतीय ध्यान को प्राप्त करता है जिसे पंडित जन 'उपेक्षावान्, स्मृतिमान् सुखपूर्वक विहार करने वाला' कहते हैं।

फिर भिक्षुओ ! भिक्षु दुःख और सुख-दोनों के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य दोनों के पहले से ही अस्त हुए रहने से, चतुर्थ-ध्यान को प्राप्त करता है। इसमें न दुःख होता है न सुख। केवल उपेक्षा तथा स्मृति की परिशुद्धि यहाँ होती है।" इसी बुद्ध-वचन के आधार पर अभिधम्म-भाजनिय में यह दिखलाया गया है कि प्रथम ध्यान के पाँच अवयव होते हैं, यथा, वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि। द्वितीय ध्यान के तीन, यथा प्रीति, सुख और समाधि। तृतीय ध्यान में केवल दो रह जाते हैं, सुख और समाधि और चौथे में भी केवल दो, उपेक्षा और समाधि। 'पञ्ह-पुच्छकं' में यही दिखलाया गया है कि ध्यान कुशल भी हो सकते हैं और अव्याकृत भी। चार स्मृति-प्रस्थानों की तरह ये भी अर्हत् के चित्त के लिये भविष्य का कर्म-विपाक बनाने वाले नहीं होते। दूसरे शब्दों में वे उसके लिये 'किरिया-चित्त' होते हैं।

१३—अप्पमञ्ञ-विभंग

(चार अ-परिमाण अवस्थाओं का विवेचन)

मैत्री (मैत्ता), करुणा, मुदिता और उपेक्षा, इनको अपरिमाण वाली अवस्थाएं कहा गया है। इसका कारण यह है कि इन्हें कहाँ तक बढ़ाया जा सकता है, इसकी कोई हद नहीं। इन्हीं को 'ब्रह्म-विहार' भी कहते हैं। पतंजलि की भाषा में इन्हें 'सार्वभौम महाव्रत' भी कहा जा सकता है। पातंजल योग-दर्शन (१।३३) में इन चार अवस्थाओं के विकास का उपदेश दिया गया है। इस विभंग में इन चार अवस्थाओं का विवरण और चार ध्यानों के साथ उनका सम्बन्ध दिखलाया गया है।

१४—सिक्खापद-विभंग

(पाँच शिक्षापदों का विवरण)

हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य और मद्यपान, इनसे विरत रहना ही सदाचार के पाँच सार्वजनीन नियम हैं, जिनका यहाँ विवरण और विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

१५—पटिसम्भिदा-विभंग

(चार प्रतिसंविदों का विवरण)

चार प्रतिसंविदों या विश्लेषणात्मक ज्ञानों का इस विभंग में वर्णन किया गया है, यथा (१) अर्थ-सम्बन्धी ज्ञान (अत्थ पटिसम्भिदा) (२) धर्म-सम्बन्धी ज्ञान (धम्म पटिसम्भिदा) (३) शब्द-व्याख्या-सम्बन्धी ज्ञान (निरुत्ति पटिसम्भिदा) और (४) ज्ञान-दर्शन-सम्बन्धी ज्ञान (पटिभान पटिसम्भिदा)।

१६—ञाण-विभंग

(नाना प्रकार के ज्ञानों का विवरण)

इस विभंग में नाना प्रकार के ज्ञानों का विवरण है, यथा लौकिक ज्ञान, अलौकिक ज्ञान, आदि, आदि। इस विभंग का तीन प्रकार का ज्ञान-विवरण विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। प्रज्ञा की यहाँ तीन क्रमिक अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं, यथा श्रुतमयी प्रज्ञा (सुतमया पञ्ञा) चिन्ता-मयी प्रज्ञा (चिन्तामयापञ्ञा) और भावना-मयी प्रज्ञा (भावनामया पञ्ञा)। शास्त्रादि ग्रन्थों के श्रवण या पठनादि से उत्पन्न ज्ञान 'श्रुतमयी प्रज्ञा' है। वह सुना हुआ है, स्वयं का अनुभव या चिन्तन उसमें नहीं है। इसके बाद चिन्ता-मयी प्रज्ञा है, जिसमें अपनी बुद्धि का चिन्तन सम्मिलित है। किन्तु इससे भी ऊंचा एक ज्ञान है, जिसका नाम है 'भावना-मयी प्रज्ञा'। यह प्रज्ञा न केवल शास्त्रीय या बौद्धिक आधारों पर प्रतिष्ठित है, बल्कि इसमें सम्पूर्ण सदाचार-समूह के पालन से उत्पन्न चित्त की उस समाधि की गम्भीरता भी संनिहित है, जो कुशल चित्त से ही प्राप्त की जा सकती है। यह तीन प्रकार का ज्ञान-वर्गीकरण निश्चय ही बड़ा मार्मिक है।

१७—खुद्दक-वत्थु-विभंग

(छोटी-छोटी बातों का विवरण)

इस विभंग में आस्रवों (चित्त-मलों) आदि के अनेक प्रकारों का वर्णन किया गया है।

१८—धम्म-हृदय-विभंग

(धर्म के हृदय का विवरण)

अब तक के विभंगों में जो कुछ वर्णन किया जा चुका है, उसी का प्रश्नोत्तर

के रूप में यहाँ सिंहावलोकन है। चूंकि इसमें धर्म के सब तत्व अपने आप आ गये है, इसलिये इसे 'धर्म का हृदय' कहा गया है। कुछ प्रश्नों की बानगी देखिये— कितने धर्म काम-धातु में प्राप्त होते हैं ? कितने रूप-धातु में ? कितने अरूप-धातु में ? कितने कामावचर हैं ? कितने रूपावचर ? कितने अरूपावचर ? कितने छोड़ने योग्य ? कितने भावना करने योग्य ? आदि, आदि। गीतोक्त भगवान् की विभूतियों की तरह इनका कहीं अन्त ही नहीं दिखाई पड़ता। इसीलिये इनका संक्षेप देने का भी यहाँ प्रयत्न नहीं किया गया।

धातुकथा[1]

विभंग के १८ विभंगों में से स्कन्ध, आयतन और धातु, इन प्रथम तीन विभंगों को चुनकर उनका विशेष अध्ययन धातुकथा में किया गया है। स्कन्ध आयतन और धातु, यही धातुकथा के विषय है। अतः उसका पूरा नाम ही, जैसा महास्थविर ञानातिलोक ने कहा है, 'खन्ध-आयतन-धातु-कथा' होना चाहिये। धातुकथा के विषय-प्रतिपादन की एक विशेष शैली यह है कि यहाँ स्कन्ध, आयतन और धातुओं का सम्बन्ध धर्मों के साथ दिखलाया गया है। इन धर्मो की संख्या उसकी 'मातिका' के अनुसार १२५ है, जो इस प्रकार है, ५ स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातुएँ, ४ सत्य, २२ इन्द्रिय, प्रतीत्य समुत्पाद, ४ स्मृति-प्रस्थान ४ सम्यक् प्रधान, ४ ऋद्धिपाद, ४ ध्यान, ४ अपरिमाण, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ आर्य-मार्ग के अंग, स्पर्श, वेदना, सञ्ञा, चेतना, चित्त, अधिमोक्ष और मनसिकार। किस-किस स्कन्ध, आयतन या विभंग में कौन-कौन धर्म सम्मिलित (संगहित), अ-सम्मिलित (असंगहित), संयुक्त (सम्प्रयुक्त) या वियुक्त (विप्पयुत्त) आदि हैं, इसी का विवेचन १४ अध्यायों में प्रश्नोत्तर ढंग से किया गया है, जिसकी रूपरेखा इस प्रकार है—

---

१. ई० आर० गुणरत्न द्वारा अट्ठकथा-सहित पालि टैक्सट् सोसायटी के लिए सम्पादित। उक्त सोसायटी द्वारा सन् १८९२ में रोमन लिपि में प्रकाशित। इस ग्रन्थ के सिंहली, बर्मी एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। हिन्दी में न संस्करण हैं और न अनुवाद !

१. सम्मिलन और अ-सम्मिलन (संगहो असंगहो) : इस अध्याय में यह दिखलाया गया है कि कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में कौन-कौन से धर्म सम्मिलित हैं या अ-सम्मिलित हैं।

२. सम्मिलित और अ-सम्मिलित (संगहितेन असंगहितं) : यहाँ यह दिखलाया गया है कि कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म असम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित है, किन्तु समान धातु और आयतन मे सम्मिलित नहीं हैं।

३. अ-सम्मिलित और सम्मिलित (असंगहितेन संगहितं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित है, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मो के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं है, किन्तु समान आयतन और समान धातु में सम्मिलित हैं।

४. सम्मिलित और सम्मिलित (संगहितेन संगहितं) : कितने स्कन्ध आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ उन समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित हैं जो पुन: अन्य धर्म या धर्मों के साथ उनमें (स्कन्ध आयतन और धातुओं में) सम्मिलित हैं।

५. अ-सम्मिलित और अ-सम्मिलित (असंगहितेन असंगहितं) : कितने स्कन्ध आयतन और धातुओं में वे धर्म अ-सम्मिलित हैं जो कुछ अन्य धर्म या धर्मो या धर्मो के साथ उन्हीं स्कन्ध आयतन और धातुओं में असम्मिलित हैं जो पुन: अन्य धर्म या धर्मों के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं मे) असम्मिलित हैं। यह अध्याय चौथे अध्याय का ठीक विपरीत है।

६. संयोग और वियोग (सम्पयोगो विप्पयोगो) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं के साथ धर्म संयुक्त है, या कितने के साथ वे वियुक्त हैं।

७. संयुक्त से वियुक्त (सम्पयुत्तेन विप्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों के साथ संयुक्त हैं, वियुक्त हैं।

८. वियुक्त से संयुक्त (विप्पयुत्तेन सम्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त हैं, संयुक्त हैं।

९. संयुक्त से संयुक्त (सम्पयुत्तेन सम्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से जो अन्य धर्मों से संयुक्त है, संयुक्त हैं।

१०. वियुक्त से वियुक्त (विप्पयुत्तेन विप्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से जो अन्य धर्मों से वियुक्त हैं, वियुक्त हैं।

११. सम्मिलित से संयुक्त और वियुक्त (संगहितेन सम्पयुत्तं विप्पयुत्तं): (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं, किन्तु समान आयतन और धातु में कुछ अन्य धर्मों के साथ सम्मिलित है, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं किन्तु समान आयतन और धातु में कुछ अन्य धर्मों के साथ सम्मिलित है।

१२. संयुक्त से सम्मिलित और असम्मिलित (सम्पयुत्तेन संगहितं असंगहितं) : (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं जो कुछ अन्य धर्मों से संयुक्त है (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म असम्मिलित हैं जो कुछ अन्य धर्मों से संयुक्त हैं।

१३. असम्मिलित से संयुक्त और वियुक्त (असंगहितेन सम्पयुत्तं विप्पयुत्तं) : (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो किन्हीं अन्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं जो किन्हीं अन्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं।

१४. वियुक्त से सम्मिलित और असम्मिलित (विप्पयुत्तेन संगहितं असंगहितं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धर्मों में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त हैं, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धर्मों से वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त हैं।

उपर्युक्त अध्यायों के विषय और शैली को अच्छी तरह हृदयंगम करने के लिए प्रत्येक में से एक-एक दो-दो प्रश्नोत्तरों को भी दे देना उपयुक्त होगा । अतः क्रमशः,

(१) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित है ? १ स्कन्ध, ११ आयतन और ११ धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित है ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनो और धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है ? चार स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है ।

(इ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित है ? एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित है ।

(ई) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है ? चार स्कन्ध, ग्यारह आयतन और १७ धातुओं मे वेदना-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है । आदि, आदि

(२) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं है, जो चक्षु-आयतन....स्पृष्टव्यायतन और चक्षु-धातु.....स्पृष्टव्य-धातु धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित है, किन्तु समान धातु और आयतन मे सम्मिलित नहीं है ?

चार स्कन्धों, दो आयतनों और आठ धातुओ में वे सम्मिलित नहीं है ।

(३) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित है, जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं है, किन्तु समान आयतन और समान धातु में सम्मिलित है ?

तीन स्कन्धों, एक आयतन और एक धातु में वे सम्मिलित हैं, निर्वाण को छोड़कर !

(४) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित है, जो समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य धर्मों के साथ उन समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित हैं जो पुनः समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) सम्मिलित हैं ।

एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु में वे सम्मिलित है।

(५) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं है जो अन्य धर्मों के साथ उन्हीं स्कन्ध, आयतन और धातुओं में अ-सम्मिलित हैं जो पुनः उन्हीं धर्मों के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) असम्मिलित हैं ?

एक स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं में वे अ-सम्मिलित है।

(६) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं के साथ रूप-स्कन्ध संयुक्त है ?

किसी के साथ नहीं (क्योंकि स्वयं अपने साथ वह संयुक्त हो नहीं सकता और अन्य धर्म मानसिक है)

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं के साथ रूप-स्कन्ध संयुक्त नहीं है ?

चार स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं के साथ वह संयुक्त नही है

(७) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों के साथ संयुक्त है, वियुक्त है ?

चार स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं मे वे वियुक्त है, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(८) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त है, जो उन धर्मों से जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त है, संयुक्त है ?

किसी से नहीं।

(९) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं मे वे धर्म संयुक्त है, जो उन धर्मों से जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध से संयुक्त हैं, संयुक्त हैं ?

तीन स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे संयुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(१०) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त हैं, वियुक्त हैं ?

चार स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे वियुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(११) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं हैं किन्तु समुदय-सत्य और मार्ग-सत्य के साथ समान आयतन और धातुओं में सम्मिलित हैं ?

तीन स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं से वे संयुक्त हैं, अंशतः एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु से भी ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं किन्तु समुदय-सत्य और मार्ग-सत्य के साथ समान आयतन और समान धातुओं मे सम्मिलित हैं ? एक स्कन्ध, दस आयतन और दस धातुओं से वे वियुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(१२) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं जो वेदनास्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध और संस्कार-स्कन्ध से संयुक्त हैं ?

तीन स्कन्धों, दो आयतनों और आठ धातुओं में वे सम्मिलित हैं ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनो और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं जो वेदना-स्कन्ध से संयुक्त हैं ?

दो स्कन्धों, दस आयतनों और दस धातुओं में वे सम्मिलित नही हैं ।

(१३) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं जो रूप-स्कन्ध के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं ?

तीन स्कन्धों और अंशतः एक आयतन और एक धातु से वे संयुक्त हैं ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं जो रूप-स्कन्ध के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं ?

एक स्कन्ध, दस आयतन और दस धातुओं से वे वियुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(१४) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त हैं ?

चार स्कन्धों, दो आयतनों और धातुओं में वे सम्मिलित हैं ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं जो रूप स्कन्ध से वियुक्त हैं ?

एक स्कन्ध, दस आयतनों और दस धातुओं में वे सम्मिलित नहीं हैं।

पुग्गलपञ्ञत्ति[1]—

'पुग्गलपञ्ञत्ति' (पुद्गल-प्रज्ञप्ति) शब्द का अर्थ है पुद्गलों या व्यक्तियों संबंधी ज्ञान या उनकी पहचान। 'पुग्गल-पञ्ञत्ति' में व्यक्तियों के नाना प्रकारों का वर्णन किया गया है। विषय या वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अभिधम्म की अपेक्षा सुत्तन्त से अधिक घनिष्ठ संबंध है। व्यक्तियों का निर्देश यहाँ धम्मों के साथ उनके संबंध की दृष्टि से नहीं किया गया है, जो अभिधम्म का विषय है। बल्कि अंगुत्तर-निकाय की शैली पर, बुद्ध-वचनों का आश्रय लेकर, या कहीं उनको अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से, या उनको व्याख्या-स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव के विभाग के अनुसार व्यक्तियों के नाना स्वरूपों को वर्गबद्ध किया गया है, जो मूल बुद्ध-धर्म के नैतिक दृष्टिकोण को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। संपूर्ण ग्रन्थ में दस अध्याय हैं, जिनमें प्रथम में एक-एक प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश है, दूसरे में दो-दो प्रकार के और इसी प्रकार क्रमशः बढ़ते हुए दसवें अध्याय में दस-दस प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश है। चार आर्य-श्रावक, पृथग्जन, सम्यक् सम्बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, शैक्ष्य, अशैक्ष्य, आर्य, अनार्य, स्रोत आपन्न, सकृदागामी, अनागामी अर्हत्, आदि के रूप में व्यक्तियों का विभाजन, जो सुत्तों में जीवन-शुद्धि के स्वरूप और उसके विकास को दिखाने के लिए किया गया है, यहाँ क्रमिक गणनाबद्ध रूप में संगृहीत कर दिया गया है। कुछ-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

---

१. डा० मॉरिस द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित एवं पालि टैक्सट् सोसायटी (१८८३) द्वारा प्रकाशित। इसका अंग्रेजी अनुवाद 'दि डेजिगनेशन ऑव ह्यूमन टाइप्स' शीर्षक से डा० विमलाचरण लाहा ने किया है, जो पालि टैक्सट् सोसायटी, लन्दन (१९२३) द्वारा प्रकाशित किया गया है। नागरी-संस्करण और हिन्दी अनुवाद अभी होने बाकी हैं। इस ग्रंथ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। महास्थविर ञानातिलोक ने इस ग्रन्थ का जर्मन भाषा में अनुवाद किया है, ब्रेसलो, १९१०।

एक-एक प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१ कौनसा व्यक्ति 'पृथग्जन' (पुथुज्जनो–प्राकृत मनुष्य–सांसारिक मनुष्य) है ?

जिसके प्रथम तीन संयोजन (मानसिक बन्धन) प्रहीण नही हुए और न जो उनके प्रहीण करने के मार्ग में ही संलग्न है, वही व्यक्ति 'पृथग्जन' है ।

२. कौन सा व्यक्ति अनागामी है ?

जो व्यक्ति प्रथम पाँच संयोजनों का विनाश करने के बाद किसी उच्चतर लोक में जन्म लेता है जहाँ उसकी निर्वाण-प्राप्ति निश्चित हो जाती है और जहाँ से वह लौटकर फिर इस लोक में नही होता, वही व्यक्ति अनागामी है ।

दो-दो प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन सा व्यक्ति भीतरी संयोजनों से बँधा हुआ है ?

जिसके प्रथम पाँच संयोजन अभी नष्ट नहीं हुए, वही व्यक्ति भीतरी संयोजनो मे बँधा हुआ है ।

२. कौन सा व्यक्ति बाहरी संयोजनों से बँधा हुआ है ?

जिसके अंतिम पाँच संयोजन अभी नष्ट नही हुए, वही व्यक्ति बाहरी संयोजनो मे बँधा हुआ है ।

तीन-तीन प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नही है ?

स्रोत आपन्न और सकृदागामी, ये दो व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है ।

२. कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त है, किन्तु भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है ?

अनागामी—यह व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त है, किन्तु भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है ।

३. कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति, इन दोनों प्रकार की आसक्तियों से विमुक्त है ?

अर्हत्---यह व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना-संबंधी आसक्ति इन दोनों आसक्तियों से विमुक्त है ।

चार-चार प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता है पर बरसता नही ?

जो कहता बहुत है पर करता कुछ नहीं---यही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता है पर बरसता नहीं ।

२. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो बरसता है, पर गरजता नही ?

जो करता है, पर कहता नहीं, ऐसा व्यक्ति उस बादल के समान है जो बरसता है पर गरजता नहीं ।

३. कौन सा व्यक्ति उम बादल के समान है जो गरजता भी है और बरसता भी है ?

जो कहता भी है और करता भी है, वही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी है और बरसता भी है ।

४. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी नहीं और बरसता भी नहीं ?

जो न कहता है और न करता है, वही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी नहीं और बरसता भी नहीं ।

इसी वर्गीकरण का एक और सुन्दर उपमा के द्वारा व्यक्तियों के चार प्रकार का विभाजन देखिए---

१. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो अपने बिल तो खोदकर तैयार करता है, किन्तु उसमें रहता नहीं ?

जो व्यक्ति सुत्त, गाथा, उदान, जातक आदि ग्रन्थों का अभ्यास तो करता है किन्तु चार आर्य सत्यों का स्वयं साक्षात्कार नहीं करता, वही व्यक्ति उस चूहे के समान है जो अपना बिल तो खोदकर तैयार करता है, किन्तु उसमें रहता नहीं ।

२. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल में रहता है किन्तु उसे स्वयं खोदकर तैयार नहीं करता ?

जो सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास तो नहीं करता, किन्तु चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार कर लेता है वही व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल में तो रहता है, किन्तु उसे स्वयं खोदकर तैयार नहीं करता ।

३. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल को स्वयं खोदकर तैयार भी करता है और उसमें रहता भी है ?

जो सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास भी करता है और चार आर्य सत्यों को साक्षात्कार भी करता है ।

४. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो न बिल को खोदता है न उसमें रहता है ?

जो न सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास करता है और न चार आर्य-सत्यों का सा-साक्षात्कार ही करता है ।

इसी प्रकार आगे के अध्यायों में क्रमशः पाँच-पाँच, छै-छै, सात-सात, आठ-आठ, नौ-नौ और दस-दस के वर्गीकरणों में व्यक्तियों का वर्णन किया गया है । यद्यपि सुत्त-पिटक से नवीन या मौलिक तो यहाँ कुछ नहीं है, फिर भी उपमाएँ कहीं-कही बड़ी सुन्दर हुई हैं । संख्याबद्ध वर्गीकरणों की ऊपरी कृत्रिमता होते हुए भी 'पुग्गल- पञ्ञत्ति' के विवरण नैतिक तत्वों की भित्ति पर आश्रित हैं, अतः वे आधुनिक विद्यार्थी के लिए भी अध्ययन के अच्छे विषय हैं ।

कथावत्थु[1]

जैसा दूसरे अध्याय में दिखाया जा चुका है, अशोक के समय (तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व) तक आते-आते मूल बुद्ध-धर्म १८ भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों या निकायों में बट चुका था । अशोक ने लगभग २४६ ई० पू० जब पाटलिपुत्र की सभा को

---

१. ए० सी० टेलर द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लंदन, द्वारा सन् १८९४ एवं १८९७ में रोमन लिपि में प्रकाशित । 'पॉइन्ट्स ऑव कन्ट्रोवर्सी और सबजेक्ट्स ऑव डिस्कोर्स' शीर्षक से शॉ जैन ऑग एवं श्रीमती रायस

बुलाया तो उसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इन्हीं १८ सम्प्रदायों में से एक (थेरवाद-स्थविरवाद) को मूल बुद्ध-धर्म मान कर बाकी १७ के दार्शनिक सिद्धांतों का निराकरण किया और अपने समाधानों को 'कथावत्थु-पकरण' नामक ग्रंथ में रख दिया जो उसी समय से अभिधम्म-पिटक का एक अङ्ग माना जाने लगा। कथावत्थु में केवल दार्शनिक सिद्धांतों का खंडन है। किन-किन सम्प्रदायों के वे दार्शनिक सिद्धान्त थे, इसका उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है। यह कमी उसकी अट्ठकथा (पाँचवी शताब्दी) ने पूरी कर दी है। इस अट्ठकथा के वर्णनानुसार भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १००वर्ष बाद वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने संघ के अनुशासन को भंग कर 'महासंघिक' नामक सम्प्रदाय की स्थापना की। इसी सम्प्रदाय की पांच शाखायें बाद में और हो गईं। इस प्रकार कुल मिलाकर महासंघिकों के ६ सम्प्रदाय हो गए, जिनके नाम थे, महासंघिक, एकब्बोहारिक, गोकुलिक, पञ्ञत्तिवादी, बाहुलिक और चेतियवादी। प्रथम संगीत में स्थविरों (वृद्ध भिक्षुओं) ने मूल बुद्ध-धर्म के जिस स्वरूप को स्वीकार किया था उसका नाम 'थेरवाद' (स्थविरवाद) पड़ गया था और इस थेरवाद के भी अशोक के समय तक आते-आते कुल मिलाकर १२ सम्प्रदाय हो गये थे, जो इस प्रकार थे, थेरवादी, महिसासक, वज्जिपुत्तक, सब्बत्थवादी, धम्मगुत्तिक, धम्मुत्तरिय, छन्नागरिक, भद्रयानिक, सामित्तिय, कस्सपिक, संक्रन्तिक, और सुत्तवादी। कथावत्थु-अट्ठकथा के अनुसार यह शाखा-भेद इस प्रकार दिखाया जा सकता है[1] —

डेविड्स् द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित एवं पालि टैक्स्ट् सोसायटी (लंदन, १९१५) द्वारा प्रकाशित। बरमी, सिंहली एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। देवनागरी में न संस्करण हैं और न अनुवाद!

१. देखिये ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३६; राहुल सांकृत्यायन : विनय-पिटक (हिन्दी अनुवाद) भूमिका, पृष्ठ १, उन्हीं की पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२१; 'दीपवंस' के अनुसार और 'महावंस' ५।२-११ के अनुसार भी बिलकुल यही विभाग है, देखिये राहुल सांकृत्यायन द्वारा द्वारा सम्पादित अभिधर्म-कोश, भूमिका, पृष्ठ ४; देखिये जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी १८९१, तथा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट् सोसायटी (१९०४-०५) (दि सैक्ट्स् ऑव दि बुद्धिस्ट्स्)

महासंघिक (कुल ६)

(१)

(२) एकव्यावहारिक (एकब्बोहारिक)

(३) गोकुलिक (गोकुलिक)

(४) प्रज्ञप्तिवादी (पञ्ञत्तिवादी)

(५) बाहुश्रुतिक (बाहुलिक)

(६) चैत्यवादी (चेतियवादी)

थेरवादी (कुल १२)

(१)

(२) महीशासक (महिंसासक)

(८) वात्सीपुत्रीय या वृज्जिपुत्रक (वज्जिपुत्तक)

(३) सर्वास्तिवादी (सब्बत्थिवादी)

(४) काश्यपीय (कस्सपिक)

(५) साक्रान्तिक (सक्रन्तिक)

(६) सूत्रवादी या सौत्रान्तिक (सुत्तवादी)

(७) धर्मगुप्तिक (धम्मगुत्तिक)

(९) धर्मोत्तरीय (धम्मुत्तरीय)

(१०) छन्नागारिक (छन्नागरिक)

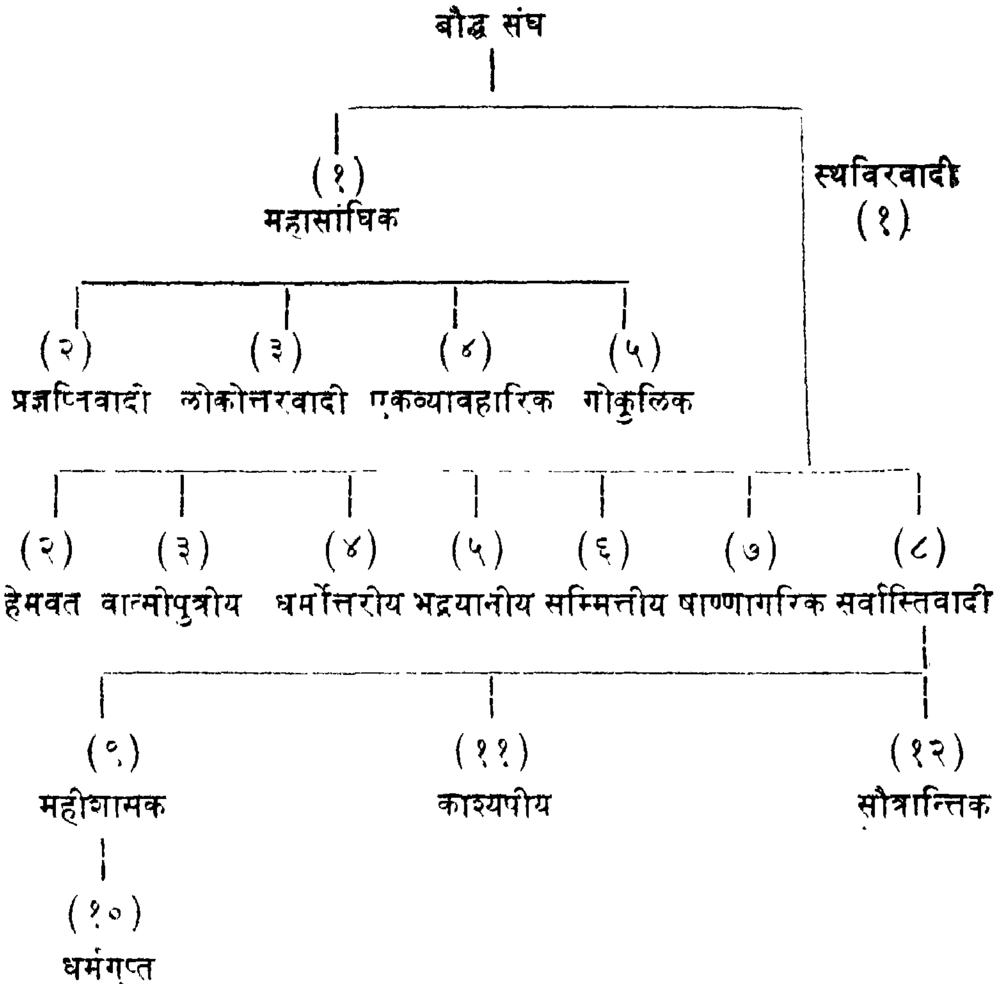
(११) भद्रयानिक

(१२) साम्मितीय

सर्वास्तिवादी परम्परा में इन सम्प्रदायों का विकास कुछ विभिन्न ढंग से दिखाया गया है। उदाहरणतः वसुमित्र-प्रणीत 'अष्टादश-निकाय-शास्त्र' के अनुसार १८ सम्प्रदायों का विभागीकरण इस प्रकार है[१]—

---

१. देखिये राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'अभिधर्मकोश', भूमिका, पृष्ठ ५, एवं उन्हीं का विनय-पिटक (हिन्दी-अनुवाद), भूमिका, पृष्ठ १-२; नागार्जुन के माध्यमिक सूत्रों के भाष्यकार, चन्द्रकीर्ति के पूर्वगामी, आचार्य भव्य के वर्णनानुसार भी १८ सम्प्रदायों के विकास का यही क्रम है। केवल उन्होंने



उपर्युक्त दोनों परम्पराओं की विभिन्नताएं वास्तव में इन सम्प्रदायों के अनिश्चित इतिहास के कारण हैं। यदि कथावत्थु में इन सम्प्रदायों के विषय में भी कुछ कह दिया जाता तो बौद्ध धर्म के इतिहास-जिज्ञासुओं का काम सरल हो जाता। किन्तु धम्मवादी स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इसके लिए अवकाश नहीं दिया।

गोकुलिक (कुक्कुलिक) शाखा को महासांघिकों से तथा षाण्णागारिक (छन्नागारिक) शाखा को स्थविरवादियों की परम्परा से वियुक्त कर दिया है। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ८३१-३२; 'महावंस', 'कथावत्थु', वसुमित्र और भव्य इन चारों स्रोतों के आधार पर १८ सम्प्रदायों के शाखा-भेद के तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ८२७ पर दी हुई महत्त्वपूर्ण तालिका।

उनकेलिएविचार व्यक्तियोंया सम्प्रदायोंसेअधिक महत्वपूर्णथे।भारतीयज्ञानियों की परम्परा के यह अनुकूल ही है। किन्तु इस अभाव के कारण इन सम्प्रदायों का इतिहास भी अनिश्चित ही रह गया है। स्थविरवादी परम्परा की मान्यता, जैसा उपर दिखाया जा चुका है, कथावत्थु की अट्ठकथा पर आश्रित है जो स्वयं पाँचवीं शताब्दी ईसवी कीरचनाहोनेकेकारण उतनीप्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। फिर भी जो वस्तु निश्चित मानी जा सकती है वह यह है कि अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के समय उपर्युक्त अठारह सम्प्रदाय विद्यमान थे। अशोक के द्वारा पूजित किये जाने पर ये और भी बढने लगे। शास्ता का वास्तविक उपदेश क्या था, यह कुछ भी जान न पड़ने लगा। परिणामतःपाटलिपुत्र मे एकसंगीतिबुलाई गई। इस सभा के सभापति थे स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स। उन्होंने उपर्युक्त सम्प्रदायों में से केवल विशुद्ध स्थविरवाद को तो बुद्ध का मन्तव्य अथवा 'विभज्जवाद' माना और शेष को बुद्ध के मत मे बाहर माना। इसी समय से सर्वास्तिवाद आदि सम्प्रदाय, जो अब तक स्थविरवादियों की ही शाखा माने जाते थे, अब अलग हो गये। अतः हम कह सकते है कि अशोक के समय तक बुद्ध-मन्तव्य अथवा 'विभज्यवाद' जिस नाम से व्यवहृत होता रहा, वह और उसकी परम्परा 'स्थविरवाद' में निहित है। इसी स्थविरवाद के समर्थन की दृष्टि से शेष १७ सम्प्रदायों के मन्तव्यों का खंडन 'कथावत्थु' में किया गया है।

'कथावत्थु' में विरोधी १७ सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को प्रश्नात्मक ढंग से पहले पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है, फिर स्थविरवादी दृष्टिकोण से उनका खंडन किया गया है। सिद्धान्तों के पूर्वापर-सम्बन्धी निर्वाचन में किसी निश्चित नियम का पालन नहीं किया गया। सिद्धान्तों को मानने वाले सम्प्रदायों का तो उसमें नामोल्लेख भी नही है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। कुल मिलाकर 'कथावत्थु' में विरोधी सम्प्रदायों के २१६ सिद्धान्तों का खंडन है, जो २३ अध्यायों में विभक्त किये गये हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस ग्रंथ में न केवल अशोक-कालीन सिद्धान्तों का ही खंडन है, बल्कि कुछ बाद के सम्प्रदायों और सिद्धान्तों का भी खंडन सम्मिलित है। अतः उनके मत में इस ग्रंथ में कई अंश ईसा की पहली शताब्दी तक जोड़े जाते रहे[1]। इस ग्रंथ में प्राचीन अर्थात् अशोक के समय में प्रच-

१. देखिये राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०; ञाणातिलोक; गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ३७-३८

लित सिद्धान्तो में से तो आठ का खंडन प्रस्तुत किया गया है, जिनमें से दो तो महासांघियों के सम्प्रदाय हैं, यथा (१) महासांघिक (चतुर्थ शताब्दी ईसवी पूर्व) तथा गोकुलिक (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) और छह सम्प्रदाय स्वयं स्थविरवादियों के हैं, यथा (१) भद्रयानिक (तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व) (२) महीशासक (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) (३) वात्सीपुत्रीय (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) (४) सर्वास्तिवादी (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) (५) साम्मित्तिय (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व, तथा (६) वज्जिपुत्तक (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व)[1]। इनके अलावा कुछ अर्वाचीन सिद्धान्तो का भी खडन कथावत्थु में मिलता है। ये सम्प्रदाय भी आठ हैं, यथा, (१) अन्धक (२) अपरशैलीय (३) पूर्वशैलीय (४) राजगिरिक (५) सिद्धार्थक (६) वैपुल्य (वेतुल्ल) (७) उत्तरापथक और (८) हेतुवादी[2]। यदि स्वयं कथावत्थु में इन सम्प्रदायों का नामोल्लेख होता तब तो यह माना जा सकता था कि उसके जो अंश इन अर्वाचीन सम्प्रदायों के सिद्धान्तो का खडन करते है वे अशोक के काल के बाद की रचना है। किन्तु वहाँ तो सिर्फ सिद्धान्तों का खंडन है, सिद्धान्तों को निश्चित सम्प्रदायों के साथ वहाँ नहीं जोड़ा गया है। यह काम तो पाँचवी शताब्दी में लिखी जाने वाली उसकी अट्ठकथा ने ही किया है। अतः इससे यही निश्चित निष्कर्ष निकल सकता है कि जब कथावत्थु के विचारक ने विरोधी सिद्धान्तों का खंडन किया था तब वे बौद्ध वायु-मंडल मे विच्छिन्न शङ्काओं के रूप मे प्रवाहित अवश्य हो रहे थे, किन्तु निश्चित सम्प्रदायो के साथ उनका अभी संबध स्थापित नही हुआ था। संभव है कही कहीं व्यक्ति इनका उपदेश दे रहे हों या शंकाओं के रूप मे उपस्थित कर रहे हों। बाद में चलकर इन्ही में से निश्चित संप्रदायो का अविर्भाव हो गया, जैसा धर्म और दर्शन के इतिहास में अक्सर होता है। जिस समय कथावत्थु की अट्ठकथा लिखीगई

---

१. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८; राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०

२. महावंस ५।१२-१३ में भी हैमवत, राजगृहिक, सिद्धार्थक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय और वाजिरीय, इन छः सम्प्रदायों को अशोक के उत्तरकालीन माना गया है। अतः ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८ एवं राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२०, का इनको उत्तरकालीन ठहराना युक्ति-युक्त ही जान पड़ता है।

पाँचवीं शताब्दी ईसवी) उस समय तक इन संप्रदायों का स्वरूप निश्चित हो चुका था और वे बौद्ध परम्परा में प्रतिष्ठा पा चुके थे। यही कारण है कि अट्ठकथाकार (महास्थविर बुद्धघोष) ने कथावत्थु में खंडन के लिए प्रस्तुत जिन जिन सिद्धांतों की समता अपने काल में प्रचलित या परम्परा से प्राप्त संप्रदायों की मान्यताओं के साथ देखी, उन्हें उनके साथ संबंधित कर दिया है। अतः हम उन विद्वानों (विशेषतः राहुल सांकृत्यायन और ज्ञानातिलोक) के मत से सहमत नहीं हैं जो कथावत्थु के कतिपय अंशों को अशोक के काल से बाद की रचना मानते हैं। जैसा हम अभी स्पष्ट कर चुके है, सिद्धांत संप्रदायों की उपेक्षा अधिक प्राचीन हैं और संप्रदायों का नामोल्लेख कथावत्थु में है नही। अतः वह निश्चय ही अपने संपूर्ण रूप में अशोककालीन रचना है और उस काल के भिक्षु-संघ में स्फुट रूप से प्रचलित नाना मिथ्या धारणाओं और शंकाओं के निराकरण के द्वारा मूल बुद्ध-धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का वह प्रयत्न करती है। बाद में इन्हीं (स्थविरवादी दृष्टिकोण से) मिथ्या धारणाओं और शंकाओं ने विकसित होकर विभिन्न निश्चित संप्रदायों और उपसंप्रदायों का रूप धारण कर लिया, जिनका साक्ष्य उसकी अट्ठकथा देती है।

'कथावत्थु' के २१६ शंका-समाधान २३ अध्यायों में विभक्त है, यह अभी कहा जा चुका है। इनमें से कई समाधान दार्शनिक दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। बुद्ध के दर्शन की मनमानी व्याख्या पहले के युगों में भी बहुत की जा चुकी है और आज भी बहुत की जाती है। तथाकथित ब्राह्मण-दार्शनिक यदि इस दिशा में मार्ग-भ्रष्ट हुए हैं तो उनसे कम बौद्ध दार्शनिक भी नहीं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही सर राधाकृष्णन् के उस प्रयत्न की हँसी उड़ाई है और उसे 'बाल-धर्म' (भारी मूर्खता) निश्चित कर दिया है जो उन्होंने बुद्ध को उपनिषद् के आत्मवाद का प्रचारक सिद्ध करने के लिए किया है।[1] यदि मनीषी राधाकृष्णन् कथावत्थु के प्रथम अध्याय के प्रथम शंका-समाधान में ही स्पष्ट इस विषयक स्थविरवादी दृष्टिकोण की सम्यक् अवधारणा कर लेते तो वे मूल बुद्ध-दर्शन के साथ आत्मवाद या अन्य ऐसी किसी

---

१. देखिये महापंडित राहुल सांकृत्यायन का दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५३०-३२

चीज को इस प्रकार अनधिकृत रूप से मिलाने का प्रयत्न नहीं करते । इसी प्रकार यदि मनीषी महापंडित भी इस बात की सम्यक् अनुभूति कर लेते कि 'महाशून्यवादी' वेतुल्यकों (वैपुल्यकों) की स्थविरवादियों ने 'कथावत्थु' में क्या खबर ली है, तो वे नागार्जुन आदि उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों को, जिन्होंने निषेधात्मक दिशा में ही अधिक पदार्पण किया है, बुद्ध-मन्तव्यों के एकमात्र सच्चे व्याख्याता होने का श्रेय प्रदान नहीं करते । बुद्ध-मत सभी अतियों से बाहर जाता है, सभी मत-वादों से ऊपर उठता है । आत्मवाद और अनात्मवाद, ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद, भौतिकवाद और विज्ञानवाद, शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद सभी इन अतियों और मतवादों के ही स्वरूप हैं । बुद्ध की दार्शनिक परिस्थिति संबंधी हमारी बहुत सी शंकाओं का निर्मूलन स्वयं बुद्ध-वचनों के बाद 'कथावत्थु' में बड़े अच्छे ढंग से होता है । बाद में मिलिन्द-पञ्ह (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) में भी इस प्रकार का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उसका महत्व 'कथावत्थु' के बाद ही है । अब हम कथावत्थु में निरुक्त विषय-वस्तु का संक्षेप से दिग्दर्शन करेंगे ।

कथावत्थु में निराकृत सिद्धान्तों की सूची

पहला अध्याय

१. क्या जीव, सत्व या आत्मा की परमार्थ-सत्ता है ? वज्जिपुत्तक और सम्मितिय भिक्षुओं का विश्वास था कि 'है' । स्थविरवादी दृष्टिकोण से इसका विस्तृत खंडन किया गया है ।

२. क्या अर्हत्व की अवस्था से अर्हत् का पतन संभव है ? सम्मितिय, वज्जिपुत्तक, सब्बत्थिवादी और कुछ महासंघिक भिक्षुओं का विश्वास था कि यह संभव है । स्थविरवादियों ने स्रोत आपन्न, सकृदागामी और अनागामी के विषय में तो यह माना है कि वे अपनी-अपनी अवस्थाओं से पतित होकर फिर सांसारिक बन सकते है, किन्तु अर्हत् का पतन तो असंभव है ।

३. क्या देवताओं में ब्रह्मचर्य की प्राप्ति संभव है ? सम्मितिय भिक्षु कहते थे कि 'नहीं' । स्थविरवादी दृष्टिकोण से कहा गया है कि सम्मितिय भिक्षुओं

को ब्रह्मचर्य का अर्थ समझने में ही भ्रम हो गया है। भिक्षु-जीवन (ब्रह्मचर्य) के स्वर्ग में न होते हुए भी पवित्र-जीवन (ब्रह्मचर्य) का अभ्यास करने में तो देवता स्वतन्त्र ही हैं। अतः स्थविरवादियों के अनुसार देवताओं में भी ब्रह्मचर्य की प्राप्ति संभव है।

४. क्या चित्त-संयोजनों (मानसिक-बन्धनों) का विनाश विभागशः होता है? सम्मितियों का विश्वास था कि स्रोत आपन्न व्यक्ति दुःख और दुःख-समुदय का ज्ञान प्राप्त कर, प्रथम तीन चित्त-बन्धनों के केवल कुछ अंशों को उच्छिन्न करता है और बाकी अंशों को अधिक ऊँची अवस्थाओं को प्राप्त करने के बाद उच्छिन्न करता है। स्थविरवादियों का इसके विपरीत तर्क यह है कि इस प्रकार एक ही व्यक्ति को विभागशः स्रोत आपन्न और विभागशः स्रोत आपन्न नहीं भी मानना पड़ेगा। सम्मतियों ने अपनी स्थिति के समर्थन के लिए बुद्ध-वचन को उद्धृत किया है, किन्तु स्थविरवादियों ने दूसरा बुद्ध-वचन उद्धृत कर उनकी स्थिति को स्वीकार नहीं किया है।

५. क्या संसार में रहते हुए भी कोई मनुष्य राग और द्वेष से मुक्त हो सकता है? सम्मतियों का विश्वास था कि हो सकता है। स्थविरों ने इसे स्वीकार नहीं किया।

६. क्या सब कुछ है? (सब्बं अत्थि?) सब्बत्थिवादियों (सर्वास्तिवादियों) का विश्वास था कि भूत , वर्तमान और भविष्यत् के सभी भौतिक और मानसिक धर्मों की सत्ता है। स्थविरवादियों के मतानुसार अतीत समाप्त हो चुका, भविष्यत् अभी उत्पन्न नहीं हुआ, केवल वर्तमान ही की सत्ता है।

७. सिद्धान्त छह का ही पूरक है।

८. क्या यह सत्य है कि भूत, और भविष्यत् की कुछ वस्तुओं का अस्तित्व है और कुछ का नहीं? कस्सपिक भिक्षु कहते थे कि अतीत भी अंशतः वर्तमान में विद्यमान है और जिन भविष्य के पदार्थों के होने का हम दृढ़ निश्चय कर सकते हैं उनकी भी सत्ता मान सकते हैं। स्थविरों ने इसे स्वीकार नहीं किया है।

९. क्या सभी पदार्थ स्मृति के आलम्बन हैं? अन्धकों का ऐसा विश्वास था, किन्तु स्थविरों ने इसका खंडन किया है।

१०. क्या भूत, वर्तमान और भविष्यत् के पदार्थों का अस्तित्व एक प्रकार से है और दूसरे प्रकार से नहीं ? अन्धकों का ऐसा विश्वास, किन्तु स्थविरों द्वारा खंडन ।

दूसरा अध्याय

११. क्या अर्हत् का वीर्य-पतन सम्भव है ? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं का विश्वास था कि भोजन-पान के कारण यह सम्भव है । स्थविरों ने इसे नहीं माना है ।

१२-१४. क्या अर्हत् के अज्ञान और संशय हो सकते हैं और दूसरों से वह पराजित किया जा सकता है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का विश्वास था कि लौकिक ज्ञान के विषय में यह सर्वथा सम्भव है । स्थविरों ने इसका विरोध नहीं किया, किन्तु अर्हत् को कभी भी अविद्या या विचिकित्सा हो सकती है, इसे उन्होंने नहीं माना ।

१५. क्या ध्यानावस्था में वाणी-व्यापार भी सम्भव है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा विश्वास, किन्तु उसका निराकरण ।

१६. क्या 'दुःख' 'दुःख' कहने से स्रोत आपत्ति आदि चार ब्रह्मचर्य की अवस्थाओं की प्राप्ति हो सकती है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं के इस मिथ्या विश्वास का निराकरण ।

१७. क्या कोई चित्त-अवस्था सम्पूर्ण दिन भर रह सकती है ? अन्धकों के इस विश्वास का निराकरण ।

१८. क्या सभी संस्कार तप्त, दहकते हुए अंगारों के समान हैं ? भगवान् के एक वचन के अनुसार गोकुलिक भिक्षु सभी संस्कारों को दुःख-मय ही मानते थे । स्थविरवादियों ने क्षणिक सुखमय संस्कारों की भी सत्ता मानी है ।

१९. क्या ब्रह्मचर्य की चार अवस्थाओं (स्रोत आपत्ति आदि) का साक्षात्कार विभागशः होता है । अन्धक, सब्बत्थिवादी, सम्मितिय और भद्रयानिक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास । स्थविरवादियों का मत सिद्धान्त-संख्या ४ के समान ।

२०. क्या बुद्ध का लोकोत्तर व्यवहार (वोहार-वाणी) जैसी कोई चीज है ? अन्धक भिक्षु मज्झिम-निकाय के एक वचन के आधार पर ऐसा ही मानते थे। स्थविरवादी मतानुसार ब्रह्मचर्य-संलग्न चित्त और निर्वाण ही लोकोत्तर हैं।

२१. क्या दुःख-विमुक्ति भी दो है और निर्वाण भी दो ? महीशासक और अन्धक भिक्षु कहते थे कि ऐसा ही है। एक दुःख-विमुक्ति है चिन्तन या प्रतिसंख्यान (पटिसखा) के द्वारा प्राप्त की हुई। और दूसरी उसके बिना। इसी प्रकार एक निर्वाण है प्रतिसंख्यान के द्वारा प्राप्त किया हुआ और दूसरा उसके बिना। इसका निराकरण किया गया है।

तीसरा अध्याय

२२-२३. क्या तथागत के दस बल उनके शिष्यों को भी प्राप्त हो सकते है ? अन्धकों की मान्यता इसके पक्ष में।

२४. क्या विमुक्त होता हुआ मन लोभ-ग्रस्त होता है ? अन्धकों का विश्वास था कि अर्हत्त्व प्राप्त कर लेने पर ही लोभ से पूर्णतः विमुक्ति मिलती है।

२५. क्या विमुक्ति क्रमशः क्रिया के रूप में होने वाली वस्तु है।

२६. क्या स्रोत आपन्न का मत-वाद सम्बन्धी बन्धन नष्ट हुआ रहता है। अन्धक और सम्मितियों की ऐसी ही मान्यता थी। स्थविरवादी मत मध्यमार्गीय दृष्टिकोण ले लेता है, अर्थात् उसकी मान्यता है कि स्रोत आपन्न का मत-वाद सम्बन्धी बन्धन टूटने लगता है किन्तु पूर्णतः टूट चुका हुआ नहीं होता।

२७. क्या स्रोतापन्न को श्रद्धेन्द्रिय आदि इन्द्रियों (जीवन-शक्तियों) की प्राप्ति हो जाती है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

२८-२९. क्या चर्म-चक्षु दिव्य-चक्षुओं में परिवर्तित हो सकते हैं, यदि उनका आधार कोई मानसिक धर्म हो। अन्धकों की ऐसी ही मान्यता।

३०. क्या दिव्य-चक्षु प्राप्त कर लेना कर्म के स्वरूप को समझ लेना ही है ?

३१. क्या देवताओं में संयम पाया जाता है ?

३२. क्या अचेतन प्राणी (असञ्ञ-सत्ता) भी विज्ञान (चित्त) से युक्त होते हैं ?

अन्धकों का विश्वास था कि बिना चित्त के पुनर्जन्म नहीं होता। अतः कम से कम मृत्यु और पुनर्जन्म के क्षण में अचेतन प्राणियों के भी विज्ञान होता है।

३३. क्या नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में विज्ञान उपस्थित नहीं रहता ? अन्धकों का विश्वास कि नहीं रहता।

चौथा अध्याय

३४. क्या गृहस्थ भी अर्हत् बन सकता है ? उत्तरापथकों का विश्वास। स्थविरवादी मतानुसार अर्हत् होने पर मनुष्य गृहस्थाश्रम मे नहीं रह सकता।

३५. क्या जन्म के अवसर पर ही कोई अर्हत् बन सकता है ? उत्तरापथकों का भ्रम।

३६. क्या अर्हत् की प्रत्येक उपयोग-सामग्री भी पवित्र (अनासव—मल-रहित) है ? उत्तरापथकों का मत।

३७. क्या अर्हत् होने के बाद भी मनुष्य को चार मार्ग-फलों की प्राप्ति बनी हुई रहती है ? उत्तरापथको का विश्वास।

३८. क्या ६ प्रकार की उपेक्षाओं को अर्हत् एक ही क्षण में एक ही साथ धारण कर सकता है ? किस सम्प्रदाय की यह मान्यता थी, इसका उल्लेख नहीं है। स्थविरवादी मतानुसार ऐसी अवस्था सम्भव नही है।

३९. क्या बोधि-मात्र से बुद्ध हो जाता है ? उत्तरापथकों का भ्रमात्मक विश्वास, 'बोधि' का अर्थ न समझने के कारण।

४०. क्या ३२ महापुरुष-लक्षणों से युक्त प्रत्येक मनुष्य बोधिसत्व है ? उत्तरापथकों का विश्वास।

४१. क्या बोधिसत्व को बुद्ध काश्यप की शिष्यता में ही सम्यक् मार्ग की प्राप्ति हो गई थी ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था।

४२. ३७ के समान।

४३. क्या संयोजनों (चित्त-बन्धनों) के ऊपर बिजय प्राप्त कर लेने का नाम ही अर्हत्त्व है ? अन्धकों का विश्वास।

पांचवां अध्याय

४४. क्या विमुक्ति और विमुक्ति-ज्ञान दोनों एक ही वस्तु हैं ? अन्धकों की यही मान्यता।

४५. क्या शैक्ष्य (जिसे अभी सीखना बाकी है, या जिसने अर्हत्व की अवस्था अभी प्राप्त नहीं की है) को अशैक्ष्य (अर्हत्)-सम्बन्धी ज्ञान भी उपस्थित रहता है ? उत्तरापथकों का विश्वास।

४६. पृथ्वी-कृत्स्न के द्वारा ध्यान करने वाले का ज्ञान क्या मिथ्या-ज्ञान ही है ? अन्धकों का विश्वास।

४७. क्या 'अ-नियत' (चार आर्य-मार्गो में जो प्रतिष्ठित नहीं हुआ है) को 'नियाम' (आर्य-मार्ग की चार अवस्थाएँ, यथा स्रोत आपत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्त्व) सम्बन्धी ज्ञान उपस्थित रहता है ? उत्तरापथकों का ऐसा ही विश्वास।

४८. क्या सभी ज्ञान प्रतिसम्भिदा-ज्ञान है ? अन्धकों का विश्वास।

४९. क्या यह सत्य है कि संवृति-ज्ञान (सम्मुति ञाण-व्यावहारिक ज्ञान जिसके अनुसार हम मनुष्य, वृक्ष आदि जैसी बातें कहते हैं जिनका परमार्थतः कोई अस्तित्व नहीं) का विषय भी सत्य ही है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

५०. क्या परचित्त-ज्ञान का आधार चेतना ही है ? अन्धकों का ऐसा ही मत।

५१. क्या सम्पूर्ण भविष्य का ज्ञान सम्भव है ? अन्धकों के अनुसार सम्भव था।

५२. क्या एक साथ सम्पूर्ण वर्तमान का ज्ञान सम्भव है ? अन्धकों के अनुसार सम्भव था।

५३. क्या साधक को दूसरों की मार्ग-प्राप्ति का भी ज्ञान हो सकता है ? अन्धक कहते थे 'हाँ' !

छठा अध्याय

५४. क्या चार मार्गों के द्वारा आश्वासन मिल सकता है ? अन्धकों का विश्वास।

५५. क्या प्रतीत्य समुत्पाद अ-संस्कृत (अ-कृत) और शाश्वत है। पूर्वशैलीय और महीशासक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

५६. क्या चार आर्य-सत्य अ-संस्कृत और शाश्वत हैं ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का यही मत।

५७. क्या आकाशानन्त्यायतन (आकाश अनन्त है, ऐसे आयतन की भावना) अ-संस्कृत है ?

५८. क्या निरोध-समापत्ति (निरोध-समाधि, जिसमें चित्त की वृत्तियों का पूर्णतः निरोध हो जाता है) अ-संस्कृत है ? अन्धकों और उत्तरापथकों की मान्यता।

५९. क्या आकाश अ-संस्कृत है ? उत्तरापथक और महीशासकों की मान्यता।

६०-६१. क्या आकाश, चार महाभूत, पाँच इन्द्रिय और कायिक कर्म दृश्य है ? अन्धकों की मान्यता।

सातवाँ अध्याय

६२. क्या कुछ वस्तुओं का दूसरी वस्तुओं के साथ वर्गीकरण करना असम्भव है ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षुओं का ऐसा ही मत था।

६३. क्या ऐसे चेतसिक धर्म नहीं है, जो दूसरे चेतसिक धर्मों के साथ संयुक्त हों ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु कहते कि नहीं है।

६४. क्या 'चेतसिक' नाम की कोई वस्तु-ही नहीं है ? 'नहीं है' यह भी कहते थे राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु ही।

६५. क्या दान देना भी चित्त की एक अवस्था का ही नाम है ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास।

६६. क्या दान-उपभोग के साथ दान का पुण्य भी बढ़ता है ? राजगृहिक, सिद्धार्थक और सम्मितिय भिक्षुओं का विश्वास।

६७. क्या यहाँ दिया हुआ दान अन्यत्र (पितरों के द्वारा) उपभोग किया जा सकता है ? यह प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण था जिस पर बौद्धों को भी उस युग में सोचना पड़ा। 'पेतवत्थु' और 'खुद्दक-पाठ' के विवेचनों में हम पहले इसका कुछ निर्देश कर चुके हैं। राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षुओं का विश्वास था कि यहाँ दिये हुए भोजन का उपभोग पितर अपने लोक में करते हैं। स्थविरवादियों के अनुसार भोजन का साक्षात् उपभोग तो उनके लिये सम्भव नहीं है, किन्तु यहाँ दिये हुए दान के कारण प्रेतों के मन पर अच्छा प्रभाव अवश्य पड़ता है और वह उनके कल्याण के लिये होता है।

६८. क्या पृथ्वी भी कर्म-विपाक है ? अन्धकों का विश्वास ।

६९. क्या जरा और मृत्यु कर्म-विपाक हैं ? अन्धकों का विश्वास ।

७०. क्या चार आर्य-मार्गों से संयुक्त चित्त की अवस्थाएँ कर्म-विपाक पैदा नहीं करतीं ? अन्धकों का विश्वास ।

७१. क्या एक कर्म-विपाक दूसरे कर्म-विपाक को पैदा करता है ? अन्धको का ऐसा ही विश्वास ।

आठवाँ अध्याय

७२. क्या जीवन के छह लोक है ? अन्धक और उत्तरापथकों की मान्यता । स्थविरवादी केवल पाँच लोक मानते थे, मनुष्य-लोक, पशु-लोक, नरक-लोक, यक्ष-लोक, और देवलोक । अन्धक और उत्तरापथक एक छठे लोक, असुर-लोक, को भी मानते थे ।

७३. क्या दो जन्मों के बीच में कुछ व्यवधान होता है ? पूर्वशैलीय और सम्मितिय भिक्षुओं के अनुसार होता था ।

७४. क्या काम-धातु का अर्थ केवल काम-वासना-सम्बन्धी पाँच विषयों का उपभोग ही है ? पूर्वशैलीय भिक्षु मानते थे कि काम-धातु से तात्पर्य केवल पाँच इन्द्रियों (चक्षु-, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) सम्बन्धी विषय भोगों से है । स्थविरवादी परम्परा में इसका विस्तृत अर्थ लिया गया है, अर्थात् कामनाओं से प्रवर्तित होने वाला सारा जीवन-लोक, इच्छाओं की दौड़-धूप में लगा हुआ सारा जीव-जगत् ।

७५. क्या 'काम' का अर्थ है इन्द्रिय-चेतना का आधार ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत ।

७६-७७. क्या रूप-धातु का तात्पर्य है केवल रूप वाले पदार्थ (रूपिनो धम्मा) ? और अ-रूप धातु का अर्थ है केवल अ-रूप वाले पदार्थ ? अन्धकों का मत ।

७८. क्या रूप-लोक का प्राणी ६ इन्द्रियों वाला होता है ? अन्धकों और सम्मितियों की मान्यता ।

७९. क्या अरूप-लोक में भी रूप है ? अन्धकों का विश्वास ।

८०. कुशल चित्त से संयुक्त कायिक-कर्म भी क्या कुशल है ? महीशासक और सम्मितियों का मत ।

८१. क्या 'रूप-जीवितेन्द्रिय' (रूप-जीवितिन्द्रिय) जैसी कोई वस्तु नहीं ? 'नहीं' कहते थे पूर्व शैलीय और सम्मितिय भिक्षु !

८२. क्या पूर्व के बुरे कर्म के कारण अर्हत् का भी पतन हो सकता है ? पूर्वशैलीय और सम्मितिय भिक्षु कहते थे कि यह सम्भव है ।

नवाँ अध्याय

८३. क्या दस संयोजनों से विमुक्ति बिना धर्मों के अनित्य, दुःख और अनात्म स्वरूप को चिन्तन किये भी प्राप्त हो सकती है ? अन्धकों की मिथ्या-धारणा ।

८४. क्या निर्वाण का चिन्तन भी एक मानसिक बन्धन है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा ही मत ।

८५. क्या रूप आलम्बन-युक्त है ? उत्तरापथकों का 'आलम्बन' का ठीक अर्थ न जानने के कारण यह भ्रम ।

८६. क्या सात अनुशयों (चित्त-मलों) के मानसिक आधार नहीं होते ? अन्धकों और कुछ उत्तरापथकों का यही मत ।

८७. क्या अन्तर्ज्ञान का भी मानसिक आधार नहीं होता ? अन्धकों का यही मत ।

८८. क्या भूत या भविष्यत्की चेतना का भी कोई मानसिक आधार नहीं होता ? उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा मत ।

८९. क्या प्रत्येक चित्त की अवस्था में वितर्क रहता है ? उत्तरापथक भिक्षुओं की यही मान्यता ।

९०. क्या शब्द भी केवल वितर्क का ही बाहरी विस्तार (विप्फार) है । पूर्व-शैलीय भिक्षुओं की यही मान्यता ।

९१. क्या वाणी सदा चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? 'नहीं है' कहते थे पूर्वशैलीय, क्यों कि भूल में हमारे मुंह से कभी-कभी ऐसी बातें निकल जाती हैं जिन्हें हम कहना नहीं चाहते ।

९२. क्या कायिक-कर्म सदा चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का उपर्युक्त के समान मत ।

९३. क्या भूत और भविष्यत् की भी प्राप्तियाँ सम्भव हैं ? अन्धक कहते थे 'हाँ' ।

दसवाँ अध्याय

९४. क्या पुनर्जन्म को प्राप्त कराने वाले स्कन्धों के निरोध से पूर्व ही पंचस्कन्धों की उत्पत्ति हो जाती है ? अन्धकों का ऐसा ही मत ।

९५. क्या आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का अभ्यास करते समय व्यक्ति का रूप उसमें संनिविष्ट रहता है ? सम्मितिय, महीशासक और महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास ।

९६. क्या पाँच इन्द्रिय-चेतनाओं (जैसे देखना, सुनना आदि) का उपयोग करते हुए मार्ग की भावना की जा सकती है ? महीशासकों का यही विश्वास ।

९७. क्या पाँच प्रकार की इन्द्रिय-चेतनाएँ कुशल हैं ? महीशासकों की मान्यता ।

९८. क्या पाँच प्रकार की इन्द्रिय-चेतनाएँ अ-कुशल भी हैं ? उपर्युक्त के समान ही ।

९९. का आर्य-अष्टाङ्गिक-मार्ग का अभ्यास करने वाला व्यक्ति दो प्रकार के शील (लौकिक और अलौकिक) का आचरण कर रहा है ? महासांघिकों का यही मत ।

१००. क्या शील कभी-कभी अ-चेतसिक भी होता है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास ।

१०१. क्या शील चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? ९१, ९२ के समान

१०२. क्या मात्र ग्रहण करने से शील का विकास होता है? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास ।

१०३. क्या केवल शरीर या वाणी से विज्ञप्ति कर देना भी शील है ? महीशासक और सम्मितियों का ऐसा ही मत ।

१०४. क्या नैतिक उद्देश्य की अविज्ञप्ति अकुशल है ? महासांघिकों का यही मत ।

ग्यारहवाँ अध्याय

१०५. क्या सात अनुशय अव्याकृत हैं ? महासांघिकों की यह मान्यता थी ।

१०६. क्या ज्ञान से असंयुक्त चित्त की अवस्था में भी किसी को अविद्या से विमुक्त

और विद्या से युक्त कहा जा सकता है ? महासांघिक कहते थे, 'कहा जा सकता है' ।

१०७. क्या अन्तर्ज्ञान चित्त से अयुक्त भी हो सकता है । पूर्वशैलीय भिक्षु कहते थे कि हो सकता है ।

१०८. क्या दुःख आर्य-सत्य का ज्ञान मात्र यह कहने से हो जाता है 'यह दुःख है' ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था ।

१०९. क्या योग की विभूतियों से युक्त मनुष्य कल्प भर तक रह सकता है ? महासांघिक भिक्षु-कहते थे 'हाँ' ।

११०. क्या चित्त-प्रवाह (चित्त-सन्तति) समाधि में भी रहता है ? सर्वास्तिवादी और उत्तरापथकों का विश्वास ।

१११. क्या पदार्थों का नियमित स्वरूप स्वयं निष्पन्न (निष्फन्न) है ? अन्धकों का विश्वास ।

११२. क्या अनित्यता स्वयं निष्पन्न है, जैसे अनित्य पदार्थ ? यह मत भी अन्धकों का था ।

बारहवाँ अध्याय

११३. क्या केवल संयम और अ-संयम ही कुशल और अकुशल कर्मों की उत्पत्ति करने वाले हैं ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास ।

११४. क्या प्रत्येक कर्म का विपाक अवश्य होता है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था । स्थविरवादियों के मत के अनुसार अव्याकृत कर्म का विपाक नही होता ।

११५-११६. क्या वाणी और शरीर की इन्द्रियाँ भी पूर्व-जन्म के कर्म के परिणाम स्वरूप है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था ।

११७. क्या वे स्रोत आपन्न व्यक्ति जो अधिक से अधिक सात बार आवागमन में घूमने के बाद निर्वाण प्राप्त करते हैं (सत्तक्खत्तु-परम), उस काल के अन्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त करते हैं ? उत्तरापथकों का ऐसा ही मत ।

११८. क्या वे स्रोतापन्न व्यक्ति जो एक कुल से दूसरे कुल में जन्म लेने के बाद (कोलंकोल) या सिर्फ एक ही बार और जन्म लेने के बाद (एकबीजी)

निर्वाण प्राप्त करते हैं, उस काल के अन्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त करते हैं ? उत्तरापथकों का ही मत ।

११९. क्या सम्यक् दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति जान-बूझ कर हत्या कर सकता है ? पूर्वशैलीय भिक्षु कहते थे कि ऐसा मनुष्य अभी क्रोध-मुक्त नहीं हुआ, अतः क्रोध के आवेश में उसके लिये ऐसा करना असम्भव नहीं है ।

१२०. क्या सम्यक्-दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति दुर्गतियों से विमुक्त हो जाता है ? उत्तरापथकों का यह मत था । स्थविरवादियों के मतानुसार दुर्गति के दो अर्थ हैं, पशु-योनि आदि दुर्गतियाँ और इच्छा-आसक्ति आदि दुर्गतियां । उपर्युक्त व्यक्ति उनके मतानुसार केवल प्रथम दुर्गति से विमुक्त हो जाता है ।

१२१. क्या स्रोत आपन्न व्यक्ति अपने सातवें जन्म में दुर्गतियों से विमुक्त हो जाता है ? उपर्युक्त के समान ।

तेरहवाँ अध्याय

१२२. क्या जीवन-काल (कल्प-कप्प) के लिये दंडित व्यक्ति युग-काल (कल्प-कप्प) तक दंड भोगेगा ? 'कल्प' का अर्थ न समझने के कारण राज-गृहिक भिक्षुओं का यह भ्रम था ।

१२३. क्या नरक में यातना पाता हुआ प्राणी कुशल-चित्त की भावना नही कर सकता ? 'नहीं कर सकता' कहते थे उत्तरापथिक । स्थविरवादियों के अनुसार वह उस अवस्था में भी कुछ कुशल कर्म कर सकता है ।

१२४. क्या पितृ-वध आदि दुष्कृत्यों को करने वाला भी कभी आगे चल कर शुभ कर्म-पथ पर आ सकता है । उत्तरापथक कहते थे 'आ सकता है' । स्थविरवादियों के अनुसार वह उसी अवस्था में आ सकता है जब कि बिना निश्चय किये हुए और दूसरे की आज्ञानुसार उसने ऐसा किया हो ।

१२५. क्या व्यक्ति का भाग्य उसके लिये पहले से ही निश्चित (नियत) है ? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था ।

१२६-२७. क्या ५ नीवरणों (चित्त के आवरणों) और १० संयोजनों (चित्त-बन्धनों) को जीतते समय भी व्यक्ति इनसे युक्त हो सकता है ? उत्तरा-पथक भिक्षुओं का विश्वास था कि हो सकता है ।

१२८. क्या ध्यान के अन्दर ध्यान का आस्वाद होता है और ध्यान की इच्छा ही उसका आलम्बन (विषय) है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

१२९. क्या अ-सुखकर वस्तु के लिये भी आसक्ति हो सकती है ? उत्तरापथकों का ऐसा ही विश्वास।

१३०. क्या मन के विषयों की तृष्णा (धम्म-तण्हा) अव्याकृत है, और

१३१. क्या वह दुःख का कारण नही है ? ये दोनों मत पूर्वशैलीय भिक्षुओं के थे।

चौदहवाँ अध्याय

१३२. क्या कुशल-मूल (अ-लोभ, अ-द्वेष, अ-मोह) अ-कुशल मूलों (लोभ, द्वेष, मोह) के बाद पैदा होते हैं ? महासांघिकों का मिथ्या विश्वास था।

१३३. माता के पेट मे गर्भ-में आते ममय क्या ६ इन्द्रयाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन) साथ-साथ ही उत्पन्न होती है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

१३४. क्या एक विज्ञान (चक्षु-विज्ञान आदि) किसी दूसरे विज्ञान के बाद उत्पन्न हो सकता है ? उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

१३५. क्या वाणी और शरीर का पवित्र भौतिक कार्य चार महाभूतों से ही से ही उत्पन्न होता है ? उत्तरापथकों का यही विश्वास था।

१३६. क्या काम-वासना-सम्बन्धी अनुशय और उसका प्रकाशन दो विभिन्न वस्तुएं हैं ? अन्धकों का यही विश्वास था।

१३७. क्या अनुशयों का प्रकाशन चित्त से असंयुक्त (विप्पयुत्त) है ? अन्धकों का यही मत था।

१३८. क्या रूप-राग, रूप-धातु में ही अन्तर्हित और सम्मिलित है ? अन्धक और सम्मितिय भिक्षुओं का यही विश्वास था।

१३९. क्या मिथ्या मत-वाद अ-व्याकृत है ? अन्धक और सम्मितिय भिक्षुओं का यही मत था। वे 'अव्याकृत' शब्द के ठीक अर्थ को नहीं समझते थे।

१४०. क्या मिथ्या मत-वाद, लौकिक क्षेत्र से असम्बन्धित, साधकों के लोकोत्तर क्षेत्र में भी पाये जाते हैं ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का यह मिथ्या विश्वास था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

१४१. क्या 'प्रतीत्य समुत्पाद' का प्रत्येक धर्म (अवस्था) केवल एक ही प्रत्यय का सूचक है ? महासांघिक भिक्षुओं का ऐसा ही मत था ।

१४२. क्या यह कहना गलत है कि 'संस्कारों के प्रत्यय से अविद्या की उत्पत्ति होती है', जैसे कि 'अविद्या के प्रत्यय से संस्कारों की उत्पत्ति होती है ?' महासांघिकों के मतानुसार यह कहना गलत ही था। स्थविरवादियों ने इसे 'सहजात-प्रत्यय' या 'अन्योन्य-प्रत्यय' के आधार पर व्याख्यात किया है और गलत नहीं माना ।

१४३. क्या काल परिनिष्पन्न (परिनिप्फन्न) है ?

१४४. क्या काल के सभी क्षण परिनिष्पन्न हैं ?

१४५. क्या आस्रव (काम-आस्रव, भवास्रव, दृष्टि-आस्रव, अविद्यास्रव) दूसरे आस्रवों से असंलग्न हैं ? हेतुवादी भिक्षुओं का यही मत था ।

१४६. क्या लोकोत्तर भिक्षुओं के जरा और मरण भी लोकोत्तर होते हैं ? महासांघिकों का यह मत था । स्थविरवादियों के मतानुसार इनकी भौतिक या मानसिक सत्ता ही नहीं है, अतः न ये लौकिक हैं, न लोकोत्तर ।

१४७. क्या निरोध-समापत्ति (निरोध-समाधि) लोकोत्तर है? हेतुवादियों का मत ।

१४८. क्या वह लौकिक (लोकिय) है ? पूर्वोक्त के समान ।

१४९. क्या निरोध-समाधि की अवस्था में मृत्यु भी हो सकती है । राजगृहिक कहते थे कि हो सकती है । स्थविरवादी भिक्षुओं के मतानुसार नहीं हो सकती ।

१५०. क्या निरोध-समाधि के बाद संज्ञा-हीन प्राणियों (असञ्ञसत्त) के लोक में उत्पत्ति होती है ? हेतुवादियों का यही मिथ्या विश्वास था ।

१५१. क्या कर्म और कर्म-संचय दो विभिन्न वस्तुएँ हैं ? अन्धक और सम्मितियों का ऐसा ही विश्वास ।

सोलहवाँ अध्याय

१५२. क्या कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन को नैतिक रूप से शिक्षित कर सकता है या उसे सहायता पहुँचा सकता है? महासांघिओं का यह मत था ।

१५४. क्या एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन में सुख उत्पन्न कर सकता है ? हेतुवादियों का ऐसा विश्वास था।

१५५. क्या एक ही समय अनेक वस्तुओं की ओर हम ध्यान दे सकते हैं ? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं के मतानुसार यह सम्भव था।

१५६-५७. क्या रूप भी एक हेतु है ? क्या यह हेतुओं से युक्त है ? ये दोनों मत उत्तरापथकों के थे ।

१५८. क्या रूप कुशल या अकुशल हो सकता है ? महीशासक और सम्मितिय भिक्षुओं का यह विश्वास था।

१५९. क्या रूप कर्म-विपाक है ? अन्धक और सम्मितियों की मान्यता ।

१६०. क्या रूपावचर और अरूपावचर लोकों में भी रूप है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था।

१६१. क्या रूप-राग और अरूप-राग, क्रमशः रूप-धातु और अरूप-धातु में सम्मिलित है ? अन्धकों की यही मान्यता थी।

सत्रहवाँ अध्याय

१६२. क्या अर्हत् भी पुण्यों का संचय करता है ? अन्धकों की मान्यता ।

१६३. क्या अर्हत् की अकाल मृत्यु नहीं हो सकती ? नही हो सकती, ऐसा राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु मानते थे ।

१६४. क्या हर वस्तु कर्मो के कारण है ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु ऐसा ही विश्वास रखते थे ।

१६५. क्या दुःख छः इन्द्रिय-अनुभूतियों तक ही सीमित है ? हेतुवादियों की यह मान्यता थी।

१६६. क्या आर्य-मार्ग को छोड़कर सभी वस्तुएँ और संस्कार, दुःख (कृत) हैं ? हेतुवादियों का ऐसा ही विश्वास था।

१६७. क्या यह कहना गलत है कि संघ दान ग्रहण करता है। यह मत वैतुल्यक नामक महाशून्यतावादियों का था। संघ की चार आर्य-मार्गों और उनके फलों के रूप में व्याख्या करना इनका मुख्य सिद्धान्त था। इनके सिद्धान्तों में हम महायान-धर्म के बीज पाते हैं।

१६८-७१. क्या यह कहना गलत है कि संघ दान को पवित्र करता है, या स्वयं उसे खाता, पीता है, या संघ को दान की हुई वस्तु बड़ा पुण्य पैदा करती है, या बुद्ध को दान की हुई वस्तु बड़ा पुण्य पैदा करती है ? ये सब सिद्धान्त वैतुल्यक नामक महाशून्यता-वादियों के थे। इन्हीं से बाद में महायान-सम्प्रदाय का विकास हुआ।[१]

१७२. क्या दान देने वाले के द्वारा ही पवित्र किया जाता है, ग्रहण करने वाले के द्वारा नहीं ? उत्तरापथकों का यही विश्वास था।

अठारहवाँ अध्याय

१७३.-७४ क्या यह कहना गलत है कि बुद्ध मनुष्यों के लोक में रहे ? क्या यह भी गलत है कि उन्होंने उपदेश दिया ? 'हाँ गलत ही है' ऐसा वेतुल्यक (वैपुल्यक) कहते थे। बाद में चल कर महायान-धर्म ने भी यही कहा "भगवान् तथागत मौन है। भगवान् बुद्ध ने कभी किसी को कुछ नहीं सिखाया" (मौनाः हि भगवन्तस्तथागताः।न मौनैस्तथागतैर्भाषितम्) इस सब के बीज हम यही पाते है।

१७५. क्या बुद्ध को करुणा उत्पन्न नहीं हुई ? 'नहीं हुई', कहते थे उत्तरापथक, क्योंकि करुणा को भी वे आसक्ति का ही रूप मानते थे।

१७६ क्या यह सत्य है कि भगवान् बुद्ध के मल में से भी अद्वितीय सुगन्ध आती थी ? अन्धक और उत्तरापथकों का यही मत था।

---

१. मिलाइये, ज्ञानातिलोक "According to my opinion वैतुल्य is a distortion of वैपुल्य and the वैपुल्य sutras of the Mahayana refer to the above-mentioned heretics (Vetulyakas known as महाशून्यतावादिन् s) whose ideas, too, appear to be perfectly Mahayanistic." गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ६०; राहुल सांकृत्यायन : "वैपुल्य ही वह नाम है जिससे महायान आरम्भिक काल में प्रसिद्ध हुआ" पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १३१। 'शून्यता' (सुञ्ञता) के विचार का निर्देश संयुत्त-निकाय के ओपम्म-वग्ग में तथा अंगुत्तर-निकाय के अनागतभय-सूत्रों (चतुक्क और पंचक निपात) में हुआ है। इस विषय सम्बन्धी अधिक निरूपण के लिए देखिये श्रीमती रायस डेविड्स् : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अनुवाद) पृष्ठ ४२ (भूमिका)

१७७. क्या केवल एक आर्य-मार्ग के अभ्यास से चारों आर्य-मार्गों (स्रोतापत्ति आदि) के फलों को प्राप्त किया जा सकता है?

१७८. क्या एक ध्यान के ठीक बाद दूसरे ध्यान में साधक प्रवेश कर जाता है? महीशासकों का ऐसा ही विश्वास था।

१७९. ध्यानों के पंचविध विभाजन में जिसे द्वितीय ध्यान कहा जाता है वह क्या केवल प्रथम और द्वितीय ध्यान के बीच की अवस्था है? सम्मितिय और कुछ अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था।

१८०. क्या साधक ध्यान में शब्दों को सुन सकता है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं की यही मान्यता थी?

१८१. क्या दृश्य पदार्थ आँखों से ही देखे जाते हैं? महासांघिकों के मतानुसार (पसाद-चक्खु) जो केवल भौतिक विकार है, देखती है। स्थविरवादियों के मतानुसार वह केवल देखने का आधार या आयतन है और है जो देखता है वह तो वास्तव में चक्षु-विज्ञान है।

१८२. क्या हम भूत, वर्तमान और भविष्यत् के मानसिक क्लेशों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं? उत्तरापथकों के अनुसार कर सकते हैं।

१८३. क्या शून्यता सस्कार-स्कन्ध में सम्मिलित है? अन्धको के अनुसार सम्मिलित है।

१८४. क्या मार्ग-फल अ-संस्कृत है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत।

१८५. क्या किसी वस्तु की प्राप्ति स्वयं अ-संस्कृत है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत।

१८६. क्या 'तथता' (वस्तुओं का निश्चित स्वरूप) अ-संस्कृत है? उत्तरापथकों में से कुछ का यह विश्वास था। बाद में चल कर अश्वघोष के 'भूततथता' के सिद्धान्त का यहाँ बीज पाया जाता है। यह सिद्धान्त उपनिषदों के ध्रुव आत्मवाद के अधिक समीप पहुँच जाता है।

१८७. क्या निर्वाण-धातु कुशल है? अन्धकों का मत। कुशल को सामान्यतः 'निर्दोष' या 'पवित्र' मानकर वे निर्वाण को भी 'कुशल' कहते थे।

१८८. क्या सांसारिक मनुष्य (पृथग्जन) में भी अत्यन्त नियमवत्ता (अच्चन्त-नियामता) हो सकती है? उत्तरापथकों में से कुछ के मतानुसार हो सकती थी।

१८९. क्या ऐसी श्रद्धेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं जो लौकिक हों और जिन्हें

साधारण आदमी (पृथग्जन) भी प्राप्त कर सके ? नहीं है, ऐसा महीशासक और हेतुवादी भिक्षु कहते थे।

बीसवाँ अध्याय

१९०. क्या बिना जान-बूझ कर किये हुए पितृ-वध आदि अपराधों के कारण भी नरक में जन्म लेना पड़ता है ? उत्तरापथक ऐसा मानते थे।

१९१. क्या साधारण सांसारिक मनुष्य (पृथग्जन) को सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता ? नहीं हो सकता, कहते थे हेतुवादी।

१९२. क्या नरक में फाँसी लगाने वाले या चौकीदार नहीं हैं। 'नहीं है' कहते थे अन्धक।

१९३. क्या देवताओं के पशु भी होते हैं ? अन्धकों के अनुसार होते थे !

१९४. क्या आर्य अष्टांगिक मार्ग वास्तव में पाँच अंगो वाला ही है ? महीशासक ऐसा ही मानते थे। सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव को वे मानसिक दशा न मान कर उनका अन्तर्भाव केवल सम्यक् व्यायाम में कर देते थे।

१९५. क्या चतुरार्य सत्य-सम्बन्धी १२ प्रकार के ज्ञान लोकोत्तर हैं ? पूर्वशैलीय भिक्षु उन्हें ऐसा ही मानते थे।

इक्कीसवाँ अध्याय

१९६. क्या बुद्ध-उपदेशों में कोई संस्कार किया गया है ? क्या उनमें फिर संस्कार किया जा सकता है ? इन दोनों बातों की सम्भावना उत्तरापथक भिक्षु मानते थे। स्थविरवादियों ने दोनों बातों का विरोध किया है। बुद्ध की शिक्षाओं का संस्कार या सुधार सम्भव नहीं है।

१९७. क्या सांसारिक मनुष्य की पहुँच एक ही क्षण में काम-लोक, रूप-लोक और अ-रूप-लोक की वस्तुओं में हो सकती है ? हो सकती है, ऐसा कुछ विरोधी सम्प्रदाय के लोग मानते थे, किन्तु उनके नाम का निर्देश अट्ठकथा में नहीं किया गया है।

१९८. क्या बिना कुछ संयोजनों का विनाश किए भी अर्हत्त्व प्राप्ति हो सकती है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था।

१९९. क्या बुद्ध और उनके कुछ शिष्यों को प्रत्येक वस्तु के सम्बन्धमें योग की शक्तियाँ प्राप्त हुई रहती हैं। अन्धकों का विश्वास।

२००. क्या विभिन्न बुद्धों में भी कुछ श्रेणी का तारतम्य है ? अन्धक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं का ऐसा ही मत था।

२०१. क्या संसार के चारों भागों में बुद्धों का निवास है। महासांघिकों का यह विश्वास था। बाद के महायानी ग्रंथ 'सुखावती व्यूह' में इसी विश्वास का प्रतिपादन किया गया है। 'सुखावती' व्यूह' में प्रत्येक भाग में रहने वाले बुद्ध का नाम भी दिया हुआ है, जैसे पच्छिमी भाग में भगवान् अमिताभ बुद्ध रहते हैं, पूर्वी भाग में अमितायु आदि। महासांघिकों को अभी इसका पता नहीं है।

२०२.-३. क्या सभी वस्तुएं और कर्म नियत है ? अन्धक और कुछ उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

बाईसवाँ अध्याय

२०४. क्या बिना कुछ संयोजनों का विनाश किए भी निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। अन्धकों का विश्वास था कि हो सकती है। यह मत १९८ के प्राय: समान ही है।

२०५. क्या अर्हत् के शरीर त्याग करते समय उसका चित्त 'कुशल' रहता है। अन्धकों का यह भ्रमात्मक कथन था। 'कुशल' के दार्शनिक अर्थ को वे ठीक-ठीक न समझते थे।

२०६. क्या निश्चल (आनेञ्ज) ध्यान की अवस्था में भी बुद्ध या किसी अर्हत् की मृत्यु हो सकती है ? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की यही मिथ्या धारणा थी।

२०७-८. क्या गर्भ की अवस्था में या स्वप्न की अवस्था में सत्य का अन्तर्ज्ञान (धम्माभिसमय) या अर्हत्त्व की प्राप्ति सम्भव है ? उत्तरापथक भिक्षु इसकी सम्भावना मानते थे।

२०९. क्या स्वप्न की अवस्था में चित्त 'अव्याकृत' रहता है ? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की ऐसी ही मान्यता थी। स्थविरवादियों के मतानुसार कुशल और अकुशल अवस्थाएँ भी उत्पन्न हो सकती है।

२१०. क्या शुभ और अशुभ मानसिक अवस्थाओं की पुनरावृत्ति सम्भव नहीं है। ऐसी मान्यता उत्तरापथक भिक्षुओं की थी।

२११. क्या सभी पदार्थ (धर्म) एक क्षण तक ही रहते हैं। ऐसी मान्यता पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं की थी।

२१२. क्या (पुरुष और स्त्री के) संयुक्त विचार के साथ मैथुन-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है? यह बात वेतुल्यकों ने उठाई है, किन्तु उन्होंने यह नही कहा कि उनका तात्पर्य भिक्षुओं से है या गृहस्थों से। स्थविरवादियों ने इसका कड़ा प्रतिवाद किया है।

२१३. क्या ऐसे अ-मानुषी जीव है जो भिक्षुओं का रूप धारण कर मैथुन सेवन करते है? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की ऐसी मान्यता थी।

२१४. क्या बुद्ध ने अपनी शक्ति और इच्छा से ही बोधिसत्व होते समय पशु आदि योनियों में प्रवेश किया, कड़ी तपस्याएँ की और एक दूसरे उपदेशक के लिए तपस्या की? अन्धकों की यह मान्यता थी।

२१५. क्या ऐसी वस्तु है जो स्वय काम नही, किन्तु कामके समान है। (दया, महानुभूति, आदि)। इसी प्रकार घृणा नहीं, किन्तु घृणा के समान है, (ईर्ष्या, मात्सर्य) आदि। अन्धकों की ये मान्यताएँ थीं।

२१६. क्या यह कहना ठीक है कि पंच-स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातु और २२ इन्द्रियाँ, 'असंस्कृत' हैं और केवल दुःख 'संस्कृत' या परिनिष्पन्न (परिनिप्फन्न) है? उत्तरापथक और हेतुवादी भिक्षुओं की ऐसी ही मान्यता थी।

ऊपर हम कथावत्थु मे निराकृत २१६ मतवादों का संक्षिप्त विवरण दे चुके है। इनमें से बहुत कुछ अल्प महत्त्व के है, परन्तु अधिकांश मतवाद बड़े महत्त्व के है। उनसे बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वास्तव में इसी दृष्टि से उन्हें ऊपर उद्धृत भी किया गया है। कथावत्थु की अट्ठकथा ने जिन सम्प्रदायों के साथ उपर्युक्त मतवादों में से प्रत्येक को संलग्न किया है (कुछ को बिना संलग्न किए भी छोड़ दिया है जैसे २५, ३०, ३१, ३८, १४३, १४४, १७७, और १९७,) उनकी दृष्टि से मतवादों का संकलन करने पर निम्नलिखित सूची बनेगी, जो बौद्ध धर्मके ऐतिहासिक विकास के विद्यार्थी के लिए बड़ी आवश्यक हो सकती है—

सिद्धत्थिक (सिद्धार्थिक) ६२-६७, १६३-१६४

वैतुल्यक १७३-७४, २१२

महाशून्यतावादी वैतुल्यक १६७–७१[1]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के प्रारंभिक विकास को समझने के लिए 'कथावत्थु' की समीक्षाओं का कितना अधिक महत्त्व है। किन्तु ये समीक्षाएँ केवल एक सम्प्रदाय (स्थविरवाद) की हैं, यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए। जिस प्रकार 'कथावत्थु' में स्थविरवादी दृष्टिकोण से अन्य विरोधी सिद्धान्तों का खंडन किया गया है, उसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों की परम्परा में शेष सम्प्रदायों (जिनमें स्थविरवादी भी सम्मिलित हैं) का खंडन किया गया है। उदाहरणतः वसुमित्र के 'अष्टादश-निकाय शास्त्र'[2] में सर्वास्तिवादी दृष्टिकोण से शेष १७ सम्प्रदायों का खंडन किया गया है। इसी प्रकार तिब्बती और चीनी अनुवादों में कुछ अन्य सम्प्रदायों की दृष्टियों से भी खंडन-मंडन मिलते हैं।[3] चूंकि हमारे विषय से ये सीधे सम्बन्धित नहीं हैं, अतः इनके तुलनात्मक अध्ययन मे पड़ना हमारे लिए अप्रासंगिक होगा। 'कथावत्थु' की दृष्टि से इतना कह देना ही आवश्यक जान पड़ता है कि अन्य बौद्ध सम्प्रदायों की परम्पराओं में प्राप्त सिद्धान्तों के विवरणों से उसके विवरणों की विभिन्नता नहीं है। केवल समालोचना-दृष्टि का भेद अवश्य है, जो सम्प्रदाय-विभेद के कारण आवश्यक हो गया है। जहाँ तक आपेक्षिक प्रामाण्य का सवाल है निश्चय ही 'कथावत्थु' का परम्परा प्राचीन है और उसी का अनुवर्तन बाद में 'दीपवंस' और 'महावंस' में भी मिलता है। वसुमित्र और भव्य के वर्णन अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। संस्कृत बौद्ध धर्म की परम्परा का उसके मूल स्रोत से कई बार ऐतिहासिक उलट-पुलटों के कारण विच्छेद भी हो

---

१. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८

२. इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं है। केवल चीनी अनुवाद मिलता है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् प्रो० मसूदा ने किया है। वसुमित्र द्वारा दिये गये कुछ सम्प्रदायों के परिचय के लिये देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ८२८-३१।

३. देखिये जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१०, पृष्ठ ४१३

चुका है। अतः पालि वर्णन ही अधिक प्रामाणिक और समाश्रयणीय है। अतः 'कथावत्थु' के नाना सम्प्रदायों के सिद्धान्त-विवरण प्रामाणिक माने जा सकते हैं और बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक विकास के प्रारम्भिक स्वरूप को समझने के लिए आज भी उनका पर्याप्त महत्व है, इसमें सन्देह नहीं।

यमक[1]

'यमक' का शाब्दिक अर्थ है जोड़ा या जुड़वाँ पदार्थ। 'यमक पकरण' में प्रश्नों को जोड़ों के रूप में रक्खा गया है, यथा (१) क्या सभी कुशल-धर्म कुशल-मूल हैं? क्या सभी कुशल-मूल कुशल-धर्म हैं? (२) क्या सभी रूप रूप-स्कन्ध हैं? क्या सभी रूप-स्कन्ध रूप हैं? (३) क्या सभी अ-रूप अ-रूप-स्कन्ध हैं? क्या सभी अ-रूप-स्कन्ध अ-रूप हैं? आदि, आदि। प्रश्नों के अनुकूल और विपरीत स्वरूपों का यह जोड़ा बनाना इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक देखा जाता है। इसीलिए इसका नाम 'यमक' पड़ा है। 'यमक' का मुख्य विषय है अभिधम्म में प्रयुक्त शब्दावली की निश्चित व्याख्या। अतः उसका अभिधम्म-दर्शन के लिए वही महत्व और उपयोग है, जो एक निश्चित पारिभाषिक-शब्द-कोश का किसी पूर्ण दर्शन-प्रणाली के लिए। उसकी बहुत कुछ शुष्कता का भी यही कारण है। 'यमक' दस अध्यायों में विभक्त है, जिनमें निर्दिष्ट विषयों के साथ धम्मों के संबंधों को दिखाना ही उसका लक्ष्य है? अध्यायों के विषय उनके नामों से ही स्पष्ट हो जाते हैं, यथा

(१) मूल यमक—कुशल, अकुशल और अव्याकृत, ये तीन 'मूल' धर्म या पदार्थ।
(२) खन्ध-यमक—पञ्च-स्कन्ध।
(३) आयतन-यमक—१८ आयतन।
(४) धातु-यमक—१८ धातुएँ।
(५) सच्च-यमक—४ सत्य।
(६) संखार-यमक—संस्कार, कायिक, वाचिक और मानसिक।
(७) अनुसय-यमक—७ अनुशय (चित्त के अन्दर सुषुप्त बुराइयाँ)।

---

१. श्रीमती रायस डेविड्स एवं अन्य तीन सहायक सम्पादकों द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट् सोसायटी (लन्दन, १९११ एवं १९१३) द्वारा दो जिल्दों में प्रकाशित।

(८) चित्त-यमक—चित्त-संबंधी प्रश्नोत्तर।
(९) धम्म-यमक—धर्मों संबंधी प्रश्नोत्तर ।
(१०) इन्द्रिय-यमक—२२इन्द्रियाँ ।

प्रत्येक अध्याय की विषय-प्रतिपादन शैली प्रायः समानहै। प्रायः प्रत्येक अध्याय तीन भागों में विभक्तहैं (१) पञ्ञत्ति-वार (शब्द-प्रज्ञापन-विभाग) (२) पवत्ति-वार (प्रक्रिया-विभाग) और (३) परिञ्ञा-वार (अन्तर्ज्ञान-विभाग)। प्रथम भाग के भी दो उपविभागहैं (अ) 'उद्देस-वार (प्रश्न-कथन) और निद्देस-वार (व्याख्या-खण्ड)। 'उद्देसवार' में प्रश्नों का कथन जोड़े के रूप में किया गया है, यथा क्या सभी रूप को रूप-स्कन्ध कहा जा सकता है ? क्या सभी रूप-स्कन्ध को रूप कहा जा सकता है ? आदि। 'निद्देस-वार' में इसकी व्याख्या की गई है। द्वितीय मुख्य भाग 'पवत्ति-वार' के तीन भाग हैं, यथा (अ) उप्पाद-वार (उत्पत्ति-विभाग) (अ) निरोध-वार (विनाश-विभाग) और उप्पाद-निरोध-वार (उत्पत्ति और विनाश संबंधी विभाग) 'उप्पाद-विभाग' में यह दिखाया गया है कि भिन्न भिन्न धर्मों की किस प्रकार उत्पत्ति होती है ? प्रश्नों का ढंग तो वही जुड़वाँ नमूने का है, यथा 'क्या वेदना-स्कन्ध उसको भी उत्पन्न होता है जिसको रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उसको भी उत्पन्न होता है जिसको वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी उत्पन्न होता है जिसमें रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? क्या रूप स्कन्ध उस जीवन-भूमि मे भी उत्पन्न होता है जिसमें वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? आदि, आदि। 'निरोध-वार' में इसी प्रकार धर्मों के विनाश या अस्तंगमन संबंधी प्रश्न किये गये है, यथा 'क्या वेदना-स्कन्ध का भी उसके अन्दर निरोध हो जाता है जिसके अन्दर रूप-स्कन्ध का निरोध हो जाता है ? क्या रूप-स्कन्ध का भी उसके अन्दर निरोध हो जाता है जिसके अन्दर वेदना-स्कन्ध का निरोध हो जाता है ?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी निरुद्ध हो जाता है जिस जीवन-भूमि में रूप-स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है ? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी निरुद्ध हो जाता है जिस जीवन-भूमि में वेदना-स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है ?' आदि, आदि। 'उप्पाद-निरोध-वार' में इस क्रम को उल्टा कर दिया गया है। उसके प्रश्न इस प्रकार के हैं—'क्या वेदना-स्कन्ध उसके अन्दर निरुद्ध हो जाता है, जिसके अन्दर रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उसके अन्दर निरुद्ध हो जाता है, जिसके अन्दर वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है' ? 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-

भूमि में निरुद्ध हो जाता है जिस भूमि में रूप-स्कन्ध पैदा होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में निरुद्ध हो जाता है, जिस जीवन भूमि में वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ?" आदि, आदि। तृतीय मुख्य भाग 'परिञ्ञा-वार (अन्तर्ज्ञान-भाग) में प्रश्नोत्तर के रूप में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि धम्मों का अन्तर्ज्ञान किस प्रकार पैदा होता है। इसके प्रश्न इस प्रकार है —— 'क्या जिसने रूप-स्कन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे वेदना-स्कन्ध का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है ? क्या जिसने वेदना-स्कन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे रूप-स्कन्ध का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है ?' आदि, आदि।

इससे अधिक 'यमक' की वीथियों में भ्रमण करना "सूखी हड्डियों की घाटी" मे भ्रमण करना ही होगा, जैसा श्रीमती रायस डेविड्स ने उसे कहा है[1]। वास्तव में यह किसी भी पारिभाषिक शब्द-कोश के लिए कहा जा सकता है। 'यमक' भी अभिधम्म का शब्द-कोश ही है। अत: उसका सूखापन भी अभिधम्म के विद्यार्थियों के लिए एक सतत उपयोग और महत्व की वस्तु है।

पट्ठान[2]

अभिधम्म-दर्शन धम्मों (पदार्थो-अवस्थाओं) का एक परिपूर्ण दर्शन है। धम्म-संगणि में धम्मों का विश्लेषण, विभंग में उनका वर्गीकरण, धातुकथा में उस वर्गीकरण के कुछ शीर्षकों पर अधिक प्रकाश, पुग्गलपञ्ञत्ति में इस धम्म-दर्शन की पृष्ठभूमि में व्यक्तियों के प्रकारों का निरूपण, कथावत्थु में अभिधम्म-दर्शन संबंधी मिथ्या

---

१. इस ग्रन्थ को क्लिष्ट शैली और दुरूह विषय-वस्तु के कारण श्रीमती रायस डेविड्स् जैसी महाप्राज्ञा एवं अभिधम्म-दर्शन की मननशीला अध्येत्री को भी अनेक विप्रतिपत्तियों में पड़ जाना पड़ा। उनकी कठिनाइयों और सन्देहों का निवारण प्रसिद्ध बर्मी बौद्ध विद्वान् स्थविर लेदि सदाव ने किया था। लेदि सदाव के विचार एक पालि निबन्ध के रूप में 'यमक' के पालि टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित संस्करण के परिशिष्ट में निहित हैं। ऐतिहासिक गौरव को प्राप्त यह निबन्ध पालि-साहित्य के विद्यार्थियों द्वारा द्रष्टव्य है।

२. श्रीमती रायस डेविड्स् ने इस ग्रंथ का अंशतः सम्पादन पालि टैक्स्ट् सोसायटी के लिए किया है। दुक-पट्ठान, भाग प्रथम (१९०६) एवं तिक-पट्ठान, भाग १-३ (१९२१-२३)। इस ग्रंथ के बरमी, सिंहली एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। हिन्दी में न अनुवाद है, न मूल संस्करण।

धारणाओं के निरसन के द्वारा उसके विमल, मौलिक स्वरूप का प्रकाशन, यमक में अभिधम्म-गृहीत पारिभाषिक शब्दावली की सदा के लिए भ्रम निवारण करने वाली निश्चित व्याख्या, अभिधम्म-दर्शन का इतना विकास अभी हम उनके छह ग्रन्थों में देख चुके हैं। सातवें ग्रन्थ (पट्ठान) में अब हम अभिधम्म-दर्शन की एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमि पर आते हैं। यही वह भूमि है जहाँ से वह नित्य, ध्रुव पदार्थ के गवेषक अन्य भारतीय दर्शनों का साथ छोड़ देता है। कम से कम उनकी सी गवेषणा में तो वह प्रवृत्त नहीं होता। निरन्तर परिणामी 'धर्मों' का विश्लेषण करने के बाद उनकी तह में किसी अ-परिणामी 'धर्मी' को भी क्या अभिधम्म ने देखा है ? ऐसी जिज्ञासा हम अमरता के लालची अवश्य करेंगे। किन्तु लालच (तृष्णा) को अवकाश तथागत ने कब दिया, फिर चाहे वह अमरता का ही क्यों न हो ? हमारा प्रश्न ही गलत है, ऐसा ही उत्तर यहाँ तो हम पायेंगे। अतः बुद्ध-अनुगामी स्थविरों ने भी धम्मों या पदार्थों की अवस्थाओं का ही अध्ययन किया है, प्रवाहों और घटनाओं (जिनमें ही संपूर्ण नाम (विज्ञान-तत्व) और रूप (भौतिक-तत्व) संनिहित है, के अनित्य, दुःख और अनात्म स्वरूप पर ही जोर दिया है। उनमें अन्तर्हित किसी कूटस्थ, नित्य, ध्रुव पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि पर उन्होंने जोर नहीं दिया। क्यों ? क्योंकि उनके शास्ता के शब्दों में "यह न ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी है और न निर्वेद, शान्ति, परमज्ञान और निर्वाण के लिए ही आवश्यक है।" इस उद्देश्य को समझ लें तो पालि बुद्ध-दर्शन ने अपनी जिज्ञासाओं की जो मर्यादा बाँधली है, उसको हृदयंगम करना आसान हो जाता है। फिर भी अनात्मवादी बुद्ध-मत भौतिकतावादी नहीं है।

जहाँ तक दार्शनिक परिस्थिति की पूर्णता का सवाल है, उसके लिए भी तथागत ने पर्याप्त अवकाश और आश्वासन दिया है। जिसे उन्होंने 'अनत्ता' (अनात्मा) के रूप में निषिद्ध किया है, उसे ही उन्होंने 'निब्बाण' (निर्वाण) के रूप में प्रतिष्ठित किया है। सभी भौतिक और मानसिक अवस्थाएँ अनित्य, दुःख और अनात्म हैं, सापेक्ष हैं, कार्य और कारण की शृंखला से बद्ध हैं। किन्तु निर्वाण असंस्कृता धातु है। वह कार्य-कारण भाव से बद्ध नहीं है। वह उससे ऊपर है। अनपेक्ष है, परमार्थ है। किन्तु दुःख-निवृत्ति की साधना तो भव-प्रवाह में ही करनी है, जो कार्य-कारणभाव से संचालित है। अतः उसी की गवेषणा प्रधान रूप से करनी इष्ट है। भगवान् बुद्ध ने समग्र मानसिक और भौतिक जगत् में यदि किसी

नियामक को नहीं तो नियम को तो अवश्य ही देखा है, यदि किसी ऋत-धारी वरुण को नहीं तो स्वयं ऋत को तो अवश्य देखा ही है। त्रसरेणु से भी सहस्रांश छोटे पदार्थों से लेकर महापिंड नीहारिकाओं तक और दृश्य इन्द्रिय-व्यापारों से लेकर सूक्ष्म अन्तश्चेतना की गहरी अनुभूतियों तक, इस सारे संसार-चक्र को तथागत ने नियम और ऋत से बँधा हुआ अवश्य देखा है। भगवान् को इस सत्य का ज्ञान सम्यक्-सम्बोधि-प्राप्ति के समय ही हुआ था, इसके लिए त्रिपिटक में प्रभूत प्रमाण है।[2] क्या है वह ऋत, क्या है वह नियम, जिसका ज्ञान भगवान् बुद्ध ने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के समय ही किया ? यही है वह गम्भीर[3] प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्च समुप्पाद) अथवा प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम। यह कोई कोरा दार्शनिक सिद्धात नहीं है, बल्कि यह है सम्यक् सम्बुद्ध की प्रत्यक्षतम अनुभूति। यदि यह कोरा दार्शनिक सिद्धात होता तो तथागत के लिए इसका उपदेश करना ही अनावश्यक होता। उस हालत में तथागत भी अफलातूँ, अरस्तू, शंकर या नागार्जुन की समकोटि के ही दार्शनिक होते। वे 'करुणा के देव' किस प्रकार होते, जिस रूप में मानवता को उनका एकमात्र सहारा मिला है ? वास्तव मे प्रतीत्य समुत्पाद भगवान् की करुणा का ही ज्ञानमय परिणाम है। भगवान् ने अशेष जीव-जगत् को दुःख की चक्की में पिसते देखा। जहाँ बुद्ध-नेत्रों से देखा, अखिल लोक में जरा, मरण, शोक, रोना-पीटना, दुःख, दौर्मनस्य और उपायासों का ही अखंड साम्राज्य देखा। जिज्ञासा हुई यह किसके कारण ? स्थूल कारण अनेक थे जिन्हें साधारण आदमी आज भी देखते हैं और कुछ उन्हीं पर अधिक जोर भी देते है। किन्तु बुद्ध-नेत्रों से देखा गया कि जन्म ही इन दुःखों का मूल कारण है। जन्म का कारण क्या ? भव। भव का कारण क्या ? उपादान। उपादान का कारण क्या ? तृष्णा ! तृष्णा का कारण क्या ? वेदना ! वेदना का कारण क्या ? स्पर्श। स्पर्श का कारण क्या ? षडायतन ! षडायतन का कारण क्या ? नाम-रूप। नाम-रूप का कारण क्या ? विज्ञान। विज्ञान का कारण क्या ? संस्कार। संस्कार का कारण क्या ? अविद्या। "भिक्षुओ ! अविद्या और तृष्णा से संचालित, भटकते-फिरते प्राणियों के आरम्भ

---

२. देखिये विशेषतः विनय-पिटक--महावग्ग १, उदान, प्रथम (बोधि) वर्ग।

३. महानिदान-सुत्त (दीघ. २।२) में भगवान् ने स्वयं इसकी गम्भीरता का वर्णन सारिपुत्र के प्रति किया है।

का पता नहीं चलता।" आवागमन के चक्र को अविद्या ही गति प्रदान करती है। यदि अविद्या का निरोध कर दिया जाय तो संस्कारों का निरोध ! संस्कारों का निरोध कर दिया जाय तो विज्ञान का निरोध। विज्ञान का निरोध कर दिया जाय तो नाम-रूप का निरोध। नाम-रूप का निरोध कर दिया जाय तो छह आयतनों का निरोध। छह आयतनों का निरोध कर दिया जाय तो स्पर्श का निरोध। ....वेदना का निरोध ! .. ...तृष्णा का निरोध ! ......उपादान का निरोध ! .. ...भव का निरोध ! ......जन्म का निरोध ! ......जरा, मरणशोक, रोदन-विलाप, दुःख, मानसिक कष्ट एवं सारे दुःख-पुंज का निरोध! यही बुद्धोक्त प्रतीत्य समुत्पाद है, जिसे दुःख के आगमन और अस्तंगमन को हेतु-पूर्वक दिखाने के लिए भगवान् ने करुणापूर्वक उपदेश किया।[1]

इस प्रतीत्य समुत्पाद का ही पूरे विस्तार के साथ विवेचन 'पट्ठान' में में किया गया है। किन्तु सुत्तन्त की अपेक्षा पट्ठान की विवेचन-पद्धति की एक विशेषता है। जैसा प्रतीत्य समुत्पाद के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है, प्रतीत्य समुत्पाद की कारण-कार्य परम्परा में १२ कड़ियाँ हैं, जो एक दूसरी से प्रत्ययों के आधार पर जुड़ी हुई हैं। सुत्तन्त में अधिकांश इन कड़ियों की व्याख्या मिलती है। पट्ठान में इन कड़ियों की व्याख्या पर जोर न देकर उन प्रत्ययों पर जोर दिया गया है, जिनके आश्रय से वे पैदा होती और निरुद्ध होती रहती हैं। पट्ठान में इस प्रकार के २४ प्रत्ययों का विवेचन किया गया है। यही उसकी एक-मात्र विषय-वस्तु है। जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'पट्ठान' (पच्चय + ठान) वास्तव में प्रत्ययों का स्थान ही है।

आकार और महत्त्व की दृष्टि से पट्ठान अभिधम्म-पिटक का एक महाग्रन्थ है। महत्त्व में उसका स्थान धम्मसंगणि के बाद ही है। स्यामी संस्करण की ६ जिल्दों में ३१२० पृष्ठ हैं। यह हालत तब है जब ग्रन्थ के चार मुख्य भागों में से अन्तिम तीन अत्यंत संक्षिप्त कर दिये गये हैं। यदि उनका भी विवरण प्रथम भाग के समान ही किया जाता तो महास्थविर ञानातिलोक का यह अनुमान ठीक है कि कुल ग्रन्थ का आकार १४००० पृष्ठ से कम न होता। जैसा अभी कहा जा चुका है, संपूर्ण ग्रन्थ चार बड़े भागों में विभक्त है, यथा

---

१. देखिये विशेषतः महानिदान-सुत्त (दीघ. २।१५), महाहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम. १।३।८) आदि

(१) अनुलोम-पट्ठान---धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का विधानात्मक अध्ययन।

(२) पच्चनिय-पट्ठान---धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का निषेधात्मक अध्ययन।

(३) अनुलोम-पच्चनिय पट्ठान--धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का विधानात्मक और निषेधात्मक अध्ययन।

(४) पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान---धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का निषेधात्मक और विधानात्मक अध्ययन।

ग्रन्थ के आरम्भ में एक भूमिका है, जिसका नाम 'पच्चय-निद्देस' (प्रत्यय निर्देश) है। इसमें उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख और संक्षिप्त विवरण है, जिनके आधार पर धम्मों का उदय और अस्तंगमन सारे ग्रन्थ में दिखाया गया है। स्यामी संस्करण की पहली जिल्द में यह भूमिका-भाग ही आया है। मूल ग्रन्थ के उपर्युक्त ४ भागों में से प्रत्येक की विषय-प्रतिपादन शैली समान ही है। केवल प्रथम भाग के आधार पर शेष तीन में विषय-विवरण संक्षिप्त अवश्य दिया गया है। स्यामी संस्करण की २, ३, ४, और ५ जिल्दों में केवल प्रथम भाग आया है। शेष तीन भाग छठी जिल्द में हैं। प्रथम भाग की अध्याय-संख्या इस प्रकार है---२२+८०+१३२+९४+४२+४८=३२७। इससे पट्ठान के वृहत् आकार की कुछ कल्पना की जा सकती है।

उपर्युक्त चार भागों में विधानात्मक आदि अध्ययन-क्रम से २४ प्रत्ययों का संबंध धम्मों के साथ दिखाया है। प्रत्येक भाग में यह अध्ययन-क्रम छह प्रकार से प्रयुक्त किया गया है। इसका अर्थ यह है कि इन चार भागों में से प्रत्येक छह-छह उपविभागों में और भी बटा हुआ है, जैसे कि

(१) तिक-पट्ठान---धम्मसंगणि में प्रयुक्त २२ त्रिकों के वर्गीकरण को लेकर धम्मों के साथ २४ प्रत्ययों का संबंध-निरुपण।

(२) दुक-पट्ठान---धम्मसंगणि में प्रयुक्त १०० द्विकों के वर्गीकरण को लेकर धम्मों के साथ २४ प्रत्ययों का संबंध-निरुपण।

(३) दुक-तिक-पट्ठान---उपर्युक्त १०० द्विकों और २२ त्रिकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

(४) तिक-दुक-पट्ठान---उपर्युक्त २२ त्रिकों और १०० द्विकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

(५) तिक-तिक-पट्ठान—परस्पर मिश्रित २२ त्रिकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

(६) दुक-दुक-पट्ठान—परस्पर मिश्रित १०० द्विकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

इस प्रकार संपूर्ण महाग्रन्थ चौबीस भागों में बटा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक 'पट्ठान' कहलाता है। इसीलिए 'पट्ठान' की अट्ठकथा में कहा गया है—चतुवीसति-समन्त-पट्ठान-समोधान-पट्ठान-महाप्पकरणं नामाति। अर्थात् 'पट्ठान' महाप्रकरण में कुल मिलाकर २४ 'पट्ठान' या प्रत्यय-स्थान हैं।

'पट्ठान' के दीर्घ आकार को देखते हुए उसके विषय या शैली का लघु से लघु संक्षेप देना भी कितना कठिन है, यह आसानी से समझा जा सकता है। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, उसकी भूमिका (पच्चय-निद्देस) में उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख और संक्षिप्त विवेचन है, जिसके आधार पर संपूर्ण ग्रन्थ में प्रतीत्य समुत्पाद को समझाया गया है। प्रत्यय-दर्शन का विवेचन पट्ठान की एक मुख्य विशेषता है। जैसा श्रीमती रायस डेविड्स ने कहा है, संपूर्ण अभिधम्म दर्शन सम्बन्धी ज्ञान के लिये वह एक महत्व पूर्ण रचनात्मक दान है।[1] हमारा उद्देश्य यहाँ इन २४ प्रत्ययों का संक्षिप्त विवरण देना ही है। इनके नाम इस प्रकार हैं—

१. हेतु-प्रत्यय	८. निःश्रय-प्रत्यय
२. आलम्बन-प्रत्यय	९. उपनिःश्रय-प्रत्यय
३. अधिपति-प्रत्यय	१०. पूर्वजात-प्रत्यय
४. अनन्तर-प्रत्यय	११. पश्चात्जात-प्रत्यय
५. समनन्तर-प्रत्यय	१२. आसेवन-प्रत्यय
६. सहजात-प्रत्यय	१३. कर्म-प्रत्यय
७. अन्योन्य-प्रत्यय	१४. विपाक-प्रत्यय

१. देखिये तिक-पट्ठान, प्रथम भाग (श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी से प्रकाशित, लन्दन १९२१-२३) पृष्ठ ५ (भूमिका) एवं तिक-पट्ठान, द्वितीय भाग की सम्पादकीय टिप्पणी।

१५. आहार-प्रत्यय
१६. इन्द्रिय-प्रत्यय
१७. ध्यान-प्रत्यय
१८. मार्ग-प्रत्यय
१९. सम्प्रयुक्त-प्रत्यय
२०. विप्रयुक्त-प्रत्यय
२१. अस्ति-प्रत्यय
२२. नास्ति-प्रत्यय
२३. विगत-प्रत्यय
२४. अविगत-प्रत्यय[1]

प्रत्येक प्रत्यय का क्या अर्थ है और किस प्रकार उसका आश्रय लेकर किसी एक धम्म या धम्मों की उत्पत्ति और निरोध किसी दूसरे धम्म या धम्मों की उत्पत्ति और निरोध-पर आधारित है, इसका भी कुछ दिग्दर्शन कराना यहाँ आवश्यक होगा ।

१. हेतु-प्रत्यय (हेतु पच्चयो)—हेतु का अर्थ है मूल कारण या आधार। अभिधम्म-दर्शन में लोभ, द्वेष, मोह एवं उनके विपक्षी अलोभ, अद्वेष और अमोह को मूल कारण या हेतु कहा गया है । इनमें से पहले तीन कर्म-विपाक की दृष्टि से अकुशल है और बाद के तीन कुशल है । और कहीं कहीं (जैसे कि अर्हत् के संबंध में) अव्याकृत अर्थात् अनिश्चित (नितान्त स्वाभाविक या कर्म-विपाक उत्पन्न करने में निष्क्रिय) भी । जितनी भी कुशल या अकुशल अवस्थाएँ मानसिक या भौतिक जगत् में हो सकती है, उनके मूल आधार या हेतु क्रमशः उपर्युक्त कुशल या अकुशल धम्म ही है । इन मूल आधारों या हेतुओं की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर ही अनिवार्यतः सब कुशल और अकुशल धम्मो की उपस्थिति या अनुपस्थिति निर्भर है । पट्ठान की भाषा में, "हेतुओं से संयुक्त धम्म और इन्हीं से उत्पन्न होने वाली भौतिक जगत् की सारी अवस्थाएँ, हेतुओं पर हेतु-प्रत्यय के रूप में अवलम्बित है ।" उत्पन्न होनेवाली वस्तु (पच्चयुप्पन्न—प्रत्ययोत्पन्न) तो यहाँ धम्म और भौतिक जगत् की अवस्थाएँ है । जिनसे

---

१. इन चौबीस प्रत्ययों में अनेक एक दूसरे में सम्मिलित है। अभिधम्मत्थसंगह में इनको चार मुख्य भागों में विभक्त कर दिया गया है, यथा आलम्बन, उपनिःश्रय, कर्म और अस्ति। आरम्मणूपनिस्सयकम्मत्थिपच्चयेसु च सब्बेपि पच्चया समोधानं गच्छन्ति। पृष्ठ १५१ (धम्मानन्द कोसम्बी का संस्करण, नवनीत टीका सहित)

वे उत्पन्न होती है (पच्चय-धम्म) वे 'हेतु' या कुशलादि मूल धम्म हैं। जिस प्रत्यय (पच्चय) से वे पैदा होती हैं, वह हेतु-प्रत्यय (हेतु-पच्चय) है। शेष प्रत्ययों में भी क्रमानुसार हम इन तीन बातों का उल्लेख करेंगे यथा (१) उत्पन्न होने वाली वस्तु (पच्चयुप्पन्न) क्या है ? (२) जिस वस्तु से वह उत्पन्न होती है (पच्चय-धम्म) वह क्या है ? (३) प्रत्यय क्या है ?

२. आलम्बन प्रत्यय (आरम्मण पच्चयो)—आलम्बन का अर्थ है विषय या आधार। जिस वस्तु के आधार से कोई दूसरी वस्तु पैदा होती है तो उस दूसरी वस्तु के प्रति पहली वस्तु का संबंध आलम्बन प्रत्यय का होता है। उदाहरणतः चक्षु विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति रूप-आयतन पर आधारित है। अतः रूप-आयतन आलम्बन है चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों का। दूसरे शब्दों में, रूप आयतन आलम्बन-प्रत्यय के रूप में चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों का प्रत्यय है। इसी प्रकार शब्दायतन, गन्धायतन, रसायतन और स्पृष्टव्यायतन क्रमशः श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और उनसे संयुक्त धर्मों के आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय है। इसी प्रकार उपर्युक्त पाँचों आयतन (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य) मिलकर मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के तथा सब धर्म मिलकर मनो-विज्ञान-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के आलम्बन-प्रत्ययके रूप में प्रत्यय है। संक्षेप में, जो जो धर्म चित्त और चेतसिक धर्मों के आलम्बन हैं, वे सभी उनके प्रति आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। यहाँ (१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) घ्राण (४) जिह्वा और (५) काय-संबंधी विज्ञान एवं उनसे संयुक्त धर्म तथा (६) मनोधातु और (७) मनो-विज्ञान-धातु और इनसे संयुक्त धर्म 'पच्चयुप्पन्न' अर्थात् प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ है। इनके 'पच्चय-धम्म' अर्थात वे वस्तुएँ जिनसे ये प्रत्ययों के आधार पर उत्पन्न होती हैं, क्रमशः ये है (१) रूप (२) शब्द (३) गन्ध (४) रस और (५) स्पृष्टव्य संबंधी आयतन और इनसे संयुक्त धर्म तथा (६) इन पाँचों आयतनों का सम्मिलित रूप और (७) संपूर्ण धर्म। जिस प्रत्यय के आधार पर यह उत्पत्ति होती है, वह आलम्बन-प्रत्यय (आरम्मण-पच्चयो) है।

३. अधिपति-प्रत्यय (अधिपति पच्चयो)—किसी वस्तु की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा जब इन चार पदार्थों यथा (१) इच्छा (छन्द) (२) उद्योग (विरिय) (३) चित्त और (४) मीमांसा (वीमंसा) की सहायता की अधिकता होती है तो इन चार धर्मों में से जिस किसी की अधिकता होती है, वही उत्पन्न होने वाली वस्तु के साथ अधिपति-प्रत्यय के संबंध से संबंधित होता है। उदाहरणतः, जो धर्म इच्छा (छन्द) से संयुक्त है या उससे उद्भूत है, वह इच्छा-अधिपति (छन्दाधिपति) के साथ अधिपति-संबंध से संबंधित है। इसी प्रकार वीर्य, चित्त और मीमांसा अधिपतियों से जो धर्म संयुक्त हैं, वे क्रमशः इनके साथ अधिपति-संबंध से संबंधित हैं। यहाँ इच्छा, वीर्य, चित्त और मीमासा से संयुक्त धर्म, उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ 'पच्चयुप्पन्न' हैं। क्रमशः इच्छा-अधिपति (छन्दाधिपति), वीर्याधिपति (विरियाधिपति), चित्ताधिपति, और मीमांसाधिपति (वीमंसाधिपति) इनके 'पच्चय-धम्म' है अर्थात् ये वे वस्तुएँ हैं जिनमे उपर्युक्त धर्म उत्पन्न होते हैं। प्रत्यय-अधिपति प्रत्यय है।

४. अनन्तर-प्रत्यय (अनन्तर पच्चयो)—यदि कोई वस्तु अपने ठीक पीछे होने वाली वस्तु की उत्पत्ति में सहायक होती है, तो वह उसके साथ अनन्तर प्रत्यय के संबंध से संबंधित होती है। 'पट्ठान' में कहा गया है 'येसं येसं धम्मान अनन्तरा ये ये धम्मा तेसं धम्मानं अनन्तरपच्चयेन पच्चयो' अर्थात् जिन जिन धर्मों के अनन्तर जो जो धर्म होते हैं, तो पूर्व के धर्म पश्चात् के धर्म के प्रति अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय होते हैं। उदाहरणतः, पाँच विज्ञान-धातुओं (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय संबंधी विज्ञान-धातुओं) और उनसे संयुक्त धर्मों के अनन्तर मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति होती है। अतः पाँच विज्ञान-धातु और उनसे संयुक्त धर्म मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के प्रति अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय है। इसी प्रकार मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्म मनो-विज्ञान-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के लिये, कुशल-धर्म, कुशल और अव्याकृत धर्मों की उत्पत्ति के लिए और अकुशल धर्म, अकुशल और अव्याकृत धर्मों की उत्पत्ति के लिए, अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय होते हैं। यहाँ मनो-धातु, मनो-विज्ञान-धातु, कुशल और अव्याकृत धर्म, अकुशल और अव्याकृत

धर्म तथा इनमें संयुक्त धर्म 'पच्चयुप्पन्न' अर्थात् प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होने वाले धर्म हैं। जिन धर्मों से इनकी उत्पत्ति होती है, वे हैं क्रमशः (१) पाँच विज्ञान-धातु और उनसे संयुक्त धर्म (२) मनो-धातु और उनसे संयुक्त धर्म (३) कुशल-धर्म (४) अकुशल-धर्म। अतः ये प्रत्यय-धर्म हैं। जिस प्रत्यय के कारण उनकी उत्पत्ति होती है, वह है अनन्तर-प्रत्यय।

५. **समनन्तर-प्रत्यय (समनन्तर पच्चयो)**—बिलकुल अनन्तर-प्रत्यय के समान।

६. **सहजात-प्रत्यय—(सहजात पच्चयो)**—जब कोई धर्म किन्हीं अन्य धर्मों के साथ-साथ उत्पन्न होते हैं तो उनके बीच सहजात-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान एक दूसरे के साथ सहजात-प्रत्यय के रूप में सम्बन्धित हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति एक ही साथ होती है।

७. **अन्योन्य-प्रत्यय—(अञ्ञमञ्ञ पच्चयो)**—एक दूसरे के आश्रय से उत्पन्न होने वाले धर्म इस प्रत्यय के द्वारा आपस में सम्बन्धित होते हैं। यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण ही दिया जा सकता है, क्योंकि संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान आपस में एक दूसरे के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं।

८. **निःश्रय-प्रत्यय—(निस्सय पच्चयो)**—निःश्रय का अर्थ है आधार। पृथ्वी वृक्ष का निःश्रय है। इसी प्रकार जिन धर्मों की उत्पत्ति जिन धर्मों के आधार पर होती है, उनके प्रति उनका निःश्रय-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः चक्षु-आयतन, श्रोत्र-आयतन, घ्राण-आयतन, जिह्वा-आयतन और काय-आयतन के आधार पर ही क्रमशः चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान और काय-विज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः उनके बीच निःश्रय-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

९. **उपनिःश्रय-प्रत्यय—(उपनिस्सय पच्चयो)**—उपनिःश्रय का अर्थ है बलवान् आधार। कुशल-धर्मों के दृढ़ आधार पूर्वगामी कुशल-धर्म ही होते हैं। अतः उनके बीच का सम्बन्ध उपनिःश्रय-प्रत्यय का है। अन्य अनेक उदाहरण भी मूल पालि में दिये हुए हैं।

१०. **पुरेजात-प्रत्यय—(पुरेजात पच्चयो)**—जिस धर्म से किसी धर्म की उत्पत्ति पहले हुई हो तो उनके बीच पुरेजात-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

उदाहरणतः, चक्षु-विज्ञान-धातु आदि की उत्पत्ति से पहले चक्षु-आयतन आदि की उत्पत्ति हो चुकी होती है। अतः उसके प्रति वह पुरेजात-प्रत्यय से सम्बन्धित है।

११. **पश्चात्-जात-प्रत्यय—(पच्छाजात पच्चयो)**—शरीर की उत्पत्ति पहले हो जाती है। उसके बाद उसमें चित्त और चेतसिक पैदा होते हैं। अतः दोनों के बीच का सम्बन्ध पश्चात्-जात-प्रत्यय का है।

१२. **आसेवन-प्रत्यय—(आसेवन पच्चयो)**—आसेवन का अर्थ है बार-बार आवृत्ति। किसी धर्म का बार बार अभ्यास जिस किसी दूसरे धर्म को जन्म देने का कारण बनता है, तो उसके साथ उसका आसेवन प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, प्रत्येक कुशल-धर्म की उत्पत्ति किसी पूर्वगामी कुशल धर्म के आसेवन या सतत अभ्यास से होती है। अतः दोनों के बीच आसेवन-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

१३. **कर्म-प्रत्यय—(कम्म-पच्चयो)**—किसी भी कर्म-विपाक के पूर्व-गामी कुशल या अकुशल धर्म होते हैं, अतः उनके बीच का सम्बन्ध कर्म-प्रत्यय का होता है।

१४. **विपाक-प्रत्यय—(विपाक पच्चयो)**—वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन चार स्कन्धों की उत्पत्ति पूर्व के वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों के विपाक-स्वरूप होती है, अतः इनके बीच विपाक-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

१५. **आहार-प्रत्यय—(आहार पच्चयो)**—भोजन से यह हमारा शरीर बनता है। अतः शरीर का भोजन के प्रति आहार-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१६. **इन्द्रिय-प्रत्यय—(इन्द्रिय पच्चयो)**—चक्षु-विज्ञान आदि की उत्पत्ति चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के प्रति इन्द्रिय-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१७. **ध्यान-प्रत्यय—(झान पच्चयो)**—ध्यान से संयुक्त अवस्थाओं (धर्मों) की उत्पत्ति ध्यान के अंगों के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के साथ ध्यान-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१८. **मार्ग-प्रत्यय—(मग्ग पच्चयो)**—उपर्युक्त के समान मार्ग से संयुक्त

अवस्थाओं की भी उत्पत्ति मार्ग के अंगों के प्रत्यय से है, अतः उनके बीच मार्ग-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१९. **संयुक्त-प्रत्यय**---(**सम्पयुत्त पच्चयो**)---पूर्वोक्त के समान ही संज्ञा वेदना, आदि से संयुक्त धर्मो की उत्पत्ति क्रमशः संज्ञा, वेदना आदि के अंगों के प्रत्यय से ही है, अतः उनके बीच का सम्बन्ध संयुक्त-प्रत्यय का ही है।

२०. **वियुक्त-प्रत्यय**---(**विप्पयुत्त-पच्चयो**)---भौतिक धर्म मानसिक धर्मो के साथ और मानसिक धर्म भौतिक धर्मो के साथ विप्पयुक्त-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित है, क्योंकि दोनों का स्वभाव एक दूसरे से वियुक्त रहने का है।

२१. **अस्ति-प्रत्यय**---(**अत्थि पच्चयो**)---जिस धर्म की उपस्थिति या विद्यमानता पर दूसरे धर्म की उत्पत्ति अनिवार्यतः निर्भर होती है तो दोनों के बीच अस्ति-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है, यथा सम्पूर्ण भौतिक विकारों कीउत्पत्ति के लिये चार महाभूतों की उपस्थिति, अनिवार्यतः आवश्यक है, अतः चार महाभूतों के साथ अस्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध के द्वारा सम्पूर्ण भौतिक विकार सम्बन्धित हैं।

२२. **नास्ति-प्रत्यय**---(**नत्थि पच्चयो**)---अपनी अनुपस्थिति या अविद्यमानता से ही जो कोई धर्म किसी दूसरे धर्म की उत्पत्ति में सहायक हो तो वह उत्पन्न होने वाले धर्म के प्रति नास्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। जो चित्त और चैतसिक अभी निरूद्ध हो चुके है, वे अपनी अविद्यमानता से ही अभी उत्पन्न होने वाले चित्त और चैतसिक धर्मों के प्रति नास्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं।

२३. **विगत-प्रत्यय**---(**विगत पच्चयो**)---उपर्युक्त (२२) के समान।

२४. **अविगत-प्रत्यय**---(**अविगत-पच्चयो**)---उपर्युक्त (२१) के समान।

ऊपर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के विषय और शैली का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। सुत्तन्त में निहित बुद्ध-वचनों के प्रति उनका वही सम्बन्ध है, जो उत्तरकालीन वेदान्त-ग्रन्थों का उपनिषदों के प्रति। अन्तर्ज्ञान और अपरोक्ष-अनुभूति पर प्रतिष्ठित, जल और वायु के समान सब के लिये सुलभ, बुद्धों (ज्ञानियों)के वचन भी, पंडितवाद और शास्त्रीय विवेचनों के फन्दे में फँसकर कितने सूखे, आकर्षण-विहीन और जन-साधारण के लिये कितने दुरूह हो जाते

हैं, इसके लिये अभिधम्म-पिटक के समान ही उत्तरकालीन वेदान्तियों एवं बौद्ध और वैदिक परम्परा के आचार्यो के प्रज्ञान अच्छे उदाहरण हैं । चाहे नागार्जुन असंग, वसुबन्धु, दिङ्-नाग और धर्मकीर्ति हों, चाहे वात्स्यायन, कुमारिल, वाचस्पति, उदयन और श्रीहर्ष हो, सब एक समान ही हैं । बुद्ध और उपनिषदों के ऋषियों की सरलता, स्वाभाविकता और मार्मिकता एक में भी नहीं है । अभि-धम्म-पिटक अति प्राचीन होते हुए भी बुद्ध-मन्तव्य को इसी ओर ले गया है । सन्तोष की बात यह है कि वहाँ बुद्ध के मौलिक सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं किया गया है, संशोधन की तो कोई बात ही नहीं । अतः मूल बुद्ध-दर्शन को जानने के लिये उसका उपयोग उच्च रहता है ।बुद्ध-मन्तव्य स्वयं एक विस्मयकारी वस्तु है । यदि उसके कुछ विस्मयोंको खोलना है तो अभिधम्म-पिटक का अध्ययन नितान्त आवश्यक है । यदि यह देखना है कि निरन्तर परिवर्तनशील, अनित्य, दुःख और अनात्म धर्मो (पदार्थो) के प्रवर्तमान रहने पर भी संसार के सर्व-श्रेष्ठ साधक और ज्ञानी पुरुष ने चित्त की निश्चल समाधि किस प्रकार सिखाई है, नियामक को न मान कर भी नियम को किस प्रकार प्रतिष्ठित किया है, ईश्वर-प्रणिधान न होने पर भी समाधि का विधान किस प्रकार किया है, प्रार्थना न होने पर भी ध्यान को किस पर टिकाया है, 'अत्ता' (आत्मा) न होने पर भी पुनर्जन्म-वाद को किस पर अवलम्बित किया है, परम सत्ता के विषय में मौन रखकर भी गम्भीर आश्वासन किस प्रकार दिया है, यदि यह सब और इसके साथ प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के महान् मनोवैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी दान को उसकी पूरी विभूति के साथ देखना है, तो अभिधम्म की वीथियों में भ्रमण करना ही होगा । किन्तु बीसवीं सदी के मनुष्य के लिये, जो कामावचर-लोक (कामनाओं के लोक) की अभाव पूर्त्तियों के प्रयत्न में ही अभी संलग्न और सन्तुष्ट है, इतना अवकाश मिल सकेगा, यह कहना सन्देह से खाली नहीं है !

छठा अध्याय

पूर्व-बुद्धघोष-युग (१००ई० पूर्व से ४०० ई० तक)

तेपिटक बुद्ध-वचनों का अन्तिम संकलन तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व किया गया। तब से उनका रूप पूर्णतः निश्चित हो गया। ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी में बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल ने उन पर अपनी प्रसिद्ध अट्ठकथाएँ लिखीं। पालि-त्रिपिटक के सुनिश्चित रूप धारण कर लेने और इन अट्ठकथाओं के रचना-काल के बीच जिस साहित्य की रचना हुई, उसमें नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस और मिलिन्दपञ्ह अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका विवरण हम इस परिच्छेद में देंगे।

नेत्तिपकरण

'नेत्तिपकरण' का संक्षिप्त नाम 'नेत्ति' भी है। इसी को नेत्तिगन्ध' (नेत्ति-ग्रन्थ) भी कहते हैं। जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'नेत्तिपकरण' सद्धम्म को समझने के लिये नेतृत्व या मार्ग-दर्शन का काम करता है। 'नेत्ति' का अर्थ है मार्ग-दर्शिका। वास्तव में बुद्ध-वचन इतने सरल और हृदयस्पर्शी है कि उनको समझने के लिये उनसे व्यतिरिक्त अन्य किसी सहायक की आवश्यकता नहीं। एकान्त-चिन्तन हो, बुद्ध-वचन हों, उनके बीच मध्यस्थता करने की किसी को आवश्यकता नहीं। किन्तु पंडितवाद बुद्ध-धर्म में भी चल पड़ा। सरल बुद्ध-उपदेशों का वर्गीकरण किया गया, उनके पाठ का नियमबद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रीय नियम बनाये गये, उनके मन्तव्यों को भिन्न भिन्न दृष्टियों से सूचीबद्ध किया गया, उनके शब्दों की व्याख्या और उनके तात्पर्य का निर्णय करने के लिये ग्रन्थ-रचना की गई। इस प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण हम अभिधम्म-पिटक में ही देखते हैं। उसी का प्रत्यावर्तन हमें 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेस' जैसे ग्रन्थों में मिलता है। 'नेत्तिपकरण' का सम्बन्ध एक प्रकार से तेपिटक बुद्ध-वचनों से वही है जो यास्क-कृत निरुक्त का वेदों से। फिर भी निरुक्त की एक विशेष सार्थकता भी है, क्योंकि आठवीं शताब्दी ईसवी पूर्व ही वेदों की भाषा इतनी प्राचीन हो चुकी थी और

उसमें रहस्यात्मक ज्ञान ('आचरिय-मुट्ठि') भी इतना अधिक रक्खा हुआ बताया जाता था कि उसके उद्घाटन के लिये शब्द-व्युत्पत्ति-परक एक ग्रन्थ की आवश्यकता थी भी। इसके विपरीत बुद्ध-वचनों की लोकोत्तर सरलता ने किसी भी व्युत्पत्ति-शास्त्र या निरुक्ति-शास्त्र की अपेक्षा प्रारम्भ से ही नहीं रक्खी। यह उनकी एक बड़ी विशेषता है। चौथी-पाँचवी शताब्दी ईसवी से जो अट्ठ-कथाएँ भी लिखी गई, उन्होंने भी विशेषतः बुद्ध-वचनों की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को ही पूरा किया है, उत्तरकालीन संस्कृत भाष्यकारो या टीकाकारों की तरह शब्द-क्रीड़ाएँ नही की। फलतः बुद्ध-वचनो पर निरुक्ति-परक साहित्य पालि मे अधिक नहीं पनप पाया। केवल 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेस' यही दो ग्रन्थ इस सम्बन्ध मे मिलते है और उन्होंने भी बुद्ध-वचनों की मौलिक सरलता को अधिक सरल बना दिया हो, या सद्धम्म को समझने वाले के लिये अधिक मार्ग प्रशस्त कर दिया हो, ऐसा नही कहा जा सकता। जैसा अभी कहा गया, उनका उद्देश्य केवल त्रिपिटक के पाठ और उसके तात्पर्य-निर्णय-सम्बन्धी नियमों या युक्तियों का शास्त्रीय विवेचन मात्र करना है।

'नेत्तिपकरण' की विषय-वस्तु और शैली बहुत कुछ अभिधम्म-पिटक से मिलती है। सुगमता के लिये उसे इस प्रकार तालिका-बद्ध किया जा सकता है—

- नेत्तिपकरण
  - संगहवार (संग्रह-खंड—सम्पूर्ण ग्रन्थ की समष्टिगत विषय-सूची)
  - विभागवार (विभाग-खंड— समष्टि-गत दी हुई विषय-सूची का विभिन्न वर्गीकरणों में विभाजन)
    - उद्देसवार (विषय-वस्तु का संक्षिप्त कथन) यथा—
      १. १६ हार
      २. ५ नय
      ३. १८ मूलपद
    - निद्देसवार (उद्देसवार में संक्षिप्त रूप से निर्दिष्ट १६ हारों, ५ नयों तथा १८ मूलपदों की परिभाषाएँ)
    - पटिनिद्देसवार (उद्देसवार में निर्दिष्ट १६ हारों ५ नयों, तथा १८ मूल पदों की विस्तृत व्याख्याएँ, इन चार वर्गी-करणों में विभक्त, यथा,
      १. हार-विभंग (हारों का अलग-अलग वर्गीकरण कर-के उनका विवेचन)
      २. हार-सम्पात (हारों का समष्टि-गत विवेचन)
      ३. नय-समुट्ठान (नयों का विवेचन)
      ४. सासन-पट्ठान (बुद्ध-शासन एवं १८ मूलपदों का विवेचन)

इस तालिका से स्पष्ट है कि नेत्ति-पकरण का विषय १६ हार (गुंथे हुए विषयों की मालाएँ), ५ नय (तात्पर्य-निर्णय करने की युक्तियाँ) और १८ मूल पदों (मुख्य नैतिक विषयों) का विवेचन करना ही है। अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ इन तीनों वर्गीकरणों में निर्दिष्ट तत्वों का नाम-परिगणन मात्र कर देना ही

पर्याप्त होगा। नेत्तिपकरण में विवेचित १६ हार ये हैं, (१) देसनाहार-इस हार में बताया गया है कि बुद्ध-देसना (धर्मोपदेश) की विधि छह प्रकार की होती थी (अ) शील आदि का सुपरिणाम दिखाने वाली (अस्सादं) (आ) विषय-भोगों का दुष्परिणाम दिखाने वाली (आदिनवं), (इ) संसार से निकलने का मार्ग दिखाने वाली (निस्सरणं), (ई) श्रामण्य के फल का वर्णन करने वाली (फलं), (उ) निर्वाण -प्राप्ति का उपाय बताने वाली (उपायं) और (ऊ) नैतिक उद्देश्य दिखाने वाली (आनत्तिं)। यही श्रुतमयी (सुतमयी—अनुश्रव पर आश्रित), चिन्तामयी—बौद्धिक चिन्तन पर आश्रित) और भावनामयी (पवित्र जीवन के विकास पर आश्रित), इन तीन प्रज्ञाओं (ज्ञानों) का भी निर्देश किया गया है। (२) विचय-हार या धर्म-चिन्तन और पर्यवेक्षण (३) युत्तिहार (युक्तिहार) अथवा युक्तियों के द्वारा धर्म-विश्लेषण कर उसके अर्थ को समझना, (४) पदट्ठानहार, मौलिक लक्षणों से पदोंकी व्याख्याकरना, (५) लक्खण-हार, लक्षणों से अर्थ को समझना, यथा कहीं रूप शब्द के आ जाने से ही, वेदना आदि को भी समझना। (६) चतुव्यूह-हार (चतुर्व्यूह-हार) अर्थात् पाठ, शब्द, उद्देश्य और क्रम से अर्थ को समझना, (७) आवत्तहार, 'किस प्रकार बुद्ध-उपदेशों मे सभी विषय किसी न किसी प्रकार अविद्या, चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि जैसे मूल-भूत सिद्धान्तों में संनिविष्ट हो जाते है। वेदान्त-शास्त्र के तात्पर्य-निर्णय में जिसे 'अभ्यास' कहा गया है, उसकी इससे विशेष समानता है। (८) विभत्तिहार) अर्थात् विभाजन या वर्गीकरण का ढंग (९) परिवत्तन-हार) अथवा बुद्ध का अशुभ को शुभ के रूप में परिवर्तित करने का ढंग। (१०) वेवचन-हार अथवा शब्दों के अन्य अनेक समानार्थवाची शब्द देकर अर्थ को स्पष्ट करने का ढग। (११) पञ्ञत्तिहार (प्रज्ञप्तिहार)—एक ही धम्म को अनेक प्रकार मे रखने का ढंग। (१२) ओतरण-हार अथवा इन्द्रिय, पटिच्च-समुप्पाद, पञ्च स्कन्ध आदि के रूप में सम्पूर्ण बुद्ध-मन्तव्य का विश्लेषण। (१३) सोधन-हार, प्रश्नों को शुद्ध करने का ढंग, जिसे बुद्ध प्रयुक्त करते थे। (१४) अधिट्ठान-हार अथवा सत्य के आधार का निर्णय करना। (१५) परिक्खा-हार अथवा हेतुओं और प्रत्ययों सम्बन्धी ज्ञान। यह 'हार' बिलकुल अभिधम्म-पिटक, विशेषतः पट्ठान, का ही एक अंग जान पड़ता है। (१६) समारोपन-

हार अथवा चार प्रकार से बुद्ध का समझाने का ढंग, यथा (अ) मूल-भूत विचारों के द्वारा (आ) समानार्थवाची शब्दों के द्वारा (इ) चिन्तन के द्वारा (ई) अशुभ वृत्तियों के निरोध द्वारा। जिन पाँच नयों का विवेचन 'नेत्तिपकरण' में किया गया है, उनके नाम ये हैं (१) नन्दियावत्त (२) तीपुक्खल (३) सीहविक्कीलित (४) दिसालोचन, तथा (५) अंकुस। १८ मूल-पद इस प्रकार हैं (१) तण्हा (तृष्णा), (२) अविज्जा, (अविद्या), (३) लोभ, (४) दोस (द्वेष), (५) मोह (६) सुभ सञ्ञा (शुभ-संज्ञा) (७) निच्च सञ्ञा (नित्यसंज्ञा), (८) अत्तसञ्ञा (आत्म संज्ञा), (९) सुक्ख-सञ्ञा (सुख-संज्ञा), तथा इन नौ के क्रमशः विपरीतयथा (१०) समथ (शमथ-आन्तरिक शान्ति) (११) विपस्सना (विपश्यना-विदर्शना), (१२) अ-लोभ (१३) अ-दोस (अ-द्वेष), (१४) अ-मोह (१५) असुभ सञ्ञा (अशुभ-संज्ञा) (१६) अनिच्च सञ्ञा (अनित्य-संज्ञा) (१७) अनत्त-सञ्ञा (अनात्म-संज्ञा), तथा (१८) दुक्ख-सञ्ञा (दुःख-संज्ञा)। विषय की दृष्टि से बुद्ध-उपदेशों को कितने भागों में बाँटा जा सकता है, इसका भी निरूपण 'नेत्ति पकरण' में किया गया है। इस दृष्टि से विवेचन करते हुए उसने बुद्ध-वचनों को इन मुख्य सोलह भागोंमें बाँटा है, यथा (१) संकिलेस-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो चित्त-मलों (संकिलेस) का विवेचन करते हैं (२) वासना-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो वासना या तृष्णा का विवेचन करते हैं (३) निब्बेध-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो धर्म की तह का विवेचन करते हैं (४) असेख-भागिय, अर्थात् अर्हतों की अवस्था का विवेचन करने वाले (५) संकिलेस-भागिय तथा वासना-भागिय (६) संकिलेस-भागिय तथा निब्बेधभागिय (७) संकिलेस-भागिय तथा असेख-भागिय (८) संकिलेस, असेख तथा निब्बेध-भागिय, (९) संकिलेस-वासना-निब्बेध-भागिय (१०) वासना-निब्बेध भागिय (११) तण्हासंकिलेस भागिय (१२) दिट्ठि-संकलेस-भागिय (१३) दुच्चरित-संकिलेस-भागिय (१४) तण्हावोदान-भागिय (तृष्णा की विशुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन) (१५) दिट्ठिवोदान भागिय (दृष्टि या मिथ्या मतवादों की विशुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन) तथा (१६) दुच्चरित-वोदान-भागिय अर्थात् दुराचरण की शुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन।

ऊपर विषयों के अनुसार बुद्ध-वचनों का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें पहले संक्षिप्त विवेचन कर के फिर उनमें निर्दिष्ट धर्मों को एक दूसरे से मिलाकर कर अन्य अनेक वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। संकिलेस, वासना, तण्हा और असेख के आधार पर ऐसे ही वर्गीकरण ऊपर किये गये हैं। निश्चयतः यह अभिधम्म की प्रणाली है। 'उद्देस' के बाद 'निद्देस' देने की अभिधम्म की निश्चित प्रणाली है, यह हम अभिधम्म-पिटक के विवेचन में देख चुके हैं। उसी का अनुवर्तन इस ग्रन्थ में किया गया है, जैसा उसकी ऊपर दी हुई विषय-तालिका से स्पष्ट है। इतना ही नहीं, सिद्धान्तों के विवेचन मे भी अभिधम्म का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, परिक्खार-हार के विवेचन में पट्ठान के हेतुओं और प्रत्ययों की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। यहाँ 'नेत्ति' के लेखक ने उसे पूरी तरह न लेकर अपने निरुक्ति सम्बन्धी प्रयोजन के अनुसार ही लिया है। इसीलिये 'हेतु' और 'प्रत्यय' का विभेद यहाँ इतना स्पष्ट नही हो पाया। लौकिक और अलौकिक का विभेद भी 'नेत्तिपकरण' मे किया गया है। यह भी अभिधम्म के प्रभाव का सूचक है। नेत्तिपकरण और अभिधम्म की शैली के इस पारस्परिक सम्बन्ध का ऐतिहासिक अर्थ क्या है? स्पष्टतः यही कि नेत्तिकपरण की रचना अभिधम्म-पिटक के बाद हुई। किन्तु श्रीमती रायस डेविड्स ने इसके विपरीत यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नेत्तिपकरण' कम से कम 'पट्ठान' से पूर्व की रचना है।[1] उनके इस मत का मुख्य आधार यही है कि नेत्ति-पकरण में अभी हेतु और प्रत्यय का भेद उतना स्पष्ट नही हुआ है जितना 'पट्ठान' में। किन्तु क्या यह 'नेत्तिपकरण' के आवश्यकता के अनुरूप नहीं हो सकता? क्या इस कारण नही हो सकता कि 'नेत्तिपकरण' के लेखक को यहाँ अभिधम्म की सूक्ष्मता में न जाकर केवल उसके निरुक्ति-सम्बन्धी प्रयोजन को ग्रहण करना था? अभिधम्म-पिटक के संकलन या प्रणयन के काल के सम्बन्ध में जो विवेचन हम पहले कर चुके हैं, उसकी पृष्ठभूमि में नेत्तिपकरण को उसके बाद

---

१. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९२५, पृष्ठ १११-११२; विंटरनित्ज ने भी उनके इस साक्ष्य को स्वीकार किया है। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८३

की रचना ही माना जा सकता है। ई० हार्डीने, जिन्होंने इस ग्रन्थ का सम्पादन पालि टैक्स्ट् सोसायटी के लिए किया है, आन्तरिक और बाह्य साक्ष्य का विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नेत्तिपकरण' ईसवी सन् के आसपास की रचना है।[1] गायगर ने इस मत को स्वीकार किया है।[2] श्रीमती रायस डेविड्स के मत की अपेक्षा यही मत अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। 'गन्धवंस' के वर्णनानुसार 'नेत्तिपकरण' के रचयिता भगवान बुद्ध के परम ऋद्धिमान् शिष्य महाकच्चान या महाकच्चायन (महाकात्यायन) ही थे।[3] स्वयं मज्झिम-निकाय के मधुपिंडक-सुत्त (१।२।८) में महाकच्चान के अर्थ-विभाग की प्रशंसा की गई है "यह आयुष्मान् महाकात्यायन, बुद्ध द्वारा प्रशंसित, सब्रह्मचारियों द्वारा प्रशंसित और शास्ता द्वारा संक्षेप से कहे हुए उपदेश का विस्तार से अर्थ-विभाग करने में समर्थ है।" सम्भवतः इसी आधार पर नेत्तिपकरण' को गौरव देने के लिए उसे इन आर्य महाकात्यायन की रचना बतलाया गया है। किन्तु इन शास्त्रीय विवेचनों में पड़ने की बुद्ध के उन प्रथम शिष्यों को आवश्यकता नहीं थी, यह निश्चित है। यह तो उत्तरकालीन वैदिक परम्परा से प्राप्त प्रभाव का ही परिणाम था। जिस प्रकार कच्चान और मोग्गल्लान व्याकरणों का सम्बन्ध बुद्ध के प्रथम शिष्यों के साथ किया जाता है, उसी प्रकार 'नेत्तिपकरण' के रचयिता महाकच्चान के विषय में भी हमें जानना चाहिए। वास्तव में 'नेत्तिपकरण' ईसवी सन् के आसपास की रचना है और उसके रचयिता कोई कच्चान नामक भिक्षु थे, जिनके विषय में अधिक हमें कुछ ज्ञात नहीं है। पांचवी शताब्दी ईसवी में धम्मपाल ने 'नेत्तिपकरण' पर 'नेत्तिप्पकरणस्स अत्थ संवण्णना' (नेत्तिपकरण का अर्थ-विवरण) नाम की एक अट्ठकथा भी लिखी, जिसका निर्देश हम आगे के अध्याय में अट्ठकथा-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। बरमा और सिंहल की भाषाओं में इस ग्रन्थ का अनुवाद हुआ है, और इसके कई संस्करण भी निकले हैं।

---

१. नेत्तिपकरण (ई० हार्डी द्वारा सम्पादित, लन्दन १९०२), पृष्ठ ८ (भूमिका)

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २६

३. पृष्ठ ४९

पेटकोपदेस

'पेटकोपदेस' भी 'नेत्तिपकरण' के समान विषय-वस्तु वाली एक दूसरी रचना है। मेबिल बोड ने हमें बताया है कि बरमा में इन दोनों ग्रन्थों का आदर त्रिपिटक के समान ही होता है।[1] 'पेटकोपदेस' का उद्देश्य त्रिपिटक के विद्यार्थियों को उसी प्रकार का उपदेश या शिक्षा देना है जैसा हम 'नेत्तिपकरण' में देख आये हैं। 'नेत्तिपकरण' की ही विषय-वस्तु को यहाँ एक दूसरे ढंग से उपन्यस्त कर विवेचित किया गया है। कहीं जो कुछ बातें 'नेत्तिपकरण में दुरूह रह गई हैं, उनको यहाँ स्पष्ट रूप से समझा दिया गया है। 'पेटकोपदेस' की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि यहाँ विषय का विन्यास प्रधानतः चार आर्य सत्यों की दृष्टि से किया गया है, जो बुद्ध-शासन के मूल उपादान हैं। 'पेटकोपदेस' के भी रचयिता 'नेत्तिपकरण' के लेखक महाकच्चान ही माने जाते हैं। अतः उनके काल और वृत्त के सम्बन्ध में भी वही जानना चाहिए, जो 'नेत्तिपकरण' के रचयिता के सम्बन्ध में।

मिलिन्दपञ्ह[2]

'मिलिन्द पञ्ह' 'मिलिन्द पञ्हो' या 'मिलिन्दपञ्हा' (क्योंकि इन तीनों प्रकार यह ग्रन्थ लिखा जाता है)[3] इस युग की सब से अधिक प्रसिद्ध रचना है। सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य में इस ग्रन्थ की समता अन्य कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को अपनी अट्ठकथाओं में त्रिपिटक के समान ही आदरणीय

---

१. दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४

२. रोमन लिपि में सन् १८८० में ट्रेंकनर का प्रसिद्ध संस्करण निकला था। आज तो नागरी लिपि में भी सौभाग्यवश इसके मूल पाठ और अनुवाद दोनों उपलब्ध हैं। मिलिन्द-पञ्होः आर.डी.वडेकर द्वारा सम्पादित, बम्बई विश्व-विद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९४०; भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा हिन्दी में अनुवादित, प्रकाशक भिक्षु उ० कित्तिमा, सारनाथ, बनारस, १९३७। इस ग्रंथ के स्यामी, सिंहली तथा बरमी अनेक संस्करण उपलब्ध हैं।

३. सिंहल में तो विशेषतः मिलिन्दपञ्हो ही कहा जाता है। हिन्दी में 'मिलिन्द-प्रश्न' के आधार पर 'मिलिन्दपञ्ह' ही कहना हमने अधिक उचित समझा है।

मानते हुए उद्धृत किया है,[1] यह उसकी महत्ता का सर्वोत्तम सूचक है। साहित्य और दर्शन दोनों दृष्टियों से 'मिलिन्द पञ्ह' स्थविरवाद बौद्ध धर्म का एक बड़ा गौरव है। पाश्चात्य विद्वान् तक उसके इस गौरव पर इतने अधिक मुग्ध हुए हैं कि उन्हें इस में ग्रीक प्रभाव और विशेषतः अफलातू के संवादों की गन्ध आने लगी है ! 'मिलिन्द पञ्ह' (मिलिन्द प्रश्न) जैसा उसके नाम से स्पष्ट है 'मिलिन्द' के 'प्रश्नों' के विवरण के रूप में लिखा गया है। 'मिलिन्द' शब्द ग्रीक 'मेनान्डर' नाम का भारतीयकरण है। मेनान्डर के प्रश्नों का विवरण मात्र इस ग्रन्थ में नहीं है। मेनान्डर के प्रश्नों का समाधान इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। यह समाधान भदन्त नागसेन नामक बौद्ध भिक्षु ने किया। अतः मेनान्डर और भदन्त नागसेन के संवाद के रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। मेनान्डर या मिलिन्द और भदन्त नागसेन का यह संवाद ऐतिहासिक तथ्य था, इसके लिए प्रभूत इतिहास-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध है। 'मिलिन्द पञ्ह' में ही मिलिन्द को यवनक (ग्रीस)–प्रदेश का राजा कहा गया है ('योनकानं राजा मिलिन्दो') और उसकी राजधानी सागल (वर्तमान स्यालकोट) को बतलाया गया है। हम जानते हैं कि दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व भारत का उत्तर-पच्छिमी भाग ग्रीक शासकों के हाथ में चला गया था। ग्रीक शासक मेनान्डर या मेनान्ड्रोस ही 'मिलिन्द पञ्ह' का 'मिलिन्द' है, यह इतिहासवेत्ताओं का निश्चित मत है। किन्तु इस मेनान्ड्रोस के शासन-काल की निश्चित तिथि क्या है, इसके विषय में अभी एक मत नही हो सका है। स्मिथ के अनुसार १५५ ई० पूर्व मेनान्डर ने भारत पर आक्रमण किया।[2] राय चौधरी[3] तथा बार्नेट[4] के मतानुसार मेनान्डर का

---

१. अट्ठसालिनी, पृष्ठ ११२, ११४, ११९, १२०, १२२, १४२ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण) में बुद्धघोष ने 'आयुष्मान् नागसेन' (आयस्मा नागसेन) 'नागसेन स्थविर' (नागसेन थेर) 'आयुष्मान् नागसेन स्थविर' (आयस्मा नागसेन थेर) आदि कह कर मिलिन्द-पञ्ह के लेखक को स्मरण किया है।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ २२७, २३९, २५८

३. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, १९२३, पृष्ठ २०४

४. कलकत्ता रिव्यू, १९२४, पृष्ठ २५०

शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि ९० वर्ष ईसवी पूर्व से पहले मेनान्डर का समय नहीं हो सकता।[1] अधिकतर विद्वानों की आज मान्यता है कि मेनान्डर का शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है। अतः अपने मूल रूप में 'मिलिन्द पञ्ह' इसी समय लिखा गया, यह निश्चित है। चूंकि ग्रीक-शासन मेनान्डर के बाद शीघ्र भारत से लुप्त हो गया था और उसकी कोई स्थायी स्मृति भारतीय इतिहास में अंकित नहीं है, अतः यदि 'मिलिन्द पञ्ह' की रचना को मिलिन्द और नागसेन के संवाद के आधार पर एक बाद के युग में लिखी हुई भी मानें तो भी वह युग बहुत बाद का नहीं हो सकता। हर हालत में 'मिलिन्द पञ्ह' की रचना ईसवी सन् के पहले ही हो गई थी[2], और उसका आधार था ग्रीक राजा मेनान्डर और भदन्त नागसेन का ऐतिहासिक संवाद। 'मिलिन्द पञ्ह' की इस विषयक ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने के लिए एक और दृढ़तर साक्ष्य भी विद्यमान है। भारत के करीब २२ स्थानों में (विशेषतः मथुरा में) ग्रीक राजा मेनान्डर के सिक्के मिले है, जिन पर खुदा हुआ है "बेसिलियस सोटिरस मेनन्ड्रोस"। एक आश्चर्य की बात यह है कि इन सिक्कों पर धर्म-चक्र का निशान बना हुआ है, जो उसके बौद्ध धर्मावलम्बी होने का पक्का प्रमाण देता है। 'मिलिन्द पञ्ह' में भी हम पढ़ते हैं कि भदन्त नागसेन के उत्तरों से सन्तुष्ट हो कर राजा मिलिन्द उनसे अपने को उपासक (बौद्ध गृहस्थ-शिष्य) के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना करता है "उपासकं म भन्ते नागसेन सारेत्थ"।[3] बाद में हम वहीं यह भी देखते हैं कि राजा

---

१. विंटरनित्ज: हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७४, पद-संकेत ३ में उद्धृत

२. मिलाइये रायस डेविड्स्—क्विश्चन्स ऑव किंग मिलिन्द (मिलिन्द प्रश्न का अंग्रेजी अनुवाद), भाग प्रथम (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५) पृष्ठ ४५ (भूमिका); विंटरनित्ज: हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७५

३. पृष्ठ ४११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

मिलिन्द ने बाद में अपने राज्य को अपने पुत्र को देकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और विदर्शना-ज्ञान की वृद्धि करते हुए उसने अर्हत्त्व प्राप्त किया।[१] ग्रीक इतिहास-लेखक प्लूटार्क का कहना है कि मेनान्डर के मरने के बाद अनेक भारतीय नगरों में उसकी अस्थियों के ऊपर समाधियाँ बनाई गई। स्पष्टत: यह मेनान्डर के बौद्ध होने का साक्ष्य देता है और 'मिलिन्द पञ्ह' के वर्णनका समर्थन करता है। भगवान् बुद्ध (महापरिनिब्बाण सुत्त) और अनेक अर्हतों की अस्थियों पर ऐसा ही हुआ था। आचार्य बुद्धघोष के परिनिर्वाण पर इसी प्रकार का वर्णन 'बुद्धघोसुप्पत्ति' पृष्ठ ६६ (जेम्स ग्रे-द्वारा सम्पादित) में मिलता है। अत: पूर्वोक्त विवरण, प्लूटार्क का साक्ष्य और सब से अधिक राजा मेनान्डर के सिक्कों पर धर्म-चक्र के चिह्न का पाया जाना, इन सब बातों के प्रकाश में हम 'मिलिन्द पञ्ह' के इस साक्ष्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि मेनान्डर बौद्ध हो गया था। इतने ठोस प्रमाणों के होते हुए भी कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह स्वीकार नहीं किया कि मेनान्डर बौद्ध हो गया था।[२] सम्भवत: पाश्चात्य संस्कृति की गौरव-रक्षा के अन्तर्हित भाव ने ही उन्हें इस स्पष्ट सत्य को स्वीकार करने से उन्मुख या उदासीन रक्खा है। ग्रीक राजा मेनान्डर और भदन्त नागसेन के संवाद के रूप में 'मिलिन्द पञ्ह' का लिखा जाना एक निश्चित ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी वह किसके द्वारा लिखा गया, किस रूप में लिखा गया, बाद में उसमें क्या परिवर्तन या परिवर्द्धन किए गए, आदि समस्याएँ बाकी ही बच रहती हैं। इन समस्याओं पर आने से पूर्व हमें इतना तो

---

१. पुत्तस्स रज्जं निय्यादेत्वा अगारस्मा अनगारियं पब्बजित्वा विपस्सनं वड्ढेत्वा अरहत्तं पापुणोति। पृष्ठ ४११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

२. मिलाइये रायस डेविड्स : मिलिन्द पञ्ह का अंग्रेजी अनुवाद (क्विशन्स ऑव किंग मिलिन्द), भाग प्रथम (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५) पृष्ठ १९ (भूमिका); स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ १८७, २२६; गायगर: पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २७; ये विद्वान् इतना तक तो स्वीकार करते हैं कि बौद्धों से उसकी सहानुभूति थी। इससे कुछ अधिक विंटरनित्ज ने इंडियनलिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७५, पद-संकेत १ में कहा है। परन्तु स्पष्ट साहस तो सत्य बात कहने का वह भी नहीं कर सके।

निश्चयपूर्वक समझ ही लेना चाहिए कि मूल रूप में 'मिलिन्द पञ्ह' का प्रणयन, उत्तर-पश्चिमी भारत में, द्वितीय या प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व हुए, भदन्त नागसेन और ग्रीक राजा मेनान्डर के संवाद के आधार पर, उसी समय या कम से कम प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व के निकट, बौद्ध धर्म सम्बन्धी शंकाओं के निवारणार्थ हुआ। उसके रचयिता भी भदन्त नागसेन ही माने जा सकते हैं। महा-स्थविर बुद्धघोषाचार्य की भी यही मान्यता थी। ग्रन्थ के नायक होने के साथ साथ उनके इस ग्रन्थ के रचयिता होने मे कोई विरोध नहीं है। ऐसी निर्वैयक्तिकता भारतीय साहित्य में अनेक बार देखी जाती है। कम से कम श्रीमती रायस डेविड्स ने जो 'मिलिन्द पञ्ह' के रचयिता का नाम 'माणव' बतलाया है[1], उसके लिए तो कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता और उसे उनकी कल्पना से प्रसूत ही समझना चाहिए।

अक्सर (विशेषत: पश्चिमी विद्वानों द्वारा) यह कहा जाता है कि 'मिलिन्द पञ्ह' एक इकाई-बद्ध रचना नहीं है और उसका प्रणयन भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न युगों मे आ है। परिच्छेदों की एक दूसरे से भिन्नरूपता एवं शैली और विषय-वस्तु की भी विभिन्नता के कारण यह मान लिया गया है कि मौलिक रूप में ग्रन्थ बहुत छोटा होगा, सम्भवत: वह मिलिन्द और नागसेन के संवाद के संक्षिप्त विवरण के रूप में था, और बाद में स्थविरवाद बौद्ध धर्म की दृष्टि से जो विषय महत्त्वपूर्ण थे उनको प्राचीन नमूनों के आधार पर इसमें जोड़ा जाता रहा। ग्रन्थ का प्रस्तुत रूप इसी परिवर्द्धन का परिणाम है। 'मिलिन्द पञ्ह' के अनेकरूपतामय आन्तरिक साक्ष्य के अलावा एक और प्रभावशाली बाह्य साक्ष्य इस मत के प्रतिपादन में दिया गया है कि प्रस्तुत पालि 'मिलिन्द पञ्ह' एक मौलिक रचना न होकर अनेक परिवर्द्धनो का परिणाम है अथवा स्वयं मौलिक रूप से संस्कृत में लिखे हुए ग्रन्थ का पालि रूपान्तर है। वह है इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद, जो सन् ३१७ और ४२० ई० के बीच किया गया। पालि 'मिलिन्द पञ्ह' में ७ अध्याय हैं, यथा (१) बाहिर कथा, (२) लक्खण पञ्हो, (३) विमतिच्छेदन पञ्हो, (४) मेण्डक पञ्हो, (५) अनुमान पञ्हं, (६) धुतंग कथा, तथा (७)

---

१. देखिये उनका मिलिन्द क्विश्चन्स, लन्दन, १९३०

ओपम्मकथापञ्हं। उपर्युक्त चीनी अनुवाद में, जिसका नाम वहाँ 'नागसेन सूत्र' दिया गया है, चौथे अध्याय से लेकर सातवें अध्याय तक नहीं हैं। इससे स्वाभाविक तौर पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'मिलिन्द पञ्ह' के पहले तीन अध्याय ही ग्रन्थ के मौलिक स्वरूप के परिचायक हैं और बाकी बाद के परिवर्द्धन मात्र हैं। रेनाँ और बार्थ आदि अनेक विद्वानों के अलावा गायगर[1] और विंटरनित्ज़[2] भी इसी मत के मानने वाले हैं। उन्होंने इसी के समर्थन में अन्य कारण भी दिये हैं। एक सब से बड़ा कारण **तो** यही है कि हमारे प्रस्तुत पालि 'मिलिन्द पञ्ह' में ही तृतीय अध्याय के अन्त में लिखा है 'मिलिन्दस्स पञ्हानं पुच्छाविस्सज्जना निट्ठिता' अर्थात् "मिलिन्द के प्रश्नों के उत्तर समाप्त हुए।" इतना ही नहीं आगे चौथे अध्याय के प्रारम्भ में जो गाथाएं आती हैं, वे एक नये ही प्रकार से विषय की प्रस्तावना करती हैं। "वक्ता, तर्कप्रिय, अत्यन्त बुद्धि-विशारद (राजा) मिलिन्द ज्ञान-विवेचन के लिए नागसेन के पास आया।"[3] जब पहले मिलिन्द के प्रश्न समाप्त ही कर दिये गए तो फिर इस प्रकार विषय का दुबारा अवतरण करने की क्या आवश्यकता थी ? निश्चय ही निष्पक्ष समालोचक को इस चौथे अध्याय के बाद के भाग की मौलिकता और प्रामाणिकता में सन्देह होने लगता है। यह भी कितने आश्चर्य की बात है कि आचार्य बुद्धघोष ने भी 'मिलिन्द पञ्ह' के जिन अवतरणों को उद्धृत किया है वे प्रायः प्रथम तीन अध्यायों से ही हैं। अतः उन्हीं को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक मानना पड़ता है। जहाँ तक इन प्रथम तीन अध्यायों की भी प्रामाणिकता का सवाल है, उनके विषय में भी कुछ विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है। स्वयं विंटरनित्ज़ ने प्रथम अध्याय के कुछ अंशों को मौलिक नहीं माना है। उनके मतानुसार ग्रन्थ की मौलिक प्रस्तावना अपेक्षाकृत कुछ छोटी थी।[4] गायगर भी इस मत में उनके साथ सहमत हैं।[5] इसी प्रकार तृतीय अध्याय (विमतिच्छेदन पञ्हो) में भी निरन्तर परिवर्द्धनों की सम्भावना स्वीकार की गई है। इस परिच्छेद

---

१. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २७

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७६-१७७

३. भस्सप्पवेदी वेतंडो अतिबुद्धिविचक्खणो। मिलिन्दो ञाणभेदाय नागसेनमुपागमि॥

४. ५. ऊपर उद्धृत क्रमशः २ एवं १ पद-संकेतों के समान

में मिलिन्द के सन्देहों का निवारण किया गया है । जो-जो सन्देह स्थविरवाद बौद्ध धर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जाते थे उन सब का समाधान-सहित समावेश इस परिच्छेद में कर दिया गया है, ऐसा इन विद्वानों ने मान लिया है । गार्बे और श्रेडर ने तो इस पूरे अध्याय तक को बाद को जोड़ा हुआ मान लिया है,[1] जो ठीक नहीं है । पालि 'मिलिन्द पञ्ह' और चीनी भाषा में प्राप्त 'नागसेन-सूत्र' मे विभिन्नता होने के आधार पर तथा अन्य उपर्युक्त आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह मान लिया गया है कि पालि 'मिलिन्द पञ्ह' के अध्याय ४ से लेकर ७ तक बाद के परिवर्द्धन हैं । एक दूसरा निष्कर्ष यह भी निकाला गया है कि 'मिलिन्द पञ्ह' के प्रारम्भिक काल से ही अनेक संस्करण या पाठ-भेद थे । जर्मन विद्वान् श्रेडर ने उसके सात पाठ-भेदों का उल्लेख किया है । निश्चय ही ये सब बातें कल्पना पर आश्रित है और केवल चीनी अनुवाद से पालि 'मिलिन्द पञ्ह' की विभिन्नता के आधार पर निकाले हुए अनुमान मात्र हैं । यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि 'मिलिन्द पञ्ह' के प्रश्न को लेकर डा० गायगर जैसे विद्वान् को भी भ्रम में पड़ जाना पड़ा है । उन्होंने यह मान लिया है कि पालि 'मिलिन्द पञ्ह' मौलिक रूप से संस्कृत में लिखा गया था और ईसवी सन् के करीब उसका अनुवाद पालि में किया गया । उन्होंने यह भी मान लिया है कि यह अनुवाद लंका में किया गया और प्राचीन नमूनों के आधार पर उसमें अनेक परिवर्द्धन भी कर दिये गए, यथा पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल आदि की कथाएँ दीघ-निकाय के सामञ्ञफल-सुत्त के आधार पर और रोहण और नागसेन के सम्बन्ध की कथा महावंस ५।१३१ में निर्दिष्ट सिग्गव और तिस्स की कथा के आधार पर जोड़ दी गई ।[2] परिवर्द्धनों की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी (यद्यपि पूरण कस्सप और मक्खलि गोसाल आदि को 'मिलिन्द-पञ्ह' में व्यक्तियों का वाचक न समझ कर उनके सम्प्रदाय के आचार्यों या पदों का सूचक मान कर उन सम्बन्धी विवरणों को बाद का परिवर्द्धन मानने की भी अपेक्षा नहीं) 'मिलिन्द पञ्ह' का मौलिक संस्कृत से लंका में पालि में रूपान्तरित किया

---

१. देखिये विंटरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७७, पद-संकेत २
२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २७, पद-संकेत २

जाना स्वीकार नहीं किया जा सकता। चूंकि यह मत डा० गायगर जैसे विद्वान् की ओर से आया है, इसलिए इसका उल्लेख यहाँ कर दिया गया है। अन्यथा वह इस योग्य भी नहीं है। 'मिलिन्द पञ्ह' निश्चयतः अपने मौलिक पालि रूप में उत्तर-पश्चिमी भारत की प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व की रचना है। सम्भव है उसमें बाद में भी परिवर्द्धन हुए हों। किन्तु उसका मौलिक रूप आज का सा सात परिच्छेदों वाला ही रहा हो, इसके लिए भी कम अवकाश नहीं है, क्योंकि जैसा डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स ने सुझाव रक्खा है संभवतः चीनी अनुवादक ने ही अपने अनुवाद में अन्तिम चार अध्यायों को छोड़ दिया हो।[1] यद्यपि विंटरनित्ज़ ने उनके इस मत को स्वीकार नहीं किया है[2] हमें चौथी शताब्दी ईसवी में (जिससे पहले चीनी अनुवाद नहीं हुआ था बुद्धघोष के इस ग्रन्थ के प्रति आदर और श्रद्धा-भाव को देख कर सत्य की इसी ओर प्रवणता दिखाई पड़ती है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'मिलिन्द पञ्ह' की विषय-वस्तु सात भागों या अध्यायों में विभक्त है (१) बाहिर कथा, (२) लक्खण पञ्हो, (३) विमति-च्छेदन पञ्हो, (४) मेण्डक पञ्हो, (५) अनुमान पञ्हं, (६) धुतंग कथा और (७) ओपम्मकथा पञ्ह। 'बाहिर कथा', 'मिलिन्द पञ्ह' की भूमिका है। सर्व प्रथम लेखक ने नागसेन की इस विचित्र कथा (चित्रा नागसेनकथा) को जो, अभिधर्म, विनय और सुत्तों पर समाश्रित है, और जिसमें विचित्र उपमाएँ और युक्तियाँ प्रकाशित की गई हैं, सावधान हो कर, ज्ञानपूर्वक, बुद्ध-शासन सम्बन्धी सन्देहों के निवारणार्थ, सुनने को आह्वान किया है—

अभिधम्मविनयोगाळ्हा सुत्तजालसमत्थिता।
नागसेनकथा चित्रा ओपम्मेहि नयेहि च।।
तत्थ ञाणं पणिधाय हासयित्वान मानसं।
सुणाथ निपुणे पञ्हे कङ्खाठानविदालने'ति।।

इसके बाद ग्रीक राजा मिलिन्द (मेनान्डर) की राजधानी सागल का रमणीय, काव्यमय वर्णन है। "**अथ यं अत्थि योनकानं नानापुटभेदनं सागलं नाम नगरं**

---

१. ऐन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, जिल्द आठवीं, पृष्ठ ३६२,
२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७७ पद-संकेत १

नदीपब्बतसोभितं रमणीयभूमिप्पदेसभागं आरामुय्यानोपवनतडागपोक्खरणी सम्पन्नं नदीपब्बतरामणेय्यकं" आदि। उसके बाद उपर्युक्त सात भागों में ग्रन्थ की विषय-सूची तथा फिर नागसेन और मिलिन्द के पूर्व-जन्म की कथा है। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि भदन्त नागसेन ने अपने और अपने प्रतिवादी मिलिन्द के पूर्वजन्म (पुब्बयोग, पुब्बाकम्म) के वर्णन में तो इतनी तत्परता दिखाई है, फिर भी अपने वर्तमान जन्म और कर्म के विषय में अधिक जानने का हमें अवकाश नहीं दिया। सम्भवतः जिसे हम इतना ठोस समझते हैं वह उनके लिये इतना आवश्यक नहीं था और जो कुछ हमें अपने विषय में वह बताना आवश्यक समझते थे उसे उन्होंने वहाँ बता भी दिया है। स्थविर नागसेन का जन्म मध्य देश की पूर्वी सीमा पर स्थित, हिमालय पर्वत के समीपवर्ती कजंगला नामक प्रसिद्ध कस्बे में हुआ था। उनके पिता का नाम सोणुतर था, जो एक ब्राह्मण थे। तीनों वेदों, इतिहासों और लोकायत शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर नागसेन ने स्थविर रोहण से बुद्ध-शासन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की एवं बौद्ध धर्म में प्रवेश किया। तदनन्तर वे वत्तनिय सेनासन के स्थविर अस्सगुत्त (अश्वगुप्त) के पास गये और उनसे शिक्षा प्राप्त की। यहीं उनको सोतापन्न (सोत आपन्न) फल की प्राप्ति हुई। तदनन्तर उन्हें पाटलिपुत्र भेज दिया गया, जहाँ उन्होंने स्थविर धर्मरक्षित से बौद्ध धर्म का विशेष अध्ययन किया। यहीं उन्हें अर्हत्त्व फल की प्राप्ति हुई। इसके बाद वे सागल (सियालकोट) के संखेय्य परिवेण में गये, जहाँ राजा मिलिन्द से उनकी भेंट हुई। मिलिन्द की शिक्षा का वर्णन करते हुए उसे 'श्रुति, स्मृति, संख्यायोग (सांख्य योग), नीति, वैशेषिक (विसेसिका) आदि १९ शास्त्रों का मननशील विद्यार्थी बतलाया गया है। वह पूरा तर्कवादी, वितंडावादी और वाद-विवाद में अजेय था, यह भी दिखाया गया है। मिलिन्द को दार्शनिक वाद-विवाद से बड़ा प्रेम था और उसने 'लोकायत' सम्प्रदाय आदि के अनुयायी सभी विचारकों को परास्त कर दिया था। उसने बुद्धकालीन ६ प्रधान आचार्यों की गद्दियों पर प्रतिष्ठित उनके ही समान नाम धारण करने वाले छह प्रधान आचार्यों, यथा पूरणकस्सप, मक्खलि गोसाल, निगण्ठ नाटपुत्त, सञ्जय बेलट्ठिपुत्त, अजित केस कम्बली और पकुध-कच्चायन के नाम भी अपने मन्त्रियों से सुन रक्खे थे, और प्रथम दो से वह मिला भी

था,[1] किन्तु उसकी शान्ति उनसे नहीं हुई थी। अन्त में ग्रीक राजा को यह अभिमान होने लगा "**तुच्छो वत भो जम्बुदीपो पलापो वत भो जम्बुदीपो। नत्थि कोचि-समणो वा ब्राह्मणो वा यो मया सद्धिं सल्लपितुं सक्कोति कंखं पटिविनोदेतुंति।**" "**तुच्छ है भारतवर्ष! प्रलाप मात्र है भारतवर्ष! यहाँ कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण नहीं है जो मेरे साथ, मेरे सन्देहों के निवारणार्थ, संलाप भी कर सके।**" मिलिन्द के इन शब्दों में हम बुद्धिवादी ग्रीक ज्ञान की गौरवमय हुंकार देखते हैं। भारतीय राष्ट्र का गौरव भदन्त नागसेन के रूप में अपनी सारी संचित ज्ञान-गरिमा को लिये हुए अन्त में उसे मिल गया। नागसेन के ज्ञान की प्रशंसा में कहा गया है कि उन्होंने अपनी अल्पावस्था में ही निघंटु आदि के सहित तीनों वेदों को पढ़ लिया था, और वे इतिहास, व्याकरण, लोकायत आदि शास्त्रों में पूर्ण निष्णात थे।[2] उसके बाद प्रव्रजित हो कर उन्होंने अभिधम्म के सात प्रकरणों तथा अन्य तेपिटक बुद्ध-वचनों को अपने गुरु रोहण से पढ़ा था। पहले उन्होंने धर्मरक्षित नामक भिक्षु के साथ पाटलिपुत्र में निवास किया। बाद में आयुपाल नामक भिक्षु के निमंत्रण पर वे हिमाचल-प्रदेश के संखेय्य परिवेण नामक विहार में चले गये। वहीं राजा मिलिन्द उनसे मिलने के लिए गया। '**अथ खो मिलिन्दो राजा येनायस्मा नागसेनो तेनोपसंगमि**' (तदनन्तर राजा मिलिन्द जहाँ आयुष्मान् नागसेन थे, वहाँ गया।)

कुशल-प्रश्न पूछने और परिचय प्राप्त करने में ही दार्शनिक संलाप छिड़ गया। संवाद भी उस प्रश्न पर जो बुद्ध-दर्शन की आधार-भूमि है। अनात्म लक्षण! राजा मिलिन्द नागसेन के पास जा कर बैठ जाता है और उनसे पूछता है—

---

१. यूरोपीय विद्वानों ने पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल आदि के नाम देख कर ही यह समझ लिया है कि यहाँ 'मिलिन्द पञ्ह' के लेखक ने इन बुद्धकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है। यह एक भ्रम है। देखिये मिलिन्द प्रश्न, (हिन्दी अनुवाद) की बोधिनी में भिक्षु जगदीश काश्यप की इस विषय-सम्बन्धी टिप्पणी

२. तीसु वेदेसु सनिघंटुकेटुभेसु साक्खरप्पभेदेसु इतिहासपञ्चमेसु पदको वेय्याकरणो लोकायतमहापुरिसलक्खणेसु अनवयो अहोसि। पृष्ठ ११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

"भन्ते! आप किस नाम से पुकारे जाते हैं? आपका नाम क्या है?"

(किं नामोसि भन्ते'ति)

"महाराज! मैं 'नागसेन' नाम से पुकारा जाता हूँ। सब्रह्मचारी भिक्षु मुझे यही कह कर बुलाते हैं। माता-पिता अपने बच्चों के इस प्रकार के नाम रखते हैं, जैसे 'नागसेन', 'सूरसेन' आदि। लेकिन ये सब नाम केवल व्यवहार के लिए है। तात्विक दृष्टि से इस प्रकार का कोई व्यक्ति उपलब्ध नहीं होता।

(न हेत्थ पुग्गलो उपलब्भतीति)

बस, संप्रश्न और संवाद का पूरा क्षेत्र खुल गया!

"भन्ते! नागसेन! यदि यथार्थ में कोई व्यक्ति है ही नही तो आपको अपनी आवश्यक वस्तुएं कौन देता है? उन वस्तुओं का उपभोग कौन करता है? पुण्य कौन करता है? ध्यान कौन लगाता है? आर्य-मार्ग और उसका फल निर्वाण कौन प्रत्यक्ष करता है? ...... भले-बुरे का फिर तो कोई कर्ता ही नहीं? आपका कोई गुरु भी नही? आप उपसम्पन्न भी नही? आप कहते हैं आपको लोग 'नागसेन' नाम से पुकारते हैं। नागसेन है क्या?

"क्या केश नागसेन हैं?"

"केश किस प्रकार नागसेन हो सकते हैं?"

"तो क्या नख, दांत, चमड़ी, मांस, शरीर नागसेन हैं?"

"राजन्! ये भी नही।"

"तो क्या पञ्च स्कन्धों का संयोग नागसेन है?"

"नहीं महाराज!"

"तो क्या फिर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, इन पांच स्कन्धों से कोई व्यतिरिक्त वस्तु नागसेन है?" **(किं पन भन्ते अञ्ञत्र रूपवेदनासंञ्ञा-संखारविञ्ञाणं नागसेनोति)**

"नहीं महाराज!" **(नहि महाराजाति)**

मिलिन्द राजा थक जाता है। उसकी बुद्धि आगे संप्रश्न करना नहीं जानती।

"भन्ते! मैं पूछते पूछते हार गया, फिर भी मैं यह न जान सका कि 'नागसेन' क्या है? तो क्या 'नागसेन' केवल एक नाम ही है? अन्ततः 'नागसेन' है क्या।

वास्तव में ? भन्ते ! आप असत्य बोल रहे हैं कि 'नागसेन' नाम का कोई व्यक्तित्व यथार्थ में विद्यमान नहीं है !"

वितंडावादी मिलन्द की बुद्धि को परिश्रान्त जानकर भदन्त नागसेन उसे कुछ आसान मार्ग से समझाना चाहते हैं।

"महाराज ! आपका जन्म तो क्षत्रिय-कुल में हुआ है। इसलिए स्वभावतः आप सुकुमार हैं। फिर भी आप इतनी गर्मी में दोपहर को यहाँ चले ही आये। मुझे विश्वास है कि आप जरूर थक गये होंगे। आप पैदल आये हैं या रथ पर ?"

"भन्ते ! मैं पैदल नहीं चलता हूँ। मैं रथ पर आया हूँ।"

"महाराज ! यदि आप रथ पर आये हैं तो कृपया मुझे यह बताइये कि रथ है क्या ?"

"क्या रथ के बाँस रथ हैं ?"

"नही भन्ते ! रथ के बाँस रथ नहीं हो सकते।"

"तो क्या धुरा, पहिये, रस्से, जुआ, पहियों के डंडे, अथवा बैल हाँकने की लाठी, रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"तो फिर कहिये कि क्या रथ इनसे अलग कोई वस्तु है ?"

"नही भन्ते ! यह कैसे हो सकता है !"

"राजन् ! मैं पूछ पूछ कर हार गया। उस पर भी मैं न जान सका कि यथार्थ में रथ क्या है ? तो फिर क्या आपका रथ केवल एक नाममात्र है ? राजन् ! आप असत्य बोल रहे हैं कि आप रथ पर आये हैं। आप इस सारे जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में सब से प्रतापी राजा हैं। तो फिर आप किसके डर से असत्य बोल रहे हैं ?"

"भन्ते ! मैं असत्य नहीं बोल रहा हूँ। रथ के बाँस, पहिये, रथ का ढाँचा, पहियों के डंडे, हाँकने की लकड़ी, इन भिन्न भिन्न हिस्सों पर 'रथ' का अस्तित्व निर्भर है। 'रथ' एक शब्द है जो केवल व्यवहार के लिये है। **"रथोति संखा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्तं पवत्तीति।"**

"ठीक है महाराज ! आपने यथार्थ 'रथ' को समझ लिया। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति की भी हालत है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों पर मेरा अस्तित्व निर्भर है। 'नागसेन' शब्द केवल व्यवहारमात्र है। यथार्थ में

'नागसेन' नाम का कोई व्यक्तित्व विद्यमान नहीं है। परमार्थ रूप से व्यक्ति की उपलब्धि नहीं होती "**परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति।**"

भदन्त नागसेन की यह अनात्मवाद की व्याख्या बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके उद्धरण के बिना मूल बुद्ध-दर्शन सम्बन्धी अनात्मवाद का कोई भी विवेचन पूरा नहीं माना जा सकता। कहाँ तक भदन्त नागसेन ने बुद्ध-मन्तव्य निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया है, अथवा कहाँ तक उन्होंने उसके यथार्थ रूप का ही दिग्दर्शन किया है, इसके विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं। पहले मत का प्रतिपादन योग्यतापूर्वक डा० राधाकृष्णन् ने किया है,[1] जबकि इसी कारण महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास लिखने की उनकी योग्यता को ही संदेह की दृष्टि से देखा है।[2] इस विवाद में भाग न लेकर हम इतना ही कह देना अपने प्रस्तुत उद्देश्य के लिये पर्याप्त समझते हैं कि चाहे नागसेन की अनात्मवाद की व्याख्या बुद्ध-मन्तव्य का यथावत् निदर्शन करती हो या चाहे उन्होंने उसे निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया हो, वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण अवश्य है। न केवल स्थविरवादी बौद्ध साहित्य में ही, अपितु सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में, बुद्ध-वचनों को छोड़कर, अनात्म-वाद का उससे अधिक सुन्दर, उससे अधिक आकर्षक और उससे अधिक गम्भीर विवेचन कहीं नहीं मिल सकता। अतः बौद्ध दर्शन और बौद्ध साहित्य के विद्यार्थी के लिये हर हालत में उसका जानना आवश्यक है।

अनात्मवाद की उपर्युक्त व्याख्या मान लेने पर पुनर्जन्मवाद के साथ उसकी संगति किस प्रकार लगाई जा सकती है, यह भी समस्या मिलिन्द के सिर में चक्कर लगाती है। वह भदन्त नागसेन से पूछता है

"भन्ते नागसेन कौन उत्पन्न होता है? क्या उत्पन्न होने पर व्यक्ति वही रहता है या अन्य हो जाता है? **यो उप्पज्जति सो एव सो उदाहु अञ्ञो'ति।**"

"न तो वही और न अन्य ही—**न च सो न च अञ्ञो'ति**" स्थविर कहते हैं।

---

१. इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३८२-९०; कीथ, श्रीमती रायस डेविड्स और विंटरनित्ज़ की भी कुछ कुछ इसी प्रकार की मान्यता है, देखिये विंटरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७८, पद-संकेत ३।

२. दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ५३१-५३२।

राजा की समझ में यह उत्तर नहीं आता। स्थविर उदाहरण देकर समझाते हैं कि जब पुरुष बच्चा होता है और जब वह तरुण युवा होता है, तब क्या वह बालक और युवा एक ही होता है? नहीं ऐसा नहीं होता। .बालक अन्य होता है और वह तरुण युवा अन्य होता है। किन्तु यदि यही मान लिया जाय कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य होता है तो फिर न कोई किसी की माता रहेगी, न कोई किसी का पिता रहेगा, न आचार्य रहेगा........! फिर तो ऐसी ही प्रतीति होगी कि यह गर्भ की प्रथम अवस्था की माता है, यह दूसरी अवस्था की माता है, यह तीसरी अवस्था की, जो सब आपस में भिन्न भिन्न हैं, अन्य से अन्य हो गये हैं। क्या एक ही व्यक्ति के बालकपन की माँ भिन्न है उसकी युवावस्था की माँ से? **अञ्ञा खुद्दकस्स माता अञ्ञा महन्तस्स माता**! विद्यार्थी जब पाठशाला में पढ़ने जाता है तब क्या वह अन्य ही है? और जब वह विद्याध्ययन समाप्त करता है अन्य ही है? '**अञ्ञो सिप्पं सिक्खति अञ्ञो सिक्खितो भवति**—अन्य ही शिल्प सीखता है, अन्य ही शिक्षित होता है? अन्य ही पाप करता है और अन्य के ही अपराध-स्वरूप हाथ-पैर काटे जाते है? राजा घबड़ा जाता है क्योंकि वह पहले स्वयं ही स्वीकार कर चुका है कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य। अतः कुछ समझ नहीं सकता कि उसे क्या कहना चाहिए। विवश होकर वह भदन्त नागसेन से कहता है "भन्ते! आप ही मुझे बताइयें कि क्या बात है? **त्वं पन भन्ते एवं वुत्ते किं वदेय्यासीति।** भन्ते! ऐसा पूछने पर आप स्वयं क्या कहेंगे? स्थविर उसे समझाते हैं कि "धर्मों के लगातार प्रवाह से, उनके संघात रूप में आजाने से, एक उत्पन्न होता है, दूसरा निरुद्ध होता है, और यह सब ऐसे होता है जैसे मानो युगपत्, एक-साथ हो। इसलिए न तो सर्वथा उसी की तरह और न सर्वथा अन्य की तरह, वह जीवन की अन्तिम चेतनावस्था पर आता है।"[1] फिर भी मिलिन्द पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाता और वह पूछता है

---

१. **एवमेवं खो महाराज धम्मसनति सन्दहति, अञ्ञो उप्पज्जति, अञ्ञो निरुज्झति, अपुब्बं अचरिमं विय सन्दहति, तेन न च सो न च अञ्ञो पुरिस-**

"भन्ते नागसेन ! परं क्या है वह जो जन्म ग्रहण करता है ? **भन्ते नागसेन को पटिसन्दहति ?**

"हे महाराज ! नाम-रूप जन्म ग्रहण करता है । **नाम-रूपं खो महाराज पटिसन्दहति ।"**

"क्या यही नाम-रूप[1] जन्म ग्रहण करता है ?" "महाराज ! यह नाम-रूप जन्म ग्रहण नहीं करता, किन्तु इस नाम-रूप के द्वारा जो शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं और उन कर्मों के द्वारा जो अन्य नाम रूप उत्पन्न होता है, वही जन्म ग्रहण करता है, ।"[2] आगे समझाते हुए स्थविर कहते हैं "हे राजन् ! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है वह तो एक अन्य नाम-रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है वह एक अन्य होता है । किन्तु द्वितीय (नाम-रूप) प्रथम (नाम-रूप) में से ही निकलता है[3]. . . .अतः हे राजन् ! धर्म-सन्तति ही संसरण करती है, जन्म ग्रहण करती है—**एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति ।"**

इस प्रकार भदन्त नागसेन ने अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्मवाद की संगति मिलाने का प्रयत्न किया है, जो बौद्ध दर्शन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । द्वितीय परिच्छेद (लक्खण पञ्हो) की मुख्य विषय-वस्तु इतनी ही है ।

तृतीय परिच्छेद (विमतिच्छेदन पञ्हो) में राजा के सन्देहों (विमति) का, जो उसे अनेक छोटे छोटे विषयों पर हुए थे, भदन्त नागसेन द्वारा निवारण किया गया है । इस प्रकार के अनेक सन्देहों का इस परिच्छेद में विवरण किया गया है, जिनमें से कुछ का ही निदर्शन यहाँ किया जा सकता है । उदा-

---

विञ्ञाणे पच्छिमविञ्ञाणं संगहं गच्छतीति । मिलिन्दपञ्हो, लक्खणपञ्हो, पृष्ठ ४२ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

१. नाम अर्थात् सूक्ष्म चित्त और चेतसिक धर्म । रूप अर्थात् चार महाभूत और उनका विकार ।

२. न खो महाराज इमं येव नामरूपं पटिसन्दिहति । इमिना पन महाराज नामरूपेन कम्मं करोति सोभनं वा पापकं वा, तेन कम्मेन अञ्ञं नामरूपं पटिसन्दहतीति

३. एवमेव खो महाराज किञ्चापि अञ्ञं मरणान्तिकं नामरूपं अञ्ञं पटिसन्धिस्मिं नामरूपं अपि च ततो येव तं निब्बत्तं ति ।

हरणतः मिलिन्द पूछता है "भन्ते नागसेन ! क्या सभी लोग निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं **(भन्ते नागसेन सब्बेव लभन्ति निब्बाणंति)** ? भन्ते नागसेन ! क्या बुद्ध अनुत्तर हैं ? 'भन्ते नागसेन ! क्या बुद्ध सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं ?' 'क्या बुद्ध ब्रह्मचारी हैं ?' 'क्या उपसंपदा (भिक्षु-संस्कार) ठीक (सुन्दर) है ? 'भन्ते नागसेन ! कितने आकारों से स्मृति उत्पन्न होती है ? 'भन्ते नागसेन ! आप कहते हैं श्वास-प्रश्वास का निरोध किया जा सकता है। कैसे भन्ते ?" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने क्या कार्य अत्यंत दुष्कर किया है ?" आदि, आदि। भदन्त नागसेन ने इन सब प्रश्नों और सन्देहों का अत्यंत मनोरम शैली में उत्तर दिया है। प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनो ही अपने अपने प्रश्नोत्तरों से अन्त में संतुष्ट दिखाई पड़ते हैं। राजा मिलिन्द को ऐसा लगता है "जो सब मैंने पूछा, सबका भदन्त नागसेन ने मुझे उत्तर दिया **(सब्बं मया पुच्छितं'ति सब्बं भदन्तेन नागसेनेन विस्सज्जितं ति।** भदन्त नागसेन को भी ऐसा होता है "जो सब राजा मिलिन्द ने मुझसे पूछा उस सब का मैंने उत्तर दे दिया **(सब्बं मिलिन्देन रञ्ञा पुच्छितं, सब्बं मया विस्सज्जितंति।"** उठकर भिक्षु संघाराम में चले गये। राजा मिलिन्द भी अपने साथियों के साथ लौट गया। यह तीसरे परिच्छेद की विषय-वस्तु का सक्षेप है।

कुछ दिन बाद राजा मिलिन्द फिर भदन्त नागसेन के दर्शनार्थ आता है। इस बार वह उन विरोधों को भदन्त नागसेन के सामने रखता है जो उसे त्रैपिटक बुद्ध-वचनों के अन्दर मालूम पड़े हैं। मिलिन्द ने मननपूर्वक एक बुद्धिवादी की तरह त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों को पढ़ा है। उसे उनके अन्दर अनेक पारस्परिक विरोधी बातें दिखाई पड़ी हैं। इन्हें वह भदन्त नागसेन के सामने एक-एक करके रख देता है। भदन्त नागसेन उनका उत्तर देते हैं। 'मिलिन्द-पञ्ह' का चौथा परिच्छेद, जो इस ग्रन्थ का सबसे लम्बा परिच्छेद है, इन्ही संबंधी प्रश्नोत्तरों का विवरण है। ऊपर से विरोधी दिखाई देने वाले त्रिपिटक के विभिन्न विवरणों या बुद्ध-वचनों के विरोध का परिहार और उनमें समन्वय-स्थापन, यही इस परिच्छेद का लक्ष्य है, जो त्रिपिटक के विद्यार्थियों के लिए सदा महत्वपूर्ण रहेगा। इस प्रकरण में राजा मिलिन्द ने जो प्रश्न पूछे हैं या सुलझाने के लिए विरोधी वाक्य रक्खे हैं, वे इतने नाना

प्रकार के हैं कि उनका संक्षेप देना बड़ा कठिन है। केवल कुछ उदाहरण देकर हम उनके स्वरूप और शैली की ओर संकेत भर कर सकेंगे। भदन्त के चरणों में सिर रखकर, हाथ जोड़कर राजा ने कहा, "भन्ते नागसेन, "! भगवान् ने यह कहा "आनन्द ! पाँच सौ वर्ष तक सद्धर्म ठहरेगा।" पुनः जब परिनिर्वाण के समय सुभद्र परिव्राजक ने भगवान् से पूछा तो उन्होंने कहा 'सुभद्र ! यदि भिक्षु ठीक तरह विहार करेंगे तो यह लोक अर्हतों से कभी शून्य नही होगा।' यदि भन्ते नागसेन ! तथागत ने यह कहा कि सद्धर्म पांच सौ वर्ष ठहरेगा तब तो यह वचन कि यह लोक कभी अर्हतो से शून्य नहीं होगा, मिथ्या ठहरता है। और यदि तथागत ने यह कहा कि यह लोक कभी अर्हतों से शून्य नहीं ठहरेगा, तो फिर यह वचन कि सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ठहरेगा, मिथ्या ठहरता है ? भन्ते नागसेन ! यह दोनों ही ओर से कठिनता पैदा करने वाला, गहन से भी गहनतर, बलवान् से भी बलवत्तर, जटिल से भी जटिलतर, प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा है 'भिक्षुओ ! मैं जानकर ही धर्मोपदेश करता हूँ, बिना जाने नहीं।' पुनः उन्होंने विनय प्रज्ञप्ति के समय यह भी कहा 'आनन्द ! यदि संघ चाहे तो मेरे बाद छोटे-मोटे (क्षुद्रानुक्षुद्र) शिक्षापदों को छोड़ दे। भन्ते नागसेन ! क्या क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापद बिना जान बूझकर ही दिये हुए उपदेश है जो भगवान् ने उन्हें अपने बाद छोड देने के लिए कहा। भन्ते नागसेन ! यदि भगवान् का यह कहना ठीक है कि मैं जान बूझकर ही उपदेश करता हूँ, बिना जाने-बूझे नहीं, तो भगवान् का यह वचन मिथ्या है 'यदि संघ चाहे तो मेरे बाद क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदों को छोड़ दे, और यदि सचमुच ही भगवान् ने यह कहा कि मेरे बाद संघ क्षुद्रनुक्षुद्र शिक्षापदों को छोड़ दे, तो उनका यह कहना मिथ्या है कि 'मैं जानबूझकर ही उपदेश करता हूँ, बिना जाने बूझे नहीं'। यह भी दोनों ओर से कठिनता पैदा करने वाला सूक्ष्म, निपुण, गंभीर और उलझन पैदा करने वाला प्रश्न है जो आपकी सेवा में उपस्थित है। आप मुझे समझावें।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने कहा है 'तथागत को धर्मों में आचार्य-मुष्टि (न बताने योग्य बात) नही है।' किन्तु जब मालुंक्यपुत्त ने उनसे प्रश्न पूछा तो भगवान् ने उसकी व्याख्या नहीं की, उसे नहीं

बताया। क्या भगवान् जानते नहीं थे, इसलिए नहीं बताया, या भगवान् को वह रहस्य ही रखना था, इसलिए नहीं बताया। भन्ते नागसेन ! यदि भगवान् ने यह ठीक ही कहा था कि तथागत को रहस्य रखना नहीं है तो फिर क्या उन्होंने न जानने के कारण ही (अजानन्तेन) ही उसे नही बताया। यदि जानने पर भी नही बताया, तब तो फिर तथागत की आचार्य-मुष्टि (रहस्य-रखना) है ही। यह भी दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है। "भन्ते नागसेन ! आप कहते हैं कि तथागत को भोजन, वस्त्र, निवास-स्थान, पथ्य-औषधादि सामग्री सदा मिल जाती थी। फिर आप कहते हैं एक वार पञ्चशाल नामक ब्राह्मण-ग्राम में से भगवान् विना भिक्षा प्राप्त किये ही धुले-धुलाये भिक्षापात्र को लेकर लौट आये। ....भन्ते नागसेन यह भी दोनों ओर कठिनता पैदा करनेवाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा 'आनन्द ! तुम तथागत के शरीर की पूजा की चिन्ता मत करो।' पुनः उन्होंने यह भी कहा 'पूजनीय पुरुष की धातुओं की पूजा करो'....दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा मे उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा है 'भिक्षुओ ! पूर्ण पुरुष, तथागत् भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध नवीन मार्ग का उद्भावन करने वाले हैं।' पुनः एक दूसरी जगह उन्होंने यह भी कहा है, 'भिक्षुओ ! जिस प्राचीन मार्ग पर पूर्वकाल में ज्ञानी पुरुष चले, उसी का ही मैंने दर्शन प्राप्त किया है।' ....यह दोनों ओर कठिनता पैदा करनेवाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" इस प्रकार के अनेक विरोधाभासमय प्रश्न राजा मिलिन्द ने भदन्त नागसेन के सामने रक्खे हैं, जिनका उन्होंने अपनी अद्भुत शैली में उत्तर दिया है। प्रत्येक बौद्ध दर्शन के विद्यार्थी के लिए उनका पढ़ना अनिवार्य है। साहित्य की दृष्टि से भी वे अपने महत्व में अद्वितीय हैं।

'मिलिन्द पञ्ह' के पाँचवे परिच्छेद का नाम है 'अनुमान पञ्हो' (अनुमान प्रश्न)। एक बार फिर मिलिन्द राजा भदन्त नागसेन के दर्शनार्थ जाता है। वह उनसे पूछता है "भन्ते नागसेन ! क्या आपने बुद्ध को देखा है (किं पन बुद्धो तया दिट्ठोति) "नहीं महाराज" (नहि महाराजाति) "क्या आपके

आचार्यों ने बुद्ध को देखा है (किं पन ते आचरियेहि बुद्धो दिट्ठोति)" "नहीं महाराज !" "भन्ते नागसेन ! यदि आपने भी बुद्ध को नहीं देखा, आपके आचार्यों ने भी बुद्ध को नहीं देखा, तो भन्ते ! मैं समझता हूँ बुद्ध हैं ही नहीं, बुद्ध का कुछ पता ही नहीं ।" यदि किसी आधुनिक विद्वान् के सामने यह प्रश्न रक्खा जाता तो वह उन ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख करता जिनके आधार पर बुद्ध का अस्तित्व प्रमाणित किया जाता है। किन्तु नागसेन कालवादी नहीं हैं। वे धर्मवादी हैं। उनके लिए बुद्ध का धर्म ही बुद्ध के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। 'धम्म' के अस्तित्व से ही बुद्ध के अस्तित्व का अनुमान कर लेना चाहिए, यही इस संपूर्ण परिच्छेद की मूल ध्वनि है। "महाराज ! उन भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा प्रयुक्त ये वस्तुएँ जैसे कि चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक्-प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग अभी विद्यमान हैं । उनको देखकर ही पता लगा लेना चाहिए कि भगवान् बुद्ध अवश्य हुए हैं ।" "बहुत जनों को तारकर उपाधि (आवागमन-कारण) के मिट जाने से भगवान् निर्वाण को प्राप्त कर चुके । इस अनुमान से ही जान लेना चाहिए कि वे पुरुषोत्तम हुए हैं ।" "संसार के मनुष्य और देवताओं ने धर्मामृत को प्राप्त किया है, यही देखकर पता लगा लेना चाहिए कि धर्म की बड़ी लहर अवश्य बही होगी ।" "उत्तम गन्ध की महक पाकर लोग पता लगा लेते हैं कि जैसी गन्ध बह रही है उससे मालूम होता है कि फूल पुष्पित अवश्य हुए होंगे । वैसे ही यह शील की गन्ध जो देवताओं और मनुष्यों में बह रही है, इसी से समझ लेना चाहिए कि लोकोत्तर बुद्ध अवश्य हुए होंगे "आदि, आदि । इसी प्रसंग में 'धम्म-नगर' (धम्म रूपी नगर) के सुन्दर सांगोपांग रूपक का भी वर्णन किया गया है ।

छठे परिच्छेद में फिर राजा मिलिन्द भदन्त नागसेन के पास जाता है और इस बार वह उनसे फिर एक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछता है "भन्ते नागसेन ! क्या कोई गृहस्थ बिना घर को छोड़े, विषय का भोग करते हुए, स्त्री-पुत्रादि से घिरा हुआ, माला-गन्ध-विलेपन को धारण करता हुआ, सोने-चांदी का आस्वादन लेता हुआ....शान्त, निर्वाणपद को साक्षात्कार कर सकता

है ?" इसी के उत्तर में आगे बढ़ते बढ़ते भदन्त नागसेन १३ अवधूत नियमों (धुतंग) के विवेचन पर आ जाते हैं। इस परिच्छेद का नाम ही 'धुतङ्ग कथा' अर्थात् 'अवधूत-व्रतों का विवरण' है। वास्तव में 'मिलिन्द-पञ्ह' की विषय-वस्तु की अपेक्षा यह 'विसुद्धि-मग्ग' (द्वितीय परिच्छेद) की विषय-वस्तु का अधिक अभिन्न अंग है। अतः इन अवधूत-व्रतों अधिक विवरण न देकर यहाँ उनके नाम निर्देश कर देना ही आवश्यक होगा। अवधूत-व्रतों की संख्या १३ है, जो इस प्रकार है— (१) पांशुकूलिक (फटे-पुराने वस्त्रों को साफ कर उनसे सीये हुए वस्त्र पहनने का नियम (पंसुकूलिकंग) (२) तीन चीवर (भिक्षु-वस्त्र) पहनने का नियम (ते चीवरिकंग) (३) भिक्षान्न मात्र पर ही निर्वाह करने का नियम (पिण्डपातिकंग) (४) एक घर से दूसरे घर, बिना किसी घर को छोड़े हुए, भिक्षा माँगने का नियम (सपदानचारिकंग) (५) भोजन के लिए दूसरी बार न बैठने का नियम (एकासनिकंग), (६) केवल एक भिक्षापात्र में जितना भोजन आ जाय उतना ही भोजन करने का नियम (पत्तपिंडिकंग) (७) एक बार भोजन समाप्त कर लेने पर फिर कुछ न खाने का नियम (खलुपच्छाभत्ति कंग) (८) वनवासी होने का नियम (आरञ्ञिकंग) (९) वृक्ष के नीचे रहने का नियम (रुक्खमूलिकंग) (१०) खुले आकाश के नीचे रहने का नियम (अब्भोकासिकंग) (११) श्मशान में वास करने का नियम (सोसानिकंग) (१२) यथा-प्राप्त निवास-स्थान में रहने का नियम (यथासन्थतिकंग) और (१३) न लेटने का नियम (नेसज्जिकंग)।

सातवें परिच्छेद (ओपम्मकथापञ्ह) में उपमाओं के द्वारा यह बताया गया है कि अर्हत्त्व को साक्षात्कार करने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को किस प्रकार नाना गुणों का सम्पादन करना चाहिये। किस प्रकार उसे कछुए के पाँच गुण ग्रहण करने चाहिये, कौए के दो गुण ग्रहण करने चाहिये, हिरन के तीन गुण ग्रहण करने चाहिये, आदि,आदि। संवाद के आरम्भ से लेकर अन्त तक भदन्त नागसेन के गौरव की रक्षा की गई है। आरम्भ से ही उन्होंने राजा से तय कर लिया है कि संवाद 'पंडितवाद' के ढंग से होगा, 'राजवाद' के ढंग से नहीं। राजा सदा उनसे नीचे आसन पर बैठता है। प्रथम बार ही उनके उत्तर से सन्तुष्ट होकर वह उनका भक्त बन जाता है। वह उनके पैरों में अपने सिर को रख देता है और विनम्रता पूर्वक ही

प्रत्येकप्रश्न को पूछता है। अन्त में तो, जैसा हम पहले देख चुके हैं, वह उनका उपासक ही बन जाता है, और बुद्ध की, धम्म की और संघ की शरण जाता है, जो इतिहास के साक्ष्य के द्वारा भी प्रमाणित है।

'मिलिन्द पञ्ह' दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से तो एक महाग्रंथ है ही। साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व भी उसका अल्प नहीं है। यद्यपि स्थविरवाद बौद्ध धर्म का वह कण्ठहार है, जिसकी प्रतिष्ठा वहाँ बुद्ध-वचनों के समान ही मान्य है, वह भारतीय साहित्य की भी अमूल्य निधि है। यद्यपि लंका, बरमा और स्याम के समान भारत में उसकी आधुनिक लोक-भाषाओं में 'मिलिन्द पञ्ह' संबंधी प्रचुर साहित्य नहीं लिखा गया, किन्तु इस कारण उसे उस गौरव से, जो 'मिलिन्द पञ्ह' ने भारतीय साहित्य को दिया है, वंचित कर देना ठीक नहीं होगा। 'मिलिन्द पञ्ह' प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व की प्रभावशाली भारतीय गद्य-शैली का सर्वोत्तम नमूना है। विवेचनात्मक विषयों के लिए उपयुक्त हिन्दी की गद्य शैली का तो विकास हमारे साहित्य में अभी हुआ है। अंग्रेजी साहित्य की भी इस संबंधी परम्परा १००-२०० वर्ष से पहले नहीं जाती। बाण और दंडी का गद्य भी निश्चय ही इसके लिए उपयुक्त नहीं था। इस दृष्टि से 'मिलिन्द पञ्ह' की विचारात्मक गद्य-बद्ध शैली कितनी महत्वपूर्ण है, इसका सम्यक् अनुमापन ही नही किया जा सकता। लेखक का शब्दाधिकार और उसकी शैली की प्रवाहशीलता, उसका ओजमय शब्दचयन, प्रभावशाली कथन-प्रकार, उपमाओं और युक्तियों के द्वारा उसका स्वाभाविक अलंकार-विधान, सबसे बढ़कर उसकी सरलता और प्रसादगुण, ये सब गुण उसे साहित्यिक गद्य के निर्माताओं की उस श्रेणी में बैठा देते हैं, जहाँ उसका तेज सर्वोपरि है।[1] प्राचीन भारतीय गद्य-साहित्य में 'मिलिन्द पञ्ह' के समान कोई रचना न पाकर ही

---

१. पुण्य श्लोक डा० रायस डेविड्स 'मिलिन्द पञ्ह' की गद्य शैली के बड़े प्रशंसक थे। देखिये उनके मिलिन्दपञ्ह के अंग्रेजी अनुवाद, (दि क्विश्चन्स ऑफ किंग मिलिन्द, सेक्रेडबुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द ३५ वीं का भूमिकांश तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स जिल्द ८, पृष्ठ ६३१; मिलाइये विंटरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७६।

संभवतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह अनुमान लगा लिया है कि 'मिलिन्द पञ्ह' की शैली पर ग्रीक प्रभाव उपलक्षित है। यह एक बड़ा भ्रम है। भारतीय पराधीनता के युग में अधिकांश पश्चिमी विद्वान् यह विश्वास ही नहीं कर सकते थे कि भारत ने भी विश्व-संस्कृति को कुछ मौलिक योग-दान दिया है। इसी कारण उन्होंने अनेक प्राचीन भारतीय विशेषतापूर्ण बातों पर भी पश्चिमी प्रभाव की कल्पना कर ली है। अफलातूँ के संवादों के प्रभाव को 'मिलिन्द पञ्ह' की शैली पर बताने के समान और कोई निरर्थक बात नहीं कही जा सकती। पहले तो ग्रीक भाषा और विचार में नागसेन के परिचित होने का साक्ष्य नहीं दिया जा सकता, फिर जब उनके सामने प्राचीन उपनिषदों और स्वयं बुद्ध-वचनों के रूप में गम्भीर संवादों की परम्परा प्रस्तुत थी, तो वे उसे छोड़कर विदेश से उसे ग्रहण करने क्यों जाते ? वह समय तो भारतीय संस्कृति के गौरव का था और हम समझते हैं भारतीय ज्ञान का वह गौरव ही 'मिलिन्द पञ्ह' में प्रतिध्वनित हुआ है, जिससे नमित होकर ही बुद्धिवादी मिलिन्द राजा बुद्ध-धर्म में उपासकत्व ग्रहण करता है। यह भारतीय ज्ञान की महान् विजय का द्योतक है—उस ग्रीक ज्ञान पर जिसकी पाश्चात्य जगत् बड़ी दम भरता है और जिससे ही उसने अपना सारा ज्ञान वास्तव में प्राप्त भी किया है। 'मिलिन्दपञ्ह' उस ज्ञान-विजय अथवा धम्म-विजय का स्मारक और परिचायक है, जिसे भारत ने उस समय के, अपने अलावा, सबसे अधिक ज्ञान-संपन्न देश पर प्राप्त किया था। इस दृष्टि से वह भारतीय वाङ्मय के अमर रत्नों में से एक है। जहाँ तक 'मिलिन्द पञ्ह' की शैली के स्रोतों या उसकी प्रेरणा का सवाल है, वह निश्चय ही तेपटिक बुद्ध-वचनों में ही निहित है। दीघ-निकाय के 'पायासि-सुत्त' जैसे सुत्तों की जीवित संवाद-शैली उसकी प्रेरणा-स्वरूप मानी जा सकती है। 'कथावत्थु' के अप्रतिम आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स के भी भदन्त नागसेन कम ऋणी नहीं हैं। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन हम यहाँ विस्तार-भय के कारण नहीं कर सकते, किन्तु यह तो निश्चित ही है कि मोग्गलिपुत्त के समाधानों पर ही नागसेन के अधिकांश 'प्रश्न-व्याकरण' (प्रश्नों के उत्तर) आधारित हैं और जिस मन्तव्य को वहाँ 'स्थविरवाद' के रूप में अपनाया गया है, वही मन्तव्य 'मिलिन्द पञ्ह' कार का भी है। यद्यपि

उपनिषदों की शैली का कोई स्पष्ट प्रभाव 'मिलिन्द पञ्ह' पर उपलक्षित नही होता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि श्वेतकेतु आरुणेय और प्रवाहण जैवलि (जिनके संवाद छान्दोग्य. १।८।३ और बृहदारण्यक ६।२।१ में आते है), आरुणि और याज्ञवल्क्य (जिनके संवाद बृहदारण्यक ३।७।१ में आते है), आरुणि और श्वेतकेतु (छान्दोग्य (६।१), आदि अनेक ऋषियों के संवाद अपनी विचित्र विशेषता रखते हुए भी मिलिन्द और नागसेन के प्रभावशाली संवादों में अपनी पूर्णता प्राप्त करते है । इतिहास की दृष्टि से, विशेषतः पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से, 'मिलिन्द पञ्ह' का यह महत्व है कि उसमें पालि त्रिपिटक के नाना ग्रन्थों के नाम दे देकर, पाँच निकायों, अभिधम्म पिटक के सात ग्रन्थों, और उनके भिन्न भिन्न अंगों के निर्देशपूर्वक अनेक अंश उद्धृत किये गये है, जिनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पालि त्रिपिटक प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व अपने उसी नाम-रूप में विद्यमान था, जिसमें वह आज है।[१] इस प्रकार 'मिलिन्द पञ्ह' का साक्ष्य अशोक के अभिलेखों द्वारा प्रदत्त साक्ष्य का समर्थन करता है। 'मिलिन्द पञ्ह' में अनेक स्थानों के वर्णन है, जैसे अलसन्द (अलेक्जेन्ड्रिया) यवन (यूनान, बैक्ट्रिया) भरुकच्छ, (भड़ौच) चीन (चीन-देश), गान्धार, कलिंग, कजंगला, कोसल, मधुरा (मथुरा) सागल साकेत, सौराष्ट्र (सोरट्ठ) वाराणसी, वंग, तक्कोल, उज्जेनी, आदि । इनसे तत्कालीन भारतीय भूगोल पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सारांश यह कि धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भूगोल, सभी दृष्टियों से 'मिलिन्द पञ्ह' का भारतीय वाङमय के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है और पालि अनुपिटक-साहित्य में तो उसके समान महत्वपूर्ण कोई दूसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ है ही नही, यह तो निर्विवाद ही है।

अन्य साहित्य

पालि त्रिपिटक के संकलन और अट्ठकथा-साहित्य के प्रणयन के बीच के युग में उपर्युक्त तीन ग्रन्थों (नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, मिलिन्दपञ्ह)

---

१. देखिये रायस डेविड्स : दि क्वेश्चन्स ऑव किंग मिलिन्द (मिलिन्दपञ्ह का अंग्रेजी अनुवाद), सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५वीं, पृष्ठ १४ (भूमिका)।

के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ (दीपवंस) भी है। यह भी प्राग्बुद्धघोष-कालीन पालि साहित्य की एक प्रमुख रचना है। 'वंश-साहित्य' का विवरण देते समय हम इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का परिचय देंगे। इसी प्रकार सिंहली अट्ठ-कथाएँ और पुराणाचार्यों (पोराणाचरिय) के ग्रन्थ आदि भी इन शताब्दियों में लिखे गये, जिनका विवरण अट्ठकथा-साहित्य के प्रकरण में ही दिया जायगा। इसी युग के साहित्य के रूप में गायगर ने 'सुत्त संगह' की भी चर्चा की है, जो किसी अज्ञात लेखक के द्वारा किया हुआ सुत्तों का संग्रह है और 'विमानवत्थु' आदि के समान अल्प महत्व की रचना है। बरमी परम्परा इसे 'खुद्दक-निकाय' के अन्तर्गत मानती है, किन्तु इसके प्रणेता या प्रणयन-काल के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

सातवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग

(४०० ई० से ११०० ई० तक)

अर्थ कथा-साहित्य का उद्भव और विकास

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार स्थविर महेन्द्र और उनके साथी भिक्षु पालि-त्रिपिटक के साथ-साथ उसकी 'अट्ठकथा' को भी अपने साथ लंका में ले गये ।[1] यह निश्चित है कि जिस रूप में यह 'अट्ठकथा' लंका में ले जाई गई होगी वह पालि-त्रिपिटक के समान मौखिक ही रहा होगा । प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व जब लंकाधिपति वट्टगामणि अभय के समय में पालि-त्रिपिटक लेख-बद्ध किया गया, तो उसकी उपर्युक्त 'अट्ठकथा' के भी लेखबद्ध होने की कोई सूचना हम नहीं पाते । अतः महेन्द्र द्वारा लंका में पालि-त्रिपिटक की 'अट्ठकथा' भी ले जाये जाने का कोई ऐतिहासिक आधार हमें नहीं मिलता । उन अट्ठकथाओं का कोई अंश आज किसी रूप में सुरक्षित नहीं है । हाँ, एक दूसरी प्रकार की 'अट्ठकथाओं' के अस्तित्व का साक्ष्य हम सिंहल के इतिहास में अत्यन्त प्रारम्भिक काल में ही पाते हैं । ये प्राचीन सिंहली भाषा में लिखी हुई अट्ठकथाएँ हैं । जैसा हम आगे अभी इसी प्रकरण में देखेंगे, आचार्य बुद्धघोष इन्हीं प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का पालि रूपान्तर करने के लिये लंका गये थे । चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी में न केवल बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल आदि के द्वारा रचित विस्तृत अट्ठ-कथा-साहित्य, बल्कि प्राग्बुद्धघोषकालीन लंका का इतिहास-ग्रन्थ 'दीपवंस' और बाद में उसी के आधार-स्वरूप रचित 'महावंस' भी, अपनी विषय-वस्तु के मूल आधार और स्रोतों के लिये इन्हीं प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के ऋणी हैं । महावंस-टीका (६३।५४९-५५०) के आधार पर गायगर ने यह सिद्ध करने का

---

१. देखिये समन्तपासादिका की बहिरनिदानवण्णना ।

प्रयत्न किया है कि ये प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ बारहवीं शताब्दी ईसवी तक प्राप्त थीं। आज इनका कोई अंश सुरक्षित नहीं है।

जैसा अभी कहा गया, बुद्धघोष महास्थविर प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का पालि रूपान्तर करने के लिये ही लंका गये थे। उन्होंने अपनी विभिन्न अट्ठकथाओं में जिन प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का निर्देश किया है, या उनसे उद्धरण दिये हैं, उनमें ये मुख्य है (१) महा-अट्ठकथा (२) महा-पच्चरी या महा-पच्चरिय (३) कुरुन्दी या कुरुन्दिय (४) अन्धट्ठकथा (५) संखेप-अट्ठकथा (६) आगमट्ठकथा (७) आचरियानं- समानट्ठकथा। दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर, इन चारों निकायों की अपनी 'अट्ठकथाओं' के अन्त में आचार्य बुद्धघोष ने अलग अलग कहा है "**सा हि महा-अट्ठकथाय सारमादाय निट्ठिता एसा**" अर्थात् "इसे मैंने महा-अट्ठकथा के सार को लेकर पूरा किया है"। इससे निश्चित है कि बुद्धघोष-कृत 'सुमंगल विलासिनी' 'पपंचसूदनी' 'सारत्थ पकासिनी' और 'मनोरथपूरणी' (क्रमशः दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों की अट्ठकथाएँ) प्राचीन सिंहली अट्ठकथा जिसका नाम 'महा अट्ठकथा' था, पर आधारित हैं। उपर्युक्त कथन के साक्ष्य पर 'सद्धम्म संगह' (१४वीं शताब्दी) का यह कहना कि 'महा-अट्ठकथा' सुत्त-पिटक की अट्ठकथा थी,[1] ठीक मालूम पड़ता है। इसी प्रकार 'सद्धम्म संगह' के अनुसार 'महापच्चरी' और 'कुरुन्दी' क्रमशः अभिधम्म और विनय की अट्ठकथाएँ थीं।[2] 'कुरुन्दी' 'विनय-पिटक' की ही अट्ठकथा थी, इसे आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से पूरा समर्थन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि विनय-पिटक की अट्ठकथा (समन्तपासादिका) के आरम्भ में उन्होंने अपनी इस अट्ठकथा के मुख्य आधार के रूप में 'कुरुन्दी' का उल्लेख नहीं किया है। वहाँ उन्होंने केवल यह कहा है कि ये तीनों अट्ठकथाएँ (महा-अट्ठकथा, महापच्चरी, एवं कुरुन्दी) प्राचीन अट्ठकथाएँ थीं और सिंहली भाषा में लिखी गईं थीं। 'गन्धवंस' में भी उपर्युक्त तीनों अट्ठकथाओं का उल्लेख किया गया है। वहाँ 'महा-अट्ठकथा' (सुत्त-पिटक की अट्ठकथा) को इन सब में प्रधान

१, २. सद्धम्म संगह, पृष्ठ ५५ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८९० में प्रकाशित संस्करण)

बताया गया है और उसे पुराणाचार्यों (पोराणाचरिया) की रचना बतलाया गया है, जब कि अन्य दो अट्ठकथाओं को ग्रन्थाचार्यों (गन्धाचरिया) की रचनाएं बतलाया गया है[१]। इससे स्पष्ट कि 'गन्धवंस' के अनुसार 'महा-अट्ठकथा' की प्राचीनता और प्रामाणिकता अन्य दो की अपेक्षा अधिक थी। 'अन्धट्ठकथा' और 'संखेपट्ठकथा' तथा इनके साथ साथ 'चूलपच्चरी' और 'पण्णवार' नाम की प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख 'समन्तपासादिका' की दो टीकाओं 'वजिरबुद्धि' और 'सारत्थदीपनी' में भी किया गया है[२]। किन्तु इनके विषय में भी हमारी कोई विशेष जानकारी नही है[३]। 'आचरियानं समानट्ठकथा' जिसका उल्लेख बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' के आदि में किया है, किसी विशेष अट्ठकथा का नाम न होकर केवल अनेक अट्ठकथाओं के समान सिद्धान्तों का सूचक है, यही मानना अधिक समीचीन जान पड़ता है। 'आगमट्ठ-कथा', जिसका उल्लेख आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' और 'समन्तपासादिका' दोनों के आदि में किया है, सम्पूर्ण आगमों या निकायों की एक सामान्य अट्ठकथा ही रही होगी। कुछ भी हो, बुद्धघोष ने जिन प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है, वे किन्ही लेखकों की व्यक्तिगत रचनाएँ न होकर महाविहार-वासी भिक्षुओं की परम्पराप्राप्त कृतियाँ थीं जो उनकी सामान्य सम्पत्ति के रूप में चली आ रही थीं। आचार्य बुद्धघोष ने इन महाविहारवासी भिक्षुओं की आदेशना-विधि को लेकर ही अपनी समस्त अट्ठकथाएँ और 'विसुद्धिमग्ग' लिखे, यह उन्होंने सब जगह स्पष्ट कर दिया है। 'विसुद्धि-मग्ग' के साक्ष्य का हम पीछे विवरण देंगे, अभी केवल 'समन्तपासादिका' और 'अट्ठसालिनी' के इस साक्ष्य को देखें—

"महाविहारवासीनं दीपयन्तो विनिच्छयं
अत्थं पकासयिस्सामि आगमट्ठकथासु पि"

---

१. पृष्ठ ५९ एवं ६८ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)

२. देखिये गायगर : इंडियन लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २५

३. इनके कुछ अनुमानाश्रित विवरण के लिए देखिये लाहा : पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३७६; श्रीमती रायस डेविड्स : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स, पृष्ठ २२ (भूमिका)

आगे बुद्धघोष के जीवन-विवरण से भी यही स्पष्ट होगा कि 'महाविहार' की परम्परा पर आश्रित सिद्धान्तों के अनुसार ही उन्होंने अपने विशाल अट्ठकथा साहित्य की रचना की है। यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि 'महाविहार' के अलावा 'उत्तर विहार' नामक एक अन्य विहार के भिक्षुओं की परम्परा भी उस समय प्रचलित थी। बुद्धदत्त का 'उत्तरविनिच्छय' उसी पर आधारित है।

प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं को अपनी रचनाओं का आधार स्वीकार करने के अतिरिक्त आचार्य बुद्धघोष ने 'प्राचीन स्थविरों' (पोराणकत्थेरा) या 'प्राचीनों' 'पुराने लोगों (पोराणा) के मतों के उद्धरण अनेक बार अपनी अट्ठकथाओं में दिये हैं[1]। ये 'प्राचीन स्थविर' या 'पुराने लोग' कौन थे ? 'गन्धवंस' के मतानुसार प्रथम तीन धर्म-संगीतियों के आचार्य भिक्षु, आर्य महाकात्यायन को छोड़कर, 'पोराणा' या 'पुराने लोग' कहलाते हैं[2]। सम्भवतः प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं में इन प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख था। वहीं से उनका पालि रूपान्तर कर आचार्य बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में ले लया है। इन 'पोराणों' के उद्धरणों की एक बड़ी विशेषता यह है कि ये प्रायः पद्य-मय हैं और अनेक उद्धरण जो बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में मिलते है, बिलकुल उन्हीं शब्दों में 'महावंस' में भी मिलते है। इससे इस मान्यता को दृढ़ता मिलती है कि बुद्धघोष की अट्ठकथाएँ और 'महावंस' दोनों के मूल स्रोत और आधार प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ ही हैं। 'यथाहु पोराणा' (जैसा पुराने लोगों ने कहा) या 'तेने वे पोराणकत्थेरा' (इसी प्रकार प्राचीन स्थविर) आदि शब्दों से आरम्भ होने वाले इन 'पोराण' आचार्यों के उद्धरणों को बुद्धघोष की अट्ठकथाओं और 'विसुद्धिमग्ग' से यदि संग्रह किया जाय और 'दीपवंस' आदि के इसी प्रकार के साक्ष्यों से उसका मिलान किया जाय तो प्राचीन बौद्ध परम्परा सम्बन्धी एक व्यवस्थित

---

१. 'पोराणों' के कुछ उद्धरणों के लिए देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्ध घोष, पृष्ठ ६५-६७

२. देखिये आगे नवें अध्याय में गन्धवंस की विषय-विस्तु का विवेचन।

और अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री हाथ लग सकती है, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व भी अल्प न होगा।

प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं और पुराने आचार्यों के अतिरिक्त आचार्य बुद्धघोष ने अपने पूर्वगामी सभी स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की है। 'दीपवंस' और 'मिलिन्द पञ्ह' तो प्राग्बुद्धघोषकालीन रचनाएँ हैं ही, बुद्ध घोष ने अपनी व्याख्याओं के लिये सब से अधिक मूल्यवान् सामग्री तो बुद्ध और उनके प्रारम्भिक शिष्यों के वचनों के स्वकीय मन्थन से ही प्राप्त की है। इसी में उनकी मौलिकता भी है। चूंकि इसमें उन्हें इतनी अधिक सफलता मिली है, इसीलिये पालि-साहित्य में उनका दान अमर हो गया है। स्वयं त्रिपिटक-साहित्य में ऐसी अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, जिससे बुद्धघोष जैसे अगाध विद्वान् चाहे जितनी सहायता ले सकते थे। स्वयं भगवान् बुद्ध के सडायतन विभंग (मज्झिम. ३।४।७) अरण विभंग (मज्झिम. ३।४।९) धातु विभंग (मज्झिम. ३।४।१०) एवं दक्खिणा-विभंग (मज्झिम. ३।४।१२) आदि सुत्तों में निहित व्याख्यात्मक उपदेश, तथा उनके प्रधान शिष्यों यथा सारिपुत्र, महाकात्यायन, महाकोट्ठित आदि के व्याख्यापरक निर्वचन, अभिधम्म-पिटक और उसके अन्तर्गत विशेषतः 'कथावत्थु' की विवेचन- प्रणाली, ये सभी स्रोत और साधन बुद्धघोष के लिये खुले पड़े थे, जिनका पूरा उपयोग कर उन्होंने पालि-साहित्य में उस विशाल अट्ठकथा-साहित्य का प्रवर्तन किया, जो अपनी विशालता और गम्भीरता में भारतीय साहित्य में उपलब्ध समान कोटि के प्रत्येक साहित्य से बढ़कर है।

अट्ठकथा-साहित्य की संस्कृत भाष्य और टीकाओं से तुलना—अट्ठकथाओं की कुछ सामान्य विशेषताएँ

वास्तव में पालि के अट्ठकथा-साहित्य के समान भारतीय भाष्य-साहित्य में अन्य कुछ नहीं है। संस्कृत में भाष्य और टीकाएँ अवश्य है, किन्तु उनकी तुलना सर्वांश में पालि अट्ठकथाओं से नहीं की जा सकती। भाष्य की परिभाषा संस्कृत में इस प्रकार की गई है—

> "सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
> स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।" शब्द-कल्पद्रुम

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भाष्य का मुख्य उद्देश्य सूत्र के अर्थ का वर्णन करना है और इसी की पूर्ति के लिये वह कुछ स्व-कथन भी करता है जिसकी भी व्याख्या में वह प्रवृत्त होता है। संस्कृत के भाष्य इस परिभाषा पर पूरे उतरते हैं। किन्तु यदि पालि अट्ठकथाओं का सम्बन्ध त्रिपिटक या बुद्ध-वचनों से उसी प्रकार का माना जाय जैसे भाष्यों का सूत्रों से, तो यह पालि के अट्ठकथा-साहित्य की एक प्रमुख विशेषता को व्यक्त न करेगा। अर्थ की व्याख्या के साथ साथ पालि अट्ठकथाओं का एक बड़ा उद्देश्य उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी स्पष्ट रूप से विवृत कर देना है। किसी संस्कृत के भाष्यकार ने ऐसा किया हो, यह हम नहीं कह सकते। कम से कम जिस ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय पालि अट्ठकथाकारों ने दिया है, वह संस्कृत के भाष्यकारों में तो उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत भाष्यों में अर्थ की व्याख्या पर जोर होता है। यही काम उनकी टीकाएँ भी करती हैं। अनेक सिद्धान्तों या विचार-धाराओं के विवरण वहाँ आते हैं, किन्तु 'इत्येके' 'इत्यपरे' कह कर ही छोड़ दिये जाते हैं। कौन सा सिद्धान्त कब उत्पन्न हुआ, अथवा वह किन का था, आदि की गवेषणा वहाँ नहीं की जाती। वहाँ केवल सिद्धान्त का ही अर्थ-विवेचन अधिकतर किया जाता है। इसके विपरीत पालि-अट्ठकथाओं में पूरे विवरण की सूची रहती है। 'कथावत्थु' की अट्ठकथा को इस दृष्टि से देखें तो आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। वहाँ निराकृत २१६ सिद्धान्तों में से कौन किस सम्प्रदाय का सिद्धान्त था और वह कब उत्पन्न हुआ, आदि का पूरा विवरण वहाँ दिया गया, है। वेदों के भाष्यो में ऋषियों की जीवनियों के विषय में उतना भी नहीं कहा गया, जितना पालि अट्ठकठाओं में बुद्ध और उनके शिष्यों के विषय में कहा गया है। निश्चय ही उन्होंने जो ऐतिहासिक ब्यौरे दिये हैं वे पूरे भारतीय साहित्य के लिये एक दम नई चीज हैं और उनकी इस विशेषता को हमें उनका महत्त्वांकन करते समय सदा ध्यान में रखना चाहिये।

पालि साहित्य के तीन बड़े अट्ठकथाकार: बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल

पालि-साहित्य में अट्ठकथा-साहित्य का प्रारम्भ चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी मे होता है। इस प्रकार बुद्ध-युग से लगभग एक हजार वर्ष बाद ये अट्ठ-कथाएँ लिखी गईं। निश्चय ही काल के इस इतने लम्बे व्यवधान के कारण इन

अट्ठकथाओं की प्रामाणिकता उतनी सबल नहीं होती, यदि ये परम्परा से प्राप्त प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं पर आधारित नहीं होतीं। चूंकि ये उनकी ऐतिहासिक परम्परा पर आधारित हैं, अतः इतनी आधुनिक होते हुए भी बुद्ध-युग के सम्बन्ध में इनका प्रामाण्य मान्य है, यद्यपि स्वयं त्रिपिटक के बाद। चौथी-पाँचवीं शताब्दी में प्रायः समकालिक ही तीन बड़े अट्ठकथाकार पालि साहित्य में हुए हैं, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल। इनके बाद कुछ और भी अट्ठकथाकार हुए, जिनका विवरण हम बाद में देंगे। अभी हम इन तीन आचार्यों के जीवन और कार्य पर विहंगम दृष्टि डालें।

बुद्धदत्त की जीवनी और रचनाएँ

बुद्धदत्त और बुद्धघोष समकालिक थे, यह 'बुद्धघोसुप्पत्ति' (बुद्धघोष की जीवनी) और 'गन्धवंस' तथा 'सासनवंस' (१९वीं शताब्दी के वंश-ग्रन्थ) के वर्णनों से ज्ञात होता है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णनानुसार आचार्य बुद्धदत्त, बुद्धघोष से पहले लंका में बुद्ध-वचनों के अध्ययनार्थ गये थे। अपने अध्ययन को समाप्त कर जिस नाव से लौट कर वे भारत (जम्बुद्वीप) आ रहे थे, उसका मिलान उस नाव से हो गया जिसमें बैठकर इधर से आचार्य बुद्धघोष लंका को जा रहे थे। दोनों स्थविरों में धर्म-संलाप हुआ। कुशल-मंगल और एक दूसरे का परिचय प्राप्त करने के बाद आचार्य बुद्धघोष ने उन्हें बताया "बुद्ध-उपदेश सिंहली भाषा में हैं। मै उनका मागधी रूपान्तर करने लंका जा रहा हूँ"। बुद्धदत्त ने उनसे कहा "आवुस बुद्धघोष! मैं भी तुमसे पूर्व इस लंका द्वीप में भगवान् के शासन को सिंहली भाषा से मागधी भाषामें रूपान्तरित करने के उद्देश्य से आया था। किन्तु मेरी आयु थोड़ी रही है। मैं अब इस काम को पूरा नहीं कर सकूंगा।"[1] जब इस प्रकार दोनों स्थविरों में आपसमें बातचीत चल रही थी तभी दोनों नावें एक दूसरी

---

१. "आवुसो बुद्धघोस अहं तया पुब्बे लंका दीपे भगवतो सासनं कातुं आगतोम्हि ति वत्वा अहं अप्पायुको. . . ." बुद्धघोसुप्पत्ति, पृष्ठ ६० (जेम्स ग्रे का संस्करण), यही वर्णन बिलकुल 'सासनवंस' में भी है, देखिये पृष्ठ २९-३० मेबिल बोड का संस्करण)

को छोड़कर चल दीं।[१] इस विवरण से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि बुद्धदत्त बुद्धघोष से पहले लंका गये थे और दूसरी यह कि वे आयु में बुद्धघोष से बड़े थे, क्योंकि उक्त संलाप में उन्होंने बुद्धघोष को 'आवुस' कह कर पुकारा है जो बड़ों के द्वारा छोटों के लिय प्रयुक्त किया जाता है।[२] बुद्धदत्त ने अपने विनय-बिनिच्छय (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के आरम्भ में ही बुद्धघोष के साथ अपने मिलन और संलाप का वर्णन किया है। उससे प्रकट होता है कि बुद्धदत्त ने बुद्धघोष से यह प्रार्थना की थी कि जब वे अपनी अट्ठकथाएँ समाप्त कर लें तो उनकी प्रतियाँ उनके पास भी भेज दें, ताकि वे उन्हे संक्षिप्त रूप प्रदान कर सकें। आचार्य बुद्धघोष ने उनकी इस प्रार्थना के अनुसार बाद में अपनी अट्ठकथाएँ उनके पास भेज दीं। आचार्य बुद्धदत्त ने आचार्य बुद्धघोष-कृत अभिधम्म-पिटक की अट्ठकथाओं का संक्षेप 'अभिधम्मावतार' में और विनय सम्बन्धी अट्ठकथा का संक्षेप 'विनय-विनिच्छय' में किया। इस सूचना में सन्देह करने की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि यह स्वयं बुद्धदत्त द्वारा दी हुई है। हाँ, 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णन के साथ उसका कुछ विरोध अवश्य है, क्योंकि लंका से लौटने के समय ही वे 'अल्पायु' तक जीने की आशा रखते थे, फिर इतने काल तक बुद्धघोष की अट्ठकथाओं के संक्षेप लिखने के लिये किस प्रकार जीवित रहे ? फिर भी इसमें कुछ वैसा विरोध नही है, जिस पर विश्वास ही नहीं किया जासके। हर हालत में 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णन की अपेक्षा 'विनय-विनिच्छय' का वर्णन ही अधिक प्रामाणिक है, और यदि दोनों स्थविरों को हम प्रायः समवयस्क मान सकें, तब तो उनमें कुछ ऐसा अन्तर भी नहीं है। आचार्य बुद्धदत्त चोल-राज्य में उरगपुर (वर्तमान उरइपुर) के निवासी थे। आचार्य बुद्धघोष के समान उन्होंने

---

१. एवं तेसं द्विन्नं थेरानं अञ्ञमञ्ञं सल्लपन्तानं येव द्वे नावा सयं एव अपनेत्वा गच्छिंसु। बुद्धघोसुप्पत्ति एवं सासनवंस, ऊपर उद्धृत के समान।

२. मिलाइये बुद्धदत्त के ग्रन्थों के सम्पादक उसी नाम के आधुनिक सिंहली भिक्षु (बुद्धदत्त) का यह कथन "अयं पन बुद्धदत्ताचरियो बुद्धघोसाचरियेन समानवस्सिको वा थोकं वुड्ढतरो वा ति सल्लक्खेम" (अथार्त बुद्धदत्त बुद्धघोष के समवयस्क याकुछ ही बड़े थे, ऐसा लगता है)

भी लंका के अनुराधपुर-स्थित महाविहार में जाकर भगवान् (बुद्ध) के शासन-सम्बन्धी उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। लंका से लौट कर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना कावेरी नदी के तट पर दक्षिण के कृष्णदास (कण्हदास) या विष्णुदास (वेण्हुदास) नामक वैष्णव द्वारा निर्मित विहार में बैठ कर की,[1] जो वैष्णवों और बौद्धों के मधुर सम्बन्ध के रूप में पालि-साहित्य में सदा स्मृत रहेगी।

बुद्धदत्त द्वारा रचित ग्रन्थ या अट्ठकथाएँ इस प्रकार हैं (१) उत्तरविनिच्छय (२) विनयविनिच्छय (३) अभिधम्मावतार (४) रूपारूपविभाग और मधुरत्थविलासिनी (बुद्धवंस की अट्ठकथा)। 'उत्तरविनिच्छय' (उत्तर विनिश्चय) और 'विनय-विनिच्छय' दोनों बुद्धघोषकृत समन्त-पासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के पद्यबद्ध संक्षेप हैं। विनय-विनिच्छय में ३१ और उत्तर विनिच्छय में २३ अध्याय हैं। उत्तर-विनिच्छय के २३ अध्यायों में ९६९ गाथाएँ हैं। विनय-पिटक की विषय-सूची का अनुसरण करते हुए इसमें भी पहले महाविभंग या भिक्खु-विभंग सम्बन्धी नियमों का विवरण है, यथा पाराजिक-कथा, पटिदेसनिय कथा, सेखिय कथा, आदि। इसके बाद भिक्खुनी-विभंग के विषय हैं, यथा पाराजिक-कथा, संघादिसेस कथा, निस्सग्गिय कथा, अधिकरण पच्चय कथा, खन्धक पुच्छा, आपत्ति समुट्ठान कथा, आदि। 'उत्तर-विनिच्छय' सिंहल के 'उत्तर विहार' की परम्परा के आधार पर लिखी गयी अट्ठकथा है, यह पहले कहा जा चुका है। विनय-विनिच्छय के ३१ अध्यायों में कुल मिलाकर ३१८३ गाथाएँ हैं। इसकी भी विषय-वस्तु उत्तर-विनिच्छय से ही मिलती जुलती है। केवल व्याख्या में कहीं कुछ अन्तर है। पहले महाविभंग (भिक्खु विभंग) के अन्तर्गत पाराजिक-कथा, संघादिसेस कथा, अनियत कथा, निस्सग्गिय पाचित्तिय कथा, पटिदेसनिय कथा तथा सेखिय-कथा का विवरण है। इसी प्रकार भिक्खुनी-विभंग के अन्तर्गत पाराजिक कथा, संघादिसेस कथा, निस्सग्गिय-पाचित्तिय कथा और पटिदेस-

---

१. 'अभिधम्मावतार' में उन्होंने स्वयं कहा है "विनय-विनिच्छयो . . . . चोलरट्ठे भूतमंगलगामे वेण्हुदासस्स आरामे वसन्तेन . . . कावेरीपट्टने रम्मे नानारामोपसोभिते कारिते कण्हदासेन वस्सनीये मनोरमे।"

निय कथा के विवेचन हैं ।[१] फिर खन्धक-कथा, कम्म कथा, पकिण्णक कथा, कम्मट्ठान-कथा आदि के विवेचन हैं । इस प्रकार उत्तर-विनिच्छय[२] और विनय-विनिच्छय[३] दोनों ही अट्ठकथाएँ विनय-पिटक की विषय-वस्तु का समन्त-पासादिका के आधार पर, पद्य में विवेचन करती हैं । इन पर क्रमशः 'उत्तर लीनत्थ दीपनी' और 'विनय सारत्थ दीपनी' नामक टीकाएँ भी बाद में चल कर वाचिस्सर महासामि (वागीश्वर महास्वामी) द्वारा लिखी गई, जिनका उल्लेख हम आगे चल कर टीका-साहित्य के विवेचन में करेंगे । 'अभिधम्मावतार' गद्य-पद्य-मिश्रित रचना है । बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं के आधार पर इसका प्रणयन हुआ है । किन्तु बुद्धघोष का अन्धानुकरण लेखक ने नहीं किया है । बुद्धघोष ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के रूप में धर्मों (पदार्थों) का विवेचन किया है, जब कि बुद्धदत्त ने 'अभिधम्मावतार' में चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण, इस चार प्रकार के वर्गीकरण को लिया है । श्रीमती रायस डेविड्स ने बुद्धदत्त के वर्गीकरण को अधिक उत्तम माना है ।[४] 'अभिधम्मावतार'[५] के समान 'रूपारूप-विभाग'[६] भी अभिधम्म-सम्बन्धी रचना है । इसका भी विषय रूप, अरूप, चित्त, चेतसिक आदि का विवेचन करना है । 'मधुरत्थ विलासिनी' 'बुद्धवंस' की अट्ठकथा है, जिसका साहित्यिक दृष्टि से कुछ अधिक महत्त्व नहीं है ।

बुद्धघोष की जीवनी

अब हम पालि-साहित्य के युग-विधायक आचार्य बुद्धघोष पर आते हैं ।

---

१. इन विभिन्न शब्दों के अर्थों के लिए देखिये पीछे विनय-पिटक का विवेचन (चौथे अध्याय में)

२. ३. इन दोनों का रोमन लिपि में सम्पादन स्थविर बुद्धदत्त ने किया है, जिसे पालि टैक्सट् सोसायटी ने प्रकाशित किया है । इन ग्रन्थों के सिंहली, बरमी और स्यामी संस्करण भी उपलब्ध हैं, जो क्रमशः कोलम्बो, रंगून और बंकाक से प्रकाशित हुए ह ।

४. बुद्धिस्ट साइकोलोजी, पृष्ठ १७४

५. ६. इनका भी रोमन लिपि में सम्पादन स्थविर बुद्धदत्त ने किया है, जिसे पालि टैक्सट् सोसायटी ने प्रकाशित किया है ।

'बुद्धघोष' अनुपिटक साहित्य का सब से बड़ा नाम है। आचार्य बुद्धघोष ने बुद्ध-शासन की सेवा और उसकी चिरस्थिति के लिये जितना अधिक काम किया है, उतना शायद ही अन्य किसी व्यक्ति ने किया हो। पालि साहित्य को जो कुछ उन्होंने दिया है वह आकार और महत्त्व दोनों में ही इतना महान् है कि यह समझना कठिन हो जाता है कि एक जीवन में इतना काम कैसे कर लिया गया। इन महापुरुष की जीवनी की पावन अनुस्मृति पहले हम करें। आचार्य बुद्धघोष ने अन्य अनेक भारतीय मनीषियों की तरह अपने जीवन के विषय में हमें अधिक नहीं बताया है। केवल अपनी अट्ठकथाओं के आदि और अन्त में उन्होंने कुछ सूचनाएँ दी हैं, जो उनकी रचना आदि पर ही कुछ प्रकाश डालती है अथवा जिनकी प्रेरणा पर, और जिस उद्देश्य से वे लिखी गई, उनके विषय में वे कुछ संक्षेप से कहती हैं, किन्तु मनुष्य रूप में बुद्धघोष के विषय में हमें उनसे कुछ सामग्री नहीं मिलती। यह पक्ष सम्भवतः बुद्धघोष के लिये इतना अमहत्त्वपूर्ण था कि उसे उन्होंने अपने महत् उद्देश्य में ही खो दिया है। उपनिषदों के ऋषियों ने भी ऐसा ही किया है और भारतीय मनीषियों की यह एक निश्चित परम्परागत प्रणाली ही रही है कि अपने साधारण व्यक्तिगत जीवन के विषय में उन्होंने कुछ कहना उचित नहीं समझा है। उनकी यह निर्वैयक्तिकता उनके सन्देश को निश्चय ही एक अधिक बल प्रदान करती है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु मनुष्य होने के नाते हम उनके मानव-रूप को भी जानना चाहते ही हैं। और उससे इस अवस्था मे जानने का अवकाश नहीं रह जाता। बुद्धघोष की जीवनी को जानने के लिये उनकी अट्ठकथाओं में दी हुई थोड़ी बहुत सामग्री के अतिरिक्त प्रधान साधन हैं (१) महावंस या ठीक कहें तो चूलवंस[१] के सेंतीसवें परिच्छेद की २१५-२४६ गाथाएँ (२) बुद्धघोसुप्पत्ति या महाबुद्धघोसस्स निदानवत्थु (३) गन्धवंस (४) सासनवंस (५) सद्धम्म संगह। 'महावंस' का उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश जिसमे बुद्धघोष की जीवनी वर्णित है धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नामक भिक्षु की रचना है, जिनका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य-भाग है। चूंकि बुद्धघोष का जीवन-काल चौथी-पाँचवी

१. ३७।५० तक महावंस है। उसके बाद का परिवर्द्धित अंश चूलवंस के नाम से प्रसिद्ध है। देखिये आगे नवें अध्याय में वंश-साहित्य का विवेचन।

शताब्दी ईसवी है, अतः उनके आठसौ नौ सौ वर्ष बाद लिखी हुई उनकी जीवनी सर्वांश में प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, यह तो निश्चित ही है। फिर भी सब से अधिक प्रामाणिक वर्णन जो हमें बुद्धघोष की जीवनी का मिलता है वह यही है। 'गन्धवंस' और 'सासन वंस' तो ठीक उन्नीसवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं, अतः उनका इस सम्बन्ध में प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' धम्मकित्ति महासामि (धर्मकीर्ति महास्वामी) नामक भिक्षु की चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है, जो महावंस के उपर्युक्त अंश के बाद किन्तु गन्धवंस और सासन वंस से पहले की रचना है। इस रचना में इतनी अतिशयोक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि इसके भी प्रामाण्य को सर्वांश में नहीं माना जा सकता। केवल महावंस के उपर्युक्त अंश का वर्णन ही प्रायः इस सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक माना जाता है। उसके अनुसार बुद्धघोष की जीवनी की रूपरेखा यह है—आचार्य बुद्धघोष का जन्म गया के समीप बोधिवृक्ष के पास हुआ। बाल्यावस्था में ही शिल्प और तीनों वेदों में पारंगत होकर यह ब्राह्मण विद्यार्थी वाद-विवाद के लिये भारतवर्ष भर में घूमने लगा। ज्ञान की बड़ी उत्कट जिज्ञासा थी। योगाभ्यास में भी बड़ी रुचि थी। एक दिन रात में किसी विहार में पहुँच गया। वहाँ पातंजल मत पर बड़ा अच्छा प्रवचन दिया। किन्तु रेवत नामक बौद्ध स्थविर ने उन्हें वाद में पराजित कर दिया। इन बौद्ध भिक्षु के मुख से बुद्ध-शासन का वर्णन सुनकर बुद्धघोष को विश्वास हो गया 'निश्चय ही (मोक्ष का) यही एक मात्र मार्ग है' (**एकायनो अयं मग्गो**) और उन्होंने प्रव्रज्या ले ली। प्रव्रजित होकर उन्होंने पिटक-त्रय का अध्ययन किया। वास्तव में भिक्षु होने से पहले बुद्धघोष एक ब्राह्मण विद्यार्थी (**ब्राह्मणमाणवो**) मात्र थे। बाद में भिक्षु-संघ ने उनके घोष को बुद्ध के समान गम्भीर जानकर उन्हें 'बुद्धघोष' की पदवी दे दी।[1] जिस विहार में उनकी प्रव्रज्या हुई थी वहीं उन्होंने ञाणोदय (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके बाद यहीं उन्होंने 'धम्मसंगणि' पर 'अट्ठसालिनी' नाम की अट्ठकथा भी लिखी

---

१. बुद्धस्स विय गम्भीरघोसत्ता नं वियाकरुं।
बुद्धघोस ति सो सोभि बुद्धो विय महीतले॥

और अन्त में त्रिपिटक पर एक संक्षिप्त अट्ठकथा लिखने का उपक्रम किया, जिसे देख कर उनके गुरु महास्थविर रेवत ने उनसे कहा[१], "लंका से यहाँ भारत में केवल मूल पालि-त्रिपिटक ही लाया गया है। अट्ठकथाएँ यहाँ नहीं हैं। विभिन्न आचार्यों की परम्पराएँ भी यहाँ उपलब्ध नहीं हैं। हाँ, लंका-दीप में महास्थविर महेन्द्र (महिन्द) द्वारा संगृहीत सिंहली भाषा में प्रामाणिक अट्ठकथाएँ सुरक्षित हैं। तुम वहाँ जाकर उनका श्रवण करो, और बाद में मागधी भाषा में उनका रूपान्तर करो, ताकि वे सब के लिये हितकारी हों।"[२] इस प्रकार अपने गुरु से आज्ञा पाकर आचार्य बुद्धघोष लंकाधिपति महानाम के शासन-काल में लंका में गये। अनुराधपुर के महाविहार के महापधान नामक भवन में रह कर उन्होंने संघपाल नामक स्थविर से सिंहली अट्ठकथाओं और स्थविरवाद की परम्परा को सुना। बुद्धघोष को निश्चय हो गया कि धर्म-स्वामी (बुद्ध) का यही ठीक अभिप्राय है।[3] तब उन्होंने महाविहार के भिक्षु-संघ से प्रार्थना की "मैं अट्ठकथाओं का (मागधी) रूपान्तर करना चाहता हूँ। मुझे अपनी पुस्तकों को देखने की अनुमति दें।[४]" इस पर भिक्षुओं ने उन्हें दो गाथाएँ परीक्षा-स्वरूप व्याख्या

---

१. तत्थ आणोदयं नाम कत्वा पकरणं तदा।
धम्मसंगणियाकासि कण्डं सो अट्ठसालिनिं॥
परित्तट्ठकथं चेव कातुं आरभि बुद्धिमा।
तं दिस्वा रेवतो थेरो इदं वचनं अब्रुवि॥

२. पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध।
तथाचरियवादा च भिन्नरूपा न विज्जरे॥
सीहलट्ठकथा सुद्धा महिन्देन मतीमता।
संगीतित्तयं आरूळ्हं सम्मासम्बुद्धदेसितं॥
कता सीहलभासाय सीहलेसु पवत्तति।
तं तत्थ गन्त्वा सुत्वा त्वं मागधानं निरुत्तिया।
परिवत्तेहि सा होति सब्बलोकहितावहा॥

३. धम्मसामिस्स एसो व अधिप्पायो ति निच्छय।

४. कातुं अट्ठकथं मम पोत्थके देथ।

करने के लिये दीं। बुद्धघोष ने उनकी व्याख्यास्वरूप 'विसुद्धि मग्ग' की रचना की। 'विसुद्धिमग्ग' की विद्वत्ता को देख कर भिक्षुओं को इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने बुद्धघोष को साक्षात् भगवान् मैत्रेय बुद्ध (भावी बुद्ध) ही मान लिया और उन्हें अपनी सब पुस्तकें देखने की अनुमति दे दी।[१] अनुराधपुर के गन्थकार (ग्रन्थकार) विहार में बैठ कर बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओं के मागधी रूपान्तर करने सम्बन्धी अपने कार्य को पूर्ण किया।[२] इसके बाद वे अपनी जन्मभूमि भारत लौट आये और यहाँ आकर बोधिवृक्ष की पूजा की।[३] इस वर्णन से एक बड़े महत्व की बात यह निश्चित हो जाती है कि बुद्धघोष महास्थविर लंका के राजा महानाम के समय में लंका में गये। यह राजा महानाम चौथी शताब्दी के अन्तिम और पाँचवी शताब्दी के आदि भाग में लका में शासन करता था। अतः निश्चित है कि बुद्धघोष का जीवन-कार्य इसी समय किया गया। बुद्धघोष ने किसी भी ऐसे ग्रन्थ आदि का उद्धरण नहीं दिया है जो उस काल के बाद का हो। बरमी परम्परा भी यही मानती है कि आचार्य बुद्धघोष ने पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में लंका द्वीप मे गमन किया। चूंकि उस समय उनकी अवस्था कम से कम तरुण तो रही ही होगी, अतः उनका जीवन-काल चौथी-पाँचवी शताब्दी कहा जा सकता है। हाँ 'महावंस' के उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश में आचार्य बुद्धघोष का जन्मस्थान बुद्ध गया के समीप बतलाया गया है।[४] आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी का कहना है कि बुद्धघोष महास्थविर संभवतः उत्तर भारत के नहीं हो सकते थे। उनकी किसी भी कथा की पृष्ठभूमि उत्तर भारत में नहीं रक्खी गई है। इसके अतिरिक्त विसुद्धि-मग्ग १।८६ ((धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण) में 'वन-दाह' की उनके द्वारा व्याख्या तथा मज्झिम-निकाय के गोपालक-सुत्त की व्याख्या में

---

१. निस्संसयं स मेत्तेय्यो ति वत्वा पुनप्पुनं।
सद्धिं अट्ठकथायादा पोत्थके पिटकत्तये॥

२. गन्थकारे वसन्तो सो विहारे दूरसंकरे।
परिवत्तेसि सब्बा पि सीहलट्ठकथा तदा॥

३. वन्दितुं सो महाबोधिं जम्बुदीपं उपागमि॥

४. बोधिमण्डसमीपम्हि जा तो ब्राह्मणमाणवो।

उनके द्वारा किया हुआ गंगा का विवरण, सब यही दिखलाते हैं कि जिस वन-दाह का उन्होंने वर्णन किया है वह भी दक्षिण की वस्तु है और जिस गंगा का उन्होंने वर्णन किया है वह उत्तर भारत की गंगा न होकर दक्षिण भारत की महावली गंगा है। इस प्रकार आन्तरिक साक्ष्य के आधार आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि आचार्य बुद्धघोष उत्तरी भारत की भौगोलिक परिस्थिति से परिचित नहीं थे, अतः वे वहां के निवासी नहीं हो सकते। आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उस बरमी परम्परा को प्रामाणिक माना है जो बुद्धघोषको दक्षिण भारत का ब्राह्मण मानने की पक्षपातिनी है। 'विसुद्ध-मग्ग' के निगमन (उपसंहार) में अपना परिचय देते हुए आचार्य बुद्धघोष ने अत्यन्त निर्वैयक्तिकता पूर्वक कहा है "**बुद्धघोसो ति गरूहि गहित नामधेय्येन थेरेन मोरण्डखेटक-वत्तब्बेन कतो विसुद्धिमग्गो नाम**" (बड़ों के द्वारा 'बुद्धघोष' नाम दिये हुए, **मोरंड खेटक के निवासी, स्थविर (बुद्धघोष) ने इस विशुद्धि-मार्ग को लिखा।**) इसके आधार पर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह मत प्रकट किया है कि आचार्य बुद्धघोष दक्षिण-भारत के **मोरण्डखेटक (मोरंड नामक खेटक, खेड़ा) नामक गाँव के निवासी थे।** आचार्य बुद्धघोष कुछ दिन, जैसा उन्होंने अपनी मज्झिम-निकाया की अट्ठकथा में कहा है **मयूरसुत्तपट्टन या मयूररूपपट्टन** में भी रहे थे और वहीं बुद्धमित्र नामक स्थविर के साथ रहते हुए उनकी प्रार्थना पर इस अट्ठ-कथा को लिखा था।[1] आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी की धारणा है कि यह मयूरसुत्त-पट्टन या मयूररूपपट्टन कहीं तेलगू प्रदेश में था। इसी प्रकार आचार्य बुद्धघोष कांचीपुर आदि दक्षिण के नगरों में भी रहे थे, जैसा उनके अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा के अन्त में इस वाक्य से प्रकट होता है—

---

१. **आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त-बुद्धमित्तेन।**

पुब्बे मयूरसुत्तपट्टनम्हि सद्धिं वसन्तेन॥

परमहं पपञ्चसूदनिमट्ठकथं कातुमारद्धो॥

"स्थविर ज्योतिपाल के साथ काञ्चीपुर तथा अन्य स्थानों में रहते हुए मैंने उनकी प्रार्थना पर इस अट्ठकथा को लिखना आरम्भ किया"।[1] इस प्रकार बुद्धघोष ने चूंकि अपने जीवन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य दक्षिण के इन नगरों में ही किया, अतः वे दक्षिण के ही निवासी थे, ऐसा निष्कर्ष आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उनकी अट्ठकथाओं के साक्ष्य पर निकाला है,[2] जो उस हद तक ठीक कहा जा सकता है। फिर भी उनका जन्म-स्थान भी दक्षिण-प्रान्त था, यह उपर्युक्त विवरणों से प्रमाणित नहीं हो जाता। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि उनका जीवन-कार्य अधिकतर दक्षिण-भारत में किया गया। 'महावंस' के ऊपर उद्धृत अंश और 'बुद्धघोसुप्पत्ति' आदि में भी बुद्धघोषाचार्य को ब्राह्मण कहा गया और उन्हें तीनों वेद, नाना शिल्पों तथा पातंजल योग आदि मतों का पारङ्गत कहा गया है।[3] आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उनके ब्राह्मण होने में भी सन्देह किया है और इसी प्रकार उनके वेद तथा पातंजल मत आदि शास्त्रों में पारंगत होने के में भी सन्देह प्रकट किया है। बुद्धघोष के ब्राह्मण न होने के विषय में आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह तर्क दिया है कि बुद्धघोष को वेद के पुरुष-सूक्त जैसे महत्त्वपूर्ण अंश से भी जानकारी नहीं थी, क्योंकि इस सूक्त की एक ऋचा में क्षत्रिय को ब्रह्मा के बाहु से उत्पन्न बताया गया है, जब कि बुद्धघोष ने इसी सूक्त की ओर संकेत करते हुए उसे हृदय से उत्पन्न बता डाला है।[4] चूंकि बाहु और हृदय दोनों ही साहस

---

१. आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त-जोतिपालेन।
कञ्चीपुरादिसु मया पुब्बे सद्धिं वसन्तेन॥

अट्ठकथं अंगुत्तरमहानिकायस्स कातुमारद्धो॥

२. देखिये उनके द्वारा सम्पादित 'विसुद्धिमग्ग' का अंग्रेजी-प्राक्कथन, पृष्ठ १५–१८।

३. मिलाइये बुद्धघोसुप्पत्ति "सत्तवस्सिककाले सो तिण्णं वेदानं पारगू अहोसि" (सात वर्ष की अवस्था में ही वह (बुद्धघोष) तीनों वेदों का पारंगत हो गया)

४. पुरुष सूक्त में शब्द हैं—बाहू राजन्यः कृतः' जब कि बुद्धघोष ने लिखा है 'खत्तिया उरतो निक्खन्ता' (क्षत्रिय हृदय से निकले)। विसुद्धिमग्ग (कोसम्बीजी द्वारा

के प्रतीक हैं अतः सम्भव है आचार्य बुद्धघोष से, जो स्मृति से लिख रहे होंगे, दोनों के साधर्म्य के कारण यह गलती हो गई हो। यदि इस गलती को गलती के रूप में स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी यह उनके ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण होने से किस प्रकार सम्बन्धित हो सकता है ? यह सूक्त-विषयक अनभिज्ञता तो बुद्धघोष के ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण दोनों के ही होते हुए हो सकती थी। अतः इसके कारण आचार्य कोसम्बी का बुद्धघोष को अ-ब्राह्मण ठहराना ठीक नही जान पड़ता। इसी प्रकार चूंकि बुद्धघोष ने 'गृहपति' या कृषक-वर्ग की प्रशंसा की है, उनको किसी किसान के घर उत्पन्न हुआ मानना भी ठीक नहीं होगा, जैसा मानने का आचार्य कोसम्बी ने प्रस्ताव किया है।[1] संस्कृत शास्त्रों का बुद्धघोष का ज्ञान अपूर्ण था, यह भी उद्धरण देकर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने दिखाने का प्रयत्न किया है।[2] उधर डा० विमलाचरण लाहा ने कोई ऐसा भारतीय ज्ञान-शास्त्र ही नही छोड़ा है जिस पर बुद्धघोष का पूर्ण अधिकार न दिखा दिया हो।[3] हम समझते है कि सत्य इन दोनों कोटियों के बीच में है। आचार्य बुद्धघोष को संस्कृत-साहित्य से अवगति अवश्य[4] थी, किन्तु वह उस अगाध पांडित्य के रूप में नही था जिसे हम एक वेदज्ञ ब्राह्मण के साथ संयुक्त कर सकते हैं। बरमी परम्परा की यह मान्यता है कि आचार्य बुद्धघोष बरमा में भी बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ गये थे। किन्तु इसका अब तक कोई निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला। उसके अभाव में हम यही मान सकते

सम्पादित) के प्राक्कथन, पृष्ठ १३ में उद्धृत।

१. विसुद्धिमग्ग (कोसम्बीजी द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १३ एवं १६ (प्राक्कथन)

२. विसुद्धिमग्ग (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण,) के प्राक्कथन में पृष्ठ १३-१४

३. उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष' में एक पूरा परिच्छेद (छठा) ही आचार्य बुद्धघोष की विश्व-कोश जैसी बहुज्ञता के विवरण के लिए दिया है, पृष्ठ १०४-१३५।

४. उन्होंने पाणिनि के नियम के अनुसार अनेक पालि शब्दों की व्युत्पत्ति की है। देखिये आगे दसवें अध्याय में पालि व्याकरण-साहित्य का विवेचन। बुद्धघोसुप्पत्ति (पृष्ठ ६१, ग्रे का संस्करण) के अनुसार सिंहली भिक्षुओं ने भी बुद्धघोष के संस्कृत-ज्ञान के विषय में सन्देह किया था, जिसका उन्होंने एक प्रभावशाली भाषण दे कर निराकरण भी कर दिया था। देखिये लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ३८-३९ ।

हैं कि बुद्धघोष की रचनाओं के अत्यधिक प्रसार और आदर के कारण ही उनके नाम के साथ इतनी आत्मीयता वहाँ प्रचलित हो गई है । आचार्य बुद्धघोष के निर्वाण के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं। किन्तु कम्बोडिया के निवासियों का यह विश्वास है कि बुद्धघोष महास्थविर का परिनिर्वाण उनके देश में ही हुआ था । वहाँ 'बुद्धघोष विहार' नामक एक अत्यन्त प्राचीन विहार आज तक उनकी स्मृति को खंडहर के रूप में खड़ा रह कर सुरक्षित बनाये हुए है।[1] हमें कम्बोडिया-निवासियों के विश्वास में सन्देह करने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता ।

बुद्धघोष की रचनाएँ

आचार्य बुद्धघोष की रचनाएँ ये हैं—

१. विसुद्धिमग्ग — संयुक्त-निकाय की दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में एक मौलिक कृति

२. समन्तपासादिका — विनय-पिटक की अट्ठकथा

३. कंखावितरणी — पातिमोक्ख की अट्ठकथा

४. सुमंगलविलासिनी — दीघ-निकाय की अट्ठकथा .

५. पपञ्चसूदनी — मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा

६. सारत्थपकासिनी — संयुत्तनिकाय की अट्ठकथा

७. मनोरथपूरणी — अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा

८. परमत्थजोतिका — खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठकथा

९. अट्ठसालिनी — धम्मसंगणि की अट्ठकथा

१०. सम्मोहविनोदनी— विभंग की अट्ठकथा

११-१५. पञ्चप्पकरणट्ठकथा — धम्म संगणि और विभंग को छोड़-कर शेष ५ अभिधम्म ग्रंथों की अट्ठकथाएँ

१६. जातकट्ठवण्णना — जातक की अट्ठकथा

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४२, पद-संकेत २

१७. धम्मपदट्ठकथा — धम्मपद की अट्ठकथा
१८. अन्य ग्रन्थ — ज्ञानोदय आदि (जो प्राप्त नहीं)

इनका कुछ संक्षिप्त परिचय देना यहाँ आवश्यक होगा ।

विसुद्धिमग्ग[1]

'विसुद्धिमग्ग' या 'विसुद्धिमग्गो' (विशुद्धि-मार्ग) सम्भवतः आचार्य बुद्ध-घोष का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसे बुद्ध-धर्म का विश्वकोश ही समझना चाहिये । बौद्ध धर्म या साधना सम्बन्धी कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है जिसका विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में न किया गया हो। अपने पूर्वगामी सम्पूर्ण पिटक और अनुपिटक साहित्य का मन्थन ही जैसे आचार्य बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ में किया है । आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी रचनाओं में इस ग्रन्थ को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है । दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर इन चारों निकायों की अपनी अट्ठकथाओं की प्रस्तावनाओं में उन्होंने पुनरुक्तिपूर्वक यह कहा है "चारों आगमों (निकायों) के बीच में स्थित होकर यह 'विसुद्धि-मग्ग' उनके यथार्थ अर्थ को प्रकाशित करेगा ।"[2] ऐसा मालूम पड़ता है उन्होंने पहले 'विसुद्धि मग्ग' की रचना की और फिर चार निकायों की अट्ठकथाओं की । इसीलिए जिस विषय का विस्तृत निरुपण उन्होंने पहले 'विसुद्धि मग्ग' में कर दिया है, उसे

१. इस ग्रन्थ का देव-नागरी लिपि में सम्पादन आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने किया है, जो भारतीय विद्या भवन, बम्बई, (१९४०), से प्रकाशित भी हो चुका है । इस महत्वपूर्ण संस्करण का उल्लेख कर देने के बाद अन्य किसी संस्करण के उल्लेख करने की अपेक्षा नहीं रह जाती । निश्चय ही यह इतना ही महत्त्वपूर्ण सम्पादन है और हिन्दी का तो विशेष गौरव है । 'विसुद्धि-मग्ग' का अभी हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ । इस लेखक ने इसके 'शील-स्कन्ध' का अनुवाद किया है, जो 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशनीय है । इसी प्रकार त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्म-रक्षित का भी इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद ज्ञान-मंडल, काशी से छपने वाला है ।

२. मज्झे विसुद्धिमग्गो एस चतुन्नम्पि आगमानं हि
ठत्वा पकासयिस्सति तत्थ यथाभासितं अत्थं ॥

फिर निकायों की अट्ठकथाओं में नहीं दुहराया है। इसके विषय में भी उन्होंने प्रत्येक निकाय की अट्ठकथा के आरंभ में कहा है "चूँकि मैंने इस सबका शुद्ध निरूपण 'विसुद्धि-मग्ग' में किया है, इसलिए उसके संबंध में फिर यहाँ दुबारा विचार नहीं करूँगा।"[१] निश्चय ही आचार्य बुद्धघोष ? 'विसुद्धि मग्ग' को अपनी संपूर्ण रचनाओंका मध्यस्थ बिन्दु मानते थे और अपनी अट्ठकथाओं के अध्ययन से पहले पाठक से वे उसके अध्ययन की अपेक्षा रखते थे ।

यद्यपि 'विसुद्धि-मग्ग' (विशुद्धि मार्ग) पूरे अर्थों में एक मौलिक रचना है, किन्तु वह दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में ही लिखी गई है । वे दो गाथाएं हैं—

"अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा। तं तं गोतम पुच्छामि को इमं विजटये जटं ति।"

दूसरी गाथा है—

"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञञ्च भावये।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं ति।"

पहली गाथा प्रश्न के रूप में है और दूसरी गाथा उसका उत्तर है। विसुद्धि-मग्ग के प्रारंभ में ही कहा गया है कि एक बार जब भगवान् श्रावस्ती में विचरते थे तो किसी देवपुत्र ने उनके पास आकर उनसे प्रथम गाथा के रूप में प्रश्न पूछा जिसका अर्थ है "अन्दर भी उलझन है, बाहर भी उलझन है। यह जनता उलझन में जकड़ी हुई। अतः हे गोतम ! मैं तुमसे पूछता हूँ—कौन इस उलझन को सुलझा सकता है ?" भगवान् ने दूसरी गाथा के द्वारा इसका उत्तर दिया, जिसका अर्थ यह है "शील में प्रतिष्ठित होकर प्रज्ञावान् मनुष्य जब समाधि और प्रज्ञा की भावना करता है, तो इस प्रकार उद्योगी और ज्ञानवान् भिक्षु होकर वह उस उलझन को सुलझा देता है।" बस इस भगवान् के उत्तर को लेकर ही आचार्य बुद्धघोष ने संपूर्ण बौद्ध ज्ञान और दर्शन को एक एक निश्चित उद्देश्य के सूत्र में पिरो दिया है। वह उद्देश्य क्या है ? साधना के मार्ग के उत्तरोत्तर विकास का स्पष्ट-

---

१. इति पन सब्बं यस्मा विसुद्धिमग्गो मया सुपरिसुद्धं।
वुत्तं तस्मा भिय्यो न तं इध विचारयिस्सामि॥

तम निर्देश कर देना। दूसरे शब्दों में 'विसुद्धिमग्ग' बौद्ध योग को एक अत्यन्त क्रमबद्ध ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। हम पहले देख चुके हैं कि आचार्य बुद्धघोष बुद्ध-मत में प्रव्रजित होने से पहले पातंजल-योग-दर्शन में निष्णात थे। निश्चय ही उन्होंने 'विसुद्धि-मग्ग' के रूप में बौद्धों के योगदर्शन को ही साधकों के कल्याण के लिए प्रकाशित किया है। पातंजल योग-दर्शन की अपेक्षा 'विसुद्धि-मग्ग' अधिक सुव्यवस्थित और नियम-बद्ध है,[1] यह कहा जाय तो यह अतिरंजना नहीं होगी। बुद्धघोष महास्थविर ने साधकों के कल्याण के लिए ही इस महाग्रन्थ की रचना की है, इसे उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में यह कहकर दुहराया है **'साधुजनपामुज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे'** साधुजनों की प्रसन्नता के लिये रचित 'विशुद्धि-मार्ग' में, आदि)। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के आदि में भी उन्होंने कहा है "मैं विशुद्धि के मार्ग का भाषण करूँगा। सभी साधु पुरुष, जिन्हें पवित्रता की इच्छा है, मेरे कहे हुए को आदरपूर्वक सुनें"[2] **(विसुद्धिमग्गं भासिस्सं तं मे सक्कच्च भासतो। विसुद्धिकामा सब्बे पि निसामयथ साधवो ति)**। यह ग्रन्थ महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेशविधि पर ही आधारित है, इसे भी बुद्धघोष ने यहीं दिखा दिया है" **'महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधारित 'विशुद्धि-मार्ग का मैं कथन करूँगा (महाविहारवासीनं देसनानयनिस्सितं विसुद्धिमग्गं भासिस्सं)।**

जैसा अभी कहा गया, 'विशुद्धि-मार्ग' साधना-मार्ग की नाना भूमियों का क्रमबद्ध वर्णन करता है। 'विशुद्धि' का अर्थ किया है आचार्य बुद्धघोष ने 'सर्वमल-रहित, अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण' और 'मग्ग' या मार्ग का अर्थ किया है 'प्राप्ति का उपाय'। अतः 'विशुद्धिमार्ग' का अर्थ है 'सर्वमल-रहित,

---

१. देखिये भिक्षु जगदीश काश्यपः पालि महाव्याकरण, पृष्ठ सैंतालीस (वस्तुकथा)

२. 'विसुद्धिमग्ग' के अन्त में उन्होंने फिर अपनी इसी अभिलाषा को दुहराया है 'तस्मा विसुद्धिकामेहि सुद्धपञ्ञेहि योगिहि। विसुद्धिमग्गे एतस्मिं करणीयो व आदरो ति' (विशुद्धि के इच्छुक, शुद्ध ज्ञान वाले योगी इस विशुद्धि-मार्ग में आदर-बुद्धि करें) पृष्ठ ५०६ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

अत्यन्त पीरशुद्ध, निर्वाण की प्राप्ति का उपाय"। इस उपाय की मुख्य तीन भूमियाँ हैं, जो उत्तरोत्तर क्रमिक साधन के द्वारा प्राप्त कीजाती हैं। इन तीन भूमियों के नाम हैं, शील, समाधि और प्रज्ञा। भगवान् बुद्ध के शब्दों में यही तीन धर्म-स्कन्ध अर्थात् धर्म के आधार हैं। शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में साधना के पूरे मार्ग का विवरण करना ही 'विसुद्धि-मग्ग' का लक्ष्य है।[1] इस महाग्रंथ में कुल मिलाकर २३ परिच्छेद हैं, जिनमें प्रथम दो परिच्छेदशील या सदाचार कानिरूपण करते हैं।। ३—१३ परिच्छेद समाधिका निरूपण करते हैं। १४—२३ परिच्छेद प्रज्ञा का निरुपण करते हैं। शील का निरूपण करने वाले प्रथम दो परिच्छेदों के नाम हैं क्रमश: 'शील-निर्देश' (सीलनिद्देसो) और 'अवधूत-व्रतों का निर्देश' (धुतंग निद्देसो)। प्रथम परिच्छेद में आचार्य बुद्धघोष ने अपने विवेच्य विषय को प्रश्नों के रूप में वर्गीकृत किया है—

(१) शील क्या है?
(२) किस अर्थ से 'शील' है?
(३) शील के लक्षण, सार, प्रकटित स्वरूप और आसन्न कारण क्या हैं?
(४) शील का सुपरिणाम क्या है?
(५) शील कितने प्रकार का है?
(६) शील का मैला होना क्या है?
(७) शील का निर्मल होना क्या है?

इन प्रश्नों के उत्तर जो बुद्धघोष ने दिये हैं, उनका यदि यहां संक्षेप भी दिया जाय तो वह भी कई पृष्ठ लेगा। फिर इनके साथ साथ अनेक अवान्तर विषय भी 'विसुद्धि मग्ग' में सम्मिलित हैं—जिनका साधकों के लिए अपना महत्व है, किन्तु पालि साहित्य के इतिहास में जिन्हें विस्तार-भय से उद्धृत नहीं किया जा

---

१. 'विसुद्धि मग्ग' की विषय-वस्तु का विशद विश्लेषण भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपनी अभिधम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१८-२५७ में किया है। त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने भी "धर्म दूत" अप्रैल -मई १९४७ पृष्ठ ६१-६६ में इसका सुन्दर विश्लेषण किया है।

सकता। उदाहरणतः बुद्धघोष द्वारा शील की प्रशंसा,[1] ब्रह्मचर्य के उच्चतम आदर्श का प्रकाशन,[2] और सबसे बढ़कर कुछ बौद्ध साधकों के पवित्र-जीवन संबंधी अभ्यास के उदाहरण,[3] आदि बड़े मार्मिक प्रसंग हैं। तेरह अवधूत व्रतों (जो दूसरे परिच्छेद के विषय है) के नामों का विवरण हम 'मिलिन्द पञ्ह' का विवरण करते समय दे चुके हैं। उन्हीं का यहां भी विस्तृत विवरण है। प्रत्येक अवधूत-नियम के विषय में यहाँ इतनी दृष्टियों से विचार किया गया है (१) अर्थ (२) लक्षण (३) ग्रहण की विधि (४) विभिन्न प्रकार, यथा उत्तम, मध्यम, हीन (५) भंग होना (६) व्रत-रक्षण की प्रशंसा (७) कुशल-त्रिक के रूप में वर्गीकरण (८) समष्टिगत विवरण (९) व्यष्टिगत विवरण। अल्पेच्छता, सन्तोष आदि गुणों की वृद्धि के लिए ही इन नियमों के अभ्यास का विधान किया गया है। वास्तव में ये चित्त के मैल को शुद्ध करने के लिए ही है। अतः इनका अभ्यास सब के लिए अनिवार्य नहीं है। आचार्य बुद्धघोष ने इन कठिन नियमों के विवेचन में तथागत के मध्यम मार्ग को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। इसीलिए उन्होंने एक महत्वपूर्ण प्रश्न किया है **'कस्स धुतंगसेवना सप्पाया ति'** अर्थात् किसका अवधूत-व्रतों का अभ्यास अनुकूल है? उत्तर दिया है **'रागचरितस्स चेव मोहचरितस्स च'** अर्थात् उस व्यक्ति का जिसके आचरण में अभी राग वर्तमान है, मोह वर्तमान है। उन्होंने स्वीकार किया है **'धुतंगसेवना हि दुक्खा पटिपदा चेव सल्लेखविहारो च'** अर्थात् अवधूत-व्रतों का अभ्यास दुःख का मार्ग है और तपश्चर्या का जीवन है। उनका उपयोग साधक के लिए केवल इसीलिए है कि वे चित्त-मलों को नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार वे भिक्षु के अंग ही बन जाते हैं। दुःख-मार्ग के आश्रय लेने वाले का राग शान्त हो जाता है, तपश्चर्या से रहने वाले अप्रमादी व्यक्ति का मोह नष्ट हो जाता है[4]। इसीलिए राग

---

१. पृष्ठ ६-७

२. पृष्ठ ३४-३५

३. देखिये विशेषतः पृष्ठ १४, २२, २६-२८, ३१-३२ आदि, आदि

४. दुक्खापटिपदं च निस्साय रागो वूपसमति। सल्लेखं निस्साय अप्पमत्तस्स मोहो पहीयति। पृष्ठ ५४-५५

द्वेषादियुक्त व्यक्तियों का चित्त-शुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक इन व्रतों को स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार उनके दोष शान्त हो जाते हैं।

शील या सदाचार के बाद विशुद्धि-मार्ग उस दूसरी ऊँची भूमिका का वर्णन करता है, जिसका नाम समाधि है। समाधि की परिभाषा करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने कहा है '**कुसलचित्तेकग्गता समाधि**' अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। किसी एक आलम्बन (विषय) में चित्त और चेतसिक कर्मों को समान और सम्यक् रूप से बिना विक्षेप और विकीर्णता के रखना ही चित्त की समाधि या समाधान (सम्यक् आधान) कहलाता है।[1] समाधि के विषय में भी आचार्य बुद्धघोष ने वही प्रश्न किये हैं जो शील के विषय में, यथा (१) समाधि क्या है? (२) किस अर्थ में 'समाधि' है? (३) समाधि के लक्षण, सार, प्रकटित रूप और आसन्न कारण क्या है? (४) समाधि कितने प्रकार की है? (५) समाधि का मलिन होना क्या है? (६) समाधि का निर्मल होना क्या है? और (७) समाधि की भावना किस प्रकार करनी चाहिए? इनके उत्तरों का संक्षेप देना तो यहाँ असंभव ही होगा। केवल कुछ मोटी बातें ही कही जा सकती हैं। आचार्य बुद्धघोष ने समाधि का प्रधानतः दो भागों में विवरण किया है, यथा उपचार समाधि (२) अर्पणा समाधि। चार भागों में भी, यथा—

(१) **दुक्खा पटिपदा दन्धाभिञ्ञा।**
(२) **दुक्खा पटिपदा खिप्पाभिञ्ञा।**
(३) **सुखा पटिपदा दन्धाभिञ्ञा।**
(४) **सुखा पटिपदा खिप्पाभिञ्ञा।**

जैसा अभी कहा गया, समाधि-स्कन्ध का विवरण 'विसुद्धिमग्ग' के ३–१३ परिच्छेदों में है। इन परिच्छेदों के नाम-विवरण के अलावा उनकी विषय-वस्तु का तो संक्षिप्त निर्देश भी यहाँ प्रायः असंभव ही है, अतः हम उनके नाम देकर उनकी विषय-वस्तु को इंगित मात्र करेंगे।

---

१. **एकारम्मणे चित्तचेतसिका समं सम्मा च अविक्खिपमाना अविप्पकिण्णा च हुत्वा तिट्ठन्ति, इदं समाधानं ति वेदितब्बं (पृष्ठ ५७)**

समाधि-स्कन्ध (परिच्छेद ३-१३)

३. कर्मस्थानों (समाधि के आलम्बनों) को ग्रहण करने का निर्देश (कम्मट्ठानगहण निद्देसो)––समाधि-भावना की दस बाधाओं[1] (पलिबोधा) को छोड़ने का उपदेश ।

४. पृथ्वी कृत्स्न (ध्यान-विशेष) का निर्देश (पथवीकसिणनिद्देसो)––पृथ्वी-कृत्स्न नामक ध्यान का विवरण। समाधि के अयोग्य १८ स्थानों[2] को छोड़ने का आदेश एवं चार ध्यानों का विस्तृत विवरण ।

५. शेष कृत्स्नों (ध्यान विशेषों) का निर्देश (सेसकसिणनिद्देसो)––पृथ्वी-कृत्स्न से अतिरिक्त शेष आपो-कृत्स्न (जल-कृत्स्न) आदि ९ ध्यानों का विवरण ।

६. अशुभ कर्मस्थान का निर्देश (असुभकम्मट्ठान निद्देसो)––शरीर की गन्दगियों के ध्यान के द्वारा अर्पणा-समाधि की प्राप्ति का उपाय ।

७. छह अनुस्मृतियों का निर्देश (छ अनुस्सति निद्देसो)––बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग और देवताओं की अनुस्मृतियाँ ।

८. अनुस्मृति और कर्म-स्थान का निर्देश (अनुस्सति कम्मट्ठान निद्देसो)

---

१. यथा आवास, कुल, लाभ, गण, काम, मार्ग, जाति-बन्धु, रोग, ग्रन्थ (-रचना) और ऋद्धि (योग-विभूति)

२. यथा (१) बहुत बड़ा विहार, (२) बिलकुल नया विहार, (३) बहुत पुराना विहार, (४) सड़क के किनारे स्थित, (५) तालाब के किनारे स्थित, (६-८) पेड़, फूल और फलों वाले बागों से युक्त , (९) अति प्रसिद्ध, (१०) नगर के बीच में स्थित, (११) अधिक पेड़ों के बीच स्थित, (१२) खड़ी फसलों वाले खेत के समीप, (१३) झगड़ालू भिक्षु जहाँ रहते हों, (१४) जहाँ के व्यक्ति अ-धार्मिक हों, (१५) सीमा-प्रान्त में अवस्थित , (१६) अ-रक्षित स्थान में स्थित और (१८) जहाँ कल्याण-मित्र (आध्यात्मिक गुरु या मार्ग द्रष्टा) न मिल सके।

मरण, कायगतासति, आनापान-सति और उपशम इन चार अनुस्मृतियों तथा योग-आलम्बनों का विवरण ।

९. ब्रह्मविहार का निर्देश (ब्रह्मविहार निद्देसो)—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यही चार भावनाएँ 'ब्रह्म-विहार' कहलाती हैं । इनका विशद विवरण । इन भावनाओं का निर्देश पतंजलि ने भी अपने योग-दर्शन में किया है ।

१०. अ-रूपता का निर्देश (आरुप्प निद्देसो)—अरूपता-सम्बन्धी ध्यानों का विवरण, यथा आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यानों का विवरण ।

११. समाधि का निर्देश (समाधि निद्देसो) समाधि-भावना का उपदेश एवं शरीर की अशुभता आदि पर ध्यान । आहार में प्रतिकूल-संज्ञा आदि का विवेचन भी ।

१२. ऋद्धविध का निर्देश (इद्धविधनिद्देसो)—दिव्यश्रोत्र, परचित्त-ज्ञान, पूर्वजन्म की स्मृति और दिव्य चक्षु इन चार योग-विभूतियों का विवरण ।

१३. अभिज्ञा (उच्चतम ज्ञान) का निर्देश (अभिञ्ञा निद्देसो)—पूर्वजन्म की स्मृति आदि का ही विस्तृत विवरण ।

प्रज्ञा की परिभाषा करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने कह. है 'कुसलचित्तसम्पयुत्तं विपस्सनाञाणं पञ्ञा' अर्थात् कुशल-चित्त से युक्त विपश्यना-ज्ञान ही प्रज्ञा है । प्रज्ञा-स्कन्ध के परिच्छेदों की विषय-वस्तु इस प्रकार है—

१४. स्कन्ध-निर्देश (खन्ध-निद्देसो)—पञ्च-स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान) का विवेचन ।

१५. आयतन और धातुओं का निर्देश (आयतन-धातु निद्देसो)—१२ आयतन और अठारह धातुओं का विवरण ।

१६. इन्द्रिय और सत्यों का निर्देश (इन्द्रिय-सच्चनिद्देसो)—पाँच इन्द्रिय और चार आर्य-सत्यों का विवरण ।

१७. प्रज्ञा की भूमियों का निर्देश (पञ्ञाभूमिनिद्देसो)—स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य और प्रतीत्य समुत्पाद ये प्रज्ञाकी भूमियाँ हैं । प्रथम पाँच का वर्णन पहले हो चुका है । यहाँ प्रतीत्य समुत्पाद का विस्तृततम विवरण उपलब्ध होता है ।

१८. दृष्टि की विशुद्धि का निर्देश (दिट्ठिविसुद्धि निद्देसो)—नाम और रूप का यथावत् दर्शन ही दृष्टि-विशुद्धि है—इसका विस्तृत विवरण।

१९. संशय को पार करने के रूप में विशुद्धि का निर्देश (कंखावितरण-विसुद्धि निद्देसो)—यथाभूत ज्ञान, सम्यक् दर्शन और संशय को पार करना, यह सब एक ही वस्तु हैं, केवल शब्द नाना है।

२०. मार्ग और अमार्ग के ज्ञान और दर्शन के रूप में विशुद्धि का निर्देश (मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि निद्देसो) पदार्थों के उदय और व्यय को देखना एवं विपश्यना-प्रज्ञा की भावना करना।

२१. प्रतिपदा (मध्यम-मार्ग) के ज्ञान और दर्शन के रूप में विशुद्धि का निर्देश (पटिपदाञ्ञाणदस्सनविसुद्धि निद्देसो)—'न मैं, न मेरा, न मेरा आत्मा,' अर्थात् अनात्म तत्व की भावना का विवरण।

२२. ज्ञान और दर्शन रूपी विशुद्धि का निर्देश (ञ्ञाणदस्सनविसुद्धि निद्देसो)—स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्, इन चार मार्गों सम्बन्धी ज्ञान का विवरण। बोधिपक्षीय धर्मों का भी इन्हीं के अन्दर समावेश।

२३. प्रज्ञा की भावना के सुपरिणामों का निर्देश (पञ्ञा भावनानिसंस-निद्देसो)—नाना चित्त-मलों का विध्वंस, आर्य-फल के रस का अनुभव, निरोध-समाधि को प्राप्त करने की योग्यता और लोक में पूज्य होने की पात्रता, प्रज्ञाकी भावना के इन चारसुपरिणामों का विवरण।

उपर्युक्त विषय-सूची के संकेत-मात्र से स्पष्ट है कि 'विशद्धि-मार्ग' का क्षेत्र कितना अधिक विस्तृत है। अतः यदि इतने निरूपण से हम केवल यह भी इंगित करने में सफल हो सके कि 'विशुद्धि-मार्ग' बुद्ध-धर्म सम्बन्धी महान् ज्ञान-कोश को संचित किये हुए है, तो भी हमने पालि साहित्य की दृष्टि से अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। विवरण में आगे चले जाने पर तो इस विषय का अन्त ही नहीं हो सकता, क्योंकि पातंजल योग के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन किये बिना कोई इस सम्बन्धी विवेचन पूरा नहीं माना जा सकता। अब हम बुद्ध घोष की अट्ठकथाओं पर आते हैं।

समन्तपासादिका

समन्तपासादिका पूरे विनय-पिटक की अट्ठकथा है। आचार्य बुद्धघोष की रची हुई यह सम्भवतः प्रथम अट्ठकथा है। बुद्ध श्री (बुद्धसिरि) नामक

स्थविर की प्रार्थना पर उन्होंने यह अट्ठकथा लिखी थी। प्राचीन भारत को सामाजिक, राजनैतिक, और धार्मिक अवस्था का इस अकेले ग्रन्थ से ही एक पूरा इतिहास निर्मित किया जा सकता है। प्रथम तीन बौद्ध संगीतियों के विवरण में हमने इस ग्रन्थ से कितनी सहायता ली है, यह पूर्व के विवरणों से स्पष्ट हो गया होगा। भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन-सम्बन्धी अनेक विवरणों के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों और भौगोलिक स्थानों के विवरण जो हमें यहाँ मिलते हैं, बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस अट्ठकथा के बाद ही बुद्धघोष ने सुत्त-पिटक के निकायों पर अट्ठकथाएँ लिखीं।

कंखावितरणी

'कंखावितरणी' 'पाति मोक्ख' पर अट्ठकथा है। इस अट्ठकथा में हमें न केवल बुद्धकालीन भिक्षु-संघ के जीवन की ही झलक मिलती है, अपितु उसके उत्तरकालीन विकास का भी पर्याप्त ज्ञान होता है।

सुमंगलविलासिनी

'सुमंगल विलासिनी' दीघ-निकाय की अट्ठकथा है। संघस्थविर दाठानाग नामक भिक्षु की प्रार्थना पर आचार्य बुद्धघोष ने यह अट्ठकथा लिखी, ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है।[1] बुद्धकालीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति के अनेक चित्रों एवं अनेक प्रकार के आख्यानों से यह अट्ठकथा भरी पड़ी है। सुत्तों के अनेक प्रकार के विवेचन, बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन सम्बन्धी अनेक विवरण, इस अट्ठकथा में भी भरे पड़े हैं। उदाहरणतः भगवान् बुद्ध 'तथागत' क्यों कहलाते हैं, उनकी दैनिक चर्या क्या थी, आदि अनेक महत्त्व-पूर्ण विवरण इस अट्ठकथा में हैं। इसी प्रकार बुद्धकालीन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों यथा जीवक कौमार भृत्य, तिष्य श्रामणेर, अम्बट्ठ आदि के विषय में अधिक जानकारी यहाँ दी गई है। इसी प्रकार भौगोलिक दृष्टि से अंग-मगध, दक्षिणा-

---

१. आयाचितो सुमंगलपरिवेणनिवासिना थिरगुणेन
दाठानाग संघत्थेरेन थेर वंसन्वयेन।
यं आरभि सुमंगलविलासिनि नाम नामेन।

पथ, घोषिताराम, कोशल, राजगृह आदि के प्राचीन आख्यान-बद्ध इतिहास और उनके विषय में अन्य महत्त्वपूर्ण विवरण दिये गये हैं, जो पालि-त्रिपिटक में नहीं मिलते। इन सब के अलावा 'सुमंगलविलासिनी' में दीघ-निकाय के कठिन शब्दों की निरुक्तियाँ और उनके अर्थ-निर्वचन भी हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसका सब से अधिक आकर्षक महत्त्व तो ऐतिहासिक ही है, इसमें संदेह नहीं।

पपञ्चसूदनी

सुमंगलविलासिनी की ही शैली में लिखित पपञ्चसूदनी मज्झिम-निकाय की विस्तृत अट्ठकथा है। यह अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने बुद्धमित्र नामक स्थविर की प्रार्थना पर लिखी थी।[1] ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से इस अट्ठकथा का भी प्रभूत महत्त्व है। कुरु-प्रदेश, श्रावस्ती (सावत्थि), हिमवन्त-प्रदेश आदि के महत्त्वपूर्ण विवरण इस अट्ठकथा में मिलते हैं। विषय-विन्यास मज्झिम-निकाय के समान ही है और उसी के अनुसार बुद्ध-वचनों की क्रमानुसार व्याख्या भी यहाँ की गई है, जो उस दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सारत्थपकासिनी

ज्योतिपाल नामक भिक्षु की प्रार्थना पर आचार्य बुद्धघोष ने सारत्थपकासिनी या संयुत्त-निकाय की अट्ठकथा लिखी।[2] अर्थ और ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टियों से यह अट्ठकथा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अलावा यहाँ इसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता।

मनोरथपूरणी

मनोरथपूरणी या अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने भदन्त नामक स्थविर की प्रार्थना पर लिखी। इस अट्ठकथा की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भगवान् बुद्ध के शिष्य अनेक भिक्षु और भिक्षुणियों की ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन किया गया है। उदाहरणतः पिंडोल भारद्वाज, पुण्ण मन्तानिपुत्त, महा-

---

१. **आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त बुद्धिमित्तेन, आदि।**

२. **आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त-जोतिपालेन।**
कंचीपुरादिसु मया पुब्बे सद्धिं वसन्तेन, आदि॥

कच्चान, सोण कोळिवीस, राहुल, रट्ठपाल, बंगीस, कुमार कस्सप, उपालि, उरुवेल कस्सप आदि के महत्त्वपूर्ण विवरण दिये हुए हैं। इसी प्रकार महाप्रजापती गोतमी, संघमित्रा तथा अन्य अनेक भिक्षुणियों के भी विवरण हैं। भगवान् बुद्ध के वर्षावासों का भी बड़ा अच्छा विवरण यहाँ दिया गया है। बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण तक के ४५ वर्षवासों को भगवान् ने कहाँ-कहाँ बिताया, इस ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय में यहाँ कहाँ गया है—"तथागत प्रथम बोधि में बीस वर्ष तक अस्थिरवास हो, जहाँ जहाँ ठीक रहा वहीं जाकर वास करते रहे। पहली वर्षा में ऋषिपतन में धर्म-चक्र प्रवर्तन कर वाराणसी के पास ऋषिपतन में वास किया। दूसरी वर्षा में राजगृह वेणुवन में। तीसरी और चौथी में भी वहीं। पाँचवीं वर्षा वैशाली में महावन कूटागार-शाला में। छठवीं वर्षा में मंकुल-पर्वत पर। सातवीं त्रायस्त्रिंश भवन में। आठवीं भर्ग-देश में सुंसुमार-गिरि के भेस कलावन में। नवीं कौशाम्बी में। दसवीं पारिलेय्यक वनखंड में। ग्यारहवीं नाला ब्राह्मण-ग्राम में। बारहवीं वेरंजा में। तेरहवीं चालिय पर्वत पर। चौदहवीं जेतवन में। पन्द्रहवीं कपिलवस्तु में। सोलहवीं आलवी में। सत्रहवीं राजगृह में। अठारहवीं चालिय पर्वत पर। उन्नीसवीं भी वहीं। बीसवीं वर्षा राजगृह में। इस प्रकार तथागत ने बीस वर्ष, जहाँ जहाँ ठीक हुआ, वहीं वर्षावास किया। इससे आगे दो ही निवास-स्थान सदा रहने के लिये किये। कौन से दो ? जेतवन और पूर्वाराम......।"[1] अतः इस अट्ठकथा के अनुसार, बुद्ध के वर्षावासों का यह प्रामाणिक ब्यौरा इस प्रकार होगा।

वर्षा-वास	जहाँ बिताया
१	ऋषि पतन
२-४	राजगृह
५	वैशाली
६	मंकुलपर्वत
७	त्रायस्त्रिंश

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा बुद्धचर्या पृष्ठ ७५ में अनुवादित।

८	सुंसुमार गिरि
९	कौशाम्बी
१०	पारिलेय्यक
११	नाला
१२	वेरंजा
१३	चालिय पर्वत
१४	श्रावस्ती (जेतवन)
१५	कपिलवस्तु
१६	आलवी
१७	राजगृह
१८-१९	चालिय पर्वत
२०	राजगृह
२१-४५	श्रावस्ती (जेतवन)
४६-	वैशाली (पूर्वाराम)

परमत्थजोतिका

परमत्थजोतिका खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठ-कथा है। इसमें लिच्छवियों की उत्पत्ति की मनोरंजक कथा है, जिसका विवरण हम यहाँ विस्तार-भय के कारण नहीं दे सकते। परमत्थजोतिका के अन्तर्गत खुद्दक-पाठ की अट्ठकथा के प्रसंग में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन, राजगृह के १८ विहारों, सप्तपर्णी गुफा और वैशाली आदि के विशेष में विशेष सूचना दी गई है। महाकाश्यप, आनन्द और उपालि आदि भिक्षुओं तथा विशाखा, धम्म-दिन्ना आदि भिक्षुणियों के विषय में भी कुछ अधिक सूचना दी गई है।

धम्मपदट्ठकथा

धम्मपदट्ठकथा या धम्मपद की अट्ठकथा में जातक के ढंग की कहानियों का प्राधान्य है। चार निकायों और जातक आदि से ही ये कहानियाँ संगृहीत की गई हैं। जातक की अनेक गाथाएँ यहाँ उद्धृत की गई हैं और उसकी कहानियों

में से अनेक यहाँ उसी रूप में रक्खी हुई हैं। वास्तव में धम्मपदट्ठकथा कहानियों का एक संग्रह ही है। वासवदत्ता और उदयन की कथा भी इस अट्ठकथा में एक जगह मिलती है। अनेक कथाएँ जातक के अलावा विनय-पिटक से भी ली गई है, जैसे देवदत्त, बोधिराजकुमार, छन्न आदि की कथाएँ। निश्चय ही जातक और धम्मपदट्ठ-कथा का पारस्परिक सम्बन्ध पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। धम्मपदट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष की रचना है या नहीं, इसके विषय में सन्देह प्रकट किया गया है। डा० गायगर ने इसे आचार्य बुद्धघोष की रचना नहीं माना है।[1] उन्होंने धम्मपदट्ठकथा को जातकट्ठवण्णना से भी बाद की रचना माना है, क्योंकि दोनों में अनेक कहानियाँ समान हैं। यह एक आश्चर्य की बात है कि जो कहानियाँ यहाँ दी गई हैं और जिनके आधार पर धम्मपद की प्रत्येक गाथा को समझाया गया है, उन्हें भी साक्षात् बुद्धोपदेश (बुद्ध-देसना) ही यहाँ बताया गया है, जो ऐतिहासिक रूप से ठीक नहीं हो सकता। कुछ भी हो धम्मपदट्ठकथा की कहानियों में जातक के समान ही प्राचीन भारतीय जीवन, विशेषत: सामान्य जनता के जीवन, की पूरी झलक मिलती है और भारतीय कथा-साहित्य में उसका भी एक स्थान है।

जातकट्ठवण्णना

जातकट्ठवण्णना का जातक-गाथाओं की अट्ठकथा है। इसके भी बुद्धघोष-कृत होने में सन्देह किया गया है। डा० गायगर ने इसे किसी सिंहली भिक्षु की रचना माना है, फिर चाहे वह भले ही बुद्धघोष क्यों न हों।[2] प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं से लेखक ने अपनी सामग्री का संकलन किया है। इन कहानियों या आख्यानों की अपेक्षा धम्मपदट्ठकथा की कहानियाँ अपने स्वरूप में बुद्ध-उपदेशों की भावना से अधिक प्रभावित हैं। वास्तव में यहाँ तो लोक-विश्वासों की ही झलक अधिक मिलती है। भूत और वर्तमान के (बुद्ध-) जीवन की कहानियों

---

१. उन्होंने इसे किसी मौलिक सिंहली अट्ठकथा का पालि अनुवाद माना है। देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३२

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३१

की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है, अतः उत्तरकालीन क्षेपकों और परिवर्द्धनों की भी इस ग्रन्थ में आशंका की गई है। भारतीय कथानक-साहित्य के प्राचीन रूप को जानने के लिये जातक के समान उसकी इस अट्ठकथा को भी पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं।

अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाएँ

आचार्य बुद्धघोष की अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाएँ भी बड़ी महत्त्व-पूर्ण हैं। इनमें सब से पहला स्थान 'अट्ठसालिनी' का है,जो 'धम्मसंगणि'की अट्ठ-कथा है। वास्तव में इसके समान गम्भीर और दुरूह दूसरी रचना अनुपिटक साहित्य में नहीं है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, 'महावंस' के धम्मकित्ति-विरचित परिवर्द्धित अंश के अनुसार आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' की रचना लंका से प्रस्थान करने के पहले ही की थी। यह बात ठीक नहीं हो सकती। लंका जाकर बुद्धघोष महास्थविर ने 'विसुद्धिमग्ग' लिखा, यह तो निश्चित ही है। उसके बाद ही 'अट्ठसालिनी' लिखी गई, यह हमें जानना चाहिये। इसका कारण यह है कि 'अट्ठसालिनी' के आरम्भ की गाथाओं में स्वयं आचार्य बुद्धघोष ने कहा है "सब कर्म-स्थान (समाधि के आलम्बन) चर्या, अभिज्ञा और विपश्यना का प्रकाशन मैं 'विसुद्धि-मग्ग' में कर चुका हूँ, इसलिये फिर उनका यहाँ विवरण नहीं करूँगा"[1] आदि। अतः 'अट्ठसालिनी' को 'विसुद्धिमग्ग' के बाद की ही रचना मानना चाहिये। यह हो सकता है कि उसकी एक प्राथमिक रूपरेखा आचार्य बुद्धघोष ने यहाँ बनाई हो। प्रस्तुत रूप में तो वह निश्चित रूप से 'विसुद्धिमग्ग' से बाद की रचना है। अभिधम्म के जिज्ञासुओं के लिये 'अट्ठसालिनी' का कितना अधिक महत्त्व है, यह बताने की आवश्यकता नही। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि प्रो० बापट द्वारा सम्पादित इस अट्ठकथा का देव-नागरी संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है, जो राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिये एक मंगलकारी चिन्ह है। 'अट्ठसालिनी' के अलावा 'सम्मोह-विनोदनी' नाम की अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने विभंग

---

१. कम्मट्ठानानि सब्बानि चरियाभिञ्ञा विपस्सना।
विसुद्धिमग्गे पनिदं यस्मा सब्बं पकासितं ॥आदि।

पर लिखी। अन्य पाँच अभिधम्म-ग्रन्थों पर भी उन्होंने अट्ठकथाएँ लिखीं, जिनके नाम हैं- क्रमशः धातुकथापकरणट्ठकथा, पुग्गल-पञ्ञत्तिपकरणट्ठकथा, कथा-वत्थु-पकरण-अट्ठकथा,[1] यमकपकरणट्ठकथा और पट्ठान पकरणट्ठकथा। यह पाँचों अट्ठकथाएँ मिलकर पञ्च-प्पकरणट्ठ कथा, भी कहलाती हैं।

अन्य रचनाएँ

जैसा बुद्धघोष की जीवनी के प्रसंग में कहा जा चुका है, लंका-गमन से पूर्व आचार्य बुद्धघोष ने 'ञाणोदय' (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ और सम्पूर्ण त्रिपिटक पर एक संक्षिप्त अट्ठकथा लिखी थी। ये रचनाएँ आज नहीं मिलतीं। 'सासन-वंस' के अनुसार आचार्य बुद्धघोष 'पिटकत्तयलक्खण गन्ध' (पिटकत्रयलक्षण ग्रन्थ) नामक ग्रन्थ के भी रचयिता थे, किन्तु यह ग्रन्थ भी आज नहीं मिलता। महाकाव्य की शैली पर बुद्ध-जीवनी के रूप में लिखित 'पद्यचूड़ामणि' नामक ग्रन्थ भी जिसे मद्रास सरकार ने प्रकाशित करवाया था, उसके सम्पादक कुप्पू-स्वामी शास्त्री के द्वारा अट्ठकथाचरिय बुद्धघोष की रचना बतलाया गया है। उसकी भिन्न शैली के साक्ष्य पर डा० विमलाचरण लाहा ने उसे पालि अट्ठकथा-कार बुद्धघोष की रचना नहीं माना है।[2] हमें भी यही मत समीचीन जान पड़ता है।

पालि-साहित्य में बुद्धघोष का स्थान

इस प्रकार आचार्य बुद्धघोष के विशाल ज्ञान की कुछ झलक हम ने देखी है। वास्तव में पालि साहित्य के एक पूरे युग के वे विधायक हैं जिसका प्रभाव अभी भी निःशेष नहीं हुआ है। उनके 'विसुद्धि-मग्ग' की ज्ञान-गरिमा पालि-साहित्य

---

२. इस अट्ठकथा के अनुसार अशोक के काल तक उत्पन्न १८ बौद्ध सम्प्रदायों और उनके मतों का उल्लेख हम पाँचवें अध्याय में 'कथावत्थु' के विश्लेषण के प्रसंग में कर आ चुके हैं।

२ पद्य-चूड़ामणि की विषय-वस्तु और शैली के विवरण तथा डा० लाहा के तत्सम्बन्धी निष्कर्ष के लिए देखिये उनका 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष', पृष्ठ ८५-९१

में ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखती है। इसी प्रकार उनकी अट्ठकथाओं का अर्थ-सम्बन्धी महत्त्व तो है ही, उनमें जो महान् ऐतिहासिक और भौगोलिक सामग्री भरी पड़ी है, जिससे सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय सामाजिक और राजनैतिक जीवन पुनरुज्जीवित हो उठता है, वह तो भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिये निरन्तर उपयोग की वस्तु ही है। आचार्य बुद्धघोष उन प्राचीन भारतीय आचार्यों की परम्परा में से थे जो ज्ञान के क्षेत्र को मौलिक दान देते हुए भी भाष्यकार के विनीत रूप में रहना ही पसन्द करते थे। आचार्य बुद्धघोष ने हमें बहुत कुछ नया आलोक दिया है, ज्ञान के क्षेत्र को अपने ढंग से काफी विस्तृत किया है, फिर भी सदा अपने को महाविहारवासी भिक्षुओं की आदेशना-विधि का अनुगामी ही बताया है। यह उनकी विनम्रता का सूचक है। बुद्धघोष महास्थविर ने सद्धम्म की चिरस्थिति के लिये जो काम किया है, उसी के कारण हम आज बुद्ध और उनके युग को इतनी सजीवता के साथ समझ सके हैं। बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से लुम्बिनी, कौशाम्बी, राजगृह, उरुवेला और कपिलवस्तु की स्मृतियों को आज भी नया बनाया जा सकता है और चित्त को राग, द्वेष और मोह से मुक्त किया जा सकता है। जब तक 'विसुद्धिमग्ग' और 'अट्ठसालिनी' जैसे गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ और 'सुमंगल विलासिनी' और 'समन्तपासादिका' जैसी ऐतिहासिक सामग्री-परिपूर्ण अट्ठकथाएँ पालि में विद्यमान हैं, तब तक ज्ञान और इतिहास के गवेषक सदा उसके दरवाजे पर आते रहेंगे और प्रसंगवश उस विनीत, साक्षात् मैत्रेय, महास्थविर की अनुस्मृति करते भी रहेंगे, जो ज्ञान-पिपासावश भारत से लंका दौड़ा गया था और जिसने वहाँ महापधान-भवन में बैठकर दिन-रात बुद्ध-शासन का चिन्तन किया था और उसके मर्म को भी पाया था। हम आचार्य बुद्धघोष की इसी अनुस्मृति के साथ इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

धम्मपाल और उनकी अट्ठकथाएँ

आचार्य बुद्धघोष के समकालिक बुद्धदत्त (जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है) के अलावा एक अन्य प्रसिद्ध अट्ठकथाकार धम्मपाल हैं। वास्तव में बुद्धदत्त और धम्मपाल दोनों ने बुद्धघोष के काम को ही पूरा किया है। धम्मपाल

का जन्म तामिल-प्रदेश में काञ्चीपुर में हुआ था। इनकी भी शिक्षा सिंहल के महाविहार में हुई थी। आचार्य धम्मपाल की रचनाएँ ये हैं—

१. परमत्थदीपनी खुद्दक-निकाय के उन ग्रन्थों की अट्ठकथा है जिन पर बुद्धघोष ने अट्ठकथा नहीं लिखी। इस प्रकार धम्मपाल की इस अट्ठकथा के अन्तर्गत उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा एवं चरिया पिटककी अट्ठकथाएँ सम्मिलित हैं। इनमें विशेषतः थेर-थेरी गाथाओंकी अट्ठकथाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि यहाँ लेखक ने भगवान् बुद्ध के शिष्य भिक्षु-भिक्षुणियों की जीवनियों को अनुविद्ध किया है।[१]

२. नेत्तिपकरण-अट्ठकथा या नेत्तिपकरणस्स अत्थसंवण्णना (नेत्ति पकरण की अट्ठकथा)

३. नेत्तित्थ कथाय टीका या लीनत्थवण्णना (उपर्युक्त नेत्तिपकरण-अट्ठकथा की टीका)

४. परमत्थमञ्जूसा या महाटीका—विसुद्धिमग्ग की अट्ठकथा।

५. लीनत्थपकासिनी—प्रथम चार निकायों की बुद्धघोष-कृत अट्ठकथाओं की टीका।

६. जातकट्ठकथा की टीका (जिसका भी नाम लीनत्थ पकासिनी है)

७. बुद्धदत्त-कृत मधुरत्थविलासिनी की टीका।

धम्मपाल-कृत उपर्युक्त ग्रन्थों में सब से अधिक प्रसिद्ध परमत्थदीपनी है। शेष में से कुछ प्राप्त भी नहीं है। कुछ ऐसी भी हैं जिनके विषय में यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि ये किस धम्मपाल की हैं, क्योंकि इस नाम के कई भिक्षु कई शताब्दियों में हो चुके हैं। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की उपर्युक्त प्रायः सभी अट्ठकथाओं के रोमन, बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण मिलते हैं। विशेषतः हेवावितरणेनिधि की ओर से प्रकाशित सिंहली संस्करण उल्लेखनीय है। नागरी लिपि में अभी कोई संस्करण नहीं हुए, अनुवादों की तो कोई बात ही नहीं!

बुद्धघोष-युग के अन्य पालि अट्ठकथाकार

बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के अलावा इस युग के अन्य पालि अट्ठकथाकारों

---

१. प्रस्तुत लेखक ने अपने थेरीगाथा-अनुवाद जो सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हुआ है, परमत्थदीपनी के आधार पर भिक्षुणियों की जीवनियों को ग्रथित किया है।

में इनके नाम मुख्य हैं—(१) आनन्द (२) चुल्ल धम्मपाल (३) उपसेन (४) महानाम (५) काश्यप (कस्सप) (६) वज्रबुद्धि (वजिर बुद्धि (७) क्षेम (खेम) (८) अनिरुद्ध (अनुरुद्ध) (९) धर्म श्री (धम्मसिरि) और (१०) महास्वामी (महासामि)। आनन्द भारतीय भिक्षु थे और सम्भवतः यह बुद्धघोष के समकालीन थे। इन्होंने बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं की सहायक स्वरूप 'मूल-टीका' या 'अभिधम्म-मूल टीका' लिखी है। यही इनकी एक मात्र प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण रचना है। चुल्ल धम्मपाल इन्हीं आनन्द के शिष्य थे और इन्होंने 'सच्च संखेप' (सत्य संक्षेप) लिखा है। उपसेन 'सद्धम्मप्पजोतिका' या 'सद्धम्म-ट्ठटीका' नामक निद्देस की टीका के लेखक हैं। महानाम ने पटिसम्भिदामग्ग की अट्ठकथा 'सद्धम्मप्पकासिनी' शीर्षक से लिखी। काश्यप ने मोहविच्छेदनी और विमतिच्छेदनी नामक विवेचनात्मक ग्रन्थों की रचना की। वज्र बुद्धि ने 'वज्र-बुद्धि' नाम की ही टीका 'समन्तपासादिका' पर लिखी। क्षेम ने 'खेमप्पकरण' नामक ग्रन्थ की रचना की। अनिरुद्ध अभिधम्म-साहित्य सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधम्मत्थसंगह' के रचयिता हैं। अनिरुद्ध ने ही अभिधम्म-सम्बन्धी दो ग्रन्थ और लिखे हैं (१) परमत्थ-विनिच्छय और (२) नामरूप-परिच्छेद। अनि-रुद्ध के ग्रन्थों पर बाद में एक बड़ा सहायक साहित्य लिखा गया, जिसका विवरण हम आगे टीकाओं के युग में देखेंगे। धर्मश्री ने विनय-सम्बन्धी अट्ठकथा-साहित्य को 'खुद्दक सिक्खा' (क्षुद्रक शिक्षा) नामक ग्रन्थ दिया और महास्वामी ने इसी विषय सम्बन्धी 'मूल सिक्खा' (मूल शिक्षा)

बुद्धदत्त, बुद्ध घोष और धम्मपाल के बाद जिस अट्ठकथा-साहित्य का ऊपर उल्लेख किया गया है उसमें अनिरुद्ध-कृत 'अभिधम्मत्थसंगह' का एक अपना स्थान है। पालि-साहित्य के इतिहास की किसी भी योजना में वह एक स्वतन्त्र परिच्छेद का अधिकारी है। उतना अवकाश तो इस कृति को यद्यपि हम यहाँ नहीं दे सकते, फिर भी अन्य की अपेक्षा इसका कुछ अधिक विस्तृत विवरण यहाँ अपेक्षित है। वह भी न केवल इसकी स्वतन्त्र सत्ता की दृष्टि से ही बल्कि इसलिये भी कि इसकी विषय-वस्तु का उल्लेख या विवेचन करते समय न केवल सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक की ही विषय-वस्तु बल्कि उसकी अट्ठकथाओं का भी बहुत कुछ सारांश यहाँ स्वतः आ जाता है।

अभिधम्मत्थसंगह् के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विश्लेषण

'अभिधम्मत्थ संगह'[१] में परमार्थ रूप से चार पदार्थों (धर्मों) की सत्ता मानी गई है, यथा चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण [२]। हेतुओं से युक्त चित्त को 'सहेतुक' और उनसे वियुक्त चित्त को 'अ-हेतुक' कहते हैं। हेतु का अर्थ है अभिधम्म में लोभ, द्वेष, मोह या अ-राग, अ-द्वेष और अमोह। इन मूल प्रवृत्तियों को लेकर ही मनुष्य किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है, अतः यही 'हेतु' कहलाते हैं। सहेतुक चित्त तीन प्रकार के होते हैं यथा, कुशल, अकुशल और अव्याकृत। कुशल, अकुशल और अव्याकृत से अभिधम्म में क्या तात्पर्य लिया जाता है, यह हम अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत धम्मसंगणि के विवेचन में देख चुके हैं। अव्याकृत सहेतुक चित्त दो प्रकार का होता है 'विपाक-चित्त' और 'क्रिया-चित्त'। विपाक और क्रिया (किरिया) चित्तों से क्या तात्पर्य है, यह भी हम विस्तार-पूर्वक धम्म संगणि के विवेचन में दिखा चुके हैं। 'विपाक-चित्त' अव्याकृत इसलिये है कि पहले किये हुए कर्म का फल होने के कारण उसे न 'कुशल' ही कहा जा सकता है और न 'अकुशल' ही। 'क्रिया सहेतुक चित्त' वह चित्त है जिसमें 'अ-लोभ', 'अद्वेष', और 'अमोह' ये तीन हेतु रहते तो हैं किन्तु तृष्णा के क्षय के कारण इनका 'विपाक' नही बनता अर्थात् ये पुनर्जन्म के लिये कारण-स्वरूप नही बनते। 'क्रिया सहेतुक चित्त' अर्हत् का ही हो सकता है। वह चाहे अ-लोभ, अद्वेष, और अमोह के कारण कुछ कुशल कर्म भले ही सम्पादन करे, किन्तु अनासक्त होने के कारण उसका वह सब कर्म केवल 'क्रिया' मात्र ही होता है। वह आगे के लिये विपाक पैदा नहीं करता।

---

१. अभिधम्मत्थसंगह, मूल पालि तथा आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी-रचित उसकी पालि टीका 'नवनीत टीका' के सहित, देव नागरी लिपि में महाबोधिसभा द्वारा प्रकाशित, सारनाथ, १९४१। भिक्षु जगदीश काश्यप ने अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द पहली में अभिधम्मत्थ संगह की विषय-वस्तु का अत्यन्त विशदतापूर्वक विश्लेषण किया है। साथ में रोमन-लिपि में पालि-पाठ भी दे दिया गया है।

२. तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो। चित्तं, चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा। अभिधम्मत्थसंगहो।

चित्त के साथ उत्पन्न और निरुद्ध होने वाले एवं एक ही विषय (आलम्बन) और इन्द्रिय वाले चित्त के कर्मों को 'अभिधम्मत्थसंगह' में 'चेतसिक' कहा गया है।[1] इनकी संख्या ५२ हैं। चेतसिक धर्मों को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है, यथा (१) १३ 'अन्य समान' (२) १४ 'अकुशल' और (३) २५ 'शोभन'[2]। फिर इनका भी विश्लेषण किया गया है। जब कोई 'चेतसिक' या चित्त-कर्म 'शोभन-चित्त' से युक्त होता है, तब वह 'अशोभन' वे से अन्य होता है, और जब वह 'अशोभन' से युक्त होता है, तब शोभन से अन्य होता है। इसीलिये उसे 'अन्य समान' कहते हैं। इस 'अन्य समान' चेतसिक का भी द्विविध विभाजन है, यथा (१) साधारण चेतसिक (२) प्रकीर्ण चेतसिक। साधारण चेतसिक धर्म वे है जो सभी चित्तों में साधारण रूप से रहते हैं और ये संख्या में सात हैं (१) स्पर्श (२) वेदना (३) संज्ञा (४) चेतना (५) एकाग्रता (६) जीवितेन्द्रिय और (७) मनसिकार[3]। प्रकीर्ण चेतसिक धर्म वे हैं जो केवल जब कभी होने वाले हैं। ये संख्या में छह है यथा (१) वितर्क (२) विचार (३) अधिमोक्ष, (४) वीर्य (५) प्रीति और (६) छन्द (इच्छा)[4]। विषयो को स्पर्श करनेवाले चेत-सिक-धर्म को स्पर्श, विषयों के स्वाद भोगने वाले को वेदना, विषयों के स्वभाव को ग्रहण करने वाले को संज्ञा, विषयों में प्रेरणा करने वाले को चेतना, विषय में स्थिर रहने वाले को एकाग्रता, प्राप्त विषयों की मन में रक्षा करनेवाले को 'मन-सिकार' कहते हे। इसी प्रकार विषय-चिन्तन करनेवाले चेतसिक को वितर्क, उस पर बार बार सोचने वाले को विचार, विषयों में प्रवेश कर निश्चय करने वाले

---

१. एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका। चेतोयुत्ता द्विपञ्चासा धम्मा चेतसिका मता। अभिधम्मत्थ-संगहो, चेतसिक कण्डो।

२. तेरसञ्ञसमाना च चुद्दसा कुसला तथा। सोभना पञ्चवीसाति द्विपञ्चास पवुच्चरे। अभिधम्मत्थसंगहो, चेतसिक कण्डो।

३. फस्सो वेदना सञ्ञा चेतना एकग्गता जीवितिन्द्रियं मनसिकारो चेति सत्ति मे चेतसिका सब्बचित्त-साधारणा नाम। उपर्युक्त के समान ही।

४. वितक्को विचारो अधिमोक्खो वीरियं पीति छन्दो चेति छयिमे चेतसिका पकिण्णका नाम। उपर्युक्त के समान ही।

को अधिमोक्ष, उत्साह करने वाले को वीर्य, विषयों में आनन्द लेने वाले को प्रीति और उनकी इच्छा करने वाले चेतसिक धर्मों को 'छन्द' कहते हैं। पूर्वोक्त १४ अकुशल चेतसिक इस प्रकार हैं, मोह, निर्लज्जता (अह्री), अ-पाप-भयता (अनत्रपा), औद्धत्य, लोभ (मिथ्या-) दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, पश्चात्ताप-कारी कृत्य (कौकृत्य), स्त्यान (मन को भारी करनेवाला) मृद्ध (चेतसिकों को भारी करनेवाला) और विचिकित्सा (संशय)। शोभन-चित्त २५ हैं, यथा (१) श्रद्धा (२) स्मृति, (३) ह्री, (४) अपत्रपा (पाप-कर्म में भय होना) (५) अलोभ, (६) अद्वेष (७) मध्यस्थता (८) काय-प्रश्रब्धि (कायिक शान्ति) (९) चित्त-प्रश्रब्धि (चित्त-शान्ति) (१०) काय-लघुता (११) चित्त लघुता (१२) काय-मृदुता (१३) चित्त-मृदुता (१४) (१४) कार्य कर्मज्ञता (१५) चित्त-कर्मज्ञता (१६) काय प्रागुण्य (काया का समर्थ भाव) (१७) चित्त प्रागुण्य (चित्त का समर्थ भाव) (१८) काय ऋजुता (१७) चित्त-ऋजुता (२०) सम्यक् वाणी (२१) सम्यक् कर्मान्त, (२२) सम्यक् आजीव। (इन अंतिम तीन अर्थात् सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक आजीव को 'धम्म संगणि' में 'तीन विरतियां' कह कर पुकारा गया है[१]।) (२३) करुणा (२४) मुदिता और (२५) अमोह (प्रज्ञा)। इस प्रकार ५२ चेतसिक धर्मों की कुशल, अकुशल और अव्याकृत कर्म-मयी व्याख्या अभिधम्मत्थ संगह में की गई है। किन्तु यह सब तो दिग्दर्शन मात्र है और बहुत कुछ अस्पष्ट भी। अभी तो हमने केवल 'सहेतुक चित्त' के इन तीन प्रकारों यथा 'कुशल' 'अकुशल' और 'अव्याकृत' चेतसिकों के साथ संबंध को व्यक्त किया है। किन्तु जिस गहनता और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एवं अन्त-र्दृष्टि के साथ इनका विश्लेषण और व्याख्यान 'अभिधम्मत्थसंगह' में किया गया है उसकी तो यह एक प्रतिच्छाया भी नहीं है। कहाँ चित्त के चार प्रकार के वर्गीकरण ,कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर ! कहां फिर इनमें भी कामावचर-चित्त के ५४ प्रकार ! कहां फिर उनकी भी व्याख्या और उसमें भी यह निर्णय कि इनमें से १२ अकुशल चित्त (जिसमें से भी

१. देखिये पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत धम्मसंगणि का विवेचन।

८ लोभ-मूलक, २ द्वेष-मूलक-और २ मोह-मूलक), १८ अहेतुक-चित्त (जिनमें भी फिर ७ अकुशल-विपाक, आठ कुशल-विपाक और ३ अहेतुक-चित्त) और २४ सहेतुक चित्त (जिनके भी फिर वेदनाविज्ञान और संस्कार के भेद से वर्गीकरण)। इतना ही नहीं, इन्हीं कामावचर भूमि में होने वाले चित्तों में फिर २३ विपाक चित्त, २० कुशल और अकुशल एवं ११ ११ क्रिया-चित्तों का विभाजन ! ऊपर निर्दिष्ट द्वितीय भूमि के चित्त अर्थात् रूपावचर चित्त के फिर १५ प्रकार, जिसमें ५ कुशल-चित्त, ५ विपाक-चित्त और पाँच क्रिया-चित्त। इसके बाद तृतीय भूमि के चित्त अर्थात् अरूपावचर-चित्त के बारह विभागों का निरूपण, जिनमें चार-कुशल-चित्त, चार विपाक-चित्त और चार क्रिया-चित्त। अन्त में चतुर्थ भूमि के चित्त अर्थात् लोकोत्तर चित्त के इसी प्रकार ८ भेद, जिनमें चार कुशल चित्त और चार विपाक चित्त। इस प्रकार कुल ५४ कामावचर, १५ रूपावचर, १२ अरूपावचर और ८ लोकोत्तर चित्तों अर्थात् कुल ८९ प्रकार के चित्तों की परिभाषाएँ, व्याख्याएँ, और 'कर्म' के स्वरूप के साथ उनके संबंध का निर्णय यह सब 'अभिधम्मत्थसंगह' की संख्याओं में भरने का प्रयत्न किया गया है। चित्त और चेतसिक धर्मों के इस निरूपण में कितनी सूक्ष्मता, कितनी विश्लेषण-प्रियता 'अभिधम्मत्थसंगह' ने अभिधम्म का अनुगमन कर दिखाई है, इसे देखकर साधारण विद्यार्थी का साहस छूट जाता है। फिर भी 'अभिधम्मत्थसंगह' के महत्व का यह कुछ कम बड़ा साक्ष्य नहीं है कि अभिधम्म-पिटक पर बुद्धघोष जैसे आचार्य की अट्ठकथाएँ रहते हुए भी बौद्ध विद्यालयों में अभिधम्म का अध्ययन प्रायः इसी ग्रन्थ के द्वारा होता आया है और विशेषतः बरमा में तो इसके चारों ओर एक सहायक साहित्य की अटूट परम्परा ही १५ वीं शताब्दी से बनती चली आ रही है जिसका वर्णन हम ११०० ई० से वर्तमान समय तक के पालि के व्याख्यापरक साहित्य का विवरण देते समय अभी आठवें अध्याय में करेंगे।

बुद्धघोष-युग में अट्ठकथाओं और व्याख्यापरक साहित्य के अतिरिक्त वंश-संबंधी कई ग्रन्थ भी लिखे गये, और इसी प्रकार काव्य और व्याकरण-संबंधी पर्याप्त रचनाएँ भी हुई। इनका विवरण हम अपनी योजना के अनुसार क्रमशः नवें और दसवें अध्यायों में करेंगे।

आठवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग

(११०० ई० से वर्तमान समय तक)

विषय-प्रवेश

लंकाधिराज पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) का शासन-काल पालि-साहित्य के उत्तरकालीन विकास के इतिहास में बड़ा गौरवमय माना जाता है। इसी समय से पालि अट्ठकथाओं के ऊपर टीकाएँ लिखने की वह महत्वपूर्ण परम्परा चल पड़ी जो ठीक उन्नीसवीं और बीसवी शताब्दी तक अप्रतिहत रूप से चलती रही। न केवल टीकाओं के रूप में ही बल्कि, काव्य, व्याकरण, कोश, छन्द: शास्त्र एवं 'वंश' (इतिहास) संबंधी साहित्य भी इन शताब्दियों में प्रभूत मात्रा में लिखा गया। इस सब साहित्यिक प्रगति के क्षेत्र प्रधानतः लंका और बरमा ही रहे। बारहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य-सृजन के क्षेत्र में लंका का प्रमुख स्थान रहा। पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक बरमी पालि-साहित्य का युग कहा जा सकता है। टीकाओं तक ही अपने को सीमित रखकर इस विशाल साहित्य-रचना का विवेचन हम इस अध्याय में करेंगे।

सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनके शिष्यों की टीकाएँ

पराक्रम बाहु प्रथम के शासन-काल में लंका में एक बौद्ध सभा (संगीति) बुलवाई गई। इस सभा का उद्देश्य अट्ठकथाओं पर मागधी (पालि) भाषा में टीकाएं लिखवाना था। इस सभा के संयोजक प्रसिद्ध सिंहली स्थविर महा-कस्सप थे। इस सभा के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप बुद्धघोष की अट्ठकथाओं पर पालि-भाषा में टीकाएँ लिखी गईं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. सारत्थ दीपनी—समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) की टीका

२. पठम-सारत्थमंजूसा—सुमंगल विलासिनी (दीघ-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

३. दुतिय-सारत्थमंजूसा—पपञ्चसूदनी (मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

४. ततिय-सारत्थमंजूसा—सारत्थप्पकासिनी (संयुत्त-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

५. चतुत्थ-सारत्थमंजूसा—मनोरथ पूरणी (अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

६. पठम-परमत्थप्पकासिनी—अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्ठकथा) की टीका

७. दुतिय-परमत्थप्पकासिनी—सम्मोहविनोदनी (विभंग की अट्ठकथा) की टीका

८. ततिय परमत्थप्पकासिनी—पञ्चप्पकरणट्ठकथा (धातुकथा, पुग्गल-पञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान की अट्ठकथा) की टीका

उपर्युक्त टीकाओं में से केवल 'सारत्थ दीपनी' आज उपलब्ध है। यह तत्कालीन सिंहली भिक्षु सारिपुत्त की रचना है। इस रचना के अतिरिक्त इन स्थविर की तीन कृतियां और प्रसिद्ध हैं। (१) लीनत्थ पकासनी—बुद्धघोष-कृत मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा की टीका (२) विनय संगह—विनय-संबंधी नियमों का संग्रह। इस रचना का दूसरा नाम 'पालिमुत्तक विनयसंगह' (पालिमुक्तक विनयसंग्रह) या 'महाविनय संगहप्पकरण' (महाविनयसंग्रह प्रकरण) भी है। (३) सारत्थ मञ्जूसा—बुद्धघोषकृत अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा की टीका। स्थविर सारिपुत्त के शिष्यों ने भी इस टीका-रचना-कार्य में बड़ा योग दिया। उनके शिष्यों में ये प्रधान थे—(१) संघरक्खित, (२) बुद्धनाग, (३) वाचिस्सर (४) सुमंगल, (५) सद्धम्मजोतिपाल या छपद (६) धम्मकित्ति, (७) बुद्धरक्खित और (८) मेधंकर। स्थविर संघरक्खित की एकमात्र रचना 'खुद्दक सिक्खा-

टीका' है जो धम्मसिरि (धर्मश्री) रचित 'खुद्दक-सिक्खा' की टीका है। स्थविर संघरक्खित से पहले महायास ने भी 'खुदक-सिक्खा' पर 'खुद्दक सिक्खा-टीका' नाम से ही एक टीका लिखी थी। इन दोनों में भेद करने के लिए स्थविर संघ-रक्खितकृत टीका को 'अभिनव-खुद्दक सिक्ख-टीका' और महायास कृत टीकाको 'पोराण-खुद्दक-सिक्खा टीका' भी कहा जाता है। ये दोनोंटीकाएँ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में आज भी सिंहल में सुरक्षित हैं। स्थविर बुद्धनाग की रचना 'विनयत्थ मंजूसा' है, जो कंखा वितरणी (पातिमोक्ख पर बुद्धघोष कृत अट्ठकथा) की टीका है। यह टीका भी सिंहल में हस्तलिखित प्रति के रूप में सुरक्षित है। प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु वाचिस्सर (वागीश्वर) अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। 'गन्धवंस' में उनके १८ ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। प्रसिद्ध वेदान्ती आचार्य वाचस्पति मिश्र और इन स्थविर (वाचिस्सर) के नाम या उपनाम में समानता होने के साथ साथ दोनों की विद्वत्ता भी प्रायः समान रूप से गहरी और विस्तृत है। स्थविर वाचिस्सर की प्रधान रचनाएँ ये हैं—(१) मूलसिक्खा-टीका—यह टीका महास्वामी (महासामी) कृत 'मूल-सिक्खा' की टीका है। वाचिस्सर से पहले विमलसार ने भी इसी (मूलसिक्खा टीका) नाम की एक टीका 'मूल-सिक्खा' पर लिखी थी। अतः विमलसार कृत टीका 'मूल सिक्खा–पोराण टीका' कहलाती है और वाचिस्सर-कृत टीका' 'मूल-सिक्खा–अभिनव टीका' (२) सीमालंकार संगह (विनय-संबंधी ग्रन्थ, जिसमें विहार की सीमा का निर्णय किया गया है। जहां तक के भिक्षु विशेष संस्कारों में सम्मिलित होने के लिए किसी एक विहार में एकत्रित हों, वह उस विहार की सीमा कहलाती है)[1] (३) खेमप्पकरणटीका—यह टीका भिक्षु खेम (क्षेम) कृत 'खेमप्पकरण' की टीका है। (४) नामरूप परिच्छेद टीका–यह अनिरुद्ध (पालि अनुरुद्ध) कृत 'नाम रूप परिच्छेद' की टीका है। (५) सच्चसंखेप टीका—यह स्थविर आनन्द के शिष्य चूल धम्मपाल-कृत 'सच्च संखेप' की टीका है। (६) अभिधम्मावतार-टीका—यह रचना बुद्धदत्त-कृत 'अभिधम्मावतार' की टीका है। (७) 'रूपारूप-

---

१. इस विषय पर पन्द्रहवीं शताब्दी में बरमी भिक्षु-संघ में एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। देखिये आगे दसवें अध्याय में कल्याणी-अभिलेख का विवरण।

विभाग'—यहअभिधम्मसम्बन्धी रचना है। (८) विनया, विनिच्छय-टीका—यह टीका बुद्धदत्त कृत 'विनय विनिच्छय' की टीका है। (९) उत्तरविनिच्छयटीका—यह रचना बुद्धदत्त-कृत 'उत्तर विनिच्छय'की टीका है। (१०) सुमंगलप्पसादिनी—यह रचना धम्मसिरि (धर्म श्री)-कृत खुद्दक-सिक्खा' की टीका है। इन रचनाओं के अलावा 'योग विनिच्छय', 'पच्चय संगह' जैसे अनेक ग्रंथ भी वाचिस्सर द्वारा रचित बताये जाते हैं। चूकि 'वाचिस्सर' उपाधि-धारी अनेक भिक्षु सिंहल के हो गये है, अतः निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सी रचनाएँ किस 'वाचिस्सर' की है। फिरभी ऊपर जिन प्रधान दस रचनाओं का उल्लेख किया जा चुका है, वे सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य 'वाचिस्सर' की ही मानी जाती हैं। सुमंगल-कृत तीन रचनाएं हैं, (१) अभिधम्मत्थविभावनी, जो अनिरुद्ध-कृत अभिधम्मत्थ-संगह की टीका है (२) अभिधम्मत्थ विकासिनी, जो बुद्धदत्त अभिधम्मावतार की टीका है (३) सच्चसंखेप-टीका है—जो चूल धम्मपाल-कृत सच्चसंखेप की टीका है। ये तीनों ग्रंथ हस्त लिखित प्रतियों के रूप में सिंहल में सुरक्षित 'अभि धम्मत्थ विभावनी' का महाबोधि प्रेस कोलम्बो से सन् १९३३ में सिंहली अक्षरों में प्रकाशन भी हो चुका है। सद्धम्मजोतिपाल या छपद का नाम सारिपुत्तके शिष्यों मे विशेषतः प्रसिद्ध है। ये बरमा-निवासी भिक्षु थे जिन्होंने बौद्ध धर्म की शिक्षार्थ सिंहल मे प्रवास किया था। सारिपुत्तके शिष्यत्व में वे वहाँ ११७० से ११८० ई० तक रहे। उनकी ये रचनाएं अधिक प्रसिद्ध हैं, (१)विनय समुट्ठान दीपनी (विनय सम्बन्धी टीका-ग्रन्थ (२) पातिमोक्ख विसोधनी (३)विनय गूढत्थ दीपनी विनय पिटकके कठिन शब्दोंकी व्याख्या (४)सीमालङ्कार संगहटीका, जो वाचिस्सर-कृत सीमालंकार संगह की टीका है। इस प्रकार चार रचनाएँ छपदकी विनय-सम्बन्धी हैं। अभिधम्म साहित्य को भी इन्होंने पाँच टीका-ग्रन्थ प्रदान किये है, (१)मातिकत्थ दीपनी (२)पट्ठान-गणनानय (३)नामचार दीप (४)अभिधम्मत्थसंगह संखेप टीका, जो अनिरुद्ध-कृत अभिधम्मत्थ संगह की टीका है और (५) गन्धसार, जिसमें तिपिटक के ग्रन्थों का सार है। धम्मकित्ति की रचना 'दाठावंस' है जिसका विवेचन हम वंश-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। इसी प्रकार वाचिस्सर (उपर्युक्त सारिपुत्त के शिष्य ही) के थूपवंस है, जिसका विवेचन भी हम वहीं करेंगे। बुद्धरक्खित और मेघंकर की रचनाएं

क्रमश: 'जिनालंकार' और 'जिनचरित' हैं, जो काव्य-ग्रंथ हैं। इनका विवरण हम पालि-काव्य का विवेचन करते समय दसवें अध्याय में देंगे। सारिपुत्त और उनके शिष्यों का यह उपर्युक्त साहित्य पराक्रमबाहु प्रथम के शासन-काल में लिखा गया, अत: इसका समय बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग ही है। इसी समय 'वंसत्थदीपनी' नामकी 'महावंस' की टीका भी लिखी गई। किन्तु उसके रचयिता का नाम अभी अज्ञात ही है।

तेरहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

तेरहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के प्रसिद्ध नाम वैदेह स्थविर 'विदेह थेर' बुद्धप्पिय और धम्मकित्ति हैं। वैदेह थेरकीदो प्रसिद्ध रचनाएँ 'समन्त कूट वण्णना'[1] और 'रसवाहिनी' हैं।[2] बुद्धप्पिय की रचना 'पज्जमधु' है। यह एक काव्य-ग्रन्थ है। इसका विवेचन हम दसवें अध्याय में करेंगे। इस शताब्दी की सम्भवत: सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना 'महावंस'का 'चूलवंस'के नामसे परिवर्द्धन है। 'महावंस'का इस प्रकार प्रथम परिवर्द्धन तेरहवीं शताब्दी में और दूसरा परिवर्द्धन १८ वीं शताब्दीके मध्यभाग में किया गया। बारहवीं शताब्दी में इस परिवर्द्धन को करने वाले 'धम्मकित्ति' नामक भिक्षु थे। सिंहल और बरमा में इस नाम केअनेक शताब्दियों में इतने अधिक भिक्षु हुए हैं कि यह धम्मकित्ति उनमें से कौन से थे, इसका सम्यक् रूप से निर्णय नही किया जा सकता। सम्भवत: यह वही स्थविर धम्मकित्ति थे, जिन्होंने महावंश ८४।१२ के अनुसार बरमा से लंका में जाकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था इसप्रकार जिनका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य-भाग है। इसी समय 'अत्तनगलु विहारवंस' नामक वंश ग्रंथ भी लिखा गया, जिसके लेखक का नाम अभी अज्ञात ही है। तेरहवीं शताब्दी के अंतिम या चौदहवी शताब्दी के आदि भाग के पालि-साहित्य के इतिहास में सिद्धत्थ और धम्मकित्ति महासामी (धर्मकीर्ति महास्वामी) इन दो भिक्षुओं के नाम प्रसिद्ध हैं। सिद्धत्थ 'पज्जमधु'के रचयिता बुद्धप्पियके शिष्य थे। इनकी रचना 'सारसंगह' है जो गद्य-पद्य-मिश्रित बुद्ध-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ है। धम्मकित्ति महास्वामीकी रचनाका नाम 'सद्धम्मसंगह' है। इसमें चालीस अध्याय

१. २. इनके विवरण के लिए देखियेआगे दसवें अध्याय में पालि-काव्य का विवरण।

हैं। यहाँ लेखक ने बुद्ध-काल से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक भिक्षु-संघ के इतिहास का वर्णन किया है। कोई नवीन सूचना न देने पर भी लेखक ने जितने विस्तृत साहित्य का उपयोग किया है, वह उस समय तक के पालि-साहित्य की प्रगति की दृष्टि से उसके इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, इसमें सन्देह नहीं।

चौदहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

इस शताब्दी की पाँच रचनाएँ हैं, जिसमें चार काव्य ग्रंथ हैं, और एक वंश-ग्रन्थ। इनका विशेष विवरण तो हम क्रमशः दसवें और नवें अध्यायों में करेंगे, किन्तु यहाँ नामोल्लेख करना आवश्यक है। चार काव्य-ग्रन्थ हैं (१) सिंहल-प्रवासी वर्मी भिक्षु मेधंकर-कृत लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार (२) पंचगतिदीपन, जिसके लेखक का पता नहीं (३) सद्धम्मोपायन, जिसके भी लेखक का ठीक पता नहीं, और (४) तेलकटाहगाथा, जिसके भी लेखक का नाम अज्ञात है। वंश-ग्रन्थ, भिक्षु महामंगल-कृत 'बुद्धघोसुप्पति' है, जिसमें बुद्धघोष की जीवनी का वर्णन किया गया है।

बरमी पालि-साहित्य—पन्द्रहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

जैसा पहले दिखाया जा चुका है, पन्द्रहवी शताब्दी से बरमा पालि-साहित्य के अध्ययन और ग्रन्थ-रचना का प्रधान केन्द्र हो गया। जिस विषय की ओर बरमी बौद्ध भिक्षुओं की विशेष दृष्टि गई वह था अभिधम्म। वास्तव में यह उनके अध्ययन और ग्रन्थ-रचना का एक मात्र मुख्य विषय ही बन गया। फलतः एक लंबी परम्परा हम इस साहित्य संबंधी रचना की वहाँ देखते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के बरमी पालि-साहित्य के इतिहास के प्रसिद्ध नाम हैं अरियवंस, सद्धम्मसिरि (सद्धर्म श्री) सीलवंस और रट्ठसार। अरियवंस की रचनाएँ ये हैं (१) मणिसारमञ्जूसा—सुमंगल-कृत अभिधम्मत्थविभावनी की टीका (२) मणिदीप—बुद्धघोषकृत अट्ठसालिनी की टीका (३) जातक-विसोधन—जातक-संबंधी रचना। सद्धम्मसिरि अरियवंस के ही समकालिक थे। इनकी एकमात्र प्रसिद्ध रचना 'नेत्तिभावनी' है जो नेत्तिपकरण की टीका है। सीलवंस का काल अरियवंस और सद्धमसिरि से कुछ बाद का का है किन्तु है पन्द्रहवीं शताब्दी ही। इनकी प्रसिद्ध रचना 'बुद्धालंकार' है

जो निदान-कथा की सुमेध-कथा का काव्यमय रूपान्तर है। रट्ठसार ने कुछ जातकों के काव्यमय रूपान्तर किये हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी की ही एक रचना 'काव्यविरतिगाथा' है, किन्तु उसके लेखक के नाम आदि का अभी पता नहीं चला है।

सोलहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

सोलहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास में सद्धम्मालंकार और महानाम, इन दो भिक्षुओं के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। सद्धम्मालंकार की रचना 'पट्ठान-दीपनी' है, जो पट्ठानप्पकरण की टीका है। महानाम ने 'मधुसारत्थदीपनी' लिखी, जो बुद्धघोष के समकालिक भिक्षु आनन्द द्वारा लिखित 'अभिधम्ममूलटीका' या संक्षेपतः 'मूल-टीका' की अनुटीका है।

सत्रहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

तिपिटकालंकार, तिलोकगुरु, सारदस्सी और महाकस्सप, ये चार भिक्षु सत्रहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास के प्रकाश-स्तम्भ हैं। तिपिटकालंकार (त्रिपिटकालंकार) की ये तीन रचनाएँ हैं (१) वीसतिवण्णना—अट्ठसालिनी के आरंभ की २० गाथाओं की टीका (२) यसवड्ढनवत्थु (३) विनयालंकार—सारिपुत्त-कृत 'विनय-संगह' की टीका। तिलोकगुरु की चार रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें दोनों धातु-कथा की ही टीका और अनुटीका स्वरूप हैं, यथा (१) धातुकथाटीका—वण्णना (२) धातुकथा-अनुटीका—वण्णना। शेष दो रचनाएँ हैं (१) यमकवण्णना (२) पट्ठान-वण्णना। सारदस्सी की रचना 'धातुकथा-योजना' है जो धातु कथा की टीका है। महाकस्सप की प्रसिद्ध रचना 'अभिधम्मत्थ गण्ठिपद' है जो अभिधम्म के कठिन शब्दों की व्याख्या है।

अठारहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

इस शताब्दी के एकमात्र प्रसिद्ध लेखक ञाणाभिवंस (ज्ञानाभिवंश) हैं जो बरमा के संघराज थे। इनकी तीन रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं (१) पेटकालंकार—नेत्तिपकरण की टीका (२) साधुविलासिनी—दीघ-निकाय की आंशिक

व्याख्या (३) राजाधिराज-बिलासिनी—काव्य-ग्रन्थ[1]। इन्हीं ञानाभिवंश संघराज ने 'चतुसामणेरवत्थु' और राजवादवत्थु' नामक भाव-मयी रचनाएँ भी लिखी हैं। अठारहवीं शताब्दी में ही 'मालालंकारवत्थु' नामकी बुद्ध-जीवनी भी लिखी गई, किन्तु उसके लेखक के नाम के विषय में हमारी कोई जानकारी नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

नलाटधातुवंस, छकेसधातुवंस, सन्देसकथा और सीमा-विवाद-विनिच्छय उन्नीसवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं, जिनके लेखकों के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है। इस शताब्दी की दो बड़ी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ 'गन्धवंस' और 'सासनवंस' हैं। चूंकि ये दोनों वंश-ग्रन्थ हैं, इनका विस्तृत विवरण हम नवें अध्याय में इस सम्बन्धी साहित्य का विवेचन करते समय करेंगे। उन्नीसवी शताब्दी मे लंका और बरमा में पालि-सात्यि सम्बन्धी अन्य अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये, जिनके नाम-परिगणन मात्र से कोई विशेष उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, प्रसिद्ध बरमी भिक्षु लेदि सदाव की 'परमत्थदीपनी' नामक अभिधम्मत्थ संगह की टीका और उनका यमक-सम्बन्धी पालि निबन्ध जो उन्होंने श्रीमती रायस डेविड्स की कुछ शंकाओं के निवारणार्थ लिखा था, अवश्य महत्वपूर्ण रचनाएँ है और उन्नीसवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखती हैं।[2] इसी प्रकार लंका में समरसेकर श्री धम्मरतन, विक्रम सिंह, स्थविर नारद, और युगिरल पञ्ञानन्द महाथेर आदिने जो महत्त्वपूर्ण कार्य आज तक किया है, वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

बीसवीं शताब्दी की कुछ महत्त्वपूर्ण टीकाएँ

बीसवीं शताब्दी में भी पालि-भाषा में टीकाओं का लिखा जाना कुछ आश्चर्यमय अवश्य लगता है, किन्तु वह एक तथ्य है। वह एक ऐसी परम्परा का सूचक है जो अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। भारत में पालि-अध्ययन की जो दुरववस्था है,

---

१. देखिये दसवें अध्याय में पालि-काव्यग्रन्थों का विवेचन।

२. देखिये पीछे पाँचवें अध्याय में 'यमक' का विवरण।

वह लंका, बरमा और स्याम जैसे देशों की परिस्थिति की भी जहाँ बौद्ध धर्म आज एक जीवित धर्म के रूप में विद्यमान है, सूचक नहीं है। वहाँ पालि का अध्ययन आज भी उसी उत्साह के साथ किया जाता है, जैसा उन्नीसवीं या उसकी पूर्व की शताब्दियों में। फिरभी भारतकी ओरसे यह आश्वासन है कि वहाँ ज्ञानकी ज्योति क्षीण भले ही हो गई हो किन्तु बुझी फिरभी नहीं है। आचार्य धम्मानन्द कोसम्बी के रूप में हम फिर भी कुछ गौरव अनुभव कर सकते हैं। उन्होंने पालि साहित्य को, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, दो अमूल्य टीका-ग्रन्थ प्रदान किये हैं (१) विसुद्धिमग्गदीपिका, जो विसुद्धिमग्ग पर विद्यार्थियों के उपयोग के लिये लिखी गई उत्तम टीका है, और (२) अभिधम्मत्थसंगह की 'नवनीत-टीका'। अपने वर्षों के प्रयास के परिणाम-स्वरूप प्राप्त ज्ञान यहाँ आचार्य धमानन्द कोसम्बी ने अभिधम्म के जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त सुगम भाषा में प्रस्तुत किया है। अभिधम्म का अध्ययन करने वालों के लिये इससे अधिक अच्छा सहायक ग्रन्थ नहीं बताया जा सकता। इसी के प्रसाद-स्वरूप भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस विषय का निरूपण अपने अंग्रेजी ग्रन्थ 'अभिधम्म-फिलाँसफी' में किया है, किन्तु यह इस विषय से सम्बन्धित नहीं है।

इस युग की अन्य रचनाएँ

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पालि-स्वाध्याय की जो परम्परा बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल ने पाँचवीं शताब्दी में छोड़ी वह अविच्छिन्न रूप से बीसवीं शताब्दी तक चलती आरही है। यद्यपि उसमें मौलिकता न हो, किन्तु वह एक सतत साधना की सूचक तो है ही। यहाँ हमने बारहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के टीका-साहित्य का ही प्रधानतः दिग्दर्शन किया है। कहीं कहीं काव्य सम्बन्धी ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है और इसी प्रकार वंश-सम्बन्धी ग्रन्थों की ओर भी संकेत मात्र कर दिया है। उनका विवरण हमें काल-क्रम और विकास की दृष्टि से अलग देना इष्ट है। व्याकरण-सम्बन्धी प्रभूत साहित्य का निर्माण इन्हीं शताब्दियोंमें अर्थात् १२वीं शताब्दीसे लेकर उन्नीसवींया बीसवीं शताब्दी तक लंका और बरमा दोनों देशों में किया गया। उसका हमने बिलकुल उल्लेख इस प्रकरण में नहीं किया है। उसके विकास की परम्परा को हम अलग से (दसवें

अध्याय में) लेंगे, क्योंकि वह काफी विस्तृत है और अलग विवेचन की ही अपेक्षा रखती है। पालि में इन्हीं शताब्दियों में ही धर्म-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हुई। तेरहवीं शताब्दी में बरमी भिक्षु सारिपुत्त ने 'धम्मविलास-धम्मसत्थ' नामक ग्रन्थ की रचना की जो वहाँ संविधान-सम्बन्धी मामलों में अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। इसी के आधार पर सोलहवीं शताब्दी में 'मनु-सार' की रचना हुई, जिसके आधार पर अठारहवीं शताब्दी में 'मनु-वण्णना' की रचना हुई। पुनः इसी के आधार पर उन्नीसवीं शताब्दी में 'मोह-विच्छेदनी' लिखी गई। पालि के इस धर्म-शास्त्र सम्बन्धी विकास का इतिहास पालि और बरमी बौद्ध धर्म के स्वरूप को समझने के लिये महत्त्वपूर्ण होने के साथ साथ इस दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि वह बौद्ध सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में मनुस्मृति के प्रभाव का साक्ष्य देता है, जिस पर ही सम्पूर्ण बरमी धर्म-शास्त्र साहित्य, जो अंशतः बरमी भाषा और अंशतः पालि में निबद्ध है, आधारित है। काव्य, व्याकरण, वंश और धर्मशास्त्र के अलावा छन्दःशास्त्र, काव्य-शास्त्र, कोश आदि पर इन शताब्दियों में लिखे गये साहित्य का भी इस प्रकरण में विवेचन नहीं किया गया है। उसका संक्षेपतः निदर्शन हम आगे के प्रकरणों में करेंगे।

नवाँ अध्याय

वंश-साहित्य

'वंश' शब्द का अर्थ और इतिहास से भेद

'वंश' साहित्य पालि साहित्य की एक मुख्य विशेषता है। यद्यपि 'वंश' (पालि 'वंस') नाम से कोई ग्रन्थ संस्कृत भाषा या अन्य किसी प्राचीन आर्य-भाषा के साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता, किन्तु जिसे छान्दोग्य-उपनिषद् में 'इतिहास-पुराण' कहा गया है, उसकी तुलना विषय और शैली की दृष्टि से पालि 'वंस' ग्रन्थों से की जा सकती है। 'इतिहास-पुराण' या ठीक कहें तो 'पुराण-इतिहास' ग्रन्थों के सर्वोत्तम उदाहरण संस्कृत भाषा में महाभारत और अष्टादश पुराण जैसे ग्रन्थ ही हैं। इनके विषयों में धर्म-वृत्त और कथाओं के साथ साथ प्राचीन भारतीय इतिहास का भी संनिवेश है। इनका निश्चित आधार ऐतिहासिक होते हुए भी वर्णन-शैली प्रायः इतनी अतिरंजनामयी और नैतिक उद्देश्यों से (कहीं कहीं साम्प्रदायिक मतवादों से भी-जैसा कि उत्तरकालीन पुराणों में) ओत-प्रोत होती है कि उनमें से निश्चित इतिहास को निकालना बड़ा कठिन हो जाता है। पार्जिटर आदि विद्वानों को उनका वास्तविक ऐतिहासिक मूल्यांकन करने में कितना परिश्रम करना पड़ा है, यह इसी से जाना जा सकता है। जो बात संस्कृत के पुराण-इतिहासों के बारे में ठीक है, वही बात पालि के 'वंस' ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कुछ अन्तर, केवल मात्रा का यह अवश्य है कि पालि 'वंस'-कारों ने भारतीय 'पुराण'-कारों की अपेक्षा कुछ अधिक ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय दिया है। संस्कृत में केवल 'राजतरंगिणी' को छोड़कर और कोई ग्रन्थ उनकी कोटि का नहीं है। निश्चय ही उनके वर्णनों में निश्चित इतिहास की सामग्री संस्कृत पुराण-इतिहासों से तो बहुत अधिक मात्रा में और अधिक स्पष्ट रूप से मिलती है। भारतीय परम्परा के अनुसार इतिहास-पुराण के पाँच लक्षण

कहे गये हैं, सर्ग (सृष्टि-क्रम-वर्णन) प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद पुनः सृष्टि-क्रम का वर्णन), वंश , मन्वन्तर और वंशानुचरित । इनमें वंश और वंशानुचरित हमारे प्रस्तुत विषय की दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं । राजाओं की विस्तृत वंशावलियाँ विष्णु, वायु, मत्स्य, भागवत आदि पुराणों में दी हुई हैं । पालि का वंश-साहित्य भी प्रधानतः राजाओं की वंशावलियों का ही वर्णन करता है, यद्यपि महाभारत और पुराणों की तरह उसमें भी इनके अलावा बहुत कुछ है । धर्म-वृत्त और कथाएँ दोनों के ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं । इतने सामान्य कथन के बाद अब हम पालि के वंश-साहित्य की विशेषताओं में प्रवेश कर सकते हैं ।

पालि 'वंश'-ग्रन्थ

पालि में 'वंश'-साहित्य की परम्परा बुद्धघोष-युग के पहले से ही चली आती है और उसका अविच्छिन्न प्रवर्तन तो ठीक उन्नीसवीं या बीसवीं शताब्दी तक मिलता है । पालि के मुख्य वंश-ग्रन्थ ये हैं, (१) दीपवंस (२) महावंस (३) चूलवंस (४) बुद्धघोसुप्पत्ति (५) सद्धम्मसंगह (६) महाबोधिवंस (७) थूपवंस (८) अत्तनगलुविहारवंस (९) दाठावंस (१०) छकेसधातुवंस (११) गन्धवंस और (१२) सासनवंस । इनका अलग अलग संक्षिप्त परिचयात्मक विवेचन आवश्यक होगा ।

दीपवंस[1]

'दीपवंस' पालि वंश-साहित्य की सर्व-प्रथम रचना है । यह लंका-द्वीप का इतिहास है । लंका-द्वीप की ऐतिहासिक परम्परा का आधार एवं आदि स्रोत यही ग्रन्थ है । 'दीपवंस' प्राग्बुद्धघोषकालीन रचना है । इसके लेखक का नाम अभी अज्ञात ही है । आरम्भिक काल से लेकर राजा महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक का लंका का इतिहास इस ग्रन्थ में वर्णित है । बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को अपनी अट्ठकथाओं में कई जगह (विशेषतः कथावत्थुपकरण की

---

१. रोमन लिपि में ओल्डनबर्ग द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८७९ । हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का कोई मूल संस्करण या अनुवाद नहीं निकला । इस ग्रन्थ के बरमी और सिंहली संस्करण उपलब्ध हैं ।

अट्ठकथा में) उद्धृत किया है। बुद्धघोष का समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी है। अतः यह निश्चित है कि 'दीपवंस' का प्रणयन -काल ३५२ ई० (महासेन के शासन-काल की अन्तिम साल, जब तक का वर्णन 'दीपवंस' में मिलता है) और ४५० ई० के बीच ही होना चाहिये। 'दीपवंस' की ऐतिहासिक परम्परा और विषय-वस्तु प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के ऐतिहासिक अंशों पर आधारित है। ये सिंहली अट्ठकथाएँ अत्यन्त प्राचीन काल में सिंहल में लिखी गई थी। इनकी भाषा सिंहली गद्य थी, किन्तु बीच बीच में कहीं कहीं पालि-गाथाएँ भी इनमें सम्मिलित थी। इन्ही अट्ठकथाओं पर बुद्धघोष की पालि-अट्ठकथाएं आधारित हैं और इन्हीं पर 'दीपवंस' भी। 'महा-अट्ठकथा' 'महापच्चरी' 'कुरुन्दी' 'चुल्ल-पच्चरी' 'अन्धट्ठकथा' आदि जिन सिहली अट्ठकथाओं से बुद्धघोष ने सामग्री ली, उन्हीं पर 'दीपवंस' भी आधारित है। विशेषतः जिसे 'महावंस-टीका' में 'सीहलट्ठकथा-महावंस' कहा गया है, उससे भी सम्भवतः 'दीपवंस' में अधिक सहायता ली गई है। अनेक स्रोतों से सहायता लेने के कारण और उनमें निर्दिष्ट परम्पराओं को उनके मौलिक रूप में ही रख देने की प्रवृत्ति के कारण, 'दीपवंस' में अनेक पुनरुक्तियाँ मिलती हैं। विभिन्न स्रोतों से सामग्री संकलित की गई है, किन्तु उस संकलन को व्यवस्थित एवं एकात्मतापरक रूप प्रदान नहीं किया गया। एक ही घटना का वर्णन एक जगह संक्षिप्त रूप से कर दिया गया है। दूसरी जगह उसी घटना का वर्णन विस्तृत रूप से दे दिया गया है। यह विभिन्न स्रोतों से संकलित सामग्री को व्यवस्थित रूप न दे सकने के कारण ही है। अतः साहित्यिक कला की दृष्टि से यह ग्रन्थ उतना महत्त्वपूर्ण नहीं हो पाया। भाषा और छन्द दोनों ही इस ग्रन्थ के निर्दोष नहीं है। जबकि ऐतिहासिक सामग्री इस ग्रन्थ ने उपर्युक्त सिंहली अट्ठकथा-साहित्य से ली है, भाषा और शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ त्रिपिटक पर भी आधारित कहा जा सकता है। बुद्धवंस, चरियापिटक, जातक, परिवार-पाठ आदि ग्रन्थों की शैली की 'दीपवंस' की भाषा-शैली से पर्याप्त समानता है। फिर भी, जैसा अभी निर्दिष्ट किया जा चुका है, भाषा पर लेखक का अधिक अधि-कार दिखाई नहीं पड़ता। साहित्यिक दृष्टि से 'दीपवंस' एक अव्यवस्थित, पुनरुक्ति-मय, भाषा और शैली के दोषों से परिपूर्ण एवं नीरस गद्य-पद्यात्मक (विशेषतः पद्यात्मक) रचना है।

किन्तु साहित्यिक दृष्टि से दोष-मय होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से 'दीपवंस' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। फ्रैंक जैसे कुछ-एक विद्वानों ने उसकी साहित्यिक अपूर्णताओं के कारण या उनसे अधिक प्रभावित होकर ही उसे एक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ के गौरव से भी वंचित रखना चाहा है।[1] निश्चय ही यह सन्तुलन को खो देना है। 'दीपवंस' के ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक ग्रन्थों होने में सन्देह की गुंजायश नहीं, यह डा० गायगर की इस सम्बन्धी खोजों ने अन्तिम रूप से निश्चित कर दिया है।[2] 'दीपवंस' में एक प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा मिलती है, जिसको सिंहल में सदा आदर और विश्वास की दृष्टि से देखा गया है। यह इसी से जाना जा सकता है कि पाँचवीं शताब्दी ईसवी में सिंहल के राजा धातुसेन ने इस ग्रन्थ का पाठ राष्ट्रीय गौरव के साथ एक वार्षिक उत्सव के अवसर पर करवाया था। सिंहली इतिहासों में निश्चय ही इस ग्रन्थ को पहला और अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त है। ग्रन्थ की विषय-वस्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, लंका के प्रारम्भिक इतिहास से लेकर वहाँ के राजा महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक है। सर्वप्रथम बुद्ध के तीन बार लंका-गमन का वर्णन किया गया है। यहाँ बुद्ध की प्राचीन वंशावली का भी वर्णन किया गया है, और उनके वंश के आदि पुरुष का नाम महासम्मत बतलाया गया है। फिर प्रथम दो बौद्ध संगीतियों का का वर्णन है। यहाँ विनय-पिटक—चुल्लवग्ग आदि के वर्णनों से कोई विशेष विभिन्नता नहीं है। वही मगधराज अजातशत्रु के तत्त्वावधान मे, महाकाश्यप के सभापतित्व में, प्रथम संगीति का होना, एवं आनन्द और उपालि के द्वारा क्रमश: धम्म और विनय का संगायन किया जाना, यहाँ भी प्रथम संगीति के विवरण में दिया गया है। इसी प्रकार द्वितीय संगीति के प्रसंग में वज्जिपुत्तक

---

१. यथा स्मिथ : इंडियन एंटिक्वेरी, ३२, १९०३, पृष्ठ ३६५; फ्रैंक : जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०८, पृष्ठ १

२. देखिये विशेषतः उनका महावंस (अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ १२-२०; गायगर से पहले मैक्समुलर तथा डा० रायस डेविड्स ने भी सिंहली इतिहास ग्रन्थों की प्रमाणवत्ता को प्रतिपादित किया था। देखिये क्रमशः सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द १० (१), पृष्ठ १३-२५ (भूमिका); बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २७४

भिक्षुओं का अलग होकर 'महासंघिकों' के रूप में विकसित हो जाना आदि वर्णित है। अशोक के काल तक, स्थविरवाद सम्प्रदाय को सम्मिलित कर, बुद्ध-धर्म १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था, यह भी 'दीपवंस' का वर्णन अन्य इस सम्बन्धी स्रोतों के साक्ष्य से अनुमत है, यह सब हम द्वितीय अध्याय में बौद्ध संगीतियों के विवरण में देख चुके हैं। प्रथम दो संगीतियों का वर्णन करने के बाद 'दीपवंस' तीसरी संगीति के वर्णन पर आता है। किन्तु यहाँ सम्बन्ध मिलाने के लिये वह पहले लङ्का-द्वीप के उस समय तक के इतिहास को अङ्कित करता है। लङ्का-द्वीप की स्थापना एक भारतीय उपनिवेश के रूप में लाळ-[1]नरेश सिंहबाहु के विद्रोही पुत्र विजय ने की। वह अपने पिता के द्वारा अपने उच्छृंखल व्यवहार के कारण देश से बाहर निकाल दिया गया था। अपने कुछ साथियों को लेकर विजय लङ्का द्वीप आया। यात्रा के प्रसंग में सुप्पारक, भरुकच्छ आदि बन्दरगाहों का भी वर्णन कर दिया गया है, जो ग्रन्थकार की ऐतिहासिक बुद्धि का पर्याप्त साक्ष्य देता है। किन्तु साथ ही यह भी दिखाया गया है कि लङ्का में उस समय यक्ष, दानव और राक्षस रहते थे, जो 'पुराण-इतिहास' शैली का एक अच्छा नमूना कहा जा सकता है। विजय सिंहल का प्रथम अभिषिक्त राजा हुआ। उसके बाद अनेक राजा हुए। जिस समय भारत में अशोक राजा राज्य करता था, सिंहल में विजय का वंशधर देवानंपिय तिस्स नामक राजा था। अशोक ने तृतीय संगीति के बाद अपने पुत्र और पुत्री महेन्द्र और संघमित्रा को बुद्ध-धर्म का सन्देश लेकर लङ्का में भेजा। वे अपने साथ बोधि-वृक्ष की शाखा भी ले गये। देवानंपिय तिस्स ने उनका स्वागत किया और बुद्ध-धर्म को स्वीकार किया। इस प्रकार देवानंपिय-तिस्स के शासन-काल में बौद्ध धर्म सर्व प्रथम लङ्का में प्रविष्ट हुआ। बोधि-वृक्ष की शाखा, जिसे महेन्द्र और संघमित्रा अपने साथ ले गये थे, बड़े सम्मान के साथ अनुराधपुर में लगाई गई और वहीं 'महाविहार' नामक विहार की स्थापना की गई। देवानंपिय तिस्स के बाद लङ्का के ऊपर एक बड़ी विपत्ति आई। दक्षिण

---

१. प्राचीन लाट अर्थात् गुजरात-प्रदेश। गायगर ने इसे बंग-प्रदेश माना है, जो निश्चय ही गलत है। देखिये महावंश, पृष्ठ ६ (परिचय) (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

भारत से द्रविड़ों (दमिळ) ने वहाँ जा कर उसकी राष्ट्रीय एकता को भंग करना आरम्भ कर दिया और बहुत सा भाग अपने अधिकार में कर लिया। द्रविड़ों के द्वारा निरन्तर तंग किये जाने पर भी सिंहल के मैत्री-भावना-परायण बौद्ध राजाओं ने उनसे युद्ध करने की नहीं सोची। जो भाग द्रविड़ों ने अपने अधिकार में कर लिया था उस प्रदेश की सिंहली जनता उनके अत्याचारों से दुःखी थी। अन्त में उन्हें 'दुट्ठगामणि' के रूप में उपयुक्त नेता मिला। दुट्ठगामणि का वास्तविक नाम 'गामणि' था। वह तत्कालीन बौद्ध लङ्काधिपति काकवण्ण तिस्स का पुत्र था। बड़ा उद्धत और वीर स्वभाव का था। सोलह वर्ष की अवस्था में ही उसने द्रविड़ों से लड़ने के लिये अपने पिता से आज्ञा माँगी। अहिंसक बौद्ध पिता ने नर-हिंसा-मय युद्ध की आज्ञा नहीं दी। गामणि उसी समय से विद्रोही हो गया। पिता के आदेश को न मानने के कारण उसके नाम के साथ इसी कारण 'दुष्ट' (दुट्ठ) शब्द भी लगने लगा। बाद में पिता के मरने के बाद वह शोषित सिंहली जनता का स्वाभाविक नेता हुआ। उसने एक सुसंगठित सेना तैयार कर द्रविड़ों को परास्त किया और सिंहल को एक सूत्र में बाँधा। दुट्ठगामणि सिंहल का सब से बड़ा शासक माना जाता है। उसने बौद्ध धर्म की भी बड़ी सेवा की। नौ मंजिलों का 'लोह प्रासाद' नामक बिहार उसने बनवाया। 'महाथूप' (महास्तूप') तथा अन्य अनेक स्तूप और विहार भी उसने बनवाये। दुट्ठगामणि के बाद उसके वंशधरों में कई राजाओं के बाद प्रसिद्ध सिंहली राजा वट्टगामणि हुआ। उसी के समय में पालि त्रिपिटक को लेखबद्ध किया गया। अतः उसका शासन-काल (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) पालि-साहित्य के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वट्टगामणि के बाद अनेक राजाओं और उनकी वंशावलियों का वर्णन करता हुआ 'दीपवंस' लङ्काधिपति महासेन (३२५-३५२ ई०) के शासन-काल तक आकर समाप्त हो जाता है।

'दीपवंस' के वर्णनों का वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्वाङ्कन क्या है, लङ्का के निश्चित इतिहास के रूप में वह कहाँ तक मान्य है, भारतीय इतिहास की परम्पराओं से उसके वर्णनों का क्या और कहाँ तक सामञ्जस्य या विरोध है, पालि साहित्य और बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास में उसके क्या महत्वपूर्ण साक्ष्य है, इन सब समस्याओं का विवेचन हम यहाँ अलग से न कर 'दीपवंस' पर ही आश्रित

और सम्भवतः उसकी व्याख्या-स्वरूप लिखित एक अन्य वंश-ग्रन्थ के साथ करेंगे, जिसका नाम 'महावंस' (महावंश) है।

महावंस[1]

'महावंस' भी 'दीपवंस' के समान ही लङ्का का एक सुव्यवस्थित इतिहास-ग्रन्थ है। उसकी न केवल विषय-वस्तु किन्तु क्रम भी बिलकुल 'दीपवंस' के समान ही है। सम्भवतः 'दीपवंस' के आधार पर ही वह लिखा गया है। उसके स्रोत बिलकुल 'दीपवंस' के समान ही हैं। 'दीपवंस' और अन्य प्राचीन सिंहली अट्ठ-कथाओं के अलावा 'सीहलट्ठकथा-महावंस' नामक अट्ठकथा का भी उसने अधिक आश्रय लिया है, यह हमें उसकी टीका जिसका नाम 'महावंस-टीका' (बारहवीं शताब्दी) है, से विदित होता है। 'महावंस' की विषय-वस्तु 'दीपवंस' के समान होते हुए भी उससे अधिक विस्तृत है। एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि 'दीपवंस' की भी अव्यवस्थित भाषा या नीरस शैली यहाँ बिलकुल नहीं मिलती। 'महावंस' सच्चे अर्थों में एक ऐतिहासिक काव्य है। उसे 'ऐतिहासिक महाकाव्य' भी कहा जा सकता है। उसकी भाषा और शैली में वही उदात्तता है, जिसे हम महाकाव्यों की शैली से सम्बन्धित करते हैं। देवानंपियतिस्स (२४७ ई० पू० से २०७ ई० पू० तक) और दुट्ठगामणि (१०१ ई० पू० से ७७ ई० पू० तक) के विस्तृत, उदात्त वर्णन निश्चय ही महाकाव्योचित प्रभावशीलता से ओतप्रोत हैं। 'महावंस' अपने मौलिक रूप में ३७ वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर समाप्त हो जाता है। उसके बाद ही 'महावंसो निट्ठितो' (महावंश समाप्त) इस प्रकार के शब्द लिखित थे। किन्तु बाद में इस ग्रन्थ का कई शताब्दियों तक परिवर्द्धन किया गया। ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा से आगे के परिवर्द्धित स्वरूप

---

१. डाक्टर गायगर द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १९०८। इस ग्रन्थ के अनेक सिंहली संस्करण हो चुके हैं। बम्बई विश्व-विद्यालय ने इस ग्रन्थ का देवनागरी-संस्करण भी प्रकाशित किया है। हिन्दी में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा १९४२, में प्रकाशित

का नाम 'बूलवंस' है। इस परिवर्द्धित संस्करण के ३८वें परिच्छेद की उनसठवीं गाथा में यह प्रसिद्ध पाठ आता है 'दत्वा सहस्सं दीपेतुं' दीपवंसं समादिसि'। इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है, "उसने सोने की एक सहस्र मुद्राएं देकर 'दीपवंस' पर एक दीपिका लिखवाने की आज्ञा दी।" जिस राजा के विषय में ऐसा कहा गया है, वह धातुसेन है। इस धातुसेन का काल ईसा की पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम या छठी शताब्दी का आदि भाग है। जिस दीपिका की ओर उपर्युक्त पाठ में संकेत किया गया है, उसे यहाँ 'महावंस' ही मान लिया गया है। यह मान्यता पहले फ्लीट नामक विद्वान् ने प्रचारित की।[1] गायगर[2] और उनके बाद विमलाचरण लाहा[3] महोदय ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। विंटरनित्ज अवश्य इसे मानने को प्रस्तुत नहीं।[4] यदि वास्तव में 'दीपवंस' पर लिखित उपर्युक्त 'दीपिका' से तात्पर्य 'महावंस' से ही हो तो इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि 'महावंस' की रचना का काल पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम या छठी शताब्दी का प्रारम्भिक भाग ही है। विंटरनित्ज ने उपर्युक्त 'दीपिका' को 'महावंस' न मान कर भी 'महावंस' का रचना-काल पांचवीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही माना है। कुछ भी हो, 'महावंस' का 'दीपवंस' पर आश्रित होना एक निश्चित तथ्य है। अनेक पद्य दोनों में समान है। समान उपादानों का अवलम्बन कर के भी 'महावंस' कार ने अपनी रचना को अपनी उच्चतर भाषा और शैली से एक विशेष गौरव दे दिया है, इसमें सन्देह नहीं। 'महावंस' के रचयिता का नाम महावंस-टीका के अनुसार महानाम था। स्थविर महानाम दीघसन्द सेनापति द्वारा निर्मित विहार में रहते थे,[5] यह भी वहीं कहा गया है। इससे अधिक 'महावंस' के रचयिता और उनके काल के विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

---

१. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९०९, पृष्ठ ५, पद संकेत १

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३६

३. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५२२ एवं ५३६

४. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१२, पद संकेत ४

५. उद्धरण के लिए देखिये महावंश, पृष्ठ २ (परिचय) (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

दीपवंस और महावंस की तुलना

'दीपवंस' और 'महावंस' का विषय एक समान है, यह पहले दिखाया जा चुका है। पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईसवी तक के लङ्का के इतिहास का वर्णन दोनों का विषय है। किन्तु 'दीपवंस' की अपेक्षा 'महावंस' की विषय-वस्तु अधिक विस्तृत, अधिक व्यवस्थित और अधिक काव्यमय है। 'महावंस' के आदि में ही इस कवि-इतिहासलेखक ने कहा है "पुराने लोगों ने भी इस (महावंश') का वर्णन किया है। उसमें कहीं अति विस्तार, कहीं अति संक्षेप और पुनरुक्ति की अधिकता है। उन सम्पूर्ण दोषों से मुक्त, समझने और स्मरण रखने में सरल, सुनने पर प्रसन्नता और वैराग्य को देने वाले, परम्परागत, प्रसाद-जनक स्थलों पर प्रसाद और वैराग्य-जनक स्थलों पर वैराग्य उत्पन्न करने वाले, इस महावंश को सुनो।"[1] महावंस-टीका ने भी इसी का अनुमोदन करते हुए स्वीकार किया है "आचार्य (महानाम) ने पुरानी सिंहल अट्ठकथा में से अति विस्तार तथा पुनरुक्ति दोषों को छोड़ सरलता से समझ में आने योग्य 'महावंस' को लिखा।"[2] महावंस का लेखक निश्चय ही एक कवि-हृदय का व्यक्ति था। उसने जिस स्थल को स्पर्श किया है, प्रत्येक को रसात्मकता प्रदान की है। इस 'महावंस' या महान् पुरुषों (राजाओं, आचार्यों) के वंश-इतिहास[3] लिखने में उसका मन्तव्य उनके उदय-व्यय को दिखाकर पाठकों के हृदय में निर्वेद प्राप्त कराना भी था, यह उसने प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में स्पष्ट कर दिया है। 'महावंस' का प्रत्येक परिच्छेद इन शब्दों के साथ समाप्त होता है "सुजनों के प्रसाद और वैराग्य के लिये रचित 'महावंस' का . . . परिच्छेद समाप्त।" 'दीपवंस' के साथ 'महावंस' के वर्णित विषयों की तुलना करना के लिये यहाँ 'महावंस' की विषय-सूची का दिग्दर्शन मात्र करा देना आवश्यक होगा। ऊपर दीपवंस के

---

१. महावंस १-२-४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

२. "अयं हि आचरियो एत्थ पोराणम्हि सीहलट्ठकथा महावंसे अतिवित्थार-पुनरुत्तदोसभावं पहाय तं सुखग्गहणादिपयोजन सहितं कत्वा कथेसि। महावंस, पृष्ठ १ (परिचय) में उद्धृत।

३. "महन्तानं वंसो तन्ति पवेणि महावंसो", महावंस-टीका।

विषय का जो संक्षिप्त वर्णन कर दिया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में वह स्पष्ट भी हो जायगा। 'महावंस' के प्रथम परिच्छेद में बुद्ध के तीन बार लङ्का में आगमन का वर्णन है। विशेष विस्तार के अलावा 'दीपवंस' के वर्णन से इसकी कुछ भी भिन्नता नहीं है। दूसरे परिच्छेद में भगवान् बुद्ध के पूर्वतम कुल-पुरुष महासम्मत का वंश-वर्णन है। यह भी 'दीपवंस' के आधार पर और उसके समान ही है। तीसरे, चौथे और पाँचवें परिच्छेदों में, क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय धर्म-संगीतियों का वर्णन है। इन वर्णनों में कोई उल्लेखनीय विभिन्नता नहीं है। चूंकि इनका विस्तृत विवरण हम दूसरे अध्याय में दे चुके हैं, अतः फिर 'महावंस' के आधार पर उसी वर्णन को दुहराना उपयुक्त न होगा। अन्य स्रोतों से जो कुछ भी अन्य विभिन्नताएँ यहाँ हैं, वे वहीं (द्वितीय अध्याय में) निर्दिष्ट कर दी गई हैं। 'महावंस' के छठें परिच्छेद में विजय के लङ्का-आगमन का तथा सातवें में उसके राज्याभिषेक का वर्णन है, जो भी 'दीपवंस' के इस सम्बन्धी वर्णन का विस्तृत और क्रम-बद्ध वर्णन ही है। आठवें, नवें और दसवें परिच्छेदों में विजय के वंशानुक्रम का वर्णन है, जिसमें अनेक राजाओं के नाम और शासन-काल आते हैं। ग्यारहवें अध्याय में देवानं पिय तिस्स के अभिषेक का वर्णन आता है। इसी समय बुद्ध-धर्म का प्रवेश लङ्का में होता है। 'दीपवंस' की अपेक्षा 'महावंस' में विस्तार बहुत अधिक है और उसकी सूचना भी उसकी अपेक्षा बहुत अधिक है। 'महावंस' के वर्णनानुसार "देवानं पिय तिस्स और धम्मासोक (धर्माशोक-अशोक राजा) दोनों राजा एक दूसरे को न देखने पर भी चिरकाल से मित्र चले आ रहे थे।"[1] देवानं पिय तिस्स ने अपने राज्याभिषेक के समय अनेक नीलम, हीरे, लाल, मणि आदि की भेंट अशोक के पास भेजी। 'महावंस' के वर्णनानुसार "राजा (देवानंपिय तिस्स) ने अपने भानजे महारिष्ठ प्रधान मंत्री, पुरोहित, मन्त्री और गणक, इन चार व्यक्तियों को दूत बना, बहुमूल्य रत्नादि.......देकर सेना सहित वहाँ (पाटलि पुत्र) भेजा।"[2] इन दूतों के मार्ग का वर्णन भी महावंस में किया गया है "जम्बुकोल (लङ्का के उत्तर में सम्बलहुरि नामक स्थान से नाव

---

१. महावंस ११।१९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

२. महावंस ११।२०-२२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

पर चढ़कर सात दिन में वे बन्दरगाह पहुँचे। वहाँ से फिर एक सप्ताह में पाटलि-पुत्र पहुँचे। वहाँ जाकर राजा को भेंट समर्पित की, जिसे देख कर वह प्रसन्न हुआ।"[१] अशोक राजा ने अन्य प्रभूत भेंट-सामग्री के साथ सद्धर्म की यह भेंट भी भेजी, "मैंने बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ग्रहण की है और शाक्य-पुत्र के शासन में उपासक हुआ हूँ। हे नरोत्तम! आप भी आनन्दपूर्वक श्रद्धा के साथ इन उत्तम रत्नों की शरण ग्रहण करें।"[२] तृतीय धर्म-संगीति के बाद देश-विदेश में बुद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने जो कार्य किया उसका वर्णन 'महावंस' के एक अलग परिच्छेद में ही किया गया है। बारहवें परिच्छेद का शीर्षक है 'नाना देश-प्रचार।' इस नाना देश-प्रचार की योजना के अन्तर्गत ही आगे चल कर तेरहवें परिच्छेद में महेन्द्र के लंका-आगमन का वर्णन है। 'नाना-देश-प्रचार' के वर्णन में हम पढ़ते हैं, "संगीति समाप्त कर के बुद्ध-धर्म के प्रकाशक स्थविर मौद्गलिपुत्र तिस्य (मोग्गलिपुत्त तिस्स) ने भविष्य को देखते हुए, प्रत्यन्त-देशों (पड़ौसी देशों) में (धर्म) शासन की स्थापना का विचार कर, कातिक मास में स्थविर मज्झन्तिक को काश्मीर-और गन्धार को भेजा और महादेव स्थविर को महिष-मंडल भेजा। रक्षित नामक स्थविर को वनवास (मैसूर का उत्तरी भाग) की ओर भेजा और यवन (ग्रीक) धर्मरक्षित को अपरान्त (बम्बई से सूरत तक का प्रदेश) देश में भेजा। महाधर्मरक्षित स्थविर को महाराष्ट्र में तथा महारक्षित स्थविर को यवन देशों में भेजा। हिमालय-प्रदेश में मज्झिम स्थविर को भेजा और स्वर्णभूमि (बरमा) में सोण और उत्तर नामक दो स्थविरों को भेजा। अपने शिष्य महा महेन्द्र स्थविर तथा इट्टिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल------इन पाँच स्थविरों को यह कर लंका भेजा—तुम मनोज्ञ लंका-द्वीप में, मनोज्ञ बुद्ध-धर्म की स्थापना करो।"[३] इन सब भिक्षुओं के अलग अलग कार्य का वर्णन करने के बाद महेन्द्र के

---

१. महावंस ११।२३-२४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

२. महावंस ११।३४-३५; मूल इस प्रकार है—अहं बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो
उपासकत्तं वेदेसिं साक्यपुत्तस्स सासने
त्वंपि मानि रतनानि उत्तमानि नरुत्तम,
चित्तं पसादयित्वान सद्धाय सरणं भज

३. महावंस १२।१–८

लंका-गमन का वर्णन बड़े चमत्कृत और काव्य-मय ढंग से 'महावंस'-कारने किया है "अन्तिम शय्या पर सोये हुए लोक-हितैषी मुनि (बुद्ध) ने लंका के हित के लिये जिनके बारे में भविष्यवाणी की थी, वही लंका के लिए दूसरे बुद्ध, लंकावासी देवताओं द्वारा पूजित, महेन्द्र, लंका के हितार्थ वहाँ पधारे।"[1] चौदहवें अध्याय में उनके नगर-प्रवेश का वर्णन है। राजा देवानंपिय तिस्स को अपना परिचय देते हुए स्थविर महेन्द्र उन्हें कहते हैं "महाराज! हम धर्मराज (बुद्ध) के अनुयायी भिक्षु हैं। आप पर ही अनुग्रह करने के लिए हम भारत (जम्बुद्वीप) से यहाँ (लंका में) आये हैं।"[2] पन्द्रहवें अध्याय से लेकर बीसवें अध्याय तक क्रमशः महाविहार-निर्माण, चैत्यपर्वत-विहार-प्रतिग्रहण, महाबोधि-ग्रहण, बोधि-आगमन, एवं स्थविर-परिनिर्वाण आदि के वर्णन हैं, जो उस काल तक लंका म बौद्ध धर्म की प्रगति के चरण-चिन्ह हैं। इक्कीसवें अध्याय में देवानंपिय तिस्स के बाद और दुट्ठगामणि से पहले आने वाले पाँच राजाओं का वर्णन है। बाईसवें परिच्छेद से लेकर बत्तीसवें परिच्छेद तक अर्थात् पूरे ग्यारह परिच्छेदों में दुट्ठगामणि का इतिहास वर्णित है, जब कि 'दीपवंस' में इस वर्णन को केवल १३ गाथाएं दी गई हैं। दुट्ठगामणि ने किस प्रकार सैनिक बल का संग्रह कर द्रविड़ों का निष्कामन किया, यह हम पहले देख चुके हैं। युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद उसने बौद्ध धर्म की सेवा भी की और 'लोह-प्रासाद' 'महा-प्रासाद' नामक अनेक विहार और स्तूप भी बनवाये। इस विजेता राजा को इस प्रकार बुद्ध-धर्म का उपासक दिखा कर उसे एक राष्ट्रीय नेता और महापुरुष के रूप में 'महावंस' में चित्रित किया गया है और उसके आधार पर ग्यारह परिच्छेदों में एक महाकाव्य की ही सृष्टि कर दी गई है। बाईसवें अध्याय से ३२वें अध्याय तक की विषय-सूची उसके इन विभिन्न क्रियाकलापों को अच्छी प्रकार दिखा सकती है। वह इस प्रकार है (२२) ग्रामणी कुमार का जन्म (२३) योद्धाओं की प्राप्ति (२४) दो भाइयों का युद्ध (२५) दुष्ट ग्रामणी की विजय (२६) मरिचवट्टि-विहार-पूजा (२७) लोह-प्रासाद-पूजा, (२८) महास्तूप की साधन-प्राप्ति, (२९)

१. महावंस १३।२१

२. महावंस १४।८; मूल पालि-पाठ इस प्रकार है—समणा मयं महाराज धम्म-राजस्स सावका। तवेव अनुकम्पाय जम्बुदीपा इधागता।

महास्तूप का आरम्भ (३०) धातुगर्भ की रचना, (३१) धातु-निधान और (३२) तुषितपुर-गमन। दुट्ठगामणि के जीवन का सब से बड़ा काम उसकी विजयों के बाद उसके द्वारा ९ मंजिलों वाले लोह-प्रासाद तथा मरीच बट्टी और महास्तूप आदि बिहारों और स्तूपों का बनवाना था। लोह-प्रासाद के पूर्ण होने के पहले ही उसे मरणान्तक रोग उत्पन्न हुआ और उसे निश्चय हो गया कि उसका अन्त काल समीप है। अपने छोटे भाई तिस्स को बुलवा कर स्तूप के बचे हुए काम को समाप्त करवाने का आदेश दिया, जिसे उसने पूरा किया। मृत्यु से पूर्व अशक्त होने पर भी इस श्रद्धालु राजा ने पालकी में बैठ कर इस चैत्य की प्रदक्षिणा की और दक्षिण-द्वार पर आ कर बुद्ध-वन्दना की। "फिर भिक्षु-संघ से घिरे हुए राजा ने दाईं करवट लेटे हुए उत्तम महास्तूप को और बाईं करवट लेटे हुए उत्तम लोह-प्रासाद को देख कर चित्त प्रसन्न किया।"[१] मरण-शय्या पर पड़ा हुआ राजा अपने पूर्व के युद्ध के साथियों को सम्बोधित कर कहने लगा, "पहले मैंने तुम दस योद्धाओं को साथ ले कर युद्ध किया था, अब मृत्यु के साथ अकेले ही युद्ध आरम्भ कर दिया। इस मृत्यु रूपी शत्रु को मै पराजित नहीं कर सका।"[२] शरीर छोड़ने से पहले दुट्ठगामणि ने अपने छोटे भाई तिस्स को आदेश दिया "हे तिस्स! असमाप्त महास्तूप का शेष सब कृत्य आदरपूर्वक समाप्त करवाना। स्वयं प्रातःकाल उस पर पुष्प चढ़ाना। प्रति दिन तीन बार उसकी पूजा करना। बुद्ध-शासन के सत्कार-सम्बन्धी जो कृत्य मैंने निश्चित किए हैं, उन सभी कृत्यों को हे तात! तुम अविच्छिन्न रूप से चलाते रहना। संघ-सम्बन्धी कार्य में हे तात! कभी प्रमाद (आलस्य) न करना।"[३] धर्म-श्रवण करने के बाद, रथ पर खड़े होकर तीन बार महास्तूप की प्रदक्षिणा कर, स्तूप और संघ को प्रणाम कर, दुट्ठगामणि तुषित-लोक को गया। इस प्रकार दुट्ठगामणि की जीवन-गाथा को यहाँ एक पूरे राष्ट्र के आदर्शों से व्याप्त महाकाव्य-गत महत्ता और प्रभावशीलता दी गई है, यह उसकी उपर्युक्त शैली से ही स्पष्ट हो जाता है। दुट्ठगामणि के बाद

---

१. महावंस ३२।२-३

२. महावंस ३२।१६-१७

३. महावंस ३२।५९-६२

उसके उत्तराधिकारी राजाओं की एक क्रमबद्ध लम्बी क्रमशः 'दश राजा' 'एकादश राजा' 'द्वादश राजा' 'त्रयोदश राजा' इस प्रकार क्रमशः तेतीसवें, चौंतीसवें, पैंतीसवें और छत्तीसवें परिच्छेदों में दी हुई है, जब कि 'दीपवंस' में इस सम्बन्धी संक्षिप्त वर्णन ही उपलब्ध है। सैंतीसवें परिच्छेद की पचासवीं गाथा तक (जहाँ तक ही मौलिक 'महावंस' की विषय-सीमा है) राजा महासेन के शासन-काल का वर्णन है। इस प्रकार 'दीपवंस' और 'महावंस' दोनों एक ही जगह से प्रारम्भ कर महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक आ कर लंका के इतिहास को समाप्त कर देते हैं। 'महावंस' से कम से कम डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की रचना होने के कारण 'दीपवंस' जब कि अपने स्रोतों अर्थात् सिंहली अट्ठकथाओं के अधिक समीप है, 'महावंस' ने उसे विस्तृत काव्यात्मक स्वरूप प्रदान कर उसकी भाषा और शैली में भी अधिक परिष्कार और व्यवस्थापन कर दिया है। दोनों के द्वारा वर्णित विषयों के विवरणों में अद्भुत समानता होते हुए भी कहीं कुछ वंशावलियों के कालानुक्रमों में अन्तर भी है, जिस पर हम अभी आयेंगे। 'महावंस' को चाहे 'दीपवंस' की अर्थकथा या टीका स्वीकार किया जाय या नहीं, उसकी शैली अपनी एक मौलिक विशेषता रखती है, यद्यपि उसकी विषय-वस्तु अन्ततोगत्वा 'दीपवंस' पर ही आधारित है।

क्या 'दीपवंस' और 'महावंस' इतिहास हैं ?

'दीपवंस' और 'महावंस' दोनों ही इतने अतिरंजनामय और अलौकिक वर्णनों से भरे हुए ग्रन्थ हैं कि उन्हें शब्दशः तो इतिहास नहीं माना जा सकता। पालि-त्रिपिटक से हम जानते हैं कि शास्ता मध्य-मंडल को छोड़कर शायद ही कहीं गये। किन्तु 'महावंस' में तथा उससे पूर्व 'दीपवंस' में भी उनका तीन बार लंका-गमन दिखाया गया है, जो कल्पना-प्रसूत ही हो सकता है। विजय का उसी दिन लंका पहुँचना जिस दिन भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, यह भी वास्तविक घटना-श्रित नहीं दीखता। नाना चमत्कार-मय वर्णन जो 'दीपवंस' और 'महावंस' में भरे पड़े हैं, उनकी तो कोई इयत्ता ही नहीं। महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओं का आकाश से उड़ कर लंका में पहुँचना, लोह-प्रासाद और महा-स्तूप के निर्माण के समय अनेक प्रकार के चमत्कारों का होना, आदि बातें निश्चित घटनापरक

ऐतिहासिक शैली को व्यक्त नहीं करतीं। यदि इन सब बातों को उचित अवकाश देकर 'दीपवंस' और 'महावंस' की मूल विषय-वस्तु का परीक्षण किया जाय तो वहाँ से हम निश्चय ही बहुत कुछ निश्चित इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। न केवल लंका के धार्मिक और राजनैतिक इतिहास में ही बल्कि भारतीय इतिहास की अनेक समस्याओं के सुलझाने में भी, विशेषतः उसके काल-क्रम की समस्या के सुलझाने में, इस प्रकार के अध्ययन से काफी सहायता मिल सकती है। चाहे 'दीपवंस' और 'महावंस' के अन्य विवरण कितने ही अधिक अतिरंजनामय हों, कालानुक्रम के सम्बन्ध में उनका प्रामाण्य और महत्त्व निर्विवाद है। उनकी इसी विशेषता की ओर लक्ष्य करते हुए प्रो० रायस डेविड्स ने कहा है कि सिंहल के इतिहास-ग्रन्थों की कालानुक्रमणिका इंगलैण्ड और फ्रांस के उन सर्वोत्तम ग्रन्थों की कालानुक्रमणिकाओं से भी, जो उन देशों में बहुत शताब्दियों बाद तक लिखे गये, किसी भी प्रकार कम महत्त्व वाली नहींहैं।[1] यद्यपि विजय से लेकर देवानंपिय तिस्स तक की कालानुक्रमणिका के विषय में तो उतना निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु देवानंपिय तिस्स और हर हालत में दुट्ठगामणि से लेकर महासेन तक की कालानुक्रमणिका तो प्रामाणिक ही मानी जा सकती है। 'महावंस' में दी हुई इस पूरी कालानुक्रमणिका को हम यहाँ विस्तार-भय से उद्धृत नहीं कर सकते।[2] यहाँ केवल इतना ही कहना अपेक्षित है कि चूंकि बुद्ध-परिनिर्वाण से काल-गणना कर यहाँ विभिन्न राजाओं के शासन-काल की गणना की गई है, अतः उससे न केवल बुद्ध के परिनिर्वाण अपितु अन्य अनेक भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं के तिथि-विनिश्चय में भी पर्याप्त सहायता मिली है। इस विषय का अधिक विवेचन करना तो यहाँ पूरे प्राचीन भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त विवाद-ग्रस्त समस्या में ही प्रवेश करना होगा, जो हमारे प्रस्तुत प्रयोजन को देखते हुए अप्रासंगिक

---

१. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २७४

२. 'महावंस' के आधार पर विजय से लेकर महासेन तक के लंका के ६१ राजाओं की तथा बिम्बिसार से लेकर अशोक तक के १३ भारतीय राजाओं की कालानुक्रमणिकाओं के उद्धरण के लिए देखिये महावंश (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ७-९ (भूमिका)

होगा। काल-क्रम के अलावा भारतीय इतिहास के लिए इन लंका के इतिहास-ग्रन्थों का और भी प्रभूत महत्त्व है। भारतीय इतिहास की अनेक घटनाओं का वे अद्भुत रूप से समर्थन करते हैं। उदाहरणतः अशोक के पहले के राजाओं यथा नन्दों, चन्द्रगुप्त (चन्दगुत्त) और बिम्बिसार के वर्णन, बिम्बिसार और अजातशत्रु के पारस्परिक सम्बन्ध और बुद्ध के साथ उनका समकालिक होना, भगवान् बुद्ध का बिम्बिसार से आयु में पाँच वर्ष बड़ा होना, चन्द्रगुप्त और उसके ब्राह्मण मन्त्री चाणक्य (चणक्क) के विवरण, और सब से अधिक अशोक का बुद्ध-परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद अभिषिक्त होना, आदि तथ्य ऐसे हैं जो इन सिंहली इतिहास-ग्रन्थों ने भारतीय इतिहास के समर्थन स्वरूप दिये हैं। 'महावंस' में वर्णित तृतीय बौद्ध संगति के सभापति मोग्गलिपुत्त तिस्स और उनके द्वारा देश-विदेश भेजे हुए मज्झिम (हिमवन्त-प्रदेश के धर्मोपदेशक) आदि धर्मोपदेशकों की बात सही है, इसे साँची स्तूप में प्राप्त धातु-डिब्बियों के ऊपर उत्कीर्ण लेखों से समर्थन प्राप्त होता है। वहाँ प्राप्त एक डिबिया पर लिखा हुआ है "सपुरिसस मज्झिमस" (सत्पुरुष मज्झिम का) और एक दूसरी पर लिखा है 'सपुरिसस मोगलिपतस' (सत्पुरुष मोग्गलिपुत्त का)। साँची-स्तूप की एक पाषाणवेष्ठनी पर उरुवेला से लंका को बोधि-वृक्ष की टहनी ले जाये जाने का चित्र अंकित है। उससे भी 'महावंस' में वर्णित महेन्द्र द्वारा धर्म-प्रचार के कार्य को ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त होता है। इसी प्रकार पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजों तथा चीनी यात्रियों के वर्णनों से अशोक तथा देवानंपिय तिस्स का समकालिक होना भी प्रमाणित होता है। तीन बौद्ध संगीतियों का विवरण भी जो 'महावंस' और 'दीपवंस' में दिया हुआ है, तत्त्वतः ऐतिहासिक आधार पर ही आश्रित है। अतः इन इतिहास-ग्रन्थों के वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से भी समाश्रमणीय हैं,। विशेषतः उत्तरकालीन इतिहास के सम्बन्ध में तो इनका साक्ष्य अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक है ही। 'महावंस' का विशेष महत्त्व तो लंका के धार्मिक इतिहास के रूप में ही है। सर्व-प्रथम तो उपालि से लेकर महेन्द्र तक के विनय-धरों की जो कालानुक्रम-पूर्वक परम्परा यहाँ दी हुई है, वह लंका और भारत दोनों देशों में बुद्ध-धर्म के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह परम्परा इस प्रकार है, (१) उपालि, (२) दासक, (३) सोणक, (४) सिग्गव, (५) मोग्गलिपुत्त तथा (६) महिन्द। सर्वास्तिवादियों के मतानुसार

एक दूसरी परम्परा है,[1] जो उनके सम्प्रदाय के अनुसार प्रामाणिक मानी जाती है। चूंकि भिन्न भिन्न सम्प्रदायों ने अपने अपने सम्प्रदायों के अनुसार इन परम्पराओं का उल्लेख किया है, अतः उनमें कम या अधिक प्रामाणिक होने का सवाल ही नहीं उठता। वे सब अपनी अपनी दृष्टि से प्रामाणिक हैं और आदिम स्रोत तो हर हालत में बुद्ध और उनके प्राथमिक शिष्य हैं ही। सिंहल के स्तूप, विहार और चैत्यों के तो बड़े ही विस्तृत विवरण 'महावंस' में उपलब्ध हैं। महाविहार, अभयगिरि विहार, थूपाराम, महामेघवण्णाराम, लोहपासाद आदि विहारों के वर्णन लंका में बौद्ध धर्म के विकास पर बड़ा अच्छा प्रकाश डालते हैं और पुरातत्त्व के विद्यार्थी के लिए अध्ययन के अच्छे विषय हैं। इसी प्रकार धार्मिक उत्सवों के भी बड़े चित्रमय वर्णन उपलब्ध हैं। सब से बड़ी बात तो भारत और सिंहल के शताब्दियों तक के पारस्परिक आदान-प्रदान का इन ग्रन्थों में बड़ा सुन्दर चित्रण है। तत्कालीन भारतीय इतिहास और भूगोल मानो इन ग्रन्थों में पुनरुज्जीवित हो उठता है। राजगृह, कौशाम्बी, वैशाली, उज्जयिनी, पुष्पपुर, नालन्दा आदि भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों की स्मृति 'दीपवंस' और 'महावंस' में कितनी हरी-भरी है, यह उन्हें पढ़ते ही देख बनता है। कपिलवस्तु, कुशावती, कुशीनारा, गिरिब्रज, जेतवन, मधुरा (मथुरा), उरुवेला, काशी, ऋषिपतन (इतिपतन), पाटलिपुत्र, वाराणसी आदि बुद्ध-स्मृति से अंकित भारतीय नगरों, तथा इसी प्रकार अंग, मगध, चम्पा, मल्ल, वेळुवन, इन्द्रप्रस्थ, भरुकच्छ, सुप्पारक, तक्षशिला, सागल (स्यालकोट), अवन्ती, मद्र, प्रयाग (पयाग) आदि स्थानों तथा उतने ही अधिक लंका-द्वीप के सांस्कृतिक केन्द्रों और स्थानों से, जो इन ग्रन्थों में वर्णित हैं, तत्कालीन भूगोल का ही निर्माण किया जा सकता है। पालि साहित्य के इतिहास में भी इन ग्रन्थों का साक्ष्य त्रिपिटक की प्राचीनता सम्बन्धी उस परम्परा का समर्थन करता है जिसके दर्शन हम पहले अशोक के अभिलेखों और 'मिलिन्द पञ्ह' में करते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में ही तीनों पिटकों, पाँचों निकाओं और उनके विभिन्न ग्रन्थों के नाम ले लेकर, उनके वर्गों, पञ्ञासकों, संयुत्तों और वर्गों के पूरे ब्यौरे दे देकर

---

१. जिसके उद्धरण के लिए देखिये राहुल सांकृत्यायन : अभिधर्मकोश पृष्ठ ८ (भूमिका)

उद्धृत किया गया है। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि पालि त्रिपिटक इनके प्रणयन-काल में उसी नाम और वर्गीकरण में विद्यमान था, जिसमें वह आज है।

चूलवंस[1]

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'महावंस' ३७वें परिच्छेद की ५० वीं गाथा पर समाप्त हो जाता है और वह लंका के इतिहास का महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक वर्णन करता है। उसके बाद का लंका का क्रमबद्ध इतिहास भी इसी ग्रन्थ के परिवर्द्धित अंश के रूप में बाद में उसके साथ ही जोड़ दिया गया। यह जुड़ा हुआ अंश अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अथवा यदि उसके आधुनिकतम रूप को भी उसी के साथ संयुक्त मानें तो ठीक १९३५ ई० तक लंका के इतिहास का क्रम-बद्ध निरूपण करता है। 'महावंस' के ३७ वें परिच्छेद की ५० वीं गाथा के बाद का यह परिवर्द्धित अंश 'चूलवंस' के नाम से प्रसिद्ध है। 'चूलवंस' सन् ३५२ ई० (महासेन के शासन-काल की अन्तिम साल) से लेकर ठीक आधुनिक काल तक (उसके आधुनिकतम विकसित रूप को सम्मिलित कर) लंका के इतिहास का वर्णन करता है। यह रचना पाँच भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न कालों में हुई है, जिसका क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है--

(१) सिंहल प्रवासी स्थविर धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नामक बरमी भिक्षु ने, जो प्रसिद्ध सिंहली राजा पराक्रमबाहु द्वितीय के समकालिक थे, तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में सर्वप्रथम महानाम द्वारा ३७ वें परिच्छेद की ५० वीं गाथा पर छोड़े हुए 'महावंस' का परिवर्द्धन किया। सैतीसवें अध्याय में १९८ गाथाएँ जोड़ कर उसे 'सात राजा' शीर्षक दिया और फिर ७९ परिच्छेद तक ग्रन्थ-रचना की। राजा महासेन के पुत्र सिरि-मेघवण्ण (श्री मेघवर्ण) से इन्होंने अपने विषय का प्रारम्भ किया और उसे पराक्रमबाहु प्रथम (१२४०-१२७५) के शासन-काल तक छोड़ा। इस बीच में उन्होंने ७८ राजाओं का कालानुक्रम-पूर्वक वर्णन किया, जो

---

१. रोमन लिपि में डा० गायगर द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, १९३५; इस ग्रन्थ के सिंहली और बरमी संस्करण भी उपलब्ध हैं।

निश्चिततम इतिहास ही है। अकेले पराक्रमबाहु प्रथम का ही वर्णन इस भाग में १८ अध्यायों में किया गया है। पराक्रम-बाहु ने द्रविड़ों को हराया था और बौद्ध धर्म के स्तूपों, विहारों आदि के निर्माण के द्वारा बड़ी सेवा की थी। महानाम ने जिस प्रकार दुट्ठगामणि के वर्णन से एक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना कर डाली है, उसी प्रकार यहाँ पराक्रमबाहु को एक महाकाव्योचित प्रभावशील वर्णन का विषय बनाया गया है।

(२) 'चूलवंस' का द्वितीय परिवर्द्धन बुद्धरक्षित नामक भिक्षु ने किया। इन्होंने ८० वें परिच्छेद से लेकर ९० वें परिच्छेद तक रचना की। पराक्रमबाहु द्वितीय से आरम्भ कर इन्होंने अपना विषय पराक्रमबाहु चतुर्थ पर छोड़ा। इस भाग में इन्होंने २३ राजाओं का वर्णन किया।

(३) 'चूलवंस' का तृतीय परिवर्द्धन सुमंगल स्थविर ने किया। इन्होंने ९१ वें परिच्छेद से १०० परिच्छेद तक रचना की। भुवनेकबाहु तृतीय के काल से ले कर इन्होंने अपने विषय को कीर्ति श्री राजसिंह (कित्ति सिरिराजसीह) की मृत्यु (१७८५ ई०) तक छोड़ा। इस बीच में उन्होंने २४ राजाओं का वर्णन किया। इसी अंश में हमें ईसाई धर्म प्रचारकों के लंका में आने की सूचना भी मिलती है।

(४) 'चूलवंस' का चौथा परिवर्द्धन सुमंगलाचार्य तथा देवरक्षित ने किया। यह परिवर्द्धन केवल १०१ वें परिच्छेद के रूप में लिखा गया। इसमें लंका के दो अन्तिम राजा सिरि राजाधिराज सीह (श्री राजाधिराज सिंह) और सिरि विक्कम राज सीह (श्री विक्रमराज सिंह) का वर्णन है, और लंका के अंग्रेजों के हाथ में चले जाने की भी सूचना है। यह अंश १७८५ और १८१५ ई० के बीच के लंका के इतिहास का वर्णन करता है।

(५) सन् १८१५ से १९३५ ई० तक का लंका का इतिहास सिंहली भिक्षु स्थविर युगिरल पञ्ञानन्द नायक पाद-द्वारा लिखा गया है। यदि चाहें तो इसे भी 'चूलवंस' का ही परिवर्द्धित स्वरूप कह सकते हैं, और चाहें तो अलग स्वतंत्र ग्रन्थ भी मान सकते हैं। प्रकाशित (१९३६) तो यह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में ही हुआ है। सिंहल की आधुनिक पालि-रचना की प्रगति पर इस ग्रन्थ से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

बुद्धघोसुप्पत्ति[1]

बुद्धघोसुप्पत्ति (बुद्धघोषोत्पत्ति) बुद्धघोष की जीवनी के रूप में लिखी गई रचना है। इसके प्रणेता महामंगल नामक सिंहली भिक्षु थे, जो 'गन्धट्ठि' नामक (उपसर्गसम्बन्धी) व्याकरण-ग्रन्थ के भी रचयिता थे[2]। इनका काल चौदहवीं शताब्दी है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' में अलौकिक विधान इतना अधिक है कि उसका वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्वांकन नहीं किया जा सकता। बुद्धघोष की बाल्यावस्था और प्रारंभिक शिक्षा तथा धर्म-परिवर्तन का वर्णन करते समय ऐसा मालूम पड़ता है मानो 'मिलिन्द पञ्ह' के नागसेन और रोहण तथा 'महावंस' (परिच्छेद ५) के सिग्गव तथा मोग्गलपुत्त तिस्स सम्बन्धी प्रकरणों के नमूनों को ही रूपान्तर कर के रख दिया गया है।[3] यद्यपि लेखक ने बुद्धघोष के जन्म, बाल्यावस्था, प्रारम्भिक शिक्षा, धर्म-परिवर्तन, ग्रन्थ-रचना आदि सभी का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किन्तु ऐतिहासिक बुद्धि का उसने अधिक परिचय नहीं दिया है। बुद्धदत्त-कृत 'विनय-विनिच्छय' के अनुसार बुद्धदत्त ने बुद्धघोष-कृत विनय और अभिधम्म पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाओं को ही क्रमशः अपने 'विनय विनिच्छय' और 'अभिधम्मावतार' के रूप में संक्षिप्त रूप दिया था। किन्तु 'बुद्धघोसुप्पत्ति' में बुद्धदत्त का प्रथम लंका-गमन दिखा कर बुद्धघोष को अपना अपूर्ण काम पूरा करने का आदेश देते दिखाया गया है। निश्चय ही 'विनय विनिच्छय' का ही प्रमाण यहाँ दृढ़तर माना जा सकता है। इस प्रकार की एक-दो ऐतिहासिक भूलें 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के रचयिता ने और भी की है।[4] वास्तव में बात यह है कि स्थविर

---

१. जेम्स ग्रे द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, लन्दन १८९२

२. देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २६, डे जॉयसा। केटेलाग, पृष्ठ २३; देखिये आगे दसवें अध्याय में व्याकरण-साहित्य का विवेचन भी।

३. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४४-४७; देखिये उन्हीं का 'हिस्ट्री आव पालि लिटरेचर', जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५५९; मिलाइये जेम्स ग्रे द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित 'बुद्धघोसुप्पत्ति' की भूमिका भी।

४. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४३-४४।

महामंगल ने केवल अनुश्रुति के आधार पर चौदहवीं शताब्दी में इस रचना को ग्रथित किया था, अतः साक्षात् जीवन से प्राप्त मौलिकता या सच्चाई उनकी रचना में नहीं आ सकती थी। 'महावंस' के ३७ वें परिच्छेद के परिवर्द्धित संस्करण में सिंहल-प्रवासी बरमी भिक्षु धम्मकित्ति (१३ वीं शताब्दी) ने भी यद्यपि बुद्धघोष से शताब्दियों बाद अपने वर्णन को ग्रथित किया था किन्तु उसकी प्रामाणिकता फिर भी 'बुद्धघोसुप्पत्ति' से अधिक है। 'महावंस' (या ठीक कहें तो चूलवंस) के इस प्रकरण की तुलना में बुद्धघोसुप्पत्ति का वर्णन कम ऐतिहासिक मूल्य का ही मानना पड़ेगा। 'महावंस' के उपर्युक्त विवरण का साक्ष्य स्वयं बुद्धघोष और बुद्धदत्त आदि की अट्ठकथाओं के कतिपय वर्णनों से मिल जाता है, जब कि बुद्धघोसुप्पत्ति के वर्णनों से उनका कहीं कहीं विरोध भी है, जैसा एक उदाहरण में हम ऊपर देख चुके हैं। अतः ऐतिहासिक रूप से वह उतना विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। जो तथ्य उसके प्रामाणिक भी है, वे भी 'महावंस' के वर्णन पर ही आधारित हैं, यह उनकी शैली से ही स्पष्ट हो जाता है। स्वयं लेखक ने भी स्वीकार किया है कि उसका वर्णन 'पूर्वाचार्यों' (पुब्बाचरिया) पर आधारित है। उत्तरकालीन वंश-ग्रन्थों यथा गधवंस,[१] सासन वंस[२] तथा सद्धम्मसंगह[3] में भी बुद्धघोष की जीवनी के साथ साथ इस ग्रन्थ का भी उल्लेख हुआ है (विशेषत. सासनवंस में)। ये सभी 'महावंस' के उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश पर इतने आधारित है कि इनमें कोई नई बात ही ढूढना व्यर्थ है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' का दूसरा नाम 'महाबुद्धघोसस्स निदानवत्थु' (महाबुद्धघोषस्य निदानवस्तु) भी है।

सद्धम्मसंगह[४]

'सद्धम्मसंगह' एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसमें बुद्ध-शासन के संग्रह के साथ साथ प्रारम्भिक काल से लेकर १३ वीं शताब्दी तक के भिक्षु-संघ के इतिहास का वर्णन है। दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर और खुदक-निकायों का निर्देश इस

---

१. जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ६६

२. पृष्ठ ३० (मेबिल बोड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९७)

३. जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९० में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ५५

४. सद्धानन्द द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९० में सम्पादित।

ग्रन्थ में हुआ है। अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है। तीन बौद्ध संगीतियों के वर्णन में कोई नई बात यहाँ नहीं कही गई है। चुल्ल वग्ग (विनय-पिटक), बुद्धघोष की अट्ठ कथाओं और दीपवंस, महावंस के आधार पर संकलित सामग्री का उपयोग कर के ही इन वर्णनों को ग्रथित कर लिया गया है। तृतीय संगीति के बाद धर्म-प्रचार कार्य का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ में भी दिया गया है और दीपवंस, महावंस तथा समन्तपासादिका के समान उन भिक्षुओं के नामों का उल्लेख भी किया गया है जिन्हें धर्म-प्रचार के लिए देश-विदेश में भेजा गया था। इस प्रकार 'सद्धम्मसंगह' के वर्णनानुसार थेर मज्झन्तिक काश्मीर और गन्धार को भेजे गए, महादेव थेर महिष मंडल को भेजे गये, रक्खित थेर वनवासी-प्रदेश को, योनक (ग्रीक) धम्मरक्खित थेर अपरान्तक को, महाधम्मरक्खित थेर महारट्ठ (महाराष्ट्र) को, महारक्खित थेर योनक (यवनक-ग्रीस) प्रदेश को, मज्झिम थेर हिमालय-प्रदेश को, सोणक और उत्तर सुवण्णभूमि (सुवर्णभूमि—पेगू—बरमा) को, और महेन्द्र (महिन्द) तथा इत्थिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल भिक्षु लंका को भेजे गये। यह वर्णन महावंस के समान ही है। 'सद्धम्मसंगह' में कुल ४० अध्याय हैं। नवें अध्याय में अनेक ग्रन्थों और उनके रचयिताओं का वर्णन है। 'सद्धम्मसंगह' धम्मकित्ति महासामी (धर्मकीर्ति महास्वामी) नामक भिक्षु की रचना है, जिनका काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है। बालावतार-व्याकरण को गन्धवंस में वाचिस्सर की रचना बताया गया है, किन्तु एक अन्य परम्परा के अनुसार उसके भी रचयिता सद्धम्मसंगह के रचयिता धम्मकित्ति महासामी नामक स्थविर ही हैं।

महाबोधिवंस[1]

'महाबोधि वंस' या 'बोधिवंस' अनुराधपुर में आरोपित बोधिवृक्ष की कथा है। यह ग्रन्थ गद्य में है। लेखक ने बोधि-वृक्ष के इतिहास के रूप में बुद्ध-धर्म के

---

१. रोमन लिपि में एस० ए० स्ट्रांग द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८९१; इस ग्रन्थ का सिंहली संस्करण, इसके लेखक के नाम के भिक्षु (उपतिस्स) द्वारा सम्पादित किया गया है किया गया है कोलम्बो १८९१।

प्रारंभिक इतिहास का वर्णन किया है, जो निदान-कथा, दीपवंस, महावंस आदि प्राचीन स्रोतों पर आधारित है। बुद्ध दीपंकर से प्रारम्भ कर, जैसा वंश-ग्रन्थकारों ने अक्सर किया है, तीन बौद्ध संगीतियों का विवरण महेन्द्र का लंकागमन, महाविहार, चेतियगिरि विहार आदि का प्रतिग्रहण, इन सब बातों का विवरण इस ग्रन्थ में भी किया गया है। 'महाबोधि वंस' के रचयिता सिंहली भिक्षु उपतिस्स (उपतिष्य) थे, जिनका समय डा० गायगर के मतानुसार ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग है।[१] एस० ए० स्ट्राँग ने इनका समय बुद्धकोष के समकालिक माना है,[२] जिसका प्रतिवाद डा० गायगर ने किया है।[३] वर्णन-शैली को देखते हुए 'महाबोधिवंस' की समानता उत्तरकालीन वंश-ग्रन्थों से ही अधिक दिखाई पड़ती है, अतः गायगर के मत को ठीक मानना अधिक युक्ति-युक्त जान पड़ता है।

थूपवंस[४]

'थूपवंस' सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की रचना है। इन वाचिस्सर के विषय में हम आठवें अध्याय में काफी कह आये हैं। 'गन्धवंस' में इस ग्रन्थ का तो उल्लेख है[५] किन्तु इसके लेखक का कोई नाम वहाँ नहीं दिया हुआ है। यह ग्रन्थ गद्य में है। निदान-कथा, समन्त पासादिका, महावंस तथा महावंस-टीका आदि से यहाँ सामग्री संकलित की गई है। 'थूपवंस' की रचना

---

१. दीपवंस एंड महावंस, पृष्ठ ७९ (कुमारस्वामी का अंग्रेजी अनुवाद); देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३७

२. देखिये उनके द्वारा सम्पादित 'महाबोधिवंस' की प्रस्तावना।

३. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज पृष्ठ ३७, पद-संकेत १।

४. इस ग्रन्थ का सम्पादन डा० लाहा ने किया है जिसे पालि टैक्स्ट सोसायटी ने सन् १९३५ में प्रकाशित किया है। सिंहली लिपि में यह ग्रन्थ धम्मरतन द्वारा सम्पादित है, कोलम्बो १८९६। डा० विमलाचरण लाहा ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है जो बिबलियोथैका इंडिका सीरीज (१९४५) में प्रकाशित हुआ है।

५. पृष्ठ ७०

१३ वीं शताब्दी के आदिम भाग में हुई थी। तेरहवीं शताव्दी में ही इस ग्रन्थ का सिंहली रूपान्तर भी किया गया था।[१]

जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'थूपवंस' (स्तूपवंश) भगवान् बुद्ध की धातुओं पर स्मारक रूप से निर्मित 'स्तूपों' का इतिहास है। 'महापरिनिब्बाण-सुत्त में ही हमने देखा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके शरीर के अवशिष्ट चिन्हों पर आठ बड़े स्तूपों का निर्माण किया गया था। 'महावंस' के विवरण में भी हम देख चुके है कि किस प्रकार लंका के राजा दुट्ठगामणि ने 'महा स्तूप' आदि कई विशाल स्तूपों का निर्माण किया था। बुद्ध-परिनिर्वाण-काल से लेकर दुट्टगामणि के समय तक निर्मित स्तूपों का क्रमबद्ध इतिहास वर्णन करना ही इस ग्रन्थ का विषय है। बुद्ध-भक्ति से प्रेरित हो कर लंका के अनेक राजाओं ने विशाल विहारों और स्तूपों का निर्माण कराया था, अतः उसके इतिहास में उनका भी एक विशेष महत्त्व है, इसमे सन्देह नहीं। स्तूपों का वर्णन करना ही केवल एक मात्र विषय 'थूपवंस' का नहीं है। उसने इसे आधार मान कर बौद्ध धर्म के पूरे इतिहास का ही वर्णन दुट्टगामणि के समय तक कर दिया है। इस ग्रन्थ के तीन मुख्य भाग हैं। पहले भाग में गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन किया गया है। बोधिसत्वों की चर्या का यह वर्णन प्रसिद्ध दीपंकर बुद्ध के समय से प्रारम्भ किया गया है, जैसा कि प्रायः अन्य सब वंश-ग्रन्थों ने भी किया है। दूसरे भाग में भगवान् गौतम बुद्ध की जीवनी है। जन्म से लेकर महापरिनिर्वाण तक भगवान् बुद्ध की जीवनी यहाँ बड़ी प्रभावशाली शैली मे वर्णित की गई है। तीसरे भाग में, जिसे ग्रन्थ के 'शीर्षक' को देखते हुए उसका प्रधान अंश ही कहा जा सकता है, भगवान् बुद्ध की धातुओं पर निर्मित स्तूपों का और उनके उत्तरकालीन इतिहास का

---

१. कहीं कहीं इस सिंहली रूपान्तर की, पालि 'थूपवंस' से अल्प विभिन्नता भी है। उदाहरणतः सिंहली 'थूपवंस' में 'धम्मचक्क पवत्तन-सुत्त' के उपदेश का विवरण है जब कि पालि 'थूपवंस' में केवल 'धम्मचक्कपवत्त-सुत्तो' कह कर उसका निर्देश कर दिया गया है। मौलिक रूप से दोनों समान है। देखिये 'महाबोधि' मई-जून १९४६, पृष्ठ ५७-६० में डा० विमलाचरण लाहा का 'थूपवंस' शीर्षक लेख।

वर्णन किया गया है,। जैसा अभी कहा जा चुका है 'थूपवंस' में 'महावंस', 'समन्त-पासादिका', 'निदान-कथा' आदि की अपेक्षा नवीन कुछ नहीं है।' देवानं पिय तिस्स के काल से लेकर दुट्ठगामणि के काल तक का वर्णन तो प्रायः शब्दशः 'महावंस' पर ही आधारित है। लेखक ने (स्तूपों के चारों ओर) व्यवस्थित कर उसे एक नया रूप अवश्य दे दिया है। उसकी विषय-वस्तु का कुछ संक्षिप्त विवरण यहाँ अपेक्षित होगा।

ग्रन्थ के आरंभ में लेखक ने बताया है कि पूर्ववर्ती पालि वर्णनों को पूर्णता देने के लिए ही उसने इस ग्रन्थ की रचना की है। उसके बाद उसने बताया है कि चार प्रकार के व्यक्ति स्तूपार्ह हैं, यथा तथागत, प्रत्येक बुद्ध (व्यक्तिगत रूप से ज्ञानी, किन्तु लोकों के उपदेष्टा नही) तथागत के शिष्य, और राज-चक्रवर्ती। जिस चैत्य में इनमें से किसी के शरीर के अवशिष्ट चिन्ह रक्खे जाये वही 'स्तूप' (थूप) है। इसके बाद गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्धों का विस्तृत वर्णन है। उनके सम्बन्ध में जो स्तूप बनाये गये उनका भी वर्णन है। यह सब इतना पौराणिक है कि इसका वर्णन करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। ग्रन्थ के दूसरे भाग में लेखक ने बुद्ध-जीवनी का वर्णन किया है और तीसरे या अन्तिम भाग में उनके शरीर चिन्हों के ऊपर निर्मित स्तूपों का। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके शरीर का दाह संस्कार-जिस प्रकार किया गया उसका यहाँ बिलकुल उसी प्रकार वर्णन है जैसा महापरिनिब्बाण-सुत्त में। अतः उसकी यहाँ पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं। महापरिनिब्बाण-सुत्त के मूल आधार पर ही यहाँ बताया गया है कि भगवान् की धातुओं को बाँटने के लिए कुशीनारा के मल्लों, मगध के अजातशत्रु ,वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शाक्यों, अल्लकप्प के बुलियों, रामगाम के कोलियों, वेठदीपक के एक ब्राह्मण और पावा के मल्लों आपस में झगड़ा होने ही वाला था कि द्रोण नामक ब्राह्मण के सामयिक शब्दों (शास्ता शान्तिवादी थे, उनके धातुओं पर इस प्रकार का झगड़ा उचित नहीं) को मानकर उन्होंने उन्हें आठ भागों में विभक्त कर लिया, जिन पर आठ महास्तूपों का निर्माण राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामगाम, वेठदीप, पावा और कुशीनारा, इन आठ स्थानों में किया गया। रामगाम के स्तूप में निहित धातुएँ ही बाद में सिंहल ले जाई गई। इनका इतिहास इस प्रकार है। स्थविर

महाकाश्यप के आदेश पर मगधराज अजातशत्रु ने वैशाली, कपिलवस्तु, अल्ल-कप्प, बेठदीप, पावा और कुशीनारा से बुद्ध की धातुओं को इकट्ठा करवाकर उन्हें राजगृह की धातुओं के साथ ही राजगृह के दक्षिण-पूर्वी भाग में एक महा-स्तूप में स्थापित किया। धर्मराज अशोक के समय में इन्हीं धातुओं के विभक्त अंशों पर ८४ हजार चैत्यों का निर्माण हुआ। अशोक की राज्य-प्राप्ति, अभिषेक, धर्म-परिवर्तन आदि का भी उल्लेख यहाँ, महावंस' के वर्णन के अनुसार ही किया गया है। श्रामणेर न्यग्रोध से उपदेश ग्रहण कर सम्राट् अशोक ने ८४००० नगरों में ८४००० धर्म-स्कन्धों की स्मृति में ८४००० विहारों का निर्माण करवाया। राज-गृह में अजातशत्रु द्वारा पूर्व स्थापित धातुओं के विभक्त अंशों पर ही इन ८४००० विहारों का निर्माण हुआ था, यह हम पहले कह ही चुके हैं। तृतीय बौद्ध संगीत के बाद स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा देश-विदेश में नाना धर्मो-पदेशों का भिजवाना जना दिखाया गया है। भिक्षुओं के नामों की सूची तथा जिन-जिन प्रदेशों में वे भेजे गये थे, 'महावंस' से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। हम पहले देख ही चुके हैं कि 'सद्धम्मसंगह' और महाबोधिवंस' जैसे ग्रन्थों की भी यही स्थिति है। 'दीपवंस' महावंस' 'समन्त पासीदिका' 'महावंस-टीका' आदि में कही हुई बातों को ही यहाँ बार बार दुहराया गया है। स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स के आदेशानुसार थेर मज्झन्तिक काश्मीर और गान्धार को, थेर महादेव महिंसक मंडल को, थेर रक्खित वनवासी-प्रदेश को, थेर योनक (ग्रीक) धम्मरक्खित अपरान्तक को, महाधम्मरक्खित महाराष्ट्र को, थेर महारक्खित योनक लोक को, थेर मज्झिम हिमवन्त प्रदेश को, थेर सोण और उत्तर सुवर्णभूमि को और थेर महिन्द (महेन्द्र), इत्तिय, उत्तिय और भद्दसाल तम्बपण्णिदीप (लङ्काद्वीप) को भेजे गये। दीपवंस' और महावंस' के समान 'थूपवंस' मे में भी इस धर्म-प्रचार का श्रेय स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स को ही दिया गया है और इस प्रसङ्ग में अशोक के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। इसके विपरीत अशोक ने अपने दूसरे और तेरहवें शिलालेखों में अपने द्वारा किये हुए धर्म-प्रचार-कार्य का उल्लेख किया है और वहाँ स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स का कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवतः भिक्षु-संघ और धम्म-राजा दोनों की ओर से ही स्वतन्त्र रूप से धर्म प्रचार का कार्य आरम्भ किया गया था। इस समस्या का विवेचन हम 'महावंस' का वर्णन करते समय कर

चुके हैं। किस प्रकार 'दीपवंस' 'महावंस' आदि के धर्म-प्रचार-कार्य का विवरण, जिसके आधार पर ही इन उत्तरकालीन-वंश-ग्रन्थों ने अपने वर्णन ग्रथित किये हैं, साँची और भारहुत के स्तूपों से समर्थित प्राप्त करता है, यहभी हम वहाँ दिखा चुके हैं। अशोक और उसके समकालीन लङ्काधिपति देवानंपियतिस्स के बीच पारस्परिक भेंटोंके आदान-प्रदानका वर्णन करनेके बाद 'थूपवंस' में महेन्द्रादि भिक्षुओं में धर्म-प्रचार कार्य का वर्णन किया गया है। देवानं पिय तिस्स के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद उसकी भतीजी अनुलादेवी को प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा हुई। इस विधि को सम्पन्न कराने के लिये सम्राट् अशोक की प्रव्रजित पुत्री संघमित्रा भारत से बुलाई गई। वह बोधिवृक्ष की डाली लेकर वहाँ पहुँची है। अनुला देवी की प्रव्रज्या के बाद देवानं पिय तिस्स सम्पूर्ण लङ्का द्वीप (तम्बपण्णि दीप) में एक एक योजन के फासले पर स्तूपों का ताँता फैला दिया। इन स्तूपों में रखने के लिए तथागत के शरीर में अवशिष्ट चिन्हों को उसने श्रामणेर सुमन को भेज कर अपने मित्र देव-प्रिय राजा अशोक से मँगाया जिसे उसने बुद्ध द्वारा प्रयुक्त भिक्षा पात्र में रखकर अपने कल्याणमित्र के पास आदर पूर्वक भेजा था। देवानं पिय तिस्स के बाद दमिलों द्वारा लङ्का के सताये जाने का वर्णन है। यह वर्णन 'महावस' के समान ही है। लङ्का के इतिहासों-ग्रन्थोंमें इसकी निरन्तर पुनरावृत्ति इसकी सत्यता की सूचक है। राजा दुट्ठगामणि इन दमिलों को परास्त कर लङ्का को एक अभिन्न राजनैतिक और सांस्कृतिक सूत्र में बाँध दिया है। 'लङ्क-दीपं एकछत्तमकासि'। लङ्का-द्वीप में उसने एक छत्र राज्य की स्थापना की। जिस प्रकार 'महावंस' के दुट्ठगामणि को एक राष्ट्रीय नेताके रूप में चित्रित किया गया है, वही बात यहाँ भी पाई जाती है। दमिलों और उनके नेता एलार की दुट्ठ-गामणि के हाथ पराजय आदिके ऐतिहासिक वर्णनोंके लिए इस ग्रन्थ का 'महावंस' आदि की अपेक्षा भी अतिरिक्त महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं। राजा दुट्ठगामणि ने ९९ विहार बनवाये, जिनमें मरीचवट्टि, लोहाप्रासाद और महास्तूप बड़े निर्माण-कार्य थे। किस प्रकार महास्तूप पर छत्र चढ़ने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई और अपने छोटे भाई को उसे पूरा करने का आदेश दे कर, भिक्षु संघ को विहार को समर्पित कर तथा रोग-शय्या पर पड़े हुए ही स्तूप की तीन बार प्रदक्षिणा

कर , बुद्ध, धर्म और संघ की वन्दना करते हुए इस श्रद्धालु राजा ने तुषित-लोक में गमन किया,यह हम 'महावंस' के वर्णन में देख चुके हैं। उसी के समान यह यहाँ वर्णित है। महास्तूप का निर्माण दुट्ठगामणि ने बड़े प्रयास और रुचि से करवाया था। उसके अन्दर भगवान् बुद्ध के जीवन सम्बन्धी अनेक चित्र यथा धर्म-चक्रप्रवर्तन महापरि-निर्वाण-प्राप्ति आदि दिखाये गये थे। महास्तूप में रखने के लिये बुद्ध-शरीर के अवशिष्ट चिन्ह वही थे जिन्हें रामगाम के कोलियों ने अपने यहाँ स्थापित किया था और जो बाद में लङ्का में लाये गये थे। दुट्ठगामणि द्वारा निर्मित स्तूपों के वर्णन के साथ ही 'थूपवंस' का वर्णन समाप्त हो जाता है ।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि लङ्का के धार्मिक इतिहास में 'थूपवंस' का बड़ा महत्व है। आज खंडहरों के रूप में भग्न या आधुनिक शहरों के नीचे विलीन प्रभूत पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्री का वह परिचय देता है। लङ्का की बुद्ध-भक्ति का भी वह परिचायक है। भारत और लङ्का के मधुर, धर्म-निःश्रित सम्बन्धों की भी वह याद दिलाता है। दमिलों द्वारा लङ्का पर किये गये आक्रमणों की याद दिला कर वह इस परिच्छेद को कुछ दुःखानुविद्ध भी करता है, भारतीय संस्कृति के अ-शोषक तत्व की कटु व्याख्या भी करता है। फिर भी मनुष्यों के लोभ ने जिसे नष्ट किया,क्षत विक्षत किया,धम्म ने उसे पुनरुज्जीवित किया,यह आश्वासन भी हमें यहाँ मिलता है। लङ्का के राजा और उनकी जनता आध्यात्मिक प्रेरणा के लिये सदा भारत की ओर देखते रहे । अनुलादेवी की प्रव्रज्या के लिये संघमित्रा बुलाई गई। बोधि-वृक्ष की डाल रोपी गई। तब से दोनों देश एक हो गये। भारत के देश-काल का, उसके गांधार, काश्मीर और महिष-मंडल का, वनवासी, अपरान्तक, महाराष्ट्र और सुवर्ण भूमि का, उसके विदिशा,रामग्राम, पावा, राजगृह, वैशाली और कपिलवस्तु का, लङ्का के इस ग्रन्थ में निरन्तर स्मरण यही दिखाता है कि बुद्ध की स्मृति के साथ इस देश की स्मृति को भी लङ्कावासियों ने अपने इतिहास में कभी भूला नहीं है ।

अत्तनगलुविहार वंस

'अत्तनगलु विहार वंस' का दूसरा नाम 'हत्थवनगल्लविहारवंस' भी है।

सिंहली संस्करण में वह इसी नाम से छपा है। तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग की यह गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। इसमें ११ अध्याय हैं और इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी सरल, स्वाभाविक वर्णन-शैली है। प्रथम आठ परिच्छेदों में लंकाधिपति सिरिसंबोधि (श्रीसंबोधि) का वर्णन है। अन्तिम तीन परिच्छेदों में उन अनेक विहारों के निर्माण का वर्णन है, जो उपर्युक्त राजा के अन्तिम निवासस्थान पर बनाये गये थे। 'अत्तनगल्ल' या 'अत्तनगलु' नामक स्थान पर निर्मित विहार इनमें अधिक प्रसिद्ध होने के कारण, इसी के आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'अत्तनगलुविहारवंस' पड़ा है। सिंहली भिक्षु अनोमदस्सी के अनुरोध पर, जिन्हें पराक्रमबाहु द्वितीय (१२२९-२२४६ ई०) ने, महावंस ८६-३७ के अनुसार, यह विहार समर्पित किया था, यह रचना लिखी गई थी।[१] इसके लेखक के नाम आदि का कुछ पता नहीं चलता।

दाठवंस[२]

'दाठावंस' की रचना तेरहवी शताब्दी के आदि भाग में सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य महास्थविर धर्मकीर्ति (धम्मकित्ति महाथेर) ने की।[३] यह भिक्षु संस्कृत, मागधी भाषा (पालि), तर्कशास्त्र, व्याकरण, काव्य औरआगम आदि में निष्णात थे। इनका छन्दों पर अगाध अधिकार था, यह 'दाठावंस' में प्रयुक्त नाना छन्दों से विदित होता है। 'दाठा-वंस' बुद्ध के दाँत-धातु की कथा है। इसका दूसरा नाम 'दन्तधातुवंस' भी है। 'दाठावंस' की विषय-वस्तु बहुत कुछ 'थूपवंस' के समान ही है। उसके समान यहाँ यद्यपि गौतम बुद्ध के

---

१. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४४

२. रोमन लिपि में डा० रायस डेविड्स द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८४, में सम्पादित। देवनागरी लिपि में डा० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित एवं अंग्रेजी में अनुवादित, पंजाब संस्कृत सीरीज १९२५। सिंहली लिपि में असमतिस्स द्वारा सम्पादित, केलनिय १८८३।

३. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, पृष्ठ ६२।

पूर्ववर्ती बुद्धों का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु अन्य वर्णन प्रायः समान ही हैं। 'थूपवंस' में कथा का अन्त दुट्ठगामणि पर लाकर करदिया गया है जब कि 'दाठावंस' में वह लंकाधिपति कित्तिसिरि मेघवण्ण (कीर्ति श्री मेघवर्ण) तक चलती है। बुद्ध के दाँत के इतिहास के चारों ओर यहाँ बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास का वर्णन किया गया है, जैसे "थूपवंस" में स्तूपों की कथा के चारों ओर। कलिंग के राजकुमार द्वारा लंका में बुद्ध के दाँतों का लाया जाना और वहाँ कीर्ति श्री मेघवर्ण द्वारा उनका आदर-पूर्वक ग्रहण करना तथा अनुराधपुर में लंका के राजा, भिक्षु संघ और उपासक जनता के द्वारा उसकी पूजा किया जाना आदि तथ्यों का वर्णन इस ग्रन्थ की मुख्य विषय-वस्तु है।

छकेसधातुवंस[1]

'छकेसधातुवंस' १९ वीं शताब्दी की रचना है। यह किसी बरमी भिक्षु की रचना है, जिसके नाम का पता नहीं। इसमेंभगवान बुद्ध के छः केशों के ऊपर बनवाये हुए स्तूपों का वर्णन है। यह एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है और इसकी शैली सरल है।

गन्वंस[2]

'गन्धवंस' (ग्रन्थ-वंश) उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में लिखा गया। इतनी उत्तरकालीन रचना होते हुए भी इसी कोटि के अन्य वंश-ग्रन्थों के समान इसका अल्प महत्व नहीं है। पालि-साहित्य के इतिहास-लेखक के लिए तो यह एक बड़ा सहायक ग्रन्थ है। जैसा इसके नाम से विदित है, यह पालि-ग्रन्थों का इतिहास है। पालि ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों का विवरण देना ही इसका मुख्य लक्ष्य है। पुस्तकों और उनके रचयिताओं की सूची, रचना-स्थान और रचना के उद्देश्य यहाँ दिये गये हैं। पहले त्रिपिटक का विश्लेषण दिया गया है। फिर ग्रन्थकारों को तीन श्रेणियों में

---

१. जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८५ में मिनयेफ द्वारा सम्पादित।

२. मिनयेफ द्वारा रोमन लिपि में जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६ में सम्पादित।

विभक्त किया गया है जो कालानुक्रम-परक भी हैं, (१) पोराणाचरिय (२) अट्ठकथाचरिय और (३) गन्धकाचरिय। पोराणाचरिय (पुराणाचार्य) धर्म संगीतिकार प्राचीन भिक्षु थे जिन्होंने बुद्ध-वचनों का संगायन और संकलन किया। अट्ठकथाचरिय (अर्थकथाचार्य) वे भिक्षु थे जिन्होंने अत्यंत प्राचीन काल में पालि त्रिपिटक पर अट्ठकथाएँ लिखीं। उसके बाद गन्धकाचरियों (ग्रन्थकाचार्यों) का समय आता है जिनमें पहले कुरुन्दी और महापच्चरी आदि सिंहली अट्ठकथाओं के लेखक और बाद में बुद्धदत्त, बुद्धघोष, धम्मपाल आदि आते हैं। जिन ग्रन्थों के लेखकों का पता नहीं है, उनकी भी सूची 'गन्धवंस' कार ने दी है। लेखकों में कौन से भारत-वासी थे, या कौन से लंका-वासी थे, किसने रचना अपनी प्रेरणा से की, या किसने दूसरों के अनुरोध से की, इस प्रकार का भी विवरण देकर रचनाओं के रचना-स्थान और रचनोद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है। 'गन्धवंस' में निर्दिष्ट ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—

ग्रन्थकार	रचित ग्रन्थ
१. महाकच्चायन—	(१) कच्चायनगन्धो, (२) महानिरुत्तिगन्धो (३) चुल्लनिरुत्ति गन्धो (४) नेत्तिगन्धो, (५) पेटकोपदेस-गन्धो, (६) वण्णनीतिगन्धो।
२. बुद्धघोस— (बुद्धघोष)	(१) विसुद्धिमग्गो, (२) सुमंगलविलासिनी, (३) पपंच सूदनी (४) सारत्थपकासिनी (५) मनोरथपूरणी, (६) समंतपासादिका, (७) परमत्थकथा (८) कंखावितरणी (९) धम्मपदट्ठकथा (१०) जात- कत्थवण्णना, (११) खुद्दकपाठट्ठ कथा (१२) अपादानट्ठकथा।
३. बुद्धदत्त—	(१) विनियविनिच्छयो (२) उत्तरविनिच्छयो, (३) अभिधम्मावतारो (४) मधुरत्थविलासिनी।
४. आनन्द—	मूलटीकं
५. धम्मपाल—	(१) नेत्तिपकरणट्ठ कथा (२) इतिवुत्तक-अट्ठकथा (३) उदानट्ठकथा (४) चरियापिटक-अट्ठकथा

(५)थेरगाथा-अट्ठकथा, (६) विमानवत्थुस्स विमलविलासिनी नाम अट्ठकथा (७) पेतवत्थुस्स विमलविलासिनी नाम अट्ठकथा (८) परमत्थमंजूसा (९) दीघनिकायट्ठकथादीनं चतुन्नं अट्ठकथानं लीनत्थपकासिनी नाम टीका (१०) जातक ट्ठकथाय लीनत्थपकासिनी नाम टीका, (११) परमत्थदीपनी (१२) लीनत्थवण्णना ।

विनय-गण्ठि ।

६. महावजिरबुद्धि—
(महावज्र बुद्धि)

७. विमलबुद्धि— मुखमत्तदीपनी ।

८. चुल्लवजिरो— अत्थव्याख्यानं ।

९. दीपंकरो— (१) रूपसिद्धिपकरणं (२) रूपसिद्धिटीकं (३) सम्मपञ्चसुत्तं

१०. चुल्लधम्मपालो— सच्चसंखेपं

११. कस्सपो— (१) मोह विच्छेदनी (२) विमतिच्छेदनी, (३) बुद्धवंस, (४) अनागतवंस

१२. महानाम— (१) सद्धम्मपकासिनी (२) महावंस (३) चुल्लवंस

१३ उपसेन— सद्धम्मट्ठिटीकं ।

१४. मोग्गल्लान— मोग्गल्लान व्याकरणं ।

१५. संघरक्खित— सुबोधलङ्कार

१६. वुत्तोदयकार— (१) वुत्तोदय, (२) संबंध-चिन्ता (३) नवटीकं ।

१७. धम्मसिरि— खुद्द-सिक्खं ।
(धर्मश्री)

१८. अनुरुद्ध— खुद्द सिक्खं ।

१९. अनुरुद्ध— (१) पमरमत्थविनिच्छयं (२) नाम-रूप-परिच्छेदं (३) अभिधम्मत्थसंगहप्पकरणं

२०. खेम— खेमं

२१. सारिपुत्त— (१) सारत्थदीपनी (२) विनयसंगहपकरणं, (३)
(३) सारत्थमंजूसं (४) पञ्चकं ।

२२. बुद्धनाग— विनयत्थमञ्जूसं ।

२३. नव मोग्गलान— अभिधानप्पदीपिकं ।

२४. वाचिस्सरो— (१) संबन्धचिंताटीका (२) मोग्गल्लान व्याकरणस-टीका (३) नामरूपपरिच्छेदटीका (४) पदरूप-विभावनं (५) खेमप्पकरणस्स टीका (६) मूलसिक्खाय टीका (७) वुत्तोदयविवरणं (८) सुमंगलपसादनी (९) बालावतार (१०) योगविनिच्छयो (११)
(११) सीमालंकार (१२) रूपारूपविभाग (१२)
पच्चयसंगहो ।

२५. सुमंगल— (१) अभिधम्मत्थविकासनी (२) अभिधम्मत्थ-विभावनी

२६. धम्मकित्ति— दन्तधातुपकरणं ।

२७. मेधंकरो— जिनचरितं ।

२८. सद्धम्मसिरि— सद्दत्थभेदचिन्ता ।

२९. देवो— सुभणकूटवण्णना ।

३०. चुल्ल बुद्धघोसो— (१) जातत्तगीनिदानं (२) सोतत्तगीनिदानं ।

३१. रट्ठपाल— मधुरसवाहिनी ।

३२. अग्गवंस— सद्दनीतिपकरणं ।

३३. विमलबुद्धि महाटीकं ।

३४. उत्तम— (१) बालावतारटीकं (२) लिंगत्थविवरणटीकं) ।

३५. क्यच्वामरञ्ञो— (१) सद्दबिन्दु (२) परमत्थबिन्दुपकरणं
(राजा क्यच्वा—बरमी)

३६. सद्धम्मगुरु— सद्दवुत्तिपकासनं ।

३७. अग्गपंडित— लोकुप्पत्ति ।

३८. सद्धम्मजोतिपाल— (१) सीमालंकारस्स टीका (२) मातिकत्थदीपनी
(३) विनयसमुट्ठान दीपनी (४) गन्धसारो (५)

पट्ठानगणनानयो (६) संखेपवण्णना (७) सुत्त-निद्देसो (८) पातिमोक्खविसोधिनी ।

३९. नव विमलबुद्धि—अभिधम्मपण्णरसट्ठानं ।

४०. वेपुल्लबुद्धि (१) सद्दसारत्थ जालिनिया टीका (२) वुत्तोदयटीका, (३) परमत्थमंजूसा (४) दसगण्ठिवण्णना (५) मगधभूताविदग्गं, (६) विदधिमुखमंडनटीका

४१. अरियवंस— (१) मणिसारमंजूसं, (२) मणिदीपं, (३) गण्ठाभरणं (४) महानिस्सरं ' (५) जातक विसोधनं

४२. चीवरो— जंघदासस्स टीकं ।

४३. नवमेधंकरो— लोकदीपसारं ।

४४. सारिपुत्तो— सद्दवुत्तिपकासनस्स टीकं ।

४५. सद्धम्मगुरु— सद्दवुत्तिपकासनं

४६. धम्मसेनापति— (१) कारिकं, (२) एतिमासमिदीपकं (३) मनोहरं।

४७. ञाणसागरो— लिंगत्थविवरणपकासनं ।
(ज्ञानसागर)

४८. अभय— सद्दत्थभेदचित्ताय महाटीकं ।

४९. गुणसागरो— मुखमत्तसारं तट्टीकं ।

५०. सुभूतचन्दन— लिंगत्थविवरणपकरणं ।

५१. उदुम्बरनामाचरियो—पेटकोपदेसस्स टीकं ।

५२. उपतिस्साचरिय—अनागतवंसस्स अट्ठकथा ।

५३. बुद्धप्पिय— सारत्थसंगहनाम गन्धो ।

५४. धम्मानन्दाचरिय—(१) कच्चायनसारो (२) कच्चायनभेदं (३) कच्चायनसारस्स टीका ।

५५. गन्धाचरियो— कुरुदिगन्ध ।

५६. नागिताचरिय—सद्दसारत्थजालिनी ।

उपर्युक्त ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों के अलावा नीचे लिखे ग्रन्थ भी निर्दिष्ट हैं, जिनके ग्रन्थकारों के नाम आदि के विषय में कुछ नहीं कहा गया ।

(१) महापच्चरियं (२) पुराणटीका (३) मूलसिक्खाटीका (४) लीनत्थपकासिनी (५) निसन्देहो (६) धम्मानुसारिणी (७) ञेय्यासन्दति (८) ञेय्यासन्दतिय टीका (९) सुमहावतारो (१०) लोकपञ्ञत्तिपकरणं (११) तथागतुप्पत्तिप्पकरणं (१२) नलातधातुवण्णना (१३) सीहलवत्थु (१४) धम्मदीपको (१५) पटिपत्ति संगहो (१६) विसुद्धिमग्गगन्धि (१७) अभिधम्मगन्धि (१८) नेत्तिपकरणगन्धि (१९) विसुद्धिमग्गचुल्लनवटीका (२०) सोतप्पमालिनी (२१) पसाद जननी (२२) सुबोधालंकारस्स नवटीका (२३) गूळत्थटीकं (२४) बालप्पबोधनं (२५) सद्दत्थभेदचिन्ताय मज्झिमटीकं (२६) कारिकाय टीकं (२७) एतिमासमिदीपिकाय टीकं (२८) दीपवंस (२९) थूपवंस तथा (३०) बोधिवंस । उपर्युक्त ग्रन्थों और ग्रन्थकारों में से अधिकांश का विवेचन पिछले पृष्ठ में किया जा चुका है और कुछ का आगे किया जायगा। निश्चय ही 'गन्धवंस' की सूचीबद्ध सामग्री पालि-साहित्य के इतिहासकार के लिए बड़ी सहायक है ।

सासनवंस[1]

'सासनवंस' (शासन-वंश) भी 'गन्धवंस' के समान महत्वपूर्ण रचना है । उसका प्रणयन उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में हुआ । यह बरमी भिक्षु पञ्ञासामी (प्रज्ञास्वामी) की रचना है । प्राचीन पालि साहित्य पर आधारित होने के कारण इसका बड़ा महत्व है । 'सासनवंस', जैसा उसके शीर्षक से स्पष्ट है, बुद्ध-शासन का इतिहास है । बुद्ध-काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक स्थविरवाद बौद्ध धर्म के विकास का इस ग्रन्थ में वर्णन है। 'सासनवंस' में दस अध्याय हैं। विशेषतः छठा अध्याय अधिक महत्वपूर्ण है। इस अध्याय में बरमा में बौद्ध धर्म के विकास का वर्णन किया गया है। 'सासन वंस' का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग यही है। वैसे इस ग्रन्थ में बुद्ध की जीवनी तथा अजातशत्रु, कालाशोक और धर्माशोक के समय में हुई तीन बौद्ध संगीतियों आदि का भी वर्णन है । तृतीय बौद्ध संगीति के बाद मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा

---

१. मेबिल बोड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्सट सोसायटी, लन्दन १८९७।

धर्मोपदेशकों को देश-विदेश में भेजने का भी विवरण यहाँ किया गया है। 'सासनवंस' के वर्णनानुसार तृतीय संगीति के बाद सुवर्णभूमि (बरमा) में धर्मोपदेशकों के जाने से पहले भी स्वयं मोग्गलिपुत्त तिस्स वहाँ धर्मोपदेश करने गये थे, जो उतना पूर्व परम्परा पर आधारित नहीं है। इसी प्रकार कुछ अन्य भी बातें उन्होंने बरमी बौद्ध संघ के गौरव को बढ़ाने वाली कहीं हैं, जो उतनी इतिहास पर आधारित नहीं है। बरमी राजा सिरि-महासीह सूरसुधम्मराजा (श्री महासिंह शूर सुधर्मराज) के समय में भिक्षु-संघ में हुए पारुपन (चीवर को दोनों कन्धों को ढँककर ओढ़ना) और एकंसिक (एक कन्धे को खोलकर रखते हुए चीवर को ओढ़ना) संबंधी विवाद हुआ जिसका निर्देश इस ग्रन्थ में किया गया है। इसी प्रकार विहार-सीमा संबंधी विवाद का उल्लेख किया गया है। संक्षेप में, बरमी बौद्ध धर्म के विकास एवं बरमी राजाओं और भिक्षु-संघ के पारस्परिक संबंध आदि को जानने के लिए 'सासन-वंस' का आज के विद्यार्थी के लिए भी प्रभूत महत्व हैं। बुद्ध-जीवनी और संगीतियों तथा अशोक के काल में मोग्गलिपुत्त तिस्स के द्वारा किये गये धर्म-प्रचार आदि के विवरण के लिए वह दीपवंस, महावंस तथा समन्तपासादिका आदि पर आधारित है, इसमें संदेह नहीं। तृतीय संगीति के बाद जिन जिन देशों में भारतीय बौद्ध भिक्षु उपदेश करने के लिए भेजे गये, उनके विवरणों में 'दीपवंस' और 'महावंस' की अपेक्षा यहाँ कुछ विभिन्नता भी है। उदाहरणतः अपरान्त राष्ट्र (अपरान्त-रट्ठ) को यहां इरावदी नदी का पच्छिमी भाग बतलाया गया है। उसी प्रकार महारट्ठ (महाराष्ट्र) को जहाँ स्थविर महाधर्मरक्षित उपदेशार्थ गये थे 'महानगर-राष्ट्र' (महानगर-रट्ठ) या स्याम बतलाया गया है। इसी प्रकार मज्झिम स्थविर को चीन-राष्ट्र में धर्म-प्रचार करते बतलाया गया है, जबकि 'दीप-वंस' और 'महावंस' के वर्णनानुसार वे 'हिमवन्त' प्रदेश के धर्म प्रचारक थे। इसी प्रकार कुछ अन्य भी विभिन्न वर्णन हैं,[१] जो उतने प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। बरमी भिक्षु-संघ के इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बड़ा महत्व है, इसमें सन्देह नहीं।

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५९२-५९३

दसवाँ अध्याय

काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र, अभिलेख आदि

पालि काव्य

पालि का काव्य-साहित्य उतना विस्तृत, प्रौढ़ और समृद्ध नहीं है, जितना संस्कृत का या बौद्ध संस्कृत साहित्य का भी। कालिदास या अश्वघोष की सी काव्य-परम्परा यहाँ नहीं मिलती। निश्चय ही यदि काव्य का अर्थ मानव-जीवन के व्यापक, गहन और मार्मिक अनुभवों की, शब्द और अर्थ की निर्व्याज सुन्दरता के साथ (सात्थं सव्यञ्जनं) 'बहुजन हिताय' अभिव्यक्ति ही है, तब तो सम्पूर्ण 'तेपटिक बुद्ध-वचन' ही सर्वोत्तम काव्य है। यह भगवान् बुद्धदेव का वह शाश्वत और अनन्त सौन्दर्यमय काव्य है, जिसका जीवन मे साक्षात्कार कर लेने पर मनुष्य के लिये जरा और मरण ही नहीं रह जाते। 'देवस्य काव्यं पश्यन् न जजार न मीयते।' जो पवित्र सौन्दर्य हिमगिरि में नहीं है, जो निष्पापता उषा में नहीं है, जो गहनता महासमुद्र में नहीं है, संक्षेप में जो काव्यत्व विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं है, वह ज्ञानी (बुद्ध) के एक स्मित में है, तथागत के एक ईर्यापथ में है, सम्यक् सम्बुद्ध के एक शब्द में है। पालि ने इस सब को ही तो प्रस्फुटित किया है। अतः वह काव्यत्व में हीन है, ऐसा कौन कहेगा? जब हम पालि के काव्य-साहित्य का विवेचन करते हैं और उसे संस्कृत की अपेक्षा कम उन्नत कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य त्रिपिटक-गत काव्य या काव्यत्व से नही होता, बल्कि काव्य-शिल्पियों की उन रचनाओं से होता है जो उन्होंने बौद्ध विषयों को आधार मान कर पालि भाषा में की हैं। इस प्रकार की रचनाएँ प्रधानतः लङ्का और अंशतः बरमा में दसवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक और उसके बाद तक भी होती रहीं। इन रचनाओं की विषय-वस्तु त्रिपिटक से ही ली गई है। त्रिपिटक में प्राप्त नमूनों का ही कुछ संशोधन और परिवर्द्धन के साथ छन्दोबद्ध संस्करण

कर देना यहाँ कवियों का प्रधान व्यवसाय रहा है। वैसे तो पालि काव्य-ग्रन्थ है ही अल्प और जो हैं भी उनमें भी किसी महनीय काव्य-परम्परा का प्रवर्तन नहीं मिलता। सब से बढ़कर तो कला के उस सृजनात्मक सौन्दर्य एवं कल्पना के दर्शन यहाँ नहीं होते जो किसी साहित्य को विशेषता प्रदान किया करता है। सम्भवत. यह इस कारण भी हो कि कल्पनात्मक मनोरागों के प्रदर्शन को स्थविरवादी बौद्ध परम्परा ने आरम्भ से ही अपनी साधना का अंग नहीं बनाया है। इतना ही नहीं, उसने इसे हेयता की दृष्टि से भी देखा है। इसलिये काव्य-प्रतिभा को वहाँ इतना प्रोत्साहन नहीं मिल सका है। भाषा की दृष्टि से भी पालि के इस काव्य-साहित्य का अधिक महत्त्व नहीं है। पालि साहित्य की प्राचीन मौलिकता के स्थानं पर वह साहित्य संस्कृतापेक्षी अधिक हो गया है। अतः पालि साहित्य के इतिहास में उसके काव्य-साहित्य का विवेचन एक गौण स्थान का ही अधिकारी हो सकता है।

काव्य-ग्रन्थ

विषय की दृष्टि से पालि काव्य-ग्रन्थ दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं, (१) वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ, (२) काव्य-आख्यान। यह भेद सिर्फ विषय के बाह्य स्वरूप का है। मुख्य प्रवृत्ति और शैली तो सब जगह एक सी ही है— नैतिक आदर्शवाद और नीरस इतिवृत्तात्मक शैली। हाँ, कहीं कहीं रसात्मकता के भी पर्याप्त दर्शन होते हैं। मुख्य वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ ये हैं (१) अनागतवंस (२) तेलकटाहगाथा (३) जिनालङ्कार (४) जिनचरित (५) पज्जमधु (६) सद्धम्मोपायन (७) पञ्चगतिदीपन और (८) लोकप्पदीपसार या लोकदीप-सार। प्रधान काव्य आख्यान, जिनमें कुछ गद्य में भी हैं, ये हैं (१) रसवाहिनी (२) बुद्धालङ्कार (३) सहस्सवत्थुप्पकरण, और (४) राजाधिराजविलासिनी। इनका कुछ संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण देना यहां आवश्यक हो गया।

अनागतवंस[1]

जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'अनागत वंस' भविष्य (अनागत) में उत्पन्न

१. मिनयेफ द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में रोमन अक्षरों में सम्पादित।

होने वाले भगवान् बुद्ध मैत्रेय के जीवन-इतिहास (वंस) के रूप में लिखा गया है। 'अनागत वंस' का वास्तविक स्वरूप अभी बहुत कुछ अनिश्चित है। बरमी हस्तलिखित प्रतियों में उसके तीन रूप मिलते हैं, (१) गद्य-पद्य-मिश्रित रूप जो सुत्तों की शैली में लिखा गया है। इसका विषय बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का वर्णन करना नहीं है। बल्कि यह भविष्य में संघ पर आने वाले भयों का वर्णन करता है। बुद्ध और सारिपुत्र के संवाद के रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। साथ ही इसके अन्त में उन दस भावी बुद्धों के नाम भी दिये हुए हैं, जो भविष्य में क्रमशः बोधि प्राप्त करेंगे।[1] डा० विमलाचरण लाहा का यह कहना कि 'अनागतवंस' का यह संस्करण पालि-त्रिपिटक के अनागत-भय सूत्रों और उन सूत्रों, जिनमें दस भावी बुद्धों का निर्देश हुआ है, के पूरक रूप में लिखा गया है,[2] ठीक मालूम पड़ता है। (२) गद्य-मय रूप, जिसमें दस अध्याय हैं और जिसका विषय दस भावी बुद्धों की जीवनी का वर्णन करना है। (३) पद्य-मय रूप, जो १४२ गाथाओं में केवल बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का वर्णन करता है। यह संस्करण भी भगवान् बुद्ध और उनके शिष्य धर्मसेनापति सारिपुत्र के संवाद के रूप में लिखा गया है। भगवान् बुद्ध भावी बुद्ध मैत्रेय के विषय में भविष्यवाणी करते दिखाये गये हैं। 'अनागतवंस' का यह संस्करण ही उसका प्रामाणिक और वास्तविक रूप माना जाता है। अपने इस रूप में 'अनागत वंस' 'बुद्धवंस' का परिवर्द्धित और पूरक रूप माना जा सकता है। 'बुद्धवंस' पूर्व के चौबीस बुद्धों का वर्णन करता है। पच्चीसवें बुद्ध अर्थात् गोतम बुद्ध की जीवन-गाथा के साथ ही वहाँ वर्णन समाप्त कर दिया गया है। अतः स्वाभाविक रूप से 'अनागतवंस' जो छब्बीसवें बुद्ध, बुद्ध मैत्रेय, की जीवन-गाथा को अपना विषय बनाता है, 'बुद्धवंस' की कथावस्तु

---

१. मेत्तेय्यो उत्तमो रामो पसेनदि कोसलोभिभू।
दीघसोणि च संकच्चो सुभो तोदेय्य ब्राह्मणो॥
नालागिरिपललेय्यो बोधिसत्ता इमे दस।
अनुक्कमेण सम्बोधिं पापुणिस्सन्तिनागतेति॥
जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, पृष्ठ ३७

२. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१२

को पूर्णता देने की दृष्टि से ही लिखा गया जान पड़ता है। दोनों की शैली में भी पर्याप्त समानता है।[1] दीघ-निकाय के चक्कवत्ति सीहनाद-सुत्त (३।३) में भी बुद्ध मैत्रेय के भावी आविर्भाव के विषयमें उल्लेख किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जब भगवान् बुद्ध मैत्रेय उत्पन्न होंगे तो मनुष्य ८०,००० वर्ष की आयु में तरुण हुआ करेंगे और कुमारियाँ ५०० वर्ष की आयु में विवाह-योग्य हुआ करेंगी। 'अनागतवंस' के भी वर्णनों की यही बानगी समझी जा सकती है। बुद्ध मैत्रेय जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में केतुमती नामक नगरी में ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न होंगे। उनकी माता का नाम ब्रह्मवती और पिता का नाम सुब्रह्मा होगा। उनका आरम्भ का नाम अजित होगा। वे बड़े समृद्धशाली होंगे। ८००० वर्ष तक गृहस्थ-सुख का उपभोग करेंगे। उसके बाद प्रव्रज्या लेंगे। बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन-वृत्त के आधार पर ही ये अतिशयोक्तिमय वर्णन गढ़ लिये गये हैं, जिनमें काव्यत्व या विचार की अपेक्षा हम बौद्ध पौराणिकवाद के ही अधिक दर्शन करते हैं।

'अनागतवंस' की रचना कब और किसके द्वारा हुई, इसके विषय में निश्चित नहीं है। रायसविड्स ने इस ग्रन्थ को बहुत प्राचीन माना है—यहाँ तक कि बुद्धघोष से भी प्राचीन। इसका कारण उन्होंने यह दिया है कि 'विसुद्धिमग्ग' में बुद्धघोष ने बुद्ध मैत्रेय का वर्णन करते हुए उनके माता-पिता के विषय में कहा है "सुब्रह्मा नामस्स ब्राह्मणो पिता भविस्सति, ब्रह्मवती नाम ब्राह्मणी माताति"।[2] 'अनागतवंस' में भी बिलकुल इन्हीं शब्दों में बुद्ध मैत्रेय के माता-पिता का वर्णन मिलता है।[3] अतः रायस डेविड्स ने बुद्धघोष के शब्दों को 'अनागतवंस' से उद्धरण मानकर 'अनागतवंस' को प्राक्-बुद्धघोषकालीन ठहराया है।[4] विन्टर-

---

१. कुछ उद्धरणों के लिए देखिये लाहा हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१३

२. विसुद्धिमग्ग १३।१२७ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण), देखिये अट्ठसालिनी पृष्ठ ४१५ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण।

३. पृष्ठ ९६ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)

४. विसुद्धिमग्ग, पृष्ठ ७६१, ७६४ (रायस डेविड्स का संस्करण)

नित्ज ने यह स्वीकार नहीं किया कि बुद्धघोष के उपर्युक्त शब्द 'अनागतवंस' से ही उद्धृत किये गये हैं।[१] अतः उनको 'अनागतवंस' की इतनी प्राचीनता मान्य नहीं है। चूंकि बुद्धघोष ने अपने उपर्युक्त शब्दों में केवल बुद्ध मैत्रेय के माता-पिता के नाम का ही उल्लेख किया है, अतः यह कोई इतना विशेषतापूर्ण सैद्धान्तिक या अन्य दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि बुद्धघोष जैसे आचार्य को 'अनागत-वंस' से इसका उद्धरण देने की आवश्यकता पड़ती। यह तो बौद्ध परम्परा की एक अति सामान्य मान्यता थी जो 'अनागतवंस' के रचयिता के समान बुद्धघोष को भी मालूम हो सकती थी, फिर कालानुक्रम से कोई किसी का पूर्ववर्ती क्यों न रहा हो, शब्द-साम्य इस सम्बन्ध में अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। अतः हम बुद्धघोष के उपर्युक्त शब्दों को 'अनागतवंस' से उद्धरण मानने को बाध्य नहीं। 'गन्धवंस' में 'अनागतवंस' के रचयिता का नाम कस्सप (काश्यप) कहा गया है।[२] 'गन्धवंस' के वर्णन के अनुसार 'अनागतवंस' पर एक अट्ठकथा भी लिखी गई, जिसके लेखक उपतिस्स (उपतिष्य) नामक भिक्षु थे। चूंकि कस्सप और उप-तिस्स नाम के अनेक भिक्षु अनेक समयों में लंका और बरमा में हो गये हैं, अतः निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि कौन से कस्सप और उपतिस्स क्रमशः 'अनागतवंस' के रचयिता और अट्ठकथाकार हैं। ज्ञान की वर्तमान अवस्था में यही जानना पर्याप्त है कि डा० गायगर ने 'अनागतवंस' के रचयिता कस्सप और 'मोहविच्छेदनी' और 'विमतिच्छेदनी' नामक ग्रन्थों के रचयिता कस्सप को एक ही व्यक्ति माना है।[३]

तेलकटाहगाथा[४]

९८ गाथाओं में लिखी हुई एक परिष्कृत, प्रौढ़ और रमणीय काव्य-रचना है। 'तेलकटाहगाथा' का अर्थ है (खौलते हुए) तेल की कढ़ाई में लिखी हुई गाथाएँ

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२१, पद-संकेत १।

२. पृष्ठ ६१, ७२ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में प्रकाशित संस्करण)

३. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३६.

४. ई० आर० गुणरत्न द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८४ में रोमन

(पालि श्लोक) । ये गाथाएँ बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कल्याणिय नामक भिक्षु के द्वारा लिखी गई थीं । अनुश्रुति है कि कल्याणी (पेगू-बरमा) के राजा तिष्य (ई० पू० ३०६—ई० पू० २०७) ने उपर्युक्त भिक्षु को अपनी रानी के साथ किसी षड्यन्त्र में सम्मिलित होने के सन्देह में बन्दी बना लिया था और खौलते हुए तेल की कढ़ाई में डाल देने की आज्ञा दी थी ।[1] भिक्षु निरपराध थे, किन्तु यह असह्य दुःख उन्हें सहना ही पड़ा। खौलते हुए तेल की कढ़ाई में ही उनकी मृत्यु हो गई । किन्तु मृत्यु से पूर्व उन्होंने बुद्ध-शासन का चिन्तन किया और ९८ गाथाओं को गाया । ये गाथाएँ क्या हैं, संसार की अनित्यता, जीवन की असारता और वैराग्य की महत्ता पर गम्भीर प्रवचन हैं । उपर्युक्त अनुश्रुति में सत्यांश कितना है, यह कह सकना कठिन है । हाँ, स्वयं 'तेलकटाहगाथा' में इसका कोई उल्लेख नही है । किन्तु 'महावंस' में इस कथा का निर्देश मिलता है ।[2] बाद में 'रसवाहिनी' में भी इस कथा का सविस्तर वर्णन किया गया है ।[3] सिंहली ग्रन्थ 'सद्धम्मालंकार' में भी इस कथा का वर्णन मिलता है ।[4] सिंहली साहित्य में यह कथा इतनी प्रसिद्ध है कि इसकी सत्यता पर सन्देह करना कठिन हो जाता है । फिर भी 'तेलकटाहगाथा' की मार्मिक गाथाओं को पढ़ जाने के बाद और कहीं भी उनमें उपर्युक्त घटना का निर्देश न पाने पर यही लगने लगता है कि यहाँ भिक्षुकल्याणिय ने खौलते हुए तेल वाली किसी विशेष कढ़ाई से उत्तप्त होकर ही नहीं बल्कि इस 'महामोहमय' संसार रूपी उस खौलती हुई कढ़ाई से व्यथित होकर ही अपने

अक्षरों में सम्पादित। इस ग्रन्थ का मूल पालि-सहित हिन्दी-अनुवाद त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने किया है, जो सन् १९४८ में पुस्तकाकार रूप में महाबोधि सभा, सारनाथ से प्रकाशित हो चुका है।

१. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १६२ ।

२. २२।१२-१३ (गायगर का संस्करण)

३. २।५७ (सिंहली संस्करण)

४. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८४, पृष्ठ ४९; देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४६, पद-संकेत ४ भी ।

अन्तर्मन को इन गाथाओं में प्रवाहित किया है, जिसके विषय में महाभारतकार ने कहा है—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन,
मासर्तु दर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता।

'तेलकटाहगाथा' शतक-काव्य की शैली पर लिखी गई रचना है। अतः उसमें नैतिक ध्वनि प्रधान है। फिर भी काव्यमयता का उसमें अभाव नहीं है। वह एक सुन्दर रचना है जो बुद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तों को एक भावनामय भिक्षु की पूरी तन्मयता और मार्मिकता के साथ उपस्थित करती है। ९८ गाथाएँ ९ वर्गों या भागों में विभक्त है, जिनके नाम है, (१) रतनत्तय (तीन रत्न—बुद्ध, धर्म, संघ) (२) मरणानुस्सति (मरण की अनुस्मृति) (३) अनित्यलक्खण (अनित्यता का लक्षण) (४) दुक्खलक्खण (५) अनत्त लक्खण (अनात्म का लक्षण (६) असुभं लक्खण (७) दुच्चरित-आदीनवा (दुराचार के दुष्परिणाम (८) चतुरारक्षा (चार आरक्षाएँ) (९) पटिच्च समुप्पाद (प्रतीत्य समुत्पाद) इस विषय-सूची से यह देखा जा सकता है कि बुद्ध-धर्म के सभी महत्वपूर्ण विषय इन गाथाओं में आ गये है। किन्तु सब से बड़ी बात तो ग्रन्थकार की अपने विषय के साथ तल्लीनता है, जिसके दर्शन प्रत्येक गाथा में होते है। अनात्म-संज्ञा पर यह उक्ति देखिये—

पोसो यथा हि कदलीसु विनिब्भुजन्तो,
सारं तदप्पमपि नोपलभेय्य कामं।
खन्धेसु पञ्चसु छळायतनेसु तेसु,
सुञ्जसु किञ्चिदपि नोपलभेय्य सारं॥ गाथा ६०

(जिस प्रकार केले के तने को उधेड़ते हुए मनुष्य उसमें कुछ भी सार न पाये, उसी प्रकार इन शून्य पंचस्कन्धों और छः आयतनों में भी कुछ सार नहीं है)

प्रतिकूल-मनसिकार (गीता के शब्दों में 'दुःखदोषानुदर्शनं') पर,

गंडूपमे विविधरोगनिवासभूते,
काये सदा रुधिरमुत्तकरीसपुण्णे।

यो एत्थ नन्दति नरो ससिगालभक्खे,
कामं हि सोचति परत्थ स बालबुद्धि ।।गाथा ६९

(जो मूर्ख आदमी फोड़े के समान, विविध बीमारियों के घर, खून, पेशाब और पाखाना से भरे हुए, गीदड़ों के भक्ष्य, इस शरीर को देखकर आनन्दित होता है, वह अवश्य ही यहाँ से जाकर परलोक में दुःख पाता है)

उपर्युक्त गाथाएँ 'तेलकटाहगाथा' की काव्य-गत सुन्दरता का परिचय देने में अलं हैं। प्रथम बार पढ़ने पर ही उनमें भर्तृहरि के वैराग्य-सम्बन्धी पदो का सा निर्वेद प्रकाशित होने लगता है। भाषा और शैली की दृष्टि से इस तीसरी गाथा को देखिये—

सोपानमालं अमलं तिदसालयस्स
संसारसागरसमुत्तरणाय सेतुं।
सब्बागतीभय विवज्जितखेममग्गं,
धम्मं नमस्सथ सदा मुनिना पणीतं ।।

मुनि (बुद्ध) द्वारा प्रणीत उस धर्म की वन्दना करो, जो स्वर्ग की विमल सीढ़ी के समान है, जो संसाररूपी सागर को तरने के लिये पुल के समान है और जो सम्पूर्ण आपत्तियों और भयों से रहित एवं कल्याण का मार्ग है।

'सोपानमालं अमलं' एवं 'संसारसागरसमुत्तरणाय' जैसे पदों में अनुप्रास की छटा तो देखने ही योग्य है, 'सब्बागतीभयविवज्जितखेममग्गं धम्मं नमस्सथ सदा मुनिना पणीतं' तो बिलकुल संस्कृत श्लोक का अंश सा ही जान पड़ता है। संस्कृत का यह बढ़ता हुआ प्रभाव 'तेलकटाहगाथा' की आपेक्षिक अर्वाचीनता का सूचक है। विटरनित्ज ने कहा है कि यह ग्रन्थ बारहवीं शताब्दी ईसवी से पूर्व की रचना नहीं हो सकता।[1] कम से कम ई० पू० तीसरी शताब्दी की रचना तो 'तेल कटाहगाथा' मानी ही नहीं जा सकती। फिर भी भाषा और शैली का साक्ष्य

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२३; गायगर ने इस ग्रंथ का वास्तविक रचना-काल अज्ञात मानते हुए तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की रचनाओं में इसका उल्लेख किया है। देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४६

किसी भी अवस्था में इतना दृढ़ और अन्तिम नहीं हुआ करता कि उसके आधार पर हम किसी ग्रन्थ की तिथि असंदिग्ध रूप से निश्चित कर सकें। अतः विंटरनित्ज़ द्वारा निश्चित बारहवीं शताब्दी ईसवी भी 'तेलकटाहगाथा' की प्रामाणिक रचना-तिथि नहीं मानी जा सकती। विंटरनित्ज़ की स्थापना केवल अनुमान पर आश्रित है। जब तक कोई और महत्वपूर्ण बाह्य साक्ष्य न मिले, 'तेलकटाहगाथा' के रचयिता और रचना-काल का सुनिश्चित ज्ञान हमारे लिये अज्ञात ही रहेगा।

जिनालङ्कार[1]

पालि काव्य-साहित्य की उसी कोटि की रचना है जिस कोटि के संस्कृत में किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध जैसे महाकाव्य हैं। काव्य-चमत्कार की प्रवृत्ति यहाँ बहुत अधिक उपलक्षित होती है और शैली में भी पर्याप्त कृत्रिमता है। 'जिनालंकार' की रचना बारहवीं शताब्दी में बुद्धरक्षित (बुद्धरक्खित) नामक भिक्षु के द्वारा हुई। ग्रन्थ का विषय ज्ञान-प्राप्ति तक बुद्ध-जीवनी का वर्णन करना है। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने उसका रचना-काल बुद्ध-परिनिर्वाण से १७०० वर्ष बाद दिया है।[2] इसका अर्थ यह है कि इसकी रचना ११५६ ई० में हुई। यह तिथि विद्वानों को मान्य है। उत्तरकालीन संस्कृत काव्यों की शैली का इस ग्रन्थ पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। एक पद्य में सिर्फ 'न्' व्यंजन का ही प्रयोग किया गया है। यह प्रवृत्ति किरातार्जुनीय जैसे संस्कृत-काव्यों में भी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के चमत्कारमय प्रयत्न चाहे भाषा सम्बन्धी विद्वत्ता के परिणाम भले ही हों, किन्तु संस्कृत काव्य-विवेचकों ने उन्हें 'अधम काव्य' ही माना है। यही बात हम 'जिनालंकार की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २५० गाथाएँ हैं। ग्रन्थ की मुख्य विशेषता उसकी कृत्रिम शैली, पौराणिक अतिरंजनामयी वर्णन-प्रणाली

---

१. जेम्स ग्रे द्वारा अंग्रेजी अनुवाद सहित रोमन लिपि में सम्पादित (लन्दन १८९४)। सिंहली लिपि में इस ग्रन्थ का दीपंकर और धम्मपाल का उत्कृष्ट संस्करण (गैल्ले, १९००) उपलब्ध है।

२. पृष्ठ २७१ (ग्रे का संस्करण); देखिये गन्धवंस, पृष्ठ ७२ (मिनयेफ द्वारा सम्पादित); सद्धम्मसंगह ९।२१ (सद्धानन्द द्वारा सम्पादित)

एवं विद्वत्ता -प्रदर्शक प्रवृत्ति ही है। महायानी प्रभाव भी कहीं कहीं उपलक्षित है। बुद्धरक्षित ने अपने इस ग्रन्थ पर एक टीका भी लिखी थी। 'जिनालंकार' नाम का एक अन्य ग्रन्थ भी है, जिसकी रचना प्रसिद्ध अट्ठकथाकार बुद्धदत्त (चौथी शताब्दी ईसवी) ने की थी। प्रस्तुत 'जिनालंकार' से वह भिन्न है। 'गन्धवंस' के वर्णनानुसार बुद्धदत्त द्वारा लिखित 'जिनालंकार' पर बुद्धरक्षित ने एक टीका भी लिखी थी।[1] कुछ भी हो, हमें उपर्युक्त दोनों रचनाओं को मिलाने की गलती नहीं करनी चाहिये।

जिनचरित[2]

'जिनालंकार' के समान 'जिनचरित' का भी विषय बुद्ध-जीवनी का वर्णन करता है। 'जिनालंकार' में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सम्बोधि प्राप्ति तक बुद्ध-जीवनी का वर्णन किया गया है। किंतु 'जिनचरित' में भगवान् बुद्ध के उपदेश-कार्य का भी वर्णन किया गया है और उनके ४५ वर्षावासों का ब्यौरेवार वर्णन किया गया है। जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, 'जिनचरित' में कोई नवीनता नहीं है। बुद्ध-जीवन के विषय में उसने कोई नई बात हमें नहीं बताई है। उसके सारे वर्णन जातक-निदानकथा पर आधारित हैं। एक हद तक तो वह जातक निदान-कथा का छन्दोबद्ध संस्करण ही जान पड़ता है। चार्ल्स डुरोइसिल का यह कथन ठीक है कि जहाँ कवि इस अन्धानुकरण से बच सका है और उसने अपनी प्रेरणा से लिखा है, वहीं उसके काव्य में कुछ रसात्मकता भी आ सकी है।[3] यद्यपि काव्य-गुणों की दृष्टि से 'जिनचरित' की 'बुद्ध-चरित' से कोई तुलना नहीं की जा सकती, फिर भी यह कहना ठीक है कि पालि-साहित्य में 'जिन-चरित' का वही स्थान है जो बौद्ध संस्कृत साहित्य में 'बुद्धचरित' का। 'जिन-

१. पृष्ठ ६९, ७२ (मिनयेफ द्वारा सम्पादित, जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)

२. डबल्यू० एच० डी० राउस द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५ में अंग्रेजी अनुवाद-सहित सम्पादित। चार्ल्स डुरोइसिल द्वारा भी अंग्रेजी-अनुवाद सहित रोमन लिपि में सम्पादित, रंगून १९०६।

३. जिनचरित (चार्ल्स डुरोइसिल द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १-२ (भूमिका)

चरित' पर संस्कृत काव्यों का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। चार्ल्स डुरोयिसिल ने 'जिनचरित' पर अश्वघोष और कालिदास के प्रभाव की बात कही है। उन्होंने 'जिनचरित' और 'महाभारत' की कुछ पंक्तियों की भी तुलना की है।[1] यह सम्भव है कि 'जिनचरित' के रचयिता को संस्कृत काव्यों की जानकारी रही हो और उससे उन्होंने लाभ उठाया हो, किन्तु काव्य-शैली के लिए वे संस्कृत काव्यों के ऋणी नहीं कहे जा सकते। जहाँ तक 'जिनचरित' के स्रोतों का सवाल है, हमें संस्कृत काव्यों की ओर नहीं जाना चाहिए। जैसा डा० लाहा ने कहा है, जातक-साहित्य और सुत्त-निपात के नालक-सुत्त जैसे सुत्तों की गाथाएँ 'जिनचरित' के लिए सर्वोत्तम नमूने हो सकते थे।[2] इतना ही नहीं, कालिदास के पूर्ववर्ती अश्वघोष को भी इन सोतों से अपने काव्य-शैली के निर्धारण में पर्याप्त प्रेरणा मिली होगी, ऐसा हम मान सकते हैं। 'जिनचरित' के विषय और शैली के स्रोत मूलतः पालि साहित्य में हैं, संस्कृत साहित्य में नहीं।

'सद्धम्म संगह'[3] और 'गन्धवंस'[4] के वर्णनों के अनुसार 'जिनचरित' के रचयिता का नाम मेधंकर था। मेधंकर नाम के अनेक व्यक्ति सिंहल में हो चुके हैं।[5] प्रस्तुत मेधंकर 'वनरतन मेधंकर' के नाम से प्रसिद्ध थे। उपर्युक्त स्रोतों के अनुसार वनरतन मेधंकर लंकाधिप भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०–१२८८ ई०) के समकालीन थे। टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स[6] और विन्टरनित्ज़[7] ने उनके इसी काल को प्रामाणिक माना है। किन्तु गायगर का दूसरा मत है। 'गन्धवंस' में मेधंकर का उल्लेख

---

१. उदाहरणतः जिनचरित——कोयं सक्को नु खो ब्रह्मा मारो नागो ति आविना।
महाभारत——कोऽयं देवोऽथवा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति। (वन-पर्व)

२. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१५

३. सद्धम्मसंगह, पृष्ठ ६३ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)

४. गन्ध वंश, पृष्ठ ६२, ७२ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)

५. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १९०४-०५, पृष्ठ २; विक्रम सिंहःकेटेलॉग पृष्ठ २१, ३५, ११९

६. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ चार में डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स का 'नोट ऑन मेधंकर'

७. हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२४

वाचिस्सर, सुमंगल और धम्मकित्ति के बाद किया गया है। अतः गायगर न यह अनुमान लगाया है कि वे भी उपर्युक्त भिक्षुओं के समान सिंहली स्थविर सारिपुत्त के शिष्य थे। 'जिनचरित' के अन्तिम पद्यों में लेखक ने कहा है कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना राजा विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण में की। गायगर ने इससे अनुमान किया है कि यहाँ लेखक को लंका का राजा विजयबाहु तृतीय (१२२५ ई०-१२२९ ई०) अभिप्रेत था। उन्होंने आगे यह भी अनुमान किया है कि विजय-बाहु तृतीय मेधंकर का समकालीन था, क्योंकि उसी हालत में उसकी प्रशंसा का कुछ अर्थ हो सकता है। इतने अनुमानों के बाद गायगर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मेधंकर विजयबाहु तृतीय के समकालीन और भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य थे। उन्होंने मेधंकर और वाचिस्सर का एक ही समय माना है।[1] जहाँ इतने अनुमानों के लिए अवकाश है वहाँ हमें यह भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि डुरोइसिल ने उपर्युक्त विजयबाहु को विजयबाहु द्वितीय माना है जो सन् ११८६ ईसवी में गद्दी पर बैठा था और जो लंका के प्रसिद्ध राजा पराक्रमबाहु का उत्तराधिकारी था।[2] विजय-बाहु से तात्पर्य हम चाहे किसी विजयबाहु से लें, 'जिनचरित' के लेखक ने तो सिर्फ इतना कहा है कि विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण में उसने 'जिनचरित' की रचना की। अतः समकालीनता का आरोप इतना आवश्यक नहीं जान पड़ता। इसलिए 'गन्धवंस' और 'सद्धम्मसंगह' के वर्णन, जो मेधंकर को भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०—१२८८ ई०) के समकालीन बतलाने के पक्षपाती हैं, 'जिनचरित' के वर्णन के विरोधी नहीं कहे जा सकते। अतः मेधंकर को भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई० —१२८८ ई०) का ही समकालीन मानना अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है।

पज्जमधु[3]

१०४ गाथाओं में शतक ढंग की रचना है। बुद्ध-स्तुति इसका विषय है। प्रथम ६९ *गाथाओं में बुद्ध की सुन्दरता का वर्णन है, शेष में उनके ज्ञान की प्रशंसा है।* शैली कृत्रिम और काव्योचित रसात्मकता से रहित है। कम से कम अपने नाम *(पज्जमधु-पद्यमधु) को वह सार्थक नहीं करती। संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी*

---

१. पालिलेंग्वेज एंड लिटरेचर, पृष्ठ ४२।

२. जिनचरित (डुरोइसिल का संस्करण, रंगून १९०६) पृष्ठ ३ (भूमिका)

३. गुणरत्न द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८७ पृष्ठ १-१६ में सम्पादित; देवमित्त द्वारा भी सम्पादित, कोलम्बो १८८७।

उसका एक विशेष लक्षण है। 'पज्जमधु' बुद्धप्पिय (बुद्धिप्रिय) नामक स्थविर की रचना है, जो स्थविर वैदेह (वेदेह थेर) के समकालीन सिंहली भिक्षु थे। 'पज्जमधु' की १०३ वीं गाथा में कवि-भिक्षु ने अपना परिचय देते हुए अपने को आनन्द का शिष्य' बताया है।[१] आनन्द स्थविर वैदेह स्थविर के गुरु थे। अतः वैदेह स्थविर के साथ बुद्धप्पिय का समकालिक होना निश्चित है। इसलिए इनका काल भी वैदेह स्थविर के साथ तेरहवीं शताब्दी ही होना चाहिए, यह निश्चित है।[२] सम्भवतः यही 'बुद्धप्रिय' 'रूपसिद्धि' व्याकरण के रचयिता भी हैं। उस रचना के अन्त में उन्होंने अपना नाम बुद्धप्पिय 'दीपंकर' बताया है और अपने को आनन्द स्थविर का शिष्य कहा है। अतः दोनों का एक व्यक्ति होना असम्भव नहीं है।

सद्धम्मोपायन[३]

६२९ गाथाओं में सद्धम्म के उपाय अथवा बुद्ध-धर्म के नैतिक मार्ग का वर्णन है। विषय नवीन न होते हुए भी शैली में पर्याप्त ओज और मौलिकता है। ग्रन्थ को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है, (१) दुराचार के दुष्परिणाम (२) सदाचार की प्रशंसा या उसके सुपरिणाम। इसके साथ साथ बुद्ध-धर्म के प्रायः सभी मौलिक सिद्धान्तों का समावेश इस ग्रन्थ के अन्दर हो गया है, जिसे अत्यन्त प्रभावशाली और मननशील ढंग से कवि ने उपस्थित किया है। पाप-दुष्परिणाम, पुण्य-फल, दान-प्रशंसा, शील-प्रशंसा, अ-प्रमाद आदि के काव्यमय वर्णन काफी अच्छे हुए हैं। पद्यबद्ध होते हुए भी 'सद्धम्मोपायन' के विवेचन इस विषय-सम्बन्धी गद्य-ग्रन्थों से अच्छी तरह मिलाये जा सकते हैं। उनको काव्य-मय रूप देने में और साथ ही

---

१. आनन्दरञ्ञा रतनादिमहायतिन्दा निच्चप्पबुद्धं पदुमप्पिय सेवि नंगी। बुद्धप्पियेन घनबुद्धगुणप्पियेन थेरालिना रजितपज्जमधुं पिवन्तु ॥

२. मिलाइये गायगर: पालिलिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४४, ५१, विंटरनित्ज़: हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२३; गुणरत्न ने बुद्धप्रिय का काल सन् ११०० ई० के लगभग बताया है। देखिये जर्नल ऑव पालिटैक्स्ट सोसायटी, १८८७, पृष्ठ १।

३. ई० मॉरिस द्वारा जर्नल ऑव पालिटैक्स्ट सोसायटी, १८८७, पृष्ठ ३५-९८ में सम्पादित।

उनका विचारात्मक अंश अक्षुण्ण रखने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। ग्रन्थ के आदि में कवि ने अपना नाम ब्रह्मचारी सोमपिय बताया है 'नामतो बुद्धसोमस्स पियस ब्रह्मचारिनो'। इनके विषय में अधिक कुछ ज्ञान हमें नहीं है, किन्तु यह निश्चित है कि ये सिंहली भिक्षु थे ौर इनका काल भी बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के आसपास ही होना चाहिए।

पञ्चगतिदीपन[1]

११४ गाथाओं में उन पाँच गतियों या योनियों का वर्णन है जिन्हें प्राणी अपने भले या बुरे कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के कारण प्राप्त करते हैं, यथा नरक-योनि, पशु-योनि भूत-प्रेतादिकी योनि, मनुष्य-योनि और देव-योनि। वर्णन अत्यन्त सरल और स्वाभाविक एवं प्रसादगुणमय होते हुए भी यह रचना अत्यन्त साधारण कोटि की ही मानी जायगी। स्वर्ग-नरक के वर्णन काव्य के अच्छे विषय बनाये ही नहीं जा सकते, उनमें नैतिक तत्त्व चाहे जितना भी गहरा हो। वास्तव में बुद्ध ने भी स्वर्ग के प्रलोभन या नरक के भयके कारण अपने नातिवाद का उपदेश नहीं दिया था। उनके नैतिक आदर्शवाद की यही तो एक विशेषता थी। वहाँ विशुद्धि का मार्ग अपने आप मे एक आचरणीय वस्तु थी। ब्रह्मचर्य का क्या उद्देश्य होना चाहिए, इसे शास्ता ने अनेक बार स्पष्ट कर दिया था। किन्तु लोक-धर्म इसे कब सुनता है? वहाँ तो भय या पारितोषिक का प्रलोभन होना ही चाहिए। फलतः अशोक को ही हम अपनी जनता को स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से शुभ-कर्म करने के लिए प्रेरणा करते हुए देखते हैं। यह नितान्त स्वाभाविक भी है। बुद्ध-मन्तव्य इससे बहुत अधिक ऊँचा था। उसे लोक-धर्म की भूमि पर ला कर अर्थात् लोक-विश्वासों का उसमें समावेश कर, उसके नैतिक तत्त्व की व्याख्या का प्रारम्भ हम स्वयं सुत्त-पिटक के कुछ अंशों में ही देखते हैं। बाद में कुछ जातकों और पेतवत्थु जैसे ग्रन्थों में तो वह बहुत ही स्फुट हो गया है। महायान-परम्परा में जिस विस्तार के साथ स्वर्ग-नरक के वर्णन मिलते हैं, वह तो निश्चय ही एक आश्चर्य की वस्तु है। निश्चय ही इस प्रकार के बौद्ध-वर्णनों में चाहे वे स्थविरवादियों के हों, चाहे अन्य संप्रदायों के, पुराणों (वि-

---

१. लियोन फियर द्वारा जर्नल ऑव पालिटेक्स्ट सोसायटी, १८८४, पृष्ठ १५२-६१ में सम्पादित।

शेषतः ब्रह्माण्ड, मार्कंडेय, पद्मपुराण आदि) के इस विषयक वर्णनों से कुछ भी विशेषता नहीं है। किसी युग में जब मनुष्य अधिक विश्वास करने की क्षमता रखता हो इन सब का चाहे भले ही उपयोग रहा हो, किन्तु आज तो ये सभी मननशील व्यक्तियों के लिए विरतिकर हो चुके हैं, इसमें सन्देह नहीं। स्वभावतः 'पंचगतिदीपन' भी इसका अपवाद नहीं। प्रारंभ में ही कम से कम आठ प्रकार के नरकों का वर्णन किया गया है, यथा संजीव, काल-सूत्र (कालसुत्त) संघात, रौरव, (रोरुव) महा रौरव (महारोरुव) तप, महातप और अवीचि। इनकी यातनाओं का वर्णन तो निश्चय ही रोमांचकारी है। केवल महत्वपूर्ण भाग वह है जहाँ नाना-प्रकार के पाप-कर्मो के परिणाम-स्वरूप वहाँ जाना दिखलाया गया है। इसके अलावा इस ग्रन्थ में अन्य कुछ ज्ञातव्य नहीं है। तुलनात्मक पौराणिक तत्व के विद्यार्थी के लिए 'पंचगति-दीपन' में प्रभूत सामग्री मिल सकती है, इसमें सन्देह नहीं। इसके रचयिता या उसके काल के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है।

लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार[1]

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु 'पञ्चगतिदीपन' के समान ही है। 'शासनवंस' के वर्णनानुसार यह चौदहवी शताब्दी के बर्मी भिक्षु मेधंकर की रचना है, जिन्होंने अध्ययनार्थ सिहल मे प्रवास किया था[2]। पाँच प्रकार की योनियों का वर्णन करने के अतिरिक्त यहां आख्यानो के द्वारा उनमें निहित नैतिक उप-देशों को समझाया भी गया है। 'महावंस' से इस ग्रन्थ में काफी सामग्री ली गई है। अन्य कुछ काव्यगत विशेषता इस ग्रन्थ की नहीं है।

पालि आख्यानः रसवाहिनी[3]

उत्तरकालीन पालि-साहित्य में गद्य-पद्य मिश्रित कुछ आख्यानों की भी रचना

---

१. देखिये मेबिल बोडःपालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३५।

२. मेबिल बोडःपालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३५।

३. सिंहली लिपि में सरणतिस्स द्वारा दो भागों में सम्पादित, कोलम्बो १९०१ एवं १८९९; उसी लिपि में सिंहली व्याख्या सहित देवरक्खित द्वारा सम्पादित, कोलम्बो १९१७।

हुई । नैतिक ध्वनि की प्रधानता के अतिरिक्त इन सब की एक बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने जातक, अर्थकथाओं और कुछ अंश तक 'महावंश' आदि से पर्याप्त सामग्री ली है। पालि आख्यानों में 'रसवाहिनी' का नाम अधिक प्रसिद्ध है। मौलिक रूप में यह सिंहली भाषा की रचना थी। महाविहारवासी रट्ठपाल (राष्ट्रपाल) नामक स्थविर ने इसका प्रथम पालि रूपान्तर किया। बाद में प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु वैदेह स्थविर (वेदेह थेर) ने इसको शुद्ध कर इसे नवीन रूप प्रदान किया। अतः 'रसवाहिनी' का कर्तृत्व वैदेह स्थविर के नाम के साथ ही संबद्ध हो गया है। वैदेह स्थविर का काल निश्चित रूप से तेरहवीं शताब्दी ही माना जाता है[1], यद्यपि कुछ विद्वान् उसे चौदहवीं शताब्दी मानने के भी पक्षपाती हैं[2]। संभवतः तेरहवीं शताब्दी के अंतिम और चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वे जीवित थे। वैदेह स्थविर का जन्म विप्रग्राम (विप्पगाम) के एक ब्राह्मण-वंश में हुआ था। बाद में उन्होंने बौद्ध-धर्म में प्रविष्ट होकर प्रव्रज्या ले ली थी। उनके गुरु प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु आनन्द स्थविर थे, 'जो अरण्यायतन' (अरञ्ञायतन-अरण्यवासी) भी कहलाते थे। वैदेह स्थविर ने भी स्वयं अपने को 'वनवासी' संप्रदाय का अनुयायी बतलाया है[3]। इन्हीं की रचना 'समन्तकूटवण्णना'[4] नामक कविता भी है जिसमें बुद्ध के जीवन और विशेषतः उसके तीन बार लंका-गमन तथा उनके चरण (श्रीपद) चिन्ह द्वारा अंकित समन्त-कूट पर्वत का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ में ७९६ पालि वृत्त हैं। किन्तु इनकी अधिक प्रसिद्ध रचना 'रसवाहिनी' ही है। 'रसवाहिनी' १०३ आख्यानों का संग्रह है। इनमें प्रथम ४० के देश और परिस्थिति का चित्रण भारत (जम्बुद्वीप) में और शेष ६३ का लंका में किया गया है। कहानियाँ प्रायः गद्य में ही हैं, किन्तु बीच-बीच में कहीं कहीं गाथात्मक अंश का भी छिटका दिखाई देता है। भाषा की दृष्टि से यह उतनी सफल रचना नहीं

---

१. गायगर: पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४३ पद-संकेत २; विंटरनित्स: हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर-जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२४।

२. देखिये विमलाचरण लाहा: हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६२५

३. मललसेकर: दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २१०।

४. सिंहली अनुवाद सहित सिंहली लिपि में धम्मानन्द और ञाणिस्सर (ज्ञानेश्वर) द्वारा सम्पादित, कोलम्बो, १८९०।

कही जा सकती। किन्तु आख्यानात्मक कला के पर्याप्त दर्शन इस सुन्दर रचना में होते हैं। नैतिक उपदेश की प्रधानता होते हुए भी अनेक कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण हुई हैं। कृतज्ञ पशु और अकृतज्ञ मनुष्य की कहानी तो निश्चय ही विश्व-साहित्य की एक संपत्ति है। जातक, अपदान, पालि अटठकथाएँ और महावंश की पृष्ठभूमि में लिखा हुआ यह ग्रन्थ निश्चय ही भारतीय आख्यान-साहित्य का एक महत्वपूर्ण रत्न है। कुछ कहानियों के देशकाल को भारत और कुछ को लंका में रखकर, सिंहली और पालि दोनों भाषाओं में विरचित यह ग्रन्थ उक्त दोनों देशों की अभिन्न सांस्कृतिक और धार्मिक एकता को एक सुन्दर कलात्मक रूप में उपस्थित करता है। खेद है कि इस ग्रन्थ का अभी कोई नागरी-संस्करण या हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ। दोनों देशों के सांस्कृतिक संबंध और विशेषतः भारतीय साहित्य के सिंहली साहित्य पर प्रभाव के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का पारायण अत्यंत आवश्यक है। बुद्ध-पूजा का तत्व इस ग्रन्थ की कुछ कहानियों में ध्वनित होता है, जो इस संबधी महायानी प्रवृत्ति या भारतीय भक्तिवाद के प्रभाव का सूचक हो सकता है। 'रसवाहिनी' की एक 'रसवाहिनिगण्ठि' नामक पालि-टीका भी लिखी गई। सिंहली भाषा में इसका शब्दशः अनुवाद भी मिलता है। उस भाषा में इस विषय-संबंधी अन्य भी प्रभूत साहित्य है।

बुद्धालङ्कार

१५ वीं शताब्दी के आवा (बरमा)–निवासी शीलवंस (सीलवंस) नामक भिक्षु की रचना है[१]। यह पद्यबद्ध है। निदान-कथा की सुमेध-कथा पर यह आधारित है। अन्य कुछ ध्यान देने योग्य विशेषता इसमें नहीं है।

सहस्सवत्थुप्पकरण

इस ग्रन्थ में एक हजार कहानियों का संग्रह है। संभवतः 'रसवाहिनी' का यही आधार था[२]। कम से कम इन दोनों का संबंध तो स्पष्ट ही है। बरमा से ही इस ग्रन्थ का लंका में प्रचलन हुआ। किन्तु संभवतः यह मौलिक रूप में लंका में ही लिखा गया था। इस ग्रन्थ की 'सहस्सवत्थट्ठकथा' नामक

---

१. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४३

२. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १२९

एक टीका भी थी जिसका उल्लेख कई बार महावंश-टीका (ग्यारहवीं–तेरहवीं शताब्दियों के बीच रचित) में किया गया है।

राजाधिराजविलासिनी

१८ वीं शताब्दी के बरमी राजा बोदोपया (बुद्धप्रिय) की प्रार्थना पर लिखा गया एक गद्य-ग्रन्थ है। इसकी कहानियों का आधार प्रधानतः जातक ही है, यद्यपि अट्ठकथा तथा वंश-साहित्य से भी लेखक ने पर्याप्त सामग्री ली है। संस्कृत के व्याकरण और ज्योतिष शास्त्र से भी लेखक का पर्याप्त परिचय था, यह भी उसके विद्वत्तामय वर्णनों से विदित होता है[1]।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अल्प महत्व के भी ग्रन्थ कथा-साहित्य पर इस उत्तरकालीन युग में लिखे गये। इनकी प्रेरणा का मुख्य आधार जातक ही रहा, यह तो निश्चित ही है। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में आवा (बरमा) निवासी रट्ठसार ने कुछ जातकों का पद्यबद्ध अनुवाद किया[2]। तिपिटकालंकार ने १६ वीं शताब्दी में वेस्सन्तर जातक का पद्यबद्ध अनुवाद किया[3]। अठारहवीं शताब्दी में 'मालालंकारवत्थु' नामक बुद्ध-जीवनी भी किसी बरमी भिक्षु ने लिखी[4]। जातक-अट्ठकथा और वंश-साहित्य के बाद इस दिशा में मौलिक कुछ नहीं किया गया, यह हम इस सब कथा-साहित्य के पर्यवेक्षण स्वरूप कह सकते हैं।

पालि का व्याकरण-साहित्य:उसके तीन सम्प्रदाय

पालि-साहित्य के इतिहास में व्याकरण का विकास बहुत बाद में चलकर हुआ। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के समय तक अर्थात् पाँचवी शताब्दी ईसवी तक हमें किसी पालि व्याकरण या व्याकरणकार का पता नहीं चलता।

---

१. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ७८

२.-३. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४३-५३

४. इस ग्रन्थ का विशप बिगंडेट ने अंग्रेजी अनुवाद भी किया है। देखिये सेक्रेडबुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ११, पृष्ठ ३२ (भूमिका) में डा० रायस डेविड्स द्वारा प्रदत्त सूचना।

जहाँ तक ज्ञात हुआ है आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी व्याख्याओं में किसी प्राचीन पालि व्याकरण का आश्रयन लेकर पणिनीय अष्टाध्यायी का ही लिया है। 'विसुद्धि-मग्ग' में उनके द्वारा की हुई 'इन्द्रिय' शब्द की व्याख्या इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। 'विसुद्धि-मग्ग' के सोलहवें परिच्छेद 'इन्द्रियसच्च निद्देसो' (इन्द्रिय और सत्य का निर्देश) में आता है "को पन नेसं इन्द्रियट्ठो नामाति ? इन्द-लिंगट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्ददेसितट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्ददिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्द-सिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्दजुट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो"[1]। निश्चय ही यहां पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण का यह सूत्र प्रतिध्वनित है "इन्द्रियं इन्द्रलिंगं, इन्द्रदृष्टं, इन्द्रजुष्टं, इन्द्रदत्तम्, इतिवा" (५। २। ९३)। इसी प्रकार पाणिनीय सूत्र ३।३।१३१ सुत्तनिपात की अट्ठकथा[2] में प्रतिध्वनित हुआ है। दोनों निरुक्तियाँ आपस में शब्दशः इतनी मिलती है कि आचार्य बुद्धघोष ने पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लिया है, इस निष्कर्ष का प्रतिवाद नही किया जा सकता[3]। इसी प्रकार पाणिनि ने 'आपत्ति' शब्द का प्रयोग 'प्राप्ति' के अर्थ में किया है। आचार्य बुद्ध-घोष ने इस विषय में भी उनका अनुसरण कर इस शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग 'समन्तपासादिका' (विनय-पिटक की अट्ठकथा) में अनेक बार किया है[4]। यहां हमारा यह कहना है कि यह प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के प्रभाव-स्वरूप उतना नहीं भी माना जा सकता, क्योंकि पालि-त्रिपिटक के स्वयं 'स्रोत आपत्ति' शब्द में यह प्रयोग रक्खा हुआ है। यह संभव है कि पालि और संस्कृत

---

१. विसुद्धिमग्ग १६।४ (धर्मानन्द कोसम्बी द्वारा सम्पादित देव नागरी संस्करण)

२. जिल्दपहली, पृष्ठ २३ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण); इसी प्रकार विसुद्धिमग्ग ७।५८ (कोसम्बी जी का संस्करण) में "वण्णागमो वण्णविपरि-ययो" अक्षरशः 'काशिका' का उद्धरण है, जिसे बुद्धघोष ने प्राचीन संस्कृत-व्याकरण की परम्परा से लिया है।

३. इस मत की स्थापना बड़ी योग्यता के साथ डा० विमलाचरण लाहा ने की है। देखिये उनका 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष', पृष्ठ १०४-१०५; हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३२-३३; मिलाइये जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०६-०७, पृष्ठ १७२-७३।

४. 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष', पृष्ठ १०५; हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३३।

का विकास समकालिक होने के कारण पाणिनीय व्याकरण में कुछ ऐसे प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हों जो उस समय की साहित्यिक भाषा (संस्कृत) और लोक भाषा (पालि) में समान रूप से प्रतिष्ठित हों। अतः बुद्धघोष ने ऐसे प्रयोगों को पाणिनीय व्याकरण से न लेकर संभावतः पालि-त्रिपिटक से ही लिया होगा, ऐसा मानना भी अधिक समीचीन जान पड़ता है[1]। यहां तक भी कहा जा सकता है कि उनकी अनेक निरुक्तियां भी त्रिपिटक और विशेषतः अभिधम्म-पिटक के एतत्संबंधी विशाल भांडार पर ही आश्रित हैं। यद्यपि बुद्धघोष सेपहले पारिभाषिक अर्थों में पालि में व्याकरण या निरुक्ति-शास्त्र (पालि-निरुत्ति---पालि त्रिपिटक के शब्दों की व्याकरण-सम्मत व्याख्या) न भी रहा हो, किन्तु त्रिपिटक के शब्दों की व्याख्या (वेय्याकरण) के लिए कुछ नियम तो अवश्य ही रहे होंगे। सुत्त-पिटक के प्राचीनतम अंशों में भी 'ब्राह्मण' 'श्रमण' 'भिक्षु' 'तथागत' आदि शब्दों की जो निरुक्तियां और व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ किये गये हैं उनसे यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। धम्मपद में महाप्राज्ञ भिक्षु के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह 'निरुक्ति और पदों का ज्ञाता' हो और 'अक्षरों के सन्निपात' अर्थात् शब्द-योजना से परिचित हो[2]। इससे भी यही प्रकट होता है कि शब्दों की निरुक्ति और व्याकरण संबंधी साधारण नियमों की कोई परम्परा पालि-साहित्य के प्राचीनतम युग मे भी रही अवश्य होगी। संभवतः इसी परम्परा का प्रवर्तन हमें नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस में मिलता है। फिर भी बौद्ध अनुश्रुति का यह सामान्य विश्वास कि भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य महाकच्चान (महा-कात्यायन) ने भी एक पालि व्याकरण की रचना की थी, तत्संबंधी साहित्य के अभाव में ठीक नही माना जा सकता। इसी प्रकार बोधिसत्त और सब्ब-गुणाकार नामक दो प्राचीन व्याकरण भी, जिनका नाम बौद्ध परम्परा में सुना जाता है, आज उपलब्ध नही हैं। आज जो व्याकरण-साहित्य पालि का हमें उप-

---

१. यह इससे भी प्रकट होता है कि बुद्धघोष ने शब्द-निरुक्ति करने वाले त्रिपिटक के अंशों, विशेषतः अभिधम्म-पिटक, को 'वेय्याकरण' कहा है। देखिये "सकलं अभिधम्म-पिटकंतं वेय्याकरणं ति वेदितब्बं" सुमंगलविलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ २४ (पालि टैक्सट्स सोसायटी का संस्करण)

२. धम्मपद २४।१९

लब्ध है, तीन शाखाओं या संप्रदायों में विभक्त है (१) कच्चान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य (२) मोग्गल्लान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य (३) अग्गवंसकृत सद्दनीति और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य । लंका और बरमा में ही इस प्रभूत पालि व्याकरण-संबंधी साहित्य का प्रणयन सातवीं शताब्दी के बाद से हुआ है । अब हम उपर्युक्त तीनों संप्रदायों की परम्परा का अलग अलग विवेचन करेंगे ।

कच्चान-व्याकरण[1] और उसका उपकारी साहित्य

'कच्चान-व्याकरण' (या कच्चायन-व्याकरण-कात्यायन---व्याकरण) पालि साहित्य का प्राचीनतम व्याकरण है । इसका दूसरा नाम 'कच्चायन'गन्ध' (कात्यायन-ग्रन्थ)भी है। इस व्याकरण के रचयिता का बुद्ध के प्रधान शिष्य महा कच्चान (महाकात्यायन) से कोई सम्बन्ध नही, इसे बौद्ध विद्वान् भी स्वीकार करते हैं ।[2] इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण के वार्तिककार कात्यायन (तृतीय शताब्दी ईसवी) से भी ये भिन्न हैं, ऐसा भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है । नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस के रचयिता कच्चान से भी व्याकरणकार कच्चान भिन्न हैं। व्याकरणकार कच्चान यदि बुद्धघोष के पूर्वगामी होते तो यह असम्भव था कि कच्चान-व्याकरण जैसे प्रामाणिक पालि-व्याकरण का वे अपनी व्याख्याओं में कहीं भी उद्धरण नहीं देते । इस निषेधात्मक साक्ष्य के अलावा अन्य स्पष्ट साक्ष्य भी कच्चान-व्याकरण के बुद्धघोष के काल से उत्तरकालीन होने के दिये जा सकते हैं । कच्चान ने अपने व्याकरण में सर्ववर्मा के कातन्त्र व्याकरण का अनुगमन किया है । उन्होंने स्पष्टतापूर्वक पाणिनि व्याकरण का उसकी काशिका-वृत्ति के साथ अनुसरण किया है । काशिका-वृत्ति की रचना का समय सातवी शताब्दी है । अतः यह निश्चित है कि कच्चान-व्याकरण भी सातवी शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता। स्वयं कच्चान-व्याकरण में ही उसके संस्कृत सम्बन्धी ऋण को स्वीकार किया गया है । इस प्रकार सूत्र १।१।८ में कहा गया है 'परसमञ्ञापयोगे'। इसकी व्याख्या करते हुए उसकी वृत्ति (वुत्ति) में कहा गया है 'याच पन सक्कतगन्धेसु समञ्ञा. . . .आदि' । इन 'संस्कृत ग्रंथों '(सक्कत गन्धेसु) जैसा हम अभी

---

१. डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित, कलकत्ता १८९१; डा० मेसन ने भी इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है।

२. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ६ (भूमिका)

कह चुके हैं कातन्त्र-व्याकरण और काशिका वृत्ति (सातवीं शताब्दी) प्रधान है। अतः कच्चान व्याकरण का काल सातवीं शताब्दी के बाद का ही है। कच्चान-व्याकरण में ६७५ सूत्र हैं। इस व्याकरण के अलावा कच्चान 'महानिरुत्ति गन्ध' (महा-निरुक्ति ग्रन्थ) और 'चुल्ल निरुत्ति गन्ध (संक्षिप्त निरुक्ति-ग्रन्थ) नामक दो व्याकरण-ग्रन्थों के भी ये रचयिता बताये जाते हैं।[1] कच्चान-व्याकरण का सहायक साहित्य काल-क्रमानुसार इस प्रकार है (१) कच्चान-व्याकरण का सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण भाष्य 'न्यास' है। इसी का दूसरा नाम 'मुखमत्तदीपनी'[2] भी है। यह आचार्य विमलबुद्धि की रचना है, जिनका काल ग्यारहवीं शताब्दी से पहले और कच्चान-व्याकरण की रचना (सातवीं शताब्दी) के बाद था। (२) 'न्यास' की टीका-स्वरूप 'न्यास-प्रदीप' बारहवी शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखा गया। इसके रचयिता 'छपद' नामक आचार्य थे। यह बरमी भिक्षु थे, किन्तु इनकी शिक्षा लंका में हुई थी। यह सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे। 'न्यास' पर अन्य साहित्य भी उत्तर कालीन शताब्दियों में बहुत लिखा जाता रहा[3]। छपद ने कच्चान-व्याकरण साहित्य को एक ग्रन्थ और भी दिया। (३) सुत्त-निद्देस—छपद-कृत कच्चान-व्याकरण की टीका-स्वरूप यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसका निश्चित रचना काल ११८१ ई० (बुद्धाब्द १७१५) है[4]। (४) स्थविर संघरक्खित (संघरक्षित) द्वारा रचित 'सम्बन्ध-चिन्ता'। यह ग्रन्थ कच्चान-व्याकरण के आधार पर पालि शब्द-योजना या शब्द-संबंध का विवेचन करता है। स्थविर संघरक्खित सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे, अतः निश्चित रूप से इनका काल १२वीं शताब्दी का अंतिम भाग ही है। इस प्रकार ये छपद के समकालिक

---

१. गन्धवंस, पृष्ठ ५९ (मिनयेफ द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी में सम्पादित) सुभूति ने इन ग्रन्थों को यमक की रचना बताया है। देखिये उनकी नाममाला, पृष्ठ २८ (भूमिका)

२. गन्धवंस, पृष्ठ ६०; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ९ (भूमिका)

३. सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में बर्मी भिक्षु दाठानाग द्वारा रचित 'निरुत्तसार-मंजूसा' नामक 'न्यास' की टीका प्रसिद्ध है। देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५५; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १० (भूमिका)

४. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १५; मेबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ १७

ही थे। इन्होंने विनय-साहित्य पर भी 'खुद्दक-सिक्खा' (क्षुद्रक-शिक्षा-रचयिता भिक्षु धर्मश्री-धम्मसिरि) के टीका स्वरूप 'खुद्दकसिक्खा-टीका' लिखी थी। 'संबंध-चिन्ता' पर एक टीका भी पाई जाती है, किन्तु उसके लेखक के नाम और काल का पता नहीं है। (५) स्थविर सद्धर्मश्री (सद्धम्मसिरि) विरचित 'सद्दत्थभेदचिंता' (शब्दार्थभेदचिन्ता)। यह ग्रन्थ बरमा में १२ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखा गया। इस पर भी एक अज्ञात लेखक की टीका मिलती है। (६) स्थविर बुद्धप्रिय दीपंकर विरचित 'रूप-सिद्धि' या 'पद-रूप-सिद्धि'। स्थविर बुद्धप्रिय दीपंकर ने इस ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय देते हुए अपने को सारिपुत्त (सिंहली भिक्षु) का शिष्य कहा था। 'पज्जमधु' के भी यही रचयिता है। इनका काल इस प्रकार तेरहवी शताब्दी का अंतिम भाग ही है। यह ग्रन्थ सात भागों में विभक्त है और कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ कच्चान-व्याकरण का ही रूपान्तर मात्र है। 'रूप-सिद्धि' पर भी एक टीका लिखी गई और सिंहली भाषा मे उसका रूपान्तर भी किया गया। (७) बालावतार-व्याकरण—यह व्याकरण विशेषतः बरमा और स्याम में बड़ा लोकप्रिय है। लंका में इसके कई संस्करण निकले हैं[1]। यह भी कच्चान व्याकरण के आधार पर ही लिखा गया है। यह ग्रन्थ 'धम्मकित्ति' (धर्मकीर्ति) की रचना मानी जाती है। यह धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) डा० गायगर के मतानुसार 'सद्धम्म संगह' के रचयिता 'धम्मकित्ति महासामि' (धर्मकीर्ति महास्वामी) ही हैं, जिनका जीवन-काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है[2]। गन्धवंस के वर्णनानुसार यह वाचिस्सर (वागीश्वर) की रचना है[3]। वाचिस्सर सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे। उनका जीवन-काल निश्चित रूप से बारहवी शताब्दी का उत्तर भाग और तेरहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग है। इस प्रकार उनकी रचना मानने पर 'बालावतार' का रचना-काल भी

---

१. विशेषतः श्री धर्माराम द्वारा सम्पादित, पलियगोड, १९०२; बालावतार, टीका-सहित, सुमंगल महास्थविर द्वारा सम्पादित, कोलम्बो १८९३; देखिये सुभूति : नाममाला, पृष्ठ २४ (भूमिका)

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४५, ५१।

३. पृष्ठ ६२, ७१ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)

उसी समय का मानना पड़ेगा। 'बालावतार' व्याकरण पर लिखी हुई एक टीका भी मिलती है, किन्तु उसके लेखक का नाम और काल आदि सब अज्ञात हैं। (८) बरमी भिक्षु कण्टकखिपनागित या केवल नागित विरचित 'सद्दसारत्थजालिनी' नामक कच्चान व्याकरण की टीका १३५६ ई० (बुद्धाब्द १९००) में लिखी गई। (९) 'कच्चायन-भेद' नामक कच्चान-व्याकरण की टीका जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में स्थविर महायास ने की। इन्हीं स्थविर की एक और व्याकरण संबंधी रचना 'कच्चायन-सार' है।[१] 'गधवस' के वर्णनानुसार 'कच्चायन-भेद' और 'कच्चायन-सार' दोनों धम्मानन्द नामक भिक्षुकी रचनाएँ हैं[२]। 'कच्चायन-भेद' और 'कच्चायन-सार' पर टीकाएं भी लिखी गई। 'कच्चायन-भेद' की दो टीकाएँ अति प्रसिद्ध है, (१) सारत्थविकासिनी' जिसकी रचना १६०८ ई० (बुद्धाब्द २१५२) के लगभग 'अरियालंकार' नामक बरमी भिक्षु ने की, (२) कच्चायनभेद-महाटीका, जिसके रचयिता उत्तम सिक्ख (उत्तम शिक्ष) माने जाते है, जिनके काल का कुछ निश्चित पता नही है। 'कच्चायन-सार' पर स्वयं इसके रचयिता महायास ने एक टीका लिखी थी। गायगर के मतानुसार यह 'कच्चायनसार-पुराणटीका' थी[3] जो आज उपलब्ध है। सिंहली विद्वान् सुभूति ने इसे किसी अज्ञात लेखक की रचना माना है।[४] 'कच्चायन-सार' की एक और टीका 'कच्चायनसार-अभिनवटीका' या 'सम्मोहविनासिनी' बर्मी भिक्षु सद्धम्मविलास के द्वारा लिखी गई। (१०) पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में कच्चान-व्याकरण पर 'सद्दबिन्दु' (शब्द-बिन्दु) नामक उपकारी ग्रन्थ बरमा में लिखा गया। 'सासनवंस' के वर्णनानुसार अरिमद्दन (अरिमर्दन—बरमा) का राजा क्यच्वा इसका रचयिता था[५]। सुभूति ने इस ग्रन्थ का निश्चित रचना-काल १४८१ ई० (बुद्धाब्द २०२५)

---

१. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ८३; मेबिल बोड : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर इन बरमा, पृष्ठ ३६।

२. पृष्ठ ७४ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)

३. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५२।

४. नाममाला, पृष्ठ ८४-८५ (भूमिका)

५. पृष्ठ ७६ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का मेबिल बोड द्वारा सम्पादित संस्करण)

बताया है[1] । 'सद्दबिन्दु' पर 'लीनत्थसूदनी' नामक टीका ञाणविलास (ज्ञान-विलास) नामक भिक्षु द्वारा १६ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखी गई। (११) सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में 'बालप्पबोधन' (बालप्रबोधन) नामक व्याकरण लिखा गया। इसके रचयिता का ठीक नाम पता नहीं है। (१२) 'अभिनवचुल्लनिरुत्ति' नामक व्याकरण में, जिसके रचयिता या रचना-काल के विषय मे कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कच्चान व्याकरण के नियमों के अपवादों का विवरण है । (१३) सत्रहवीं शताब्दी के आदि भाग में बरमी भिक्षु महाविजितावी ने 'कच्चायनवण्णना' नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की । कच्चान-व्याकरण के सन्धिकप्प (सन्धि-कल्प) का यह विवेचन है । 'कच्चान-वण्णना' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ भी है, जिससे इस अर्वाचीन रचना को भिन्न ही समझना चाहिए[2] । महाविजितावी ने 'वाचकोपदेस' नामक एक और व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की है जिसमें उन्होंने व्याकरण-शास्त्र का नैय्यायिक दृष्टि से विवेचन किया है । (१४) धातुमंजूसा—कच्चान-व्याकरण के अनुसार धातुओं की सूची इस ग्रन्थ में संगृहीत की गई है । इस ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपना नाम स्थविर सीलवंस (शीलवंश) बताया है । यह एक पद्य-बद्ध रचना है । सुभूति ने कहा है कि वोपदेव के कवि-कल्पद्रुम से इस ग्रन्थ में काफी सहायता ली गई है[3] । फ्रैंक ने पाणिनीय धातुपाठ का भी इस ग्रन्त पर पर्याप्त प्रभाव दिखाया है ।[4]

मोग्गल्लान-व्याकरण और उसका उपकार साहित्य

कच्चान-व्याकरण के समान मोग्गल्लान या मोग्गल्लायन[5] व्याकरण पर भी प्रभूत सहायक साहित्य की रचना हुई है । सर्व-प्रथम 'मोग्गल्लान-

---

१. नाममाला, पृष्ठ ९१-९२ (भूमिका)
२. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ २३ (भूमिका)
३. देखिये नाममाला, पृष्ठ ९५ ।
४. देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५६ ।
५. पालि-व्याकरण की दृष्टि से कच्चान और कच्चायन, मोग्गल्लान और मोग्गल्लायन, इन शब्दों के ये दोनों रूप ही शुद्ध हैं।

व्याकरण' को ही लेते हैं। इस व्याकरण का लंका और बरमा में बड़ा आदर है। पालि-व्याकरणों में निश्चय ही इसका एक ऊंचा स्थान है। कच्चान-व्याकरण के समान प्राचीन न होने पर भी यह उससे अधिक पूर्ण है और भाषा-उपादानों को इसने अधिक विस्तृत रूप से संकलित और व्यवस्थित किया है। जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है "पालि व्याकरणों में 'मोग्गल्लान-व्याकरण' पूर्णता तथा गंभीरता में श्रेष्ठ है"[१]। मोग्गल्लान-व्याकरण में ८१७ सूत्र हैं, जिनमें सूत्र-पाठ, धातु-पाठ, गण-पाठ, ण्वादि-पाठ आदि सभी व्याकरण के विषयों का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है। मोग्गल्लान-व्याकरण की विषय वस्तु को समझने के लिए भिक्षु जगदीश काश्यप कृत 'महापालि व्याकरण' द्रष्टव्य है। यह स्वयं हिन्दी में पालि-व्याकरण पर प्रथम और अपनी श्रेणी की उच्चकोटि की रचना है, एवं मोग्गल्लान-व्याकरण पर आधारित है। मोग्गल्लान-व्याकरण का दूसरा नाम 'मागधसद्दलक्खण' भी है। ग्रन्थ के आदि में ही व्याकरणकार ने कहा है "सिद्धमिद्धगुणं साधु नमस्सित्वा तथागतं। सधम्मसंघं भासिस्सं मागधं सद्दलक्खणं ॥" पाणिनि, कातंत्र-व्याकरण और प्राचीन पालि-व्याकरणों का आधार लेने के अतिरिक्त मोग्गल्लान-व्याकरण पर चन्द्रगोमिन् के व्याकरण का भी पर्याप्त प्रभाव उपलक्षित होता है। मोग्गल्लान-व्याकरण लिखने के अतिरिक्त मोग्गल्लान महाथेर ने उसकी 'वृत्ति' (वुत्ति) भी लिखी और फिर उस वृत्ति पर 'पञ्चिका' नामक पांडित्यपूर्ण टीका भी। 'मोग्गल्लान-पञ्चिका' अभी तक अनुपलब्ध थी। किन्तु जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने हमें सूचना दी है "परमपूज्य विद्वद्वर श्री धर्मानन्द नायक महास्थविर को ताल-पत्र पर लिखी 'पञ्चिका' की एक पुरानी पुस्तक लंका के किसी विहार में मिल गई। उन्होंने उसे संपादित कर विद्यालंकार परिवेण, लंका से प्रकाशित करवाया है।"[२] निश्चय ही मोग्गल्लान-व्याकरण और मोग्गल्लान-पञ्चिका पालि-व्याकरण का शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए आज भी बड़े आवश्यक ग्रन्थ हैं। मोग्गल्लान-व्याकरण की वृत्ति (वुत्ति) के अन्त में व्याकरणकार ने अपना परिचय दिया है, जिससे हमें मालूम होता है कि मोग्गल्लानमहाथेर अनुराधपुर (लंका) के थूपाराम

---

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)

२. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ इक्यावन (वस्तुकथा)

नामक विहार में निवास करते थे और उन्होंने अपने व्याकरण की रचना परक्कमभुज (पराक्रमबाहु) के शासन-काल में की थी। विद्वानों का अनुमान है कि इन परक्कमभुज से तात्पर्य पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) से है, जिनके शासन-काल में लंका में पालि-साहित्य की बड़ी समृद्धि हुई। अतः मोग्गल्लान महाथेर का काल बारहवीं शताब्दी का अंतिम भाग ही मानना चाहिए[१]। मोग्गल्लान-व्याकरण के आधार पर बाद में चलकर अन्य व्याकरण-साहित्य की रचना हुई, जिसके अन्तर्गत मुख्य ग्रन्थ ये हैं। (१) 'पद-साधन' जिसकी रचना मोग्गल्लान के शिष्य पियदस्सी ने की। पियदस्सी मोग्गल्लान के समकालिक ही थे। 'पद-साधन' एक प्रकार से मोग्गल्लान व्याकरण का ही संक्षिप्त रूप है। प्रसिद्ध सिंहली विद्वान् के ज़ॉयसा का कथन है कि पियदस्सी के 'पद-साधन' का मोग्गल्लान-व्याकरण के साथ वही संबंध है जो बालावतार का कच्चान-व्याकरण के साथ[२]। १४७२ ई० में तित्थगाम (लंका) निवासी स्थविर श्री राहुल ने, जिनकी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर थी) 'पद-साधन' पर 'पद-साधन-टीका' या बुद्धिप्पसादिनी' नामकी टीका लिखी। (२) वनरतन मेधंकर-विरचित 'पयोग-सिद्धि' (प्रयोग-सिद्धि)। मोग्गल्लान व्याकरण-संप्रदाय पर लिखा गया यह संभवतः सर्वोत्तम ग्रन्थ है। डे ज़ॉयसा ने मोग्गल्लान-व्याकरण के साथ इसका वही संबंध दिखाया है जो 'रूपसिद्धि' का 'कच्चान-व्याकरण' के साथ[3]। वनरतन मेधंकर पराक्रमबाहु के पुत्र भुवनेकबाहु तृतीय के समकालिक थे। अतः उनका जीवन-काल १३०० ईसवी के लगभग है[४]। हाँ, यहाँ यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि व्याकरणकार मेधंकर इसी नाम के जिनचरित के रचयिता और लोकप्पदीपसार के कवि, इन दोनों व्यक्तियों से भिन्न हैं। (३) मोग्गल्लान-पञ्चिकापदीप'––'मोग्गल्लान-पञ्चिका' की व्याख्या है। 'पदसाधन-टीका' के लेखक स्थविर राहुल 'वाचिस्सर' ही 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-पदीप' के लेखक हैं। 'गन्ध-

---

१. मोग्गल्लान-व्याकरण का देवमित्त द्वारा सम्पादित सिंहली संस्करण, कोलम्बो, १८९०, प्रसिद्ध है। अन्य भी बरमी और सिंहली संस्करण उपलब्ध हैं।

२. केटेलाग, पृष्ठ २५।

३. केटेलाग, पृष्ठ २६।

४. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५४।

वंस'[1] के वर्णनानुसार 'वाचिस्सर' ने 'मोग्गल्लान-व्याकरण' पर एक टीका लिखी थी। डा० गायगर ने इन 'वाचिस्सर' को उसी नामके सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य (१२ वीं शताब्दी का उत्तर भाग) न मानकर 'मोग्गल्लान-पंचिकापदीप' के लेखक इन स्थविर राहुल को ही माना है, जिनकी भी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) थी[2]। डे ज़ॉयसा के मतानुसार 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-पदीप' व्याकरण-शास्त्र पर एक अत्यंत गंभीर और पांडित्यपूर्ण रचना है।[3] इसमें भाषा संबंधी बहुत मूल्यवान् सामग्री संकलित की गई है। अनेक प्राचीन संस्कृत और पालि-व्याकरणों के भी उद्धरण दिये गये हैं। इसकी रचना-तिथि १४५७ ई० है[4]। जैसा पहले कहा जा चुका है, आचार्य श्री धम्माराम नायक महाथेर ने १८९६ ई० में सिंहली लिपि में इस ग्रन्थ का सम्पादन किया, जो विद्यालंकार परिवेण, लंका, से उसी साल प्रकाशित भी हुआ। (४) धातुपाठ[5]—मोग्गल्लान-व्याकरण के अनुसार धातुओं की सूची है। कच्चान-व्याकरण की 'धातु-मंजूसा' की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक संक्षिप्त है। उसकी तरह पद्यबद्ध न होकर यह गद्य में है। संभवतः काल-क्रम में यह उससे प्राचीन है, क्योंकि 'धातु-मंजूसा' में इसी का आश्रय लिया गया है[6]। धातुपाठ के रचयिता के नाम या काल के विषय में अभी कुछ ज्ञात नहीं हो सका है।

सद्दनीति[7] और उसका उपकारी साहित्य

पालि-व्याकरण का तीसरा प्रमुख सम्प्रदाय 'सद्दनीति' का है। यह बरमा में रचित पालि व्याकरण है। बरमा में भी सिंहल की ही तरह पालि व्याकरण

---

१. पृष्ठ ६२, ७१।

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५३।

३. केटेलाग, पृष्ठ २४, मिलाइये सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ३४।

४. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५४।

५. देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ ३६७-४१२ (मोग्गल्लान-धातुपाठो)

६. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५६।

७. हेमर स्मिथ ने तीन भागों में इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है, देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५४, पद-संकेत ६; लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३६, पद-संकेत १।

के अध्ययन की महती परम्परा चली, जिसके पूर्ण विकास को हम 'सद्दनीति' में देखते हैं। कहा जाता है कि बरमा के व्याकरण-ज्ञान की प्रशंसा जब सिंहल में पहुँची तो वहाँ से कुछ भिक्षु बरमा में आये और सद्दनीति-व्याकरण को देख कर उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि निश्चय ही इसके समान विद्वत्तापूर्ण रचना उनके यहाँ कोई नहीं है।[1] इसकी रचना ११५४ ई० में हुई। इसके रचयिता बरमी भिक्षु अग्गवंस थे जो 'अग्गपंडित तृतीय' भी कहलाते थे। 'अग्ग पंडित द्वितीय' उनके चाचा थे, जो 'अग्ग पंडित प्रथम' के शिष्य थे। अग्गवंस बरमी राजा नरपतिसिथु (११६७-१२०२) के गुरु थे। अग्गवंस-कृत 'सद्दनीति' एक प्रकार से कच्चान-व्याकरण पर ही आधारित है।[2] मोग्गल्लान-व्याकरण तो सम्भवतः उसके बाद की ही रचना है। संस्कृत व्याकरणों का भी अग्गवंस ने पर्याप्त आश्रय लिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है कि पूर्व आचार्यों (आचरिया) और त्रिपिटक-साहित्य से आश्रय लेकर उन्होंने 'सद्दनीति' की रचना की है। निश्चय ही 'सद्दनीति' एक पांडित्यपूर्ण व्याकरण है। इस ग्रन्थ में सत्ताईस अध्याय हैं। प्रथम १८ अध्याय 'महा सद्दनीति' और शेष ९ अध्याय 'चूल सद्दनीति' कहलाते हैं। 'पद-माला' 'धातुमाला' और 'सुत्त-माला' इन ३ भागों में सम्पूर्ण सद्दनीति-व्याकरण विभक्त है।

'धात्वत्थ दीपनी' नाम की पद्यबद्ध धातु-सूची में सद्दनीति-व्याकरण के अनुसार धातुओं का संकलन किया गया है। कच्चान-व्याकरण की धातुसूची 'धातु-मंजूसा' और मोग्गल्लान-व्याकरण की धातुसूची 'धातुपाठ' के समान इसमें भी पाणिनीय धातुपाठ का पर्याप्त आधार लिया गया है। यह हिंगुलवल जिनरतन नामक बर्मी भिक्षु की रचना बताई जाती है, जिनके काल का ठीक पता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'सद्दनीति' पर और कोई विशेष साहित्य नहीं है। बरमा में यह ग्रन्थ आज भी शास्त्र की तरह पूजित है।

अन्य पालि-व्याकरण

उपर्युक्त तीन सम्प्रदायों के व्याकरण-साहित्य के अतिरिक्त अन्य भी बहुत व्याकरण-साहित्य उपलब्ध है, जो यद्यपि इनमें से किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में नहीं

---

१. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ १६।

२. यह फ्रैंक का मत है जिसे गायगर ने पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५५ में उद्धृत किया है।

रक्खा जा सकता, किन्तु जो पालि व्याकरण के पूर्ण शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह साहित्य भी परिमाण में इतना अधिक है कि इसकी पूरी सूची तो आचार्य सुभूतिकृत 'नाममाला' या डेज़ॉयसा के 'केटेलाग' में ही देखी जा सकती है। यहाँ हम केवल कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों का ही उल्लेख करेंगे।

(१) बरमी भिक्षु सामणेर धम्मदस्सी-कृत 'वच्चवाचक'। चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है। इसकी टीका १७६८ ई० में बरमी भिक्षु सद्धम्म-नन्दी ने की।[1]

(२) मंगलकृत 'गन्धट्ठि', जिसका विषय उपसर्गों का विवेचन करना है। यह चौदहवीं शताब्दी की रचना है।[2]

(३) अरियवंस-कृत 'गन्धाभरण'। यह भी उपसर्गों का विवेचनपरक ग्रन्थ है। इसकी रचना १८३६ ई० में हुई।[3]

(४) विभत्त्यत्थप्पकरण—२७ श्लोकों की यह पुस्तिका विभक्तियों के प्रयोगों का विवेचन करती है। सुभूति के मतानुसार इसकी रचना बरमी राजा क्यच्वा की पुत्री ने १४८१ ई० में की।[4] इस पर बाद में 'विभत्त्यत्थ-टीका' या 'विभत्त्यत्थदीपनी' के नाम से एक टीका लिखी गई। सम्भवतः ये दो अलग अलग टीकाएँ भी हों। एक और टीका 'विभत्तिकथावण्णना' के नाम से भी इस रचना पर लिखी गई।

(५) 'संवण्णनानयदीपना'—इस ग्रन्थ की रचना जम्बुधज (जम्बुध्वज) के द्वारा १६५१ ई० में की गई। इसी लेखक के दो अन्य ग्रन्थ 'निरुत्ति संगह' और 'सर्वज्ञन्यायदीपनी' भी प्रसिद्ध है।[5]

(६) सद्दवुत्ति (शब्दवृत्ति) जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के सद्धम्म-

---

१. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २२।
२. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २६।
३. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४३।
४. देखिये गायगर : पालि लिटरेचर ऐंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५७।
५. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५५।

गुरु नामक बरमी भिक्षु ने की[1]। डे ज़ॉयसा ने इस ग्रन्थ का रचना-काल १६५६ ई० माना है।[2]

(७) कारकपुप्फ मंजरी—पालि शब्द-योजना पर लिखित यह रचना कैंडी (लंका) के अंतरगमवंडार राजगुरु नामक लेखक की है। वहाँ के राजा कीर्ति श्री राजसिंह के शासन-काल (१७४७-८०) में यह रचना लिखी गई।[3]

(८) सुधीरमुखमंडन—यह रचना पालि-समास पर है।[4]
इसके भी लेखक 'कारकपुप्फमंजरी' के समान ही है।

(९) नयलक्खणविभावनी—बरमी भिक्षु विचित्ताचार (विचित्राचार) ने १८वीं शताब्दी के उत्तर भाग में इस ग्रन्थ की रचना की।[5]

(१०-१२) सद्दबिन्दु (नारदथेर), सद्दकलिका, सद्दविनिच्छय आदि अनेक ग्रन्थ पालि-व्याकरण पर लिखे गये हैं, जिनका पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता।

लंका और बरमा में छठी या सातवीं शताब्दी से लेकर ठीक उन्नीसवीं शताब्दी तक पालि-व्याकरण सम्बन्धी जो गहरी तत्परता और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न महान् ग्रन्थ-राशि हम देखते हैं, जिसका किंचित् दिग्दर्शन ऊपर किया जा सका है, उसका वास्तविक महत्त्वांकन क्या है? निश्चय ही पालि-व्याकरण का अध्ययन इन देशों में उस समय किया गया जब पालि जीवित भाषा नहीं रही थी। अतः पिटक और अनुपिटक साहित्य एवं संस्कृत-व्याकरण, यही इनके प्रधान आधार रहे। स्वभावतः ही उनमें वह भाषावैज्ञानिक तत्त्व नहीं मिल सकता, जो आधुनिक भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को तृप्त कर सके। किन्तु 'न्यास', 'रूप-काश्यप सिद्धि', 'सद्दनीति' और 'बालावतार' जैसे व्याकरण पांडित्य की दृष्टि से किसी भी साहित्य के व्याकरणों से टक्कर ले सकते हैं। निश्चिय ही जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है, मोग्गल्लान की गिनती पाणिनि, चान्द्र, कात्यायन आदि महान्

---

१. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २९।
२. केटेलाग, पृष्ठ २७।
३. ज़ॉयसा : केटेलाग, पृष्ठ २४।
४. ज़ॉयसा : केटेलाग, पृष्ठ २८।
५. ज़ॉयसा : केटेलाग, पृष्ठ २५; देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५८ भी।

वैय्याकरणों में करनी होगी ।[1] भारतीय मूल स्रोत से इतने अलग रह कर भी इन बरमी और सिंहली आचार्यों ने संस्कृत के समकालिक पालि-भाषा का कितना सुन्दर और मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है, इसे देख. कर आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है । सांस्कृतिक एकता की इससे अधिक गहरी बुनियाद कभी डाली गई हो, इसका इतिहास साक्ष्य नहीं देता । यह एकता राजाओं के दरबारों में न डाली जाकर भिक्षु-परिवेणों में डाली गई । इसीलिये वह इतनी स्थायी भी हुई है । एक ही ग्रन्थ (मोग्गल्लानपञ्चिका-पदीप) का अंशतः पालि और अंशतः सिंहली में लिखा जाना, भारत और सिंहल के उस गौरवमय सम्बन्ध का सूचक है, जिसकी नींव बौद्ध धर्म ने डाली थी और जिसे उसके साहित्य ने दृढ़ किया है । भारत और स्वयं मध्य-मंडल (शास्ता की विचरण-भूमि !) में ही पालि-अध्ययन के प्रति गहरी उदासीनता को देख कर इन दूरस्थित बौद्ध बन्धुओं के प्रति श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है ।[2] कारण, इन्होंने ही धम्म की ज्योति को प्रकाशित रक्खा है, इन्होंने ही ज्ञान के दीपक को हम तक पहुँचाया है । उनका पालि-व्याकरण'-सम्बन्धी प्रभूत कार्य तो इसका एक बाह्य साक्ष्य मात्र है ।

पालि कोश : अभिधानप्पदीपिका एवं एकक्खर कोस

पालि-साहित्य में केवल दो प्रसिद्ध कोश हैं, मोग्गल्लान-कृत 'अभिधानप्प-दीपिका'[3] और बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति)-कृत 'एकक्खर-

---

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)

२. वस्तुतः हमसे अधिक पालि-भाषा और उसके व्याकरण का अध्ययन तो उन पाश्चात्य विद्वानों ने ही किया है जो बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए हैं । उनके इस संबंधी कार्य और उनकी व्याकरण-संबंधी रचनाओं के परिचय के लिए देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५९-६० ; लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३८-६४० ; लाहा ने पाश्चात्य विद्वानों के साथ साथ, भारतीय विद्वानों के भी इस संबंधी कार्य का विवरण दिया है । बाद का प्रकाशन होने के कारण, खेद है, 'पालि महाव्याकरण' (भिक्षु जगदीश काश्यप कृत) का उल्लेख यहां नहीं किया जा सका । पालि व्याकरण साहित्य पर भिक्षु जी की यह हिन्दी को महत्त्वपूर्ण देन है ।

३. सुभूति द्वारा सिंहली लिपि में संपादित, कोलम्बो १८८३ ; नागरी लिपि में

कोस' ।[1] 'अभिधानप्पदीपिका' (अभिधानप्रदीपिका) तीन भागों या कांडों में विभक्त है (१) सग्गकंड (स्वर्ग-कांड) जिसमें देवता, बुद्ध, शाक्यमुनि, देव-योनि, इन्द्र, निर्वाण आदि के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है। (२) भूकंड (भू-काण्ड) जिसमें पृथ्वी आदि सम्बन्धी शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है। (३) सामञ्ञा कण्ड (श्रामण्य-काण्ड) जिसमें प्रव्रज्या सम्बन्धी और सौन्दर्य, उत्तम जैसे शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है। वास्तव में यह कोश पर्यायवाची शब्दों का संकलन ही है। बरमा और सिंहल में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है। इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत के अमर-कोश के आधार पर हुई है,[2] इसे प्रायः सभी विद्वान् आज स्वीकार करते हैं। जैसा अभी कहा जा चुका है, अभिधानप्पदीपिका मोग्गल्लान थेर की रचना है। यह स्थविर लंकानिवासी भिक्षु थे। अभिधानप्पदीपिका में इन्होंने कहा है कि लंकाधिपति 'परक्कम-भुज नामक भूपाल' के शासन-काल में इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की।[3] वहीं इन्होंने अपना निवास-स्थान 'महाजेतवन' नामक विहार बनाया है[4] जो आज पोलोन्नरुवा नामक नगर में स्थित है। जिस 'परक्कमभुज नामक भूपाल' के शासन-काल में मोग्गल्लान स्थविर ने 'अभिधानप्पदीपिका' की रचना की वह विद्वानों के निश्चित मतानुसार पराक्रमबाहु प्रथम ही है, जिसका शासन-काल ११५३-११८६ है और जिसके समय में पालि के टीका-साहिय की अद्भुत समृद्धि हुई। अतः मोग्गल्लान थेर का भी यही समय है। 'अभिधानप्पदीपिका' के लेखक मोग्गल्लान थेर को उसी नाम के और प्रायः उसी

मुनि जिनविजय द्वारा संपादित, गुजरात पुरातत्व मन्दिर, अहमदाबाद सं० १९८० वि०।

१. मुनि जिनविजय द्वारा संपादित उपर्युक्त 'अभिधानप्पदीपिका' के संस्करण में ही 'एकक्खर कोस' भी सम्मिलित है, अभिधानप्पदीपिका पृष्ठ १५७-१७०।

२. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १८८-१८९।

३. परक्कमभुजो नाम भूपालो गुणभूसणो। लंकायमासि तेजस्सीजयी केसरि-विक्कमो। पृष्ठ १५६ (मुनि जिनविजय द्वारा संपादित नागरी-संस्करण)

४. महाजेतवनाख्यम्हि वहारे साधुसम्मते सरोगाम समूहम्हि वसता सन्तवुत्तिना॥ सद्धम्मट्ठितिकामेन मोग्गलानेन धीमता। थेरेन रचिता एसा अभिधान-प्पदीपिका॥ पृष्ठ १५६ (उपर्युक्त संस्करण)

समय के वैयाकरण मोग्गल्लान से भिन्न समझना चाहिये। वैयाकरण मोग्गल्लान, जैसा हम पहले देख चुके हैं, अनुराधपुर के थूपाराम नामक विहार में रहते थे, जब कि कोशकार मोग्गल्लान ने अपना निवास-स्थान पुलत्थिपुर या पोलोन्नरुवा का जेतवन-विहार बतलाया है। 'गन्धवंस' में कोशकार मोग्गल्लान को 'नव मोग्गल्लान' कहा गया है[1] और वह निश्चयतः वैयाकरण मोग्गल्लान से उनकी भिन्नता दिखाने के लिये ही। चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में 'अभिधानप्पदीपिका' पर एक टीका भी लिखी गई। 'एकक्खरकोस' बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति) की रचना है। १४६५ ई० में इस कोश की रचना की गई। यह कोश एकाक्षरात्मक शब्दों की पद्यबद्ध सूची है। संस्कृत भाषा के एकाक्षरी कोश का का यह पालि रूपान्तर मात्र ही कहा जा सकता है। इसके अन्त में आता है— इति सद्धम्मकित्ति नाम महाथेरेन सक्कतभासातो परिवत्तेत्वा विरचितं एकक्खरकोसं नाम सद्दप्पकरणं परिसमत्तं" (सद्धर्मकीर्ति नामक महास्थविर द्वारा संस्कृत भाषा से रूपान्तरित कर के विरचित 'एकाक्षरकोश' नामक शब्द-प्रकरण समाप्त)।

छन्दः शास्त्रः वुत्तोदय आदि

पालि में छन्दः शास्त्र पर 'वृत्तोदय' (वुत्तोदय) नामक एक मात्र प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'छन्दोविचित' 'कविसारपकरण' 'कविसार टीका निस्सय' नामक अल्प प्रसिद्धि के एक-आध ग्रन्थ और भी हैं। 'वुत्तोदय' की रचना, सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य, खुद्दक सिक्खा-टीका और कच्चान-व्याकरण पर 'सम्बन्ध-चिन्ता' के लेखक (जिनका निर्देश पहले हो चुका है) स्थविर संघरक्खित हैं, जिनका काल १२वीं शताब्दी का उत्तर भाग है। 'वुत्तोदय' पर 'वचनत्थजोतिका' नाम की एक टीका भी लिखी गई।

काव्य-शास्त्र—सुबोधालङ्कार

पालि काव्य-शास्त्र पर 'सुबोधालंकार' एक मात्र रचना है। इसके रचयिता उपर्युक्त स्थविर संघरक्खित ही हैं।

पालि का अभिलेख-साहित्य

पालि का सब से बड़ा गौरव बुद्ध-वचनों के बाद उसका अभिलेख-साहित्य

---

१. पृष्ठ ६२।

है। भारतीय साहित्य और इतिहास की ही नहीं, विश्व-संस्कृति के इतिहास की भी वह मूल्यवान् सम्पत्ति है। मात्रा में स्वाभाविक रूप से अल्प होते हुए भी यह साहित्य अपनी उदात्त और गम्भीर वाणी, स्वाभाविक और सरल शैली, एवं जीवन के गम्भीरतम पहलुओं और अनुभवों पर निष्ठित होने के कारण उसी महत्ता को लिये हुए है, जिसे हम उपनिषत्कालीन ऋषियों की वाणी, बुद्ध-वचनों, मध्यकालीन सन्तों के उद्‌गारों या आधुनिक काल में महात्मा गाँधी की सहज, आत्म-निःसृत वाणी से सम्बन्धित करते हैं। पालि का अभिलेख-साहित्य ई० पू० तीसरी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी तक मिलता है। अशोक के शिलालेख उसकी उपरली काल-सीमा और बरमा के राजा धम्मचेति के प्रसिद्ध कल्याणी-अभिलेख उसकी निचली काल-सीमा निश्चित करते हैं। इन काल-कोटियों से वेष्टित प्रसिद्ध पालि अभिलेख-साहित्य यह है, अशोक के शिलालेख, साँची और भारहुत के अभिलेख सारनाथ के कनिष्क कालीन अभिलेख, मौंगन (बरमा) के दो स्पर्णपत्र-लेख, बोबोगी पेगोडा (बरमा) के खंडित शिलालेख, प्रोम (बरमा) के बीस स्वर्णपत्र-लेख, पेगन के १४४२ ई० के अभिलेख, कल्याणी-अभिलेख। इनमें अशोक के शिलालेख सब के सिरमौर हैं और काल-क्रम में भी वे सर्व-प्रथम आते है।

अशोक के शिलालेख

अशोक के शिलालेख उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसूर तक और पूर्व में उड़ीसा से पच्छिम में काठियावाड़ तक पहाड़ी चट्टानों और पत्थर के विशाल स्तम्भों पर उत्कीर्ण मिलते हैं। इन शिलालेखों का प्रधानतः तीन दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। (१) इन शिलालेखों में अशोक ने अपने शब्दों में अपनी जीवनी का वर्णन किया है। जीवनी किसी स्थूल अर्थ में नहीं। अशोक ने यहाँ अपने आन्तरिक जीवन के परिवर्तन का, अहिंसा के अपने प्रयोगों का, जीवन के अपने गम्भीरतम अनुभवों का, सादी से सादी भाषा में, बड़ी स्पष्टता और सच्चाई के साथ, वर्णन किया है। (२) अशोक-कालीन इतिहास को जानने के लिये ये शिलालेख प्रकाशगृह हैं। पालि-साहित्य के अन्य वर्णनों की अपेक्षा इन शिलालेखों का साक्ष्य इतिहास-लेखकों को सदा अधिक मान्य रहा है। निश्चय ही ये शिलालेख स्वतः प्रमाण-सिद्ध हैं और इन्ही के आधार पर अशोककालीन इतिहास का निर्माण किया गया है। (३) अशोक के शिलालेखों से पालि भाषा के स्वरूप और उसके

साहित्य के विकास पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। हमारे प्रस्तुत अध्ययन के प्रसंग में उनका यह महत्व हमारे लिये सब से अधिक मूल्यवान् है। पहले हम अशोक के शिलालेखों का संक्षिप्त विवरण देंगे, फिर उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से उनके महत्त्व का विवेचन करेंगे।

उनका वर्गीकरण

काल-क्रम के अनुसार विंसेन्ट स्मिथ ने अशोक के शिलालेखों को निम्नलिखित आठ भागों में विभक्त किया है।[1]

(१) लघु शिलालेख—ये सात शिलालेख हैं, जो सहसराम, रूपनाथ, बैराट, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर और मास्की नामक स्थानों में मिले हैं। सहसराम विहार में है; रूपनाथ जबलपुर के समीप मध्य-प्रान्त में है, वैराट जयपुर रियासत में है; ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर और जतिंग रामेश्वर मैसूर रियासत में हैं, और मास्की हैदराबाद राज्य में है।

(२) भाब्रू शिलालेख-जयपुर रियासत में बैराट के पास मिला था।

(३) चतुर्दश शिलालेख (ई० पू० २५६ के लगभग)—ये लेख पहाड़ों की चट्टानों पर खुदे हुए इन स्थानों पर मिले हैं, शहबाजगढ़ी और मनसेहर (पेशावर जिले में), कालसी (देहरादून जिले में), गिरनार (काठियावाड़ मे), धौली (कटक के पास) और जौगढ़ (मद्रास-प्रान्त)

(४) दो कलिंग लेख (ई० पू० २५६)—कलिंग मे पत्थर की चट्टानों पर खुदे मिले हैं।

(५) तीन गुफा-लेख (ई० पू० २५७ और ई० पू० २५०)—गया के पास बाराबर नाम की पहाड़ी में मिले हैं।

(६) दो तराई स्तम्भ-लेख (ई० पू० २४९)—नैपाल की तराई में रुम्मनदेई और निग्लिवा नामक गाँवों के पास मिले हैं।

(७) सप्त स्तम्भ-लेख (ई० पू० २४३-२४२)—ये लेख स्तम्भों पर खुदे हुए इन छः स्थानों पर मिले है (१) मेरठ (२) अम्बाला के पास टोपरा। ये दोनों लेख दिल्ली में ले आये गये है। (३) प्रयाग (के किले का स्तम्भ-लेख)

---

१. ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ १०३-१०४।

(४) लौरिया अरराज, (५) लौरिया नन्दनगढ़ (६) रामपुरवा। अन्तिम तीन स्थान विहार के चम्पारन जिले में हैं।

(८) चार गौण स्तम्भ (ई० पू० २४२-ई० पू० २३२)—इनमें से दो लेख साँची और सारनाथ की लाटों पर खुदे हुए हैं और दो प्रयाग के स्तम्भ पर पीछे से जोड़ दिये गये हैं।

अशोक का व्यक्तित्व, उसका राजनीति-दर्शन और तत्कालीन भारत की परिस्थिति, इन लेखों से स्पष्टतः व्यंजित होते हैं। सब से पहले अशोक की बुद्ध-भक्ति है, जिसने अशोक को अशोक बनाया। अशोक का विश्व-इतिहास में जो कुछ भी स्थान है[१] या अपने राजनीति-दर्शन के रूप में अशोक जो कुछ भी विश्व को दे गया है, वह सब बुद्ध का एक छोटा सा दान है। उससे अधिक भी बहुतों ने पाया है, यद्यपि इतिहास में उनका नाम नही है। अशोक ने बुद्ध से जो कुछ पाया, उसे वह स्वयं भी ज्ञानपूर्वक समझता था। भीषण कलिंग-युद्ध के बाद उसके हृदय में जो ग्लानि पैदा हुई थी, उसका उसने अपने तेरहवें शिलालेख में मार्मिक वर्णन किया है। यह उसके लिये एक युगान्तकारी घटना थी। इसके बाद उसने निश्चय किया कि संसार में क्षेम, संयम, चित्त-शान्ति और प्रसन्नता की ही वृद्धि करूँगा, शान्ति, सद्भाव और अहिंसा का ही प्रचार करूँगा। यही सर्वोत्तम विजय होगी। रणभेरी को छोड़कर उसने धर्म-घोष से ही दिशाओ को गुजायमान करने का निश्चय किया। यही उसका 'प्रियदर्शी' रूप था। अशोक पहले नर-हत्यारा था, चंडाशोक था। बुद्ध-अनुभाव से वह देवताओं और मनुष्यों का प्यारा हुआ, धर्माशोक हुआ। अशोक के इस जीवन-परिवर्तन मे कहाँ तक बौद्ध प्रभाव उत्तर-दायी था अथवा कहाँ तक यह उसके स्वतंत्र विचार और चिन्तन का परिणाम था, इसके विषय में विवाद करने की गुंजायश नहीं है। विंसेन्ट स्मिथ का यह कहना कि अशोक अपने धर्म-परिवर्तन का श्रेय किसी दूसरे को नहीं देना चाहता था,[२]

---

१. "Amidst the tens and thousands of names of monarchs that crowd the columns of History......the name of Asoka shines, and shines almost alone a star" एस० जी वेल्स अपनी 'आउट लाइन ऑव हिस्ट्री' में।

२. स्मिथ ने इस बात पर जोर दिया है कि अशोक ने जिस धर्म का अपने शिला-लेखों में उपदेश दिया है वह तो संपूर्ण भारतीय धर्मों का वह समन्वित रूप

ठीक नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि पुरुषार्थ तो मनुष्य को स्वयं ही करना होता है और पर्याप्त हृदय-मंथन के बाद उपयुक्त चित्त-भूमि भी उसे ही तैयार करनी होती है। यह सब अशोक ने भी किया था। कलिंग-युद्ध के बाद उसके हृदय में धार्मिक पवित्रता और शान्ति के लिये उत्कट अभिलाषा (तिव्रे धम्मवय धम्म-कसट) उत्पन्न हुई थी। परन्तु कौन जानता है कि इतना होने पर भी अशोक को यदि स्थविर (या श्रामणेर[1]) न्यग्रोध न मिलते तो 'बिखरे हुए बादल की तरह' वह विनष्ट नहीं हो जाता। अतः अशोक को बुद्ध-शासन का प्रकाश अवश्य मिला था, जिसके लिये उसने अपने शिलालेखों में पर्याप्त कृतज्ञता भी प्रकाशित की है। भाब्रू शिलालेख में उसने मगध के भिक्षु-संघ का श्रद्धापूर्वक अभिवादन किया है, उनके कुशल-मंगल की कामना की है और कहा है, "भन्ते ! आपको मालूम ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति मेरे हृदय में कितना आदर और श्रद्धा है। भन्ते ! भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर ही कहा है।" कलिंग-युद्ध अशोक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में हुआ था, और उसके बाद ही उसने न्यग्रोध नामक भिक्षु से उपासकत्व की दीक्षा ली थी।[2] उसके बाद ही तो अशोक नियमित रूप से बौद्ध गृहस्थ-शिष्य (उपासक) हो गया। अपने 'धर्म तथा शील में प्रतिष्ठित' (धम्मम्हिसीलम्हि तिट्ठन्तो) होने की बात अशोक ने अपने छठे शिलालेख में भी कही

था जिसे अशोक ने अपने स्वतन्त्र विचार के परिणामस्वरूप उद्भावित किया था और उसका बुद्ध-धर्म से, जैसाकि वह त्रिपिटक के अनेक ग्रन्थों में निहित है, कोई संबंध नहीं है। देखिये उनका अशोक : पृष्ठ ५९-६६।

१. जिस व्यक्ति से अशोक को बुद्ध-मत की दीक्षा मिली, उनका नाम स्थविर-वाद परम्परा के अनुसार न्यग्रोध था। 'दीपवंस' के वर्णन के अनुसार न्यग्रोध स्थविर थे; 'समन्त पासादिका' में उन्हें स्थविर और श्रामणेर दोनों ही कहा गया है। महावंश (५।६४-६८) के अनुसार वे केवल श्रामणेर थे। चाहे स्थविर हों, चाहे श्रामणेर, भिक्षु न्यग्रोध एक कुशल योगी अवश्य थे, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से अशोक को आकृष्ट कर लिया। 'दिव्यावदान' की महायानी परम्परा में अशोक के गुरु का नाम स्थविर समुद्र कहा गया है, जो उतना प्रामाणिक नहीं है।

२. यद्यपि पालि-वृत्तान्त के अनुसार अभिषेक के चौथे वर्ष अशोक ने बुद्ध-मत की दीक्षा ली (चतुत्थे संवच्छरे बुद्ध-सासने पसीदि)

है। मैसूर के तीन लघु शिलालेखों में अशोक ने अपने उपासक-जीवन का वर्णन किया है। यहाँ उसके उपासक स्वरूप की दो अवस्थाएँ उपलक्षित होती हैं। पहली अवस्था वह है जिसमें अशोक एक साधारण उपासक मात्र है। 'य हकं उपासके' अर्थात् जब कि मैं उपासक था। दूसरी अवस्था वह है जिसमें अशोक संघ में जाने वाला (संघ उपयिते) उपासक बन गया है। अपनी इस अवस्था को सूचित करते हुए उसने कहा है 'यं मया संघे उपथिते' अर्थात् जब कि मैं संघ के दर्शनार्थ जाता था। अशोक के धर्म-विकास की अन्तिम अवस्था वह है जब कि वह 'भिक्खुगतिक' हो जाता है, अर्थात् स्वयं भिक्षु तो नहीं होता, किन्तु अनासक्त भाव से राज्य-कार्य करता हुआ वह कभी कभी सत्संग पाने के लिये विहार में जाकर भिक्षुओं के साथ रहने लगता है।[1] यहाँ अशोक पूर्ण राजर्षि-पद प्राप्त कर लेता है। चीनी यात्री इ-चिंग् ने, जो सातवीं शताब्दी में भारत में आया था, अशोक की एक मूर्ति भिक्षु-वेश में भी देखी थी। किन्तु यह सन्दिग्ध है कि अशोक अपने अन्तिम जीवन में भिक्षु हो गया था। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध, धम्म और संघ में अशोक की असीम निष्ठा थी। अपने राज्याभिषेक के इक्कीसवें वर्ष वह भगवान् बुद्धदेव की जन्मभूमि लुम्बिनीवन में गया और वहाँ एक सुन्दर, गोलाकार स्तम्भ पर उसने अंकित करवाया " हिद बुधे जाते सक्यमुनीति......हिद भगवा जातेति लुम्मिनिगामे" अर्थात् यहीं लुम्बिनी-ग्राम में शाक्यमुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे, यहीं भगवान् उत्पन्न हुए थे। अशोक की बुद्ध-निष्ठा का यह ज्वलन्त उदाहरण है। उसने कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, गया आदि अन्य स्थानों की भी, जो बुद्ध की स्मृति से अंकित थे, यात्रा की और अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। पहले अशोक की पाकशाला में हजारों जीव प्रतिदिन मारे जाया करते थे।[2] अपने प्रथम शिलालेख में उसने सूचना दी है कि इस समय सिर्फ दो मोर और एक हिरन ही मारे जाते हैं, जिनमें हिरन का मारा जाना निश्चित नहीं है और आगे

---

१. देखिये राधाकुमुद मुकर्जी : मैन एंड थॉट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ १३०।

२. पुलुवं महानसि देवानं पियस पियदसिने लाजिने अनुदिवसं बहूनि पान सत सहसानि आलभियिसु सुपठाये (पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में अनेक शत-सहस्र प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे) शिलालेख १ (जौगढ़)

ये तीन प्राणी भी नहीं मारे जायेंगे ।[1] मृगया और विहार-यात्राओं के स्थान पर उसने धर्म-यात्राएँ करना प्रारम्भ किया,[2] क्योंकि अब उसे जीवन की गम्भीरता का ज्ञान हो चुका था । उसने देख लिया था कि संसार के सुख-भोग , प्रतिष्ठा और बड़प्पन, परलोक में कुछ काम नहीं आते ।[3] अशोक यद्यपि बौद्ध था, किन्तु सम्प्रदायवाद उसके हृदय में नहीं था । विश्व का होने के लिये ही वह बुद्ध का हुआ था । ब्राह्मण और जैन साधुओं को भी वह बौद्धों के समान ही दान देता था और उनके तीर्थ स्थानों के भी समान आदर के साथ ही दर्शन करता था । अपने बारहवें शिलालेख मे अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता का मर्मस्पर्शी उपदेश दिया है । उसका कहना है कि सच्ची धर्मोन्नति का मूल वाक्संयम है (इदं मूलं वचि गुति) । मनुष्य अपने धर्म की स्तुति और दूसरे के धर्म की निन्दा न करे । जो अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण अपने ही धर्म वालो की प्रशंसा करता है और अन्य धर्मानुयायियों की निन्दा करता है वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को बहुत हानि पहुँचाता है । वह इस प्रकार अपने धर्म को क्षीण करता है और पर-धर्म का अपकार करता है । लोग एक दूसरे के धर्म को सुनें और उसका सेवन करें । सब धर्म वाले बहुश्रुत हों और उनका ज्ञान कल्याणमय हो । "प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब धर्म वाले सर्वत्र मेल-मिलाप मे रहें । वे सभी संयम और भाव-शुद्धि चाहते हैं । मनुष्यो के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच अनुराग होते हैं । कोई अपने धर्म का पूरी तरह और कोई अंशमात्र पालन करेंगे । जिसके यहाँ देने को बहुत दान नही है, उसमें भी संयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति तो अवश्य हो ही सकते हैं ।"[4] सर्वधर्म-समभाव का इससे अधिक प्रभावशाली उपदेश विश्व-इतिहास में नही दिया गया । अशोक ने भारत और उसके बाहर ग्रीस आदि देशों में इस विश्व-धर्म का प्रचार करने के लिये जो महनीय कार्य किया वह उसके दूसरे और तेरहवें

---

१. सेअज अदा इयं धंमलिपी लिखिता तिनियेव पानानि आलभियंति--दुवे मजला एके मिगे । से पि चु मिगे नो धुवं । एतानि पि चु तिनि पानानि पछा नो आलभियिसंति । शिलालेख १ (जौगड़)

२. शिलालेख ८

३. शिलालेख १०

४. शिलालेख १२

शिलालेखों में अंकित है और दूसरे अध्याय में तृतीय बौद्ध संगीति का वर्णन करते समय हम उसका कुछ उल्लेख कर चुके हैं।

अशोक ने बुद्ध-धर्म को जैसा समझा और जैसा उसका आचरण किया, वह कुछ प्रव्रजितों का ही धर्म नहीं था, बल्कि जीवन की पवित्रता पर आश्रित वह विस्तृत लोक-धर्म था, जिसका आचरण जीवन की प्रत्येक अवस्था में और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है। अहिंसा, बड़ों का आदर, सत्य-भाषण, इन बातों को सिखाते हुए प्रियदर्शी राजा कभी थकता नहीं।[१] माता-पिता की सेवा करना, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण और श्रमणों का आदर करना, दास और भृत्यों के साथ सद्व्यवहार करना, यही सब अशोक की शिक्षाएँ थीं।[२] अल्पव्ययता और अल्पभाण्डता (कम सामान इकट्ठा करना) की उसने बड़ी प्रशंसा की है।[3] आत्म-निरीक्षण को उसने धर्म का प्रमुख साधन माना है। बुद्ध के समान अशोक ने भी धर्म के आन्तरिक स्वरूप पर जोर दिया है। तत्कालीन लोकाचारों की एक सच्चे बुद्धिवादी के समान तुच्छता दिखाते हुए उसने कहा है—"बीमारी में, निमंत्रण में, विवाह में, पुत्र-जन्म और यात्रा के प्रसंगों पर स्त्री-पुरुष बहुत से मंगल-कार्य करते हैं, परन्तु से वे मंगल थोड़े फल के देने वाले होते है। किन्तु अहिंसा, दया, दान, गुरुजनों की पूजा इत्यादि धर्म के मंगल-कार्य अनन्त-पुण्य उत्पन्न करते हैं।"[४] अशोक ने धर्म-दान की बड़ी प्रशंसा की है। उसने कहा है कि सच्चा अनुष्ठान धर्म का अनुष्ठान है, सच्ची यात्रा धर्म की यात्रा है, सच्चा मंगलचार धर्म-मंगल है।[५] वास्तव में धर्म (धम्म) शब्द को यहाँ अशोक ने बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।

अशोक की शासन-नीति को जानने के लिये उसके अभिलेख बड़े सहायक हैं। कोई भी शासक अपनी आज्ञाएँ शिलालेखों पर खुदवा सकता है। किन्तु अशोक के अभिलेखों जैसा स्थायित्व, उनकी इतनी विश्वजनीनता, इतनी मार्मिकता, इतनी गम्भीर सच्चाई, विश्व-साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं देखी गई। वे

१, २. शिलालेख ३, ९ और ११।

३. शिलालेख ३।

४. शिलालेख ९

५. देखिये शिलालेख ९ (गिरनार, धौली और जौगढ़ का पाठ); शिलालेख ११ भी; मिलाइये धम्मपद, 'सब्बदानं' धम्मदानं जिनाति।'।

एकदम इतिहास की सामग्री है, उच्चतम साहित्य हैं, और गम्भीरतम जीवन-दर्शन भी हैं। उनके अन्दर 'प्रियदर्शी' की लोक-कल्याण के लिये छटपटाती हुई आत्मा अभी तक निःश्वास ले रही है और अतीत को जीवन प्रदान कर रही है। राजनीति जीवन से भिन्न नहीं है। बल्कि उसका ही एक अंग है। अशोक ने जो तत्त्व जीवन में देखा है, उसी का अपने राजनैतिक जीवन में अभ्यास किया है, उसी को अपनी प्रजाओं को सिखाया है और उसी को लेखों में अंकित करवाया है। क्या है वह तत्त्व ? यह वही तत्त्व है जिसे स्थविर न्यग्रोध ने उसे प्रथम बार सिखाया,[1] तथागत ने जिसे अन्तिम बार दुहराया,[2] अशोक ने जिसे जीवन भर निभाया--कल्याणकारी कार्यों में अप्रमाद, अनवरत और अनासक्त कर्म-योग का अभ्यास। यही तथागत का वीर्यारम्भ है, अशोक के लेखबद्ध शब्दों में यही 'उस्टान'[3] (उत्थान) है, यही 'उयम'[4] (उद्यम) है, यही 'उसह'[5] (उत्साह) यही 'पकम'[6] या 'परक्कम'[7] (पराक्रम) है, जिसे सिखाते हुए 'पियदसी धम्म-राजा' कभी थकता नही। निरालस होकर परोपकार के लिये अदम्य कर्मयोग का अभ्यास ही अशोक के जीवन का मूल दर्शन है, जिसे उसने राजनीति के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया है और उसे धर्म-साधना का अंग बना लिया है।[8] अपने छठे

---

१. दीपवंस में कहा गया है कि न्यग्रोध ने अशोक को यह गाथा सुनाई "अप्रमाद अमृत-पद है। प्रमाद मृत्यु का पद है। अप्रमादी मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं होते, प्रमादी मनुष्य तो मृत ही है।" धम्मपद के द्वितीय वग्ग की यह प्रथम गाथा है। महावंस ५।६८ के अनुसार भी न्यग्रोध ने अशोक को यही गाथा सुनाई।

२. तथागत के अंतिम शब्द ये थे 'अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को सम्पादन-करो" (अप्पमादेन सम्पादेथ--महापरिनिब्बाण-सुत्त--दीघ. २।३); मिला-इये महासकुलुदायि-सुत्त --मज्झिम. २।३।७--आनापानसति सुत्त मज्झिम. ३।२।८); अप्पमत्तक वग्ग (अंगुत्तर-निकाय, एक = क निपात) सम्मप्पधान-संयुत्त (संयुत्त-निकाय); थपति-सुत्त (संयुत्त-निकाय) (पधानिय-सुत्त (अंगुतर निकाय) आदि, आदि।

३. शिलालेख ६

४. शिलालेख १३

५. स्तम्भलेख १

६. लघु शिलालेख

७. शिलालेख १०

८. इसी को व्यक्त करते हुए उसने अमर शब्दों में कहा है "नास्ति हि कंमतरं

शिलालेख में उसने कहा है "मैंने यह प्रबन्ध किया है कि प्रत्येक समय, चाहे उस समय मैं खाता होऊँ, चाहे अन्तःपुर में रहूँ, चाहे शयनागार में रहूँ, चाहे उद्यान में रहूँ, सब जगह ही प्रतिवेदक (पेशकार) जनता के कार्य की सूचना मुझे दें। मैं जनता के कार्य सब जगह करूँगा। यदि मैं स्वयं आज्ञा दूं कि अमुक कार्य किया जाय और महामात्रों में उसके विषय में कोई मतभेद उपस्थित हो अथवा मन्त्रि-परिषद् उसे स्वीकार न करे तो हर घड़ी और हर समय मुझे सूचना दी जाय क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम करूँ और कितना ही राज्य-कार्य करूँ, फिर भी मुझे पूर्ण सन्तोष नहीं होता। मैं जो कुछ प्रयत्न (पराक्रम) करता हूँ, वह इसलिये कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है उससे उऋण हो जाऊँ और यहाँ कुछ लोगों को सुखी करूँ और परलोक में उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाऊँ। अत्यधिक प्रयत्न (पराक्रम) के बिना यह कार्य कठिन है। जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों का हित और सुख चाहता हूँ उसी प्रकार मैं लोक के ऐहिक और पारलौकिक हित और सुख की कामना करता हूँ।" इसी प्रकार अपने चौथे स्तम्भ-लेख में अशोक ने घोषणा की है "जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी सन्तान को निपुण दाई के हाथ सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि यह धाय मेरे बालक को सुख देने की भरपूर चेष्टा करेगी उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के लिये मैंने 'रज्जुक' नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं।" इन वाणियों से अशोक के कार्य औरनीति का पता लगसकता है। अहिंसा के सिद्धान्त को वह व्यावहारिक राजनीति के साथ समन्वित करने की कितनी क्षमता रखता था यह उसके उस अभिलेख से स्पष्ट होता है जो उसने सतत उपद्रव करने की ओर प्रवणता रखने वाली उत्तर-पच्छिमी सीमा की जंगली जातियों को सम्बोधित करते हुए उनके प्रदेश में अंकित करवाया था, "सीमान्त जातियाँ मुझ से भयभीत न हों, मुझ पर विश्वास रखें और मेरे द्वारा सुख प्राप्त करें, कभी दुःख न पावें और विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है। राजा हम लोगों के साथ क्षमा का व्यव-

---

सर्वलोकहितत्पा य च किं चि" (शिलालेख ६, गिरनार संस्करण), (नहीं है निश्चय ही सब लोगों के हित से अधिक उपादेय काम)

हार करेंगे।"[१] सम्राट् अशोक और उनके उच्च कर्मचारी समय समय पर पर जनता के सम्पर्क में आने और उसके दर्शन करने के लिये (जानपदस जनस दसनं) राज्य का दौरा (अनुसंयान) करते थे।[२] अशोक चाहता था कि कानून के भय से ही लोग सदाचार का आचरण न करें, बल्कि उनके आन्तरिक जीवन को इस प्रकार शिक्षित किया जाय जिससे वे पाप की ओर प्रवण ही न हों। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने 'महामात्र' नामक उच्च कर्मचारी नियुक्त किये थे और उन्हें अनेक विशेषाधिकार भी दिये थे।[3] इन कार्यों के अलावा अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य में स्थान स्थान पर धर्मशालाएं बनवाईं, मनुष्यों और पशुओं को आराम देने के लिये छायादार पेड़ लगवाये, आम्र-वाटिकाएँ बनवाईं और पानी के कुंड बनवाये।[४] सब से बड़ा काम उसने औषधालय और चिकित्सालय खोलने का किया। अपने दूसरे शिलालेख में अशोक ने कहा है कि उसने रोगी मनुष्यों और पशुओं के लिये अलग अलग चिकित्सालय स्थापित किये हैं।[५] यह काम उसने न केवल अपने ही राज्य में किया है, बल्कि विदेशों में भी अपने धर्मोपदेशकों द्वारा करवाया है।[६] जहाँ-जहाँ मनुष्यों और पशुओं के प्रयोग में आने वाली औषधियाँ और औषधोपयोगी कन्द-मूल फल नहीं है, वहाँ-वहाँ वे भिजवाये गये हैं और लगवाये गये हैं।[७] कहने की आवश्यकता

---

१. शिलालेख २।

२. शिलालेख ८ (गिरनार); शिलालेख १२ भी।

३. शिलालेख ५, स्तम्भ लेख ७; धर्म महामात्रों के क्या कर्तव्य थे, इसके लिए देखिये "अशोक की धर्मलिपियाँ" प्रथम भाग (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृष्ठ ५१-५२।

४. स्तम्भलेख ७।

५. द्वे चिकीछा कता मनुस चिकीछा च पसुचिकीछा च। शिलालेख २।

६. शिलालेख १३ एवं २।

७. ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च। मूलानि च फलानि च यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि रोपापितानि च। शिलालेख २।

नहीं कि यह काम अशोक ने जाति-धर्म-देश-निर्विशेष प्राणि-मात्र के कल्याणार्थ ही किया । उसी के द्वारा मानवता की दुन्दुभी विश्व में चारों ओर बजवाई गई । बौद्ध धर्म उसी समय से विश्व-धर्म बन गया ।

इस संक्षिप्त विवरण के बाद अब हमें उस महत्त्वपूर्ण साक्ष्य को देखना है जो अशोक के अभिलेख पालि-भाषा के स्वरूप और उसके साहित्य के विकास के विषय में देते हैं । अशोकके अभिलेखोंमें तत्कालीन लोक-भाषा (मागधी भाषा) के कितने स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं और उनका तथाकथित पालि-भाषा से क्या सम्बन्ध है, इसका विस्तृत विवेचन हम पहले अध्याय में कर चुके हैं । गिरनार (पच्छिम) जौगढ़ (पूर्व) और मनसेहर (उत्तर) के अभिलेखों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन और अनेक विद्वानों के एतद्विषयक मतों की समीक्षा वहीं की जा चुकी है । अतः यहाँ हम केवल पालि साहित्य के विकास पर इन अभिलेखों से जो प्रकाश पड़ता है उसी का विवेचन करेंगे । इस दृष्टि से अशोक के भाब्रू शिला-लेख का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । विषय-गौरव की दृष्टि से भी यह लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है । अतः उसे यहाँ उद्धृत करना ही अधिक उपयुक्त होगा ।

(भाब्रू शिलालेख)

पियदसि लाजा मागधं संघं अभिवादनं आहा, अपाबाधतं च फासु विहालतं चा । विदितं वे भन्ते आवतके हमा बुधसि धम्मसि संघसिति गलवेच पसादे च एके चि भंते भगवता बुधेन भासिते सबे से सुभासिते वा एचु खो भंते हमियाये दिसेया संघ में चिलठितीके होसतीति अलहामि हकं तं वतवे । इमानि भंते धंम पलिया-यानि विनयसमुकसे, अलिय वसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेय सूते, उपति-सपसिने ए च लाहुलोवादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते । एतानि भंते धंमपलियायानि इच्छामि । किं ति बहुके भिखुपाये च भिखुनियें चा अभिखिनं सूनयु चा उपधालेयेयु चा । हेवं हेवा उपासका च उपासिका चा एतेनि भंते इमं लिखापयामि अभिहेतं म जानंतानि ।

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रियदर्शी राजा मगध के संघ को अभिवादन करता है और उनका कुशल-मंगल चाहता है । भन्ते ! आपको मालूम ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ के

प्रति मेरे हृदय में कितना आदर और श्रद्धा है। भन्ते ! भगवान् ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर ही कहा है। भन्ते ! जो कुछ मुझे कहना है, उसे कहता हूँ, ताकि सद्धर्म चिरस्थायी हो।

भन्ते ! ये धम्म-पलियाय हैं—विनय-समुत्कर्ष, आर्यवंश, अनागतभय, मुनिगाथा, मोनेय्य-सूत्र, उपतिष्य प्रश्न, और राहुलोवाद-सूत्र, जिसमें भगवान् ने मृषावाद के विषय में उपदेश दिया है। भन्ते ! मैं चाहता हूँ कि सभी भिक्षु, भिक्षुणियां, उपासक तथा उपासिकाएँ, इन्हें सदा सुनें और पालन करें। भन्ते ! इसीलिए मैं यह लेख लिखवा रहा हूँ, ऐसा समझें।"

उपर्युक्त अभिलेख में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ अशोक ने कुछ बुद्ध-वचनों (धम्म-पलियाय) के नाम लेकर भिक्षु-भिक्षुणियों और उपासक-उपासिकाओं सभी को उनका सतत स्वाध्याय करने की प्रेरणा की है। उसने बुद्ध-वचनों के कुछ ऐसे अंशों को चुना है जिनकी महत्ता सार्वजनीन है और जिनमें सदाचार के उस रूप की प्रतिष्ठा की गई है जिसका आचरण स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं। जिन सात धम्म-परियायों या धम्म पलियायों को अशोक ने गिनाया है, वे प्रायः उन्हीं नामों में वर्तमान पालि-त्रिपिटक में भी विद्यमान हैं। किस-किस धम्म-पलियाय की अनुरूपता पालि त्रिपिटक के किस किस अंश या सुत्त के साथ हैं, यह नीचे लिखे विद्वानों के एतद्विषयक मतों से, जिनमें कहीं कहीं कुछ अल्प विभिन्नता भी है, स्पष्ट होगा।

१—विनय-समुकसे (विनय-समुत्कर्ष)

१. विनय का उत्कृष्ट उपदेश या पातिमोक्ख—डा० रायस डेविड्स और ओल्डनबर्ग[1]

---

१. सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द तेरहवीं पृष्ठ २६ (भूमिका), अलग अलग भी रायस डेविड्स : जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी १८९६; बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६९; इसी प्रकार ओल्डन बर्ग : विनय-पिटक, जिल्द पहली पृष्ठ ८० में टिप्पणी (विनय-पिटक का रोमन-लिपि में संस्करण, पालि टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित)।

२. बुद्ध की सामुक्कंसिका धम्मदेसना' (ऊँचा उठानेवाला धर्मोपदेश) जिसका उपदेश वाराणसी में दिया गया (अर्थात् धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त)—ए० जे० एडमंड्स[1]

३. सप्पुरिस-सुत्त (मज्झिम ३।२।३) या अंगुत्तर-निकाय का विनय-संबंधी उपदेश (अत्थवसवग्ग)—प्रो० मित्र[2]

४. 'गिहि-विनय' (गृह-विनय) नाम से प्रसिद्ध सिंगालोवाद-सुत्त (दीघ ३।८) तथा 'भिक्खु-विनय' (भिक्षु-विनय) के नाम से प्रसिद्ध अनुमान-सुत्त (मज्झिम)—डा० वेणीमाधव बाड़ुआ[3]।

५. तुवट्ठक-सुत्त (सुत्त-निपात)—प्रो० भंडारकर

२. अलियवसानि (आर्यवंश)

१. अंगुत्तर-निकाय के चतुक्क-निपात में निर्दिष्ट चार आर्य-वंश—आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी[4]

२. अंगुत्तर-निकाय के दसक-निपात अथवा दीघ-निकाय के संगीति-परियाय सुत्त और दसुत्तर-सुत्त में निर्दिष्ट दस आर्य-वास—डा० रायस डेविड्स[5]

३. अनागत-भयानि

१. अंगुत्तर-निकाय के पंचक निपात में निर्दिष्ट पांच अनागत-भय—डा० रायस डेविड्स[6]

---

१. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१३, पृष्ठ ३८५

२. लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६६५ में उद्धृत।

३. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ८०५

४. इंडियन ऐंटिक्वेरी ४१, ४०

५. ऊपर उद्धृत पद-संकेत १ के समान।

६. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९९८।

४. मुनि गाथा

१. मुनि-सुत्त (सुत्त-निपात)—डा० रायस डेविड्स[1]

५. मोनेय्य-सूते (मोनेय्य-सूत्र)

१. नालक-सुत्त (सुत्त-निपात)—आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी[2]

२. प्रस्तावना को छोड़कर नालक-सुत्त का शेष भाग—डा० वेणीमाधव बाडुआ[3]

३. मोनेय्य-सुत्त—डा० रायस डेविड्स[4]

४. 'इतिवुत्तक' के ६७ वें सुत्त एवं अंगुत्तर-निकाय के तिक-निपात में निर्दिष्ट मोनेय्यानि—डा० विंटरनित्ज़[5]

६. उपतिस-पसने (उपतिष्य-प्रश्न)[6]

१. सारिपुत्त-सुत्त (सुत्त-निपात)—कोसम्बी और बाडुवा[7]

२. मज्झिम-निकाय के रथविनीत सुत्त (१।३।४) में निर्दिष्ट उपतिष्य प्रश्न—न्यूमैन'[8]

---

१. उपर्युक्त के समान

२. इंडियन एंटिक्वेरी, ४१, ४०

३. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ८०५

४. उपर्युक्त पद-संकेत १ के समान

५. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०७ (परिशिष्ट ३)

६. उपतिष्य सारिपुत्र का नाम है। चूंकि सुत्त-निपात के सारिपुत्त-सुत्त में सारिपुत्र ने कुछ प्रश्न किए हैं जिनका उत्तर बुद्ध ने दिया है, अतः यह प्रायः सुनिश्चित ही है कि अशोक का तात्पर्य इसी उपदेश से था।

७. इन विद्वानों के लेखों का निर्देश ऊपर हो चुका है। डा० विंटरनित्ज़ को भी यही मत मान्य है। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ ६०७ (परिशिष्ट ३)

८. विंटरनित्ज़ : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०६ में उद्धृत।

७. लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्च भगवता बुधेन भासिते

(राहुल को उद्देश्य कर मृषावाद के संबंध में भगवान् बुद्ध का दिया हुआ उपदेश)

१. राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम (३।५।५)—डा० रायस डेविड्स[1]

२. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम २।२।१)—एम० सेनां[2]

उपर्युक्त विवरण का ऐतिहासिक साक्ष और महत्त्व स्पष्ट है । यद्यपि भाब्रू-शिलालेख में निर्दिष्ट धम्म-परियायों की पालि-त्रिपिटक के विशिष्ट सूत्रों से पहचान करने में विद्वानों में कुछ मत-भेद अवश्य है,किन्तु यह मतभेद बहुत अल्प है और अधिकांश तो एक ही विषय के पालि-त्रिपिटक में अनेक स्थलों में प्रायः समान शब्दों में वर्णन करने के कारण ही है । अतः यह कहना इसके साक्ष्य को अतिरंजित करना नहीं होगा कि जिस समय अशोक का यह शिलालेख लिखा गया, अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व, पालि त्रिपिटक अपने उसी रूप में और अपने सूत्रों के प्रायः उन्हीं नामों के साथ, जिनमें वह आज पाया जाता है, विद्यमान था ।[3]अशोक के प्रज्ञापनों की भाव-शैली से भी यही परिलक्षित होता है । उन पर बुद्ध-वचनों का, जैसे कि वे आज पालि-त्रिपिटक में निहित हैं,पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । हाँ, विशेषता केवल यही है कि उसने बुद्ध-वचनों के अथाह समुद्र में से केवल ऐसे सुवचनों को चुन लिया है, जिनका उपदेश सर्व-साधारण के लिये, जिनमें विशेषतः गृहस्थों की ही अधिकता होती है, उपकारी हो सकता था । यही कारण है कि चार आर्य-सत्य, आर्य-अष्टांगिक मार्ग, प्रतीत्य समुत्पाद, निर्वाण जैसे गंभीर विषयों

---

१. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८

२. जर्नल एशियाटिक, १८८४, जिल्द तीसरी पृष्ठ ४७८

३. डा० बेणीमाधव बाड़ुआ इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, किन्तु विंटरनित्ज़ ने उनके इस निष्कर्ष को कुछ अतिरंजित माना है । देखिये उनका हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०८; फिर भी विंटरनित्ज़ ने उन विद्वानों के साथ भी सहमति नहीं दिखाई है जो अशोक के समय किसी भी प्रकार के पालि-त्रिपिटक का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते । देखिये वहीं पृष्ठ ६०८-०९।

का उल्लेख न कर उसने जन-साधारण के सामने इस लोक के साधारण सामाजिक, पारिवारिक और आधुनिक भाषा में कहें तो नागरिक कर्तव्यों का उपदेश रक्खा है जिसे पालि-त्रिपिटक के सिंगालोवाद (या सिगालोवाद)-सुत्त (दीघ. ३।८) लक्खण-सुत्त (दीघ. ३।७) और महामंगलसुत्त (सुत्त-निपात) जैसे भागों में गृहस्थों को लक्ष्य कर सिखाया गया है। 'सिंगालोवाद-सुत्त' तो पूरे अर्थों में 'गिहि-विनय' (गृह-विनया) ही कहा गया है। अशोक ने जिस-धर्म को सिखाया है उसमें प्राणधारियों की अहिंसा (अनारम्भो प्राणानं) जीवों को कष्ट न पहुँचाना (अविहिंसा भूतानं) माता-पिता की सेवा (मातरि पितरि सुस्रूसा), बड़ों का आदर (थेर-सुस्रूसा), मित्र, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता और शिष्टता का व्यवहार (मित-संस्तुत-अतिकानं ब्राह्मण समणानं दानं सम्पटिपति), गुरुओं का सम्मान (गुरून अपचिति), दासों और नौकरों के साथ शिष्टता और उदारता का व्यवहार (दास-भतकम्हि सम्मपटिपत्ति), मितव्ययता और अल्प संग्रह करना (अपव्ययता, अपभांडता) आदि सामान्य लोक-धर्म की बातें ही हैं। बुद्ध ने यही धर्म साधारण जनता को सिखाया था। 'सिंगाल्रोवाद-सुत्त' के इस संक्षिप्त उद्धरण को ही देखिये---

"माता-पिता पूर्व दिशा हैं, आचार्य दक्षिण दिशा।
पुत्र-स्त्री पश्चिम दिशा हैं, मित्र-अमात्य उत्तर दिशा।

दास-कर्मकर नीचे की दिशा हैं, श्रमण-ब्राह्मण ऊपर की दिशा
गृहस्थ को अपने कुल में इन दिशाओं को अच्छी तरह नमस्कार करना चाहिये।"[1]

निश्चय ही अशोक ने अपने 'धम्म' को ऐसे ही बुद्ध-वचनों से पाया है। ऊपर भाब्रू शिलालेख में उसकी बुद्ध-भक्ति दिखाई ही जा चुकी है। सांची प्रयाग और सारनाथ के अपने स्तम्भ-प्रज्ञापनों में संघ-भेद को रोकने के लिये जो तत्परता दिखाई है, वह भी स्पष्ट ही है। वास्तव में उसने अपने सारे जीवन-कार्यों मे चक्र-वर्ती धर्मराज के उस आदर्श को पूर्ण करने का प्रयत्न किया जो पालि-त्रिपिटक

---

१. दीघ निकाय, पृष्ठ २७६ (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)

में उपदिष्ट किया गया है । लक्खण-सुत्त (दीघ ३१७) के अनुसार "चक्कवर्ती, धार्मिक, धर्मराज, चारों दिशाओं को जीतकर, सागर-पर्यन्त इस पृथ्वी (भारतभूमि) को दंड और शस्त्र से नहीं, किन्तु धर्म से जीतकर उसके ऊपर शासन करता है।"[१] अशोक की धम्म-विजय का, उसकी प्राणि-अविहिंसा का, जाति-धर्म-निर्विशेष, संपूर्ण मनुष्य-जाति की सेवा के उसके उच्च आदर्श का, इसके अलावा और अर्थ ही क्या हो सकता था ? अतः यह निर्विवाद है कि अशोक की प्रेरणा का मूलाधार बुद्ध-धर्म ही था । किस प्रकार धम्म-दान की प्रशंसा करते हुए अशोक ने धम्मपद की एक गाथा (२।१) को प्रतिध्वनित किया है, अथवा किस प्रकार उसके नवें शिलालेख के काल्सी, शहबाजगढ़ी और मनसेहर के संस्करण के अन्तिम भाग की शैली 'कथावत्थु' से मिलती जुलती है, यह हम पहले दिखा चुके हैं । अतः यह निःसंदेह है कि अशोक के शिलालेखों का साक्ष्य उसके बुद्ध-वचनों या पालि-त्रिपिटक के उस रूप से परिचित होने के पक्ष में है जो हमें आज प्राप्त है और जिसमें से 'गृह-विनय' के ही लोक सामान्य आदर्श को लेकर अशोक ने स्वयं (अपने गृहस्थ शासक होने की अवस्था में) उसको अपनाया और उसी को अपनी प्यारी जनताओं को भी सिखाया ।

अशोक के अभिलेखों के अलावा अन्य प्रभूत पालि अभिलेख-साहित्य भी हमें आज प्राप्त है । यह बहुत पुराना भी है और उसकी परम्परा ठीक अर्वाचीन काल तक चलती आ रही है । तीसरी और दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर ठीक अठारहवीं शताब्दी तक के पालि अभिलेख हमें प्राप्त हैं । यद्यपि इन सब अभिलेखों का साहित्यिक महत्व और ऐतिहासिक साक्ष्य अशोक के अभिलेखों के समान महत्वपूर्ण नहीं हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश पालि-साहित्य के विकास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं । उसकी विकास परम्परा के विभिन्न

---

१. चक्कवत्ती धम्मिको धम्मराजा चातुरन्तो विजितावी सो इमं पठविं सागर-परियन्तं अदण्डेन असत्थेन अभिविजिय अज्झावसति । लक्खणसुत्त (दीघ ३।७)

पहलुओं को समझने के लिए वे प्रकाशगृह का काम देते हैं। हम इन सात मुख्य अभिलेखों का यहाँ उल्लेख करेंगे (१) साँची और भारहुत के अभिलेख (२) सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख, (३) मौंगन (बरमा) के दो स्वर्ण-पत्र लेख (४) मज्जा (प्रोम-बरमा) का पांचवीं-छठीं शताब्दी का स्वर्ण-पत्र लेख (५) मज्जा (प्रोम-बरमा) के बोबोगी पेगोडा में प्राप्त खंडित पाषाण-लेख (६) १४४२ ई० का पेगन (बरमा) का अभिलेख, और (७) रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति का १४७६ ई० का प्रसिद्ध कल्याणी-अभिलेख ।

साँची और भारहुत के अभिलेख[1]

प्रायः सभी पुरातत्वविदों का इस विषय में एक मत है कि साँची और भारहुत के स्तूप तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के हैं। इन स्तूपों की पाषाण वेष्टनियों पर जो लेख उत्कीर्ण हैं और प्राचीन बौद्ध गाथाओं के जो चित्र अंकित हैं, वे भारतीय पुरातत्व की तो अमूल्य निधि हैं ही, पालि-त्रिपिटक की प्राचीनता और प्रामाणिकता को दिखाने के लिए भी उनका प्रमाण अन्तिम और पूर्णतम रूप से निश्चित है। हम पहले लिख चुके हैं कि इन स्तूपों के लेखों में भिक्षुओं के विशेषण-स्वरूप 'सुत्तन्तिक' 'पेटकी' 'धम्मकथिक 'पञ्चानेकायिक' 'भाणक' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि जिस समय ये लेख लिखे गये थे बुद्ध वचनों का "पिटक" 'सुत्त' 'पंच निकाय' आदि में वर्गीकरण प्रसिद्ध था और उसका संगायन करने वाले (भाणक) भिक्षु भी पाये जाते थे। अतः पालि त्रिपिटक प्रायः अपने उसी विभाजन में जिसमें वह आज उपलब्ध हैं, तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व भी पाया जाता था, यह निश्चित

---

१. सांची और भारहुत के अभिलेखों के अध्ययन के लिए देखिये विशेषतः बाडुआ और सिंह "भारहुत इन्सक्रिप्शन्स" कलकत्ता १९२६; मैं से : साँची और इट्स-रिमेन्स लन्दन १८९२, मार्शल : ए गाइड टू साँची, कलकत्ता १९१८; हिन्दी में अभी इस विषयक विशेषतापूर्ण अध्ययन नहीं किया गया ।

है। एक और प्रमाण भी इन्हीं स्तूपों से इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मिलता है। भारहुत और साँची की पाषाण-वेष्टनियों पर बौद्ध गाथाओं के चित्र अंकित हैं, जो जातक की अनेक गाथाओं से विचित्र समानता रखते हैं। इतना ही नहीं, भारहुत-स्तूप में तो कुछ जातक-गाथाओं के नाम तक भी उल्लिखित है, जो इस प्रकार हैं (१) वितुर पुनकिय (२) मिग (३) नाग (४) यवमभकिय (५) मुगपकय, (६) लतुवा (७) छन्दन्तिय (८) इसिसिंगिय, (९) यं बमणो अवयेसि, (१०) हंस, (११) किनर (१२) इसिमिगो (१३) जनोको राजा, (१४) सिवला देवी (१५) उद (१६) सेछ (१७) मुजतो गहुतो (१८) बिडल जातक (१९) ककुट जातक (२०) मघादेविय (२१) भिस और (२२) हरनिय। इन जातकों की गाथाएँ और कहीं कहीं नाम भी आज प्राप्त 'जातक' की इन कहानियों से समानता रखते हैं (१) विधूर पंडित (२) निग्रोध (३) कक्कट, (४) महाउम्मग्ग (५) मूगपक्ख (६) लतुकिका (७) छद्दन्त (८) अलम्बुस (९) अन्धभूत, (१०) नच्च, (११) चन्द, (१२) किन्नर, (१३) मिगपोतक, (१४) महाजनक, (१५) दब्ब-पुप्फ, (१६) दूभिय मक्कट, (१७) सुजात, (१८) कुक्कुट, (१९) मखादेव और (२०) भिस जातक। भारहुत-स्तूप में कहीं कहीं दृश्य तो अंकित हैं किन्तु नीचे उनके नाम नहीं दिये गये है। फिर भी इन चित्रों से विदित होता है कि वे पालि-जातक की कुछ कहानियों के चित्रों को ही अंकित करते है। इस प्रकार की 'जातक' की कहानियाँ जो यहाँ अंकित हैं, ये है (१) कुरुंग-मिग (२) सन्धि-भेद, (३) असदिस, (४) दसरथ, (५) महाकपि, (६) चम्मसतक, (७) आराम-दूसक और (८) कपोत जातक। अतः इन सब साक्ष्यों से स्पष्ट है कि न केवल पालि-त्रिपिटक बल्कि उसके उसके कुछ विशिष्ट ग्रन्थ भी अपने उसी स्वरूप में, जैसे वे आज हैं, तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व भी विद्यमान थे। इस प्रकार साँची और भारहुत के महत्वपूर्ण अभिलेख और चित्र अशोक के शिला-लेखों के साक्ष्य का ही अनुमोदन करते हुए 'तेपिटक' बुद्ध-वचनों की प्रामाणिकता का साक्ष्य देते हैं।

सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख

सारनाथ संग्रहालय में लंबे आकार की बोधिसत्व की एक मूर्ति सुरक्षित है। उस पर तीन अभिलेख अंकित हैं, जो कुषाण-राजा कनिष्क के शासन-काल के तीसरे वर्ष अंकित किये गये थे। इन लेखों का विषय बुद्ध का 'धम्मचक्क-पवत्तन' है। पंचवर्गीय भिक्षुओं के प्रति भगवान् ने बाराणसी में चतुरार्य-सत्य-विषयक जो उपदेश दिया वह यहाँ इन शब्दों में अंकित है "चत्तारि मानि भिक्खवे अरियसच्चानि। कतमानि चत्तारि? दुक्खं दि भिक्खवे अरिय सच्चं। दुक्खसमुदयो अरियसच्चं दुक्ख निरोधो अरियसच्चं दुक्खनिरोधो गामिनीच पटिपदा।" इसका हिन्दी अनुवाद है—"भिक्षुओ! ये चार आर्य सत्य हैं? कौन से चार? भिक्षुओ! दुःख आर्य सत्य है, दुःख-समुदय आर्य-सत्य है, दुःख निरोध आर्यसत्य है, दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा (मार्ग) आर्य सत्य है।" 'धम्मचक्क पवत्तनसुत्त' का यह अक्षरशः उद्धरण ही है। कनिष्क ने इसे अंकित करवाकर उसी स्थान पर रक्खा जहाँ पर कि वह ऐतिहासिक रूप से प्रथम बार दिया गया था, इससे स्पष्ट विदित होता है कि ईसवी सन् के लगभग (कनिष्क का समय) पालि-माध्यम में निहित बुद्ध-वचन ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक माने जाते थे। अशोक तथा साँची और भारहुत के अभिलेखों के कालक्रम से प्राप्त साक्ष्य का इस प्रकार यह अभिलेख भी अनुमोदन करता है।

मौंगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र-लेख

स्वर्णपत्रों पर लिखे हुए दो पालि-अभिलेख बरमा में प्रोम के समीप मौंगन नामक स्थान पर मिले हैं। संभवतः ये पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी के हैं और दक्षिण भारत की कदम्ब (कन्नण-तेलगू) लिपि में लिखे हुए हैं। प्रथम अभिलेख यह है "ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतु तथागतो आह तेसं च निरोधो एवंवादी महासमणो ति, चत्वारो सम्मप्पधाना, चत्वारो सतिपट्ठाना, चत्वारि अरियसच्चानि, चतु वेसारज्जानि पञ्चिन्द्रियाणि, पञ्च चक्खूनि, छ असद्धारणानि, सत्त बोजभंग, अरियो अट्ठंगिको मग्गो, नव लोकुत्तरा धम्मा, दस बलानि, चुद्दस बुद्धञ्ञाणानि, अट्ठारस बुद्धधम्मा

ति।" इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है "जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न हैं उनके हेतु को तथागत बतलाते हैं और उनके निरोध को भी, उन महाश्रमण का यही मत है, जैसे कि चार सम्यक् प्रधान, चार स्मृति-प्रस्थान, चार आर्य-सत्य चार वैशारद्य, पाँच इन्द्रिय, पाँच चक्षु, छह असाधारण, दस बल, चौदह बुद्ध-ज्ञान, एवं अठारह बुद्ध-धर्म।" इस अवतरण का प्रथम भाग अर्थात् यह अंश "जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न हैं उनके हेतु को तथागत बतलाते हैं और उनके निरोध को भी, यही उन महासमण का मत है" बुद्ध के सारे मन्तव्य को जैसे एक संक्षिप्त सूत्र में ही रख देता है। पालि-त्रिपिटक में भी यह बहुत प्रसिद्ध है। अस्सजि (अश्वजित्) नामक भिक्षु ने यही कहकर प्रथम बार सारिपुत्र को बुद्ध-मन्तव्य का परिचय दिया था। वाद के अंश में बोधिपक्षीय धर्मों का परिगणन कराया गया है जो बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद की एक परिपूर्ण सूची है। स्थविरवाद बौद्ध धर्म बुद्ध-धर्म के नैतिक सिद्धांतों को आधार मानकर भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट बोधिपक्षीय धर्मों को ही उनका मुख्य मन्तव्य मानता है। पाँचवीं छठीं शताब्दी में बरमी बौद्ध धर्म की प्रगति पर यह स्वर्ण-पत्र लेख अच्छा प्रकाश डालता है। द्वितीय स्वर्णपत्र पर भी प्रथम लेख के आदि का अंश अंकित है किन्तु उसके बाद यहाँ त्रिरत्न की वन्दना और अंकित है, यथा—'तिपि सो भगवा अरहं सम्मा सम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरसिद्म्मसारथि सत्था देव मनुस्सानं बुद्धो भगवाति। यह भी पालि त्रिपिटक का ही एक उद्धरण है। इसका हिन्दी अनुवाद है "वे भगवान् अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या-चरण सम्पन्न, सुगत, लोकविद, अद्वितीय पुरुष-दम्य सारथी, देव और मनुष्यों के शास्ता, भगवान् बुद्ध हैं)' बुद्ध-भक्ति के उद्गार-स्वरूप ही ये लेख लिखे गये हैं।

मब्जा का पाँचवीं-छठी शताब्दी का स्वर्णपत्र-लेख

बरमा में प्रोम के पास मब्जा नामक स्थान पर बीस स्वर्ण-पत्रों पर लिखा हुआ एक पालि अभिलेख पाया गया है। यह भी दक्षिण-भारत की कन्नड़-तेलगू प्रकार की लिपि में लिखा हुआ है। इस अभिलेख में विनय और

अभिधम्म पिटक के कुछ उद्धरण अंकित हैं । बरमा में पालि-बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास पर इस अभिलेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

मञ्जा के बोबोगी पेगोडा में प्राप्त खंडित पाषाण-लेख

बरमा में मञ्जा (प्राचीन प्रोम) के बोबोगी पेगोडा में सन् १९१०-११ ई० में तीन खंडित पाषाण-लेख मिले, जो संभवतः छठी शताब्दी ईसवी के हैं । इनकी लिपि भी दक्षिण भारत की कन्नड़-तेलगू लिपि से मिलती जुलती है । इन अभिलेखों में पालि-त्रिपिटक विशेषतः अभिधम्म-पिटक के ही किसी ग्रन्थ का उद्धरण है, जिसका अभी निश्चयतः पता नहीं लगाया जा सका है । इस अभिलेख से बरमा की अभिधम्म-पिटक संबंधी अध्ययन की ओर विशेष रुचि का जो वहाँ प्रारंभ से ही रही है, पता चलता है ।

१४४२ ई० का पेगन (बरमा का अभिलेख)

बरमा के तौंगद्विन नामक प्रान्त के प्रान्तपति बौद्ध उपासक और उसकी पत्नी ने १४४२ ई० में वहाँ के भिक्षु-संघ को कुछ महत्वपूर्ण दान दिया था । उसी की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए यह लेख अंकित करवाया गया था । इस लेख में अन्य बातों के साथ साथ उन ग्रन्थों का भी उल्लेख है जिनका दान उक्त प्रान्तपति ने भिक्षु-संघ को दिया था । अतः बरमा में पालि-साहित्य के विकास की दृष्टि से इस अभिलेख का एक विशेष महत्व है । एक विशेष महत्व-पूर्ण बात इस अभिलेख की यह भी है कि यहाँ पालि-ग्रन्थों की सूची में अमरकोश, वृत्तरत्नाकर जैसे कुछ संस्कृत-ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं, जो बरमा में तद्विषयक अध्ययन की परम्परा का अच्छा साक्ष्य देते हैं । पन्द्रहवीं शताब्दी तक बरमी पालि साहित्य की प्रगति को दिखाने के लिए यद्यपि इस अभिलेख में निर्दिष्ट ग्रन्थों का अधिक विवेचन अपेक्षित है, किन्तु विस्तार भय से हम यहाँ ऐसा न कर केवल उनका नाम परिगणन मात्र ही करते हैं[1] जिनकी भी संख्या २९५ है । यथा—(१) पराजिककंड, (२) पाचित्तिय, (३) भिक्खुनी, विभंग, (४) विनय-महावग्ग,

---

१. विशेष विवेचन के लिए तो देखिए मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ १०१- १०९ ।

(५) विनय-चूलवग्ग, (६) विनय-परिवार, (७) पाराजिक-कंड अट्ठकथा, (८) पाचित्तियादि-अट्ठकथा (९) पाराजिककंड-टीका, (१०) तेरसकंड टीका, (११) विनय-संग्रह-अट्ठकथा विस्तृत,) (१२) विनय-संग्रह-अट्ठकथा (संक्षिप्त), (१३) कंखा वितरणी-अट्ठकथा, (१४) खुद्दक सिक्खा टीका, (प्राचीन), (१५) खुद्दक सिक्खा टीका (अभिनवा), (१६) कंखा-टीका (अभिनवा), (१७) विनय गण्ठिपद, (१८) विनय-उत्तर-सिंचय-अट्ठकथा, (१९) विनय-सिंचय-टीका, (२०) विनयक्खन्ध निद्देस, (२१) धम्मसंगणि, (२२) विभंग, (२३) धातुकथा, (२४) पुग्गलपञ्ञत्ति, (२५) कथावत्थु, (२६) मूलयमक, (२७) इन्द्रिय यमक, (२८) तिक-पट्ठान, (२९) दुक-तिक-पट्ठान, (३०) दुक-पट्ठान, (३१) अट्ठसालिनी-अट्ठकथा, (३२) सम्मोह विनोदनी-अट्ठकथा, (३३) पञ्चपकरण कथा, (३४) अभिधम्म-अनुटीका, (३५) अभिधम्मत्थसंगह-अट्ठकथा, (३६) अभिधमत्थसंगह-टीका, (३७) अभिधम्मत्थ विभावनी-टीका, (३८) सीलक्खन्ध, (३९) महावग्ग, (४०) पाथेय्य, (४१) सीलक्खन्ध-अट्ठकथा, (४२) महावग्ग-अट्ठकथा, (४३) पाथेय्य-अट्ठकथा, (४४) सीलक्खन्ध टीका, (४५) महावग्ग-टीका, (४६) पाथेय्य-टीका, (४७) मूलपण्णास, (४८) मूलपण्णास-अट्ठकथा, (४९) मूलपण्णास-टीका, (५०) मज्झिमपण्णास, (५१) मज्झिमपण्णास-अट्ठकथा, (५२) मज्झिमपण्ण टीका, (५३) उपरिपण्णास (५४) उपरिण्णास-अट्ठकथा (५५) उपरिण्णास टीका (५६) सगाथवग्ग-संयुत्त, (५७) सगाथवग्गसंयुत्त-अट्ठकथा, (५८) सगाथवग्गसंयुत्त-टीका, (५९) निदानवग्ग-संयुत्त, (६०) निदानवग्ग संयुत्त-अट्ठकथा, (६१) खन्धवग्ग-संयुत्त, (६२) खन्धवग्ग संयुत्त-टीका, (६३) सडायतन वग्ग-संयुत्त, (६४) सठायतनवग्ग संयुत्त-अट्ठकथा, (६५) चतुकनि-पात-अंगुत्तर, (६६) अट्ठ-नव-निपात-अंगुत्तर, (६७) महावग्गसंयुत्त, (६८) पञ्चनिपात-अंगुत्तर (६९) छसत्तनिपात-अंगुत्तर, (७०) अट्ठ-नव-निपात-अंगुत्तर, (७१) दस-एकादस-निपात-अंगुत्तर, (७२) एकनिपात अंगुत्तरट्ठकथा, (७३) दुक-तिक-चतुक निपात-अंगुत्तर अट्ठकथा, (७४) पञ्चादि-अंगुत्तर-अट्ठकथा, (७५) अंगुत्तर-टीका, (७६) अंगुत्तर-टीका, (७७) खुद्दक-पाठ अट्ठकथा सहित, (७८) धम्मपद अट्ठकथा सहित, (७९) उदान अट्ठकथा

सहित, (८०) इतिवुत्तक अट्ठकथा सहित, (८१) सुत्त-निपात, अट्ठकथा सहित (८२) विमानवत्थु-अट्ठकथा-सहित, (८३) पेतवत्थु अट्ठकथा सहित, (८४) थेरगाथा अट्ठकथा सहित, (८५) थेरीगाथा अट्ठकथा सहित, (८६) पाठचरित्र (८७) एक निपात जातक-अट्ठकथा, (८८) दुकनिपात जातक-अट्ठकथा, (८७) निक निपात जातक-अट्ठकथा, (९०) चतुक-पंच-छनिपात जातक अट्ठकथा, (९१) सत्त-अट्ठकथा, (९२) दस-एकादस निपात जातक ट्ठकथा, (९३) द्वादस-तेरस-पकिण्णक निपात-जातक-अट्ठकथा, (९४) वीसतिजातक-अट्ठकथा, (९५) जातत्तकी-सोतत्तकी-निदान-अट्ठ कथा, (९६) चूलनिद्देस, (९७) चूल-निद्देस-अट्ठकथा, (९८) महानिद्देस, (९९) महानिद्देस, (१००) जातक-टीका, (१०१) दुम-जातक-अट्ठकथा, (१०२) अपादान, (१०३) अपादान-अट्ठ-कथा, (१०४) पटिसम्भिदामग्ग, (१०५) पटिसम्भिदामग्ग-अट्ठकथा, (१०६) पटिसम्भिदामग्ग-गण्ठिपद, (१०७) विसुद्धिमग्ग-अट्ठकथा, (१०८) विसुद्धि-मग्ग-टीका, (१०९) बुद्धवंस-अट्ठकथा, (११०) चरियापिटक-अट्ठकथा, (१११) नामरूप टीका, (नवीन), (११२) परमत्थ विनिच्छय, (११३) मोह विच्छेदनी, (११४) लोक-पञ्ञाति, (११५) मोह नयन, (११६) लोकु-प्पत्ति, (११७) अरुणवति, (११८) छगति दीपनी, (११९) सहस्सरंसिपालिनी (१२०) दसवत्थु (१२१) सहस्सवत्सु (१२२) सहिल वत्सु (१२३) पेटकोपदेस, (१२४) तथागतुप्पत्ति, (१२५) धम्मचक्क (–पवत्तनसुत्त), (१२६) धम्मचक्क-टीका, (१२७) दाठाधातुवंस, (१२८) दाठाधातुवंस-टीका, (१२९) चूलवंस, (१३०) दीपवंस, (१३१) थूपवंस, (१३२) अनागतवंस, (१३३) बोधिवंस, (१३४) महावंस, (१३५) महावंस-टीका, (१३६) धम्मदान, (१३७) महाकच्चायन, (१३८) न्यास, (१३९) थन्-व्यन्-टीका, (१४०) महाथेर-टीका, (१४१) रूपसिद्धि-अट्ठकथा, (१४३) बालावतार, (१४४) वुत्ति मोग्गल्लान, (१४५) पञ्चिक-मोग्गल्लान, (१४६) पंचिक मोग्गल्लान-टीका, (१४७) कारिका (१४८) कारिका-टीका, (१४९) लिंगत्थ विवरण (१५०) लिंगत्थ विवरण टीका, (१५१) मुखमत्तसार, (१५२) मुखमत्तसार-टीका, (१५३) महागण, (१५४) चूलगण, (१५५) अभिधान, (१५६) अभिधान-टीका, (१५७) सद्दनीति, (१५८) चूलनिरुत्ति, (१५९) चूलसन्धि विसोधन,

(१६०) सद्दत्थभेदचिन्ता, (१६१) सद्दत्थभेद चिन्ता-टीका, (१६२) पद-सोधन, (१६३) सम्बन्ध चिन्ता-टीका, (१६४) रूपावतार, (१६५) सद्दावतार, (१६६) सद्धम्मदीपका, (१६७) सोतमालिनी, (१६८) संबन्धमालिनी, (१६९) पदावहामहाचक्क, (१७०) एवादि (मोग्गल्लान) (१७१) कतचा (१७२) महाका, (१७३) बालत्तजन, (१७४) सुत्ताबलि, (१७५) अक्खरसम्मोहच्छेदनी, (१७६) चेतिद्धि नेमिपरिगाथा, (१७७) समासतद्धितदीपनी, (१७८) बीजक्ख्यं, (१७९) कच्चायन-सार, (१८०) बालप्पबोधन, (१८१) अट्ठसालिनी, (१८२) अट्ठसालिनी निस्सय, (१८३) कच्चायन निस्सय, (१८४) रुपसिद्धि निस्सय, (१८५) जातक निस्सय, (१८६) जातकगण्ठि, (१८७) धम्मपदगण्ठि निस्सय, (१८८) कम्मवाचा, (१८९) धम्मसत्त, (१९०) कलापपञ्चिका, (१९१) कलापपञ्चिका-टीका, (१९२) कलापसुत्त प्रतिञ्ञासकु, (१९३) प्रिन्डो-टीका, (१९४) रत्नमाला, (१९५) रत्नमाला टीका, (१९६) रोगनिदान, (१९७) दब्रगुण, (१९८) दब्र गुण-टीका, (१९९) छन्दोविचिति, (२००) चन्द्रप्रुत्ति (चन्द्रवृत्ति), (२०१) चन्द्रपञ्चिकर, (२०२) कामन्दकी, (२०३) धम्मपञ्ञाकरण, (२०४) महोसट्ठि, (२०५) सुबोधालंकार, (२०६) सुबोधालंकार-टीका, (२०७) तनोगबुद्धि, (२०८) तण्डि (संभवतः दण्डी), (२०९) तण्डि-टीका, (२१०) चंकदास, (२११) अरियसच्चावतार, (२१२) विचित्रगन्ध, (२१३) सद्धम्मुपाय, (२१४) सार संग्रह, (२१५) सारपिण्ड, (२१६) पटिपट्ठि संगह, (२१७) मूलचारक, (२१८) पाल्तक्क, (२१९) त्रक्कमासा (तर्कभाषा) (२२०) सद्दकारिका, (२२१) कासिकाद्रुत्तिपालिनी, (२२२) सद्धम्मदीपिका, (२२३) सत्यतत्वावबोध, (२२४) चूलनिरुत्ति मंजूसा, (२२५) मंजूसा टीका व्याख्यं, (२२६) चूलनिरुत्ति मंजूसा, (२२७) अत्थव्याख्यं, (२२८) अनुटीका व्याख्यं, (२२९) पकिण्णक निकाय, (२३०) वत्थपयोग, (२३१) मत्थपयोग, (२३२) रोगयात्रा, (२३३) रोगयात्रा-टीका, (२३४) सत्थेक विपसवप्रकास, (२३५) राजमत्तन्त, (२३६) परासब, (२३७) कोलद्धज, (२३८) बृहज्जातक, (२३९) बृहज्जातक-टीका, (२४०) दाठा धातुवंस, टीका-सहित, (२४१) पतिक विवेक टीका, (२४२) अलंकार-टीका, (२४३) चलिन्द पञ्चिका, (२४४) वेदविधिनिमित्तनिरुत्ति बण्णना, (२४५) निरुत्ति

व्याख्यं, (२४६) वुत्तोदय, (२४७) वुत्तोदय-टीका, (२४८) मिलिन्द-पञ्ह, (२४९) सारत्थ संगह, (२५०) अमरकोस निस्सय, (२५१) पिंडो निस्सय, (२५२) कलाप निस्सय, (२५३) रोगनिदान व्याख्यं, (२५४) दब्बगण टीका, (२५५) अमरकोस, (२५६) दंडि टीका, (२५७) दंडिटीका (द्वितीय), (२५८) दंडि-टीका (तृतीय), (२५९) कोलध्वज टीका, (२६०) अलंकार, (२६१) अलंकार-टीका, (२६२) भेसज्जमंजूसा, (२६३) युद्धजेय्य, (२६४) यतन प्रभा टीका, (२६५) विरग्ध, (२६६) विरग्ध-टीका, (२६७) चूला मणि-सार, (२६८) राजमत्तन्त टीका, (२६९) मृत्युवञ्चन, (२७०) महाकाल चक्क, (२७२) महाकालचक्क-टीका, (२७२) परविवेक, (२७३) कच्चायन रूपावतार, (२७४) पुम्मरसारी, (२७५) तक्तवावतार (तत्त्वावतार), (२७६) (२७७) न्याय बिन्दु, (२७८) न्यायबिन्दु टीका, न्यायबिन्दु टीका, (२७९) हेतुबिन्दु, (२८०) हेतुबिन्दु टीका, (२८१) रिक्ख- णिय यात्रा, (२८२) रिक्खणिय-यात्रा, टीका, (२८३) बरित्तरताकर (वृत्त रत्नाकर,) (२८४) श्यारामितकब्य, (२८५) युत्तिसंग्रह (२८६) युत्ति संगह टीत्र, (२८७) सारसंगह निस्सय, (२८८) रोग यात्रा निस्सय, (२८९) रोग निदान निस्सय (२९०) सद्दत्थभेद चिन्तानिस्सय, (२९१) पारानिस्सय, (२९२) श्यार मितकव्य-निस्सय, (२९३) बृहज्जातक-निस्सय, (२९४) रत्तमाला, (२९५) नरयुत्ति संगह।

रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति का १४६७ ई० का कल्याणी अभिलेख

कल्याणी (पेगू-बरमा)-अभिलेख रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति ने सन् १४६७ ई० में अंकित करवाया था। बरमा में बौद्ध धर्म के विकास, विशेषतः भिक्षु-संघ की परम्परा, पर इस अभिलेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भिक्षुओं के उपसम्पदा-संस्कार की विधि एवं विहार-सीमा के निर्णय करने के विषय पर राजा धम्मचेति के समय में बरमी भिक्षु-संघ में विवाद उपस्थित हो गया। इस विवाद का निश्चित समाधान करने के लिए प्राचीन बौद्ध साहित्य, विशेषतः विनय पिटक और उसकी अट्ठकथा एवं उपकारी साहित्य

का काफी गवेषण किया गया। उसके परिणाम स्वरूप जो निश्चित मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ उसी का उल्लेख कल्याणी-अभिलेख में है। यह विषय बौद्ध क्रिया-काण्ड से इतना संबंधित है कि उसका उद्धरण देने से यहां कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। पालि-साहित्य के बरमा में विकास की दृष्टि से केवल इस अभिलेख पर अंकित उन पालि ग्रन्थों के नाम महत्वपूर्ण हैं जिनकी सहायता उपर्युक्त विवाद के शमनार्थ ली गई थी। इन ग्रन्थों में ये मुख्य हैं—पातिमोक्ख खुद्दक-सिक्खा, विमति-विनोदिनी, विनय-पालि, वज्रबुद्धि स्थविर (वजिरबुद्धि थेर।) कृत विनय टीका या सारत्थदीपनी मातिकट्ठकथा या कंखा वितरणी विनय विनिच्छयप्पकरण, विनयसंगहप्पकरण, सीमालंकार पकरण, सीमालंकार संगह आदि। जैसा स्पष्ट है, विनय-पिटक संबंधी साहित्य ही इसमें प्रधान है।

कल्याणी-अभिलेख इस दिशा में पालि-साहित्य सृजन की अंतिम काल सीमा निश्चित करता है। वह उस प्रभूत पाल-साहित्य की ओर भी संकेत करता है जो लंका की तरह बरमा में भी लिखा गया। पालि-साहित्य यद्यपि संस्कृत की तरह एक पूरा वाङ्मय नहीं है, फिरभी उसकी रचना भारत, लंका और बरमा तीन देशों में हुई है। उसकी अनेकविध बिखरी हुई सामग्री इसका प्रमाण है। पालि में विभिन्न ज्ञान-शाखाओं पर ग्रन्थ नहीं लिखे गये। जो कुछ लिखे भी गये उनका भी आधार विशाल संस्कृत वाङ्मय ही था और उनका अपने आप में कोई विशेष महत्व नहीं है।

उपसंहार

भारतीय वाङ्मय में पालि साहित्य का स्थान

गत पृष्ठों में जिस साहित्य का पर्यालोचन किया गया है वह भारतीय साहित्य का अभी तक प्रायः एक उपेक्षित अंग ही रहा है। सपूर्ण मध्यकालीन भारतीय आर्य साहित्य का ही वैसे तो यथावत् अध्ययन अभी हिन्दी में नही किया गया। किन्तु पालि-साहित्य के अतिशय गौरवशाली होने के कारण उसकी उपेक्षा तो अत्यंत हृदय द्रावक है। छठी शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर छठी शताब्दी ईसवी तक अर्थात् पूरे १२०० वर्ष के भारतीय इतिहास में जो कुछ भी सबसे अधिक स्मरणीय, जो कुछ भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह पालि-साहित्य में निहित है। इस युग का भारतीय समाज, धर्म, दर्शन और सबसे अधिक विश्व-संस्कृति को उसका मौलिक दान, सभी कुछ पालि साहित्य में अंकित है। फिर भी इस महत्वपूर्ण साहित्य का जितना अध्ययन और प्रकाशन कोलम्बो (सिहल), रंगून, (बरमा), बंकाक (स्याम) और पालिटैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन से हुआ है, उतना किसी भारतीय नगर या शिक्षा-केन्द्र के विषय में तो कहा भी नहीं जा सकता। संपूर्ण भारत की बात जाने भी दें तो भी मध्य-मंडल (शास्ता की विचरण भूमि) में पालि स्वाध्याय की जो दयनीय अवस्था है उसे देखकर तो आश्चर्य होता है कि हम किस प्रकार अपनी संस्कृति के तत्वों के संरक्षण का दम भरते हैं। जिस संस्कृति के प्रभाव को चीन , जापान, कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत, मध्य-एशिया और अफगानिस्तान की भूमियाँ अभी नहीं भूली है, जिसकी स्मृतियाँ अभी तक लंका, बरमा और स्याम के निवासियों के हृदय में, उनके सारे सामाजिक संस्थान और राजैनितक विधान में गुथी हुई पड़ी हैं, उसे हम भारतवासी, जो उसके वास्तविक प्रतिनिधि हैं, भूल चुके हैं। यह एक दुःखद, किन्तु सत्य बात है। भगवान् बुद्ध के जिस शासन के माध्यम से हम संसार के संपर्क में आये

थे, उसे हम आज तोड़ चुके हैं। आज हम कच्ची बुनियादों पर महल खड़े कर रहे हैं। समय ही बतायेगा कि वे बुनियादें कितनी स्थायी होती हैं। हाँ इतिहास की ओर मुड़कर हम चाहें तो एक ऐसे आधार का भी आश्रय ले सकते हैं जिसकी परीक्षा पहले हो चुकी है। यह आधार उस साहित्य और संस्कृति का है जिसे हम बुद्ध के नाम से संयुक्त करते हैं। इस माध्यम की पूर्व परम्परा बड़ी शुभ्र रही है। इसके द्वारा हम जिस किसी से मिले तो उसका शोषण करने के लिए नहीं, बल्कि अपने संपर्क से केवल उसी को कृतार्थ करने के लिए, उसी के अनुकम्पार्थ! अशोक के प्रव्रजित पुत्र महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओं ने जब लंकाधिपति देवानं पिय तिस्स से गौरव भरे शब्दों में यह कहा 'हम तेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही भारत से यहाँ आये हैं' (तवेव अनुकम्पाय जम्बुदीपा इधागता) तो उन्होंने अपने इन शब्दों से उस सारी भावना का ही प्रतिनिधित्व कर दिया जिससे प्रभावित होकर शत-सहस्र धर्मोपदेशक भिक्षुओं और मानव जाति के सेवक भारतीय मनीषियों ने हजारोंकोसों की भयानक पैदल यात्राएँ कर विदेश-गमन किया था। इन स्मृतियों की पृष्ठभूमि को लेकर चाहे तो भारतीय राष्ट्र आज भी कम से कम एशिया के देशों में अपने पूर्व संबंधों को फिर से जीवित कर सकता है, उनके साथ मैत्री के संबंध दृढ़तर कर सकता है। पालि साहित्य का शुभ आशीर्वाद सदा उसे अपने इस प्रयत्न में मिलेगा।

विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि साहित्य का अर्थ-गौरव और उसकी प्रभाव-मयी ओजस्विनी भाषा-शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती है। किन्तु उसके इस संबंधी गुणों या ऐतिहासिक महत्व के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। पहले भी इसके संबंध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। भारतीय साहित्य के इतिहास में पालि का स्थान सब प्रकार संस्कृत के साथ है। संस्कृत साहित्य रूपी महासमुद्र में ही आर्य जाति के संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का भांडार निहित है। उसी महासागर का एक आवर्त पालि भी है। पालि संस्कृत से व्यतिरिक्त नहीं, बल्कि भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से वह उसी का एक रूपान्तर या अंग ही है। अतः संस्कृत साहित्य के अविभाज्य अवयव के रूप में पालि का महत्व भारतीय साहित्य में सदा सुप्रतिष्ठित रहना चाहिये हां, भारत की

सीमा के बाहर के देशों में पालि अपनी जेष्ठ भगिनी संस्कृत से भी कहीं कहीं प्रभावशीलता में अधिक बढ़ गई है। इसका कारण है पालि का तथागत की सन्देश-वाहिका होना। अपने इस गौरव के कारण ही सचमुच पालि जैसी प्रादेशिक भाषा को भी विश्वजनीन होने तक का सौभाग्य मिल गया है, जो संभवतः आज तक अंशतः संस्कृत को छोड़कर अन्य किसी भारतीय भाषा को नहीं मिला।

पालि और विश्व-साहित्य

जर्मन कवि–दार्शनिक गेटे ने साहित्य को विश्व का मानवी-करण कहा है। दुनिया का शायद ही कोई साहित्य इस कसौटी पर खरा उतर सके जितना पालि साहित्य।

भारतीय भाषाओं में यदि किसी के भी साहित्य में विश्व जनीन तत्व सबसे अधिक हैं तो निश्चय ही पालि में। गत पृष्ठों में पालि साहित्य के विवेचन में यदि लेखक ने अधिक प्रमाद नहीं किया है तो उससे स्पष्ट हो गया होगा कि पालि साहित्य एक धार्मिक संप्रदाय (स्थविरवाद बौद्ध धर्म) का ही साहित्य नहीं है, बल्कि वह जाति-धर्म-निर्विशेष विश्व-मानव का साहित्य है, जो विश्वजनीनता की भावनाओं से अनुप्राणित है। यही कारण है कि भारतीय भूमि से उद्भूत होकर उसका विकास समान रूप से ही अन्य देशों में भी हुआ है। संकुचित राष्ट्रीय आदर्शों की अभिव्यक्ति उसके अन्दर नहीं है। वह मनुष्य मात्र की समस्याओं को लेकर उनके समाधान के लिए खड़ा है जिनमें देश या राष्ट्र का वैसा कुछ भेद नहीं होता। बुद्ध-धर्म कैसे विश्व धर्म हो गया इसका बहुत कुछ रहस्योद्घाटन पालि-साहित्य में ही हो जाता है। यहां कोई ऐसा विशिष्ट विश्वास नहीं, कोई ऐसा कर्मकांड का विधान नहीं, कोई ऐसा देवत्व का आदर्श नहीं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद डाल सके। यहां केवल नैतिक आदर्शवाद है, मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न है, और यह सब है मनुष्य को मनुष्य समझकर मनुष्य के द्वारा मनुष्य को मार्ग दिखाकर। यदि धर्म के नाम पर मानवता का अपलाप ही आज हमारे अनेक अनर्थों का कारण है, तो पालि-साहित्य हमें आज उसके प्रतिकार करने के लिए आह्वान करता है। यदि मनुष्यता के गठ-

बन्धन में बँधना ही विश्व-मानव के भावी कल्याण का एकमात्र मार्ग है और उसी के लिए चारों ओर से प्रगति करनी है तो उसके लिए भी पालि साहित्य सबसे पहले हमारा आह्वान करता है और हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है। विश्व-धर्म के प्रसारक इस साहित्य का यदि समुचित प्रचार और प्रसार किया जाय तो निश्चय ही यह भारतीय जनता को संसार के शेष मनुष्यों के साथ मनुष्यता की उस समान भूमि पर लाकर खड़ा कर देगा जिसकी आज सबसे अधिक आवश्यकता है और जिसके बिना भारत विश्व-संस्कृति को अपने उस महत् दान को दे भी नहीं सकता जिसे उसने बुद्ध-धर्म के रूप में कभी उसे दिया था।

परिशिष्ट

१—नामानुक्रमणी

इ

ई

उ

ख

ग

थ

द

ध

प

फ

ब

म

व

श

ष

स

ह

ज्ञ

२—उद्धृत पालि शब्दों की अनुक्रमणी

ऊ

ए

ओ

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१ भूमिका	१३	नडे	नई
मिका	१७	पाड़ता	पड़ता
२ भूमिका	१५–१६	पालि साहित्य संबंधी लेख	
११	पद-संकेत की प्रथम पंक्ति	हम	इम
२९	१९	शब्द-शोधन	शब्द-साधन
३१	पद-संकेत की अंतिम पंक्ति	प्रकृष्टं विदुः	प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः
६०	१७	ऐरिस	एरिस
१२१	२१	मिनयेक	मिनयेफ
१२८	पद-संकेत की पांचवीं पंक्ति	पूर्वगात	पूर्वगत
१२९	२४	करिस्समि	करिस्सामि
१६१	२२	बोज्झङ्ग	बोज्झङ्ग
२२७	८	सम्मोधि	सम्बोधि
२५२	३	उपसम्पाता	उपसम्पदा
२७८	१८	भनन्त	भदन्त
३३०	१०	अनुभव	अनुश्रव
४८७	२	सब्बेव	सब्बेव
४९७	१०	अट्कथाय	अट्ठकथाय
४९९	पद-संकेत की दूसरी पंक्ति	बुद्धकोष	बुद्धघोष
५०४	५	पालि-सातिय	पालि-साहित्य
५०७	६	धम्मकित्ति महासामि (धर्मकीर्ति महास्वामी)	महामंगल
५०९	पद-संकेत की अंतिम पंक्ति	जा तो	जातो
५१०	१०	विसुद्धमग्ग	विसुद्धिमग्ग
५१०	१६–१७	मज्झिम-निकया	मज्झिम-निकाय
५१५	पद-संकेत की पहली पंक्ति	विसुद्धिमग्गो	विसुद्धिमग्गे
५२६	२०	विशेष	विषय
५३५	११	कार्यकर्मज्ञता	कायकर्मज्ञता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४०	१	विनया, विनिच्छयटीका	विनयबिनिच्छय-टीका
५४०	११	बुद्धबत्त	बुद्धदत्तकृत
५४०	२६	दाढावंस	दाठावंस
५४२	१२	बुद्धघोसुप्पति	बुद्धघोसुप्पत्ति
५५०	५	ग्रन्थों	ग्रन्थ
५५६	११	सातव	सातवें
५६२	१०	संगति	संगीति
५६२	२२	समाश्रमणीय	समाश्रयणीय
५६३	१६	इतिपतन	इसिपतन
५६७	२३	खुदक	खुद्दक
५६९	७	बुद्धकोष	बुद्धघोष
५७२	१५	समन्तपासीदिका	समन्तपासादिका
५७५		२२४६	१२४६
५७५	१३	दाठवंस	दाठावंस
५७६	१५	गन्वंस	गन्धवंस
५७७	२२	सुद्दकपाठट्ठकथा	खुद्दकपाठट्ठकथा
५७८		पमरत्थविनिच्छयं	परमत्थविनिच्छयं
५७८		सुबोधलंकार	सुबोधालंकार
५७९	८	नवमोग्गलान	नवमोग्गल्लान
५८०	१५	सद्दत्थभेदवित्ताय	सद्दत्थभेदचिन्ताय
५८३	१४	उन्न	उन्नत
५९५		विंटरनिरत्ज	विंटरनित्ज
६०१		पणिनीय	पाणिनीय
६०७		ग्रन्त	ग्रन्थ
६०७		उपकार	उपकारी
६११, ६१२, ६१३		मोबिल	मेबिल
६१२		विमत्यत्थप्पकरण	विभत्यत्थप्पकरण
६१३		रूपकारयपसिद्धि	रूपसिद्धि
६३३		विजितावीसे	विजितावी सो
६४४	२१	राजैनितक	राजनैतिक
६४६	९	कसौटी पर खरा	कसौटी पर उतना खरा